हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास

हिन्दी-उपन्यास
में
चरित्रचित्रण का विकास

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत
अपने विषय का प्रथम एवं सर्वथा मौलिक शोध-प्रबन्ध

रणवीर रांग्रा
एम० ए०, पी-एच० डी०

१९६१

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा — दिल्ली

भारती साहित्य • मन्दिर

फव्वारा दिल्ली

आसफअली रोड नई दिल्ली

लाल बाग लखनऊ

माई हीरा गेट जालन्धर

मूल्य १५)

[illegible]

[illegible]

तपश्चर्या, प्रभुविश्वास और सत्यान्वेषण ही
जिनके जीवन का मूल मंत्र रहा है और
जिनके आशीर्वाद से यह प्रबन्ध
सम्पन्न हुआ है
उन्हीं
पूज्यपाद पितृदेव वैद्यराज पं० रामरखा मल्ल जी
को सादर समर्पित

उपोद्घात

जीवन और जगत् की यथार्थताएँ जितनी सफलता से उपन्यास में अभिव्यंजित पा सकी हैं, उतनी और किसी साहित्य-विधा में नही। मानव-जीवन ज्यों-ज्यो जटिल और बहुमुखी होता गया, उसकी समस्याएँ कविता और नाटक में न समा सकी और मनुष्य की अनुभूतिधारा शास्त्रीय सीमाओ को लाँघ कर अपने प्रकृत रूप में बह निकली। अनुभूति की इस प्रकृत अभिव्यक्ति को उपन्यास की सज्ञा मिली। उपन्यास की हम कोई भी परिभाषा स्वीकार करें, इस तथ्य से इन्कार नही कर सकते कि उसका मुख्य विषय मानव और उसका चरित्र है। मनुष्य एक पहेली है, एक रहस्य है। इस पहेली को सुलझाने की, इस रहस्य को खोलने की थोड़ी बहुत चेष्टा प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। इसलिए, यह कहना असंगत न होगा कि चरित्रचित्रण उपन्यास का प्राणभूत तत्व है। चरित्रचित्रण की सुदृढ़ नीव पर ही उपन्यास का भव्य प्रासाद टिका है।

उपन्यास-कला के इस मर्म को दृष्टि में रखकर इस प्रबन्ध के विद्वान लेखक ने वैज्ञानिक पद्धति पर हिन्दी-उपन्यास का अनुसन्धानात्मक एव विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत अपने विषय का यह प्रथम और सर्वथा मौलिक शोध-प्रबन्ध है। इस प्रबन्ध को विद्वद्वरों के कर-कमलों मे सौपते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है—विशेषकर इसलिए कि हिन्दी-साहित्य को एक ठोस शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रबन्ध द्वारा डा० रणवीर रांग्रा एक स्वतन्त्र चिन्तक, निष्पक्ष समीक्षक और तलस्पर्शी तात्त्विक के रूप मे हिन्दी-जगत् में प्रवेश कर रहे है। उनकी प्रतिभा में नवोन्मेष की मौलिकता ही नही, स्वमत को व्यक्त करने की निर्भीकता भी है। उनकी शैली में कृतित्व की निपुणता ही नही, अध्ययन की गम्भीरता भी है।

यह प्रबन्ध मेरे ही निर्देशन में लिखा गया है। इसके गुणों का अधिक परिगणन मेरे लिए उपयुक्त न होगा। फिर भी मैं यह कहने का लोभ संवरण नही कर सकता कि यह प्रबन्ध लेखक के अथक परिश्रम, तात्त्विक चिन्तन और अनुसन्धानात्मक

अध्यवसाय का सुफल है। हिन्दी-साहित्य को इतनी सुन्दर और सुगठित कृति प्रस्तुत करने के लिए मैं अपने सुयोग्य और प्रिय शिष्य डा० राग्र को हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वह इसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण और मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करके हिन्दी के आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि करते रहेंगे।

गोविन्द त्रिगुणायत
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०

प्राक्कथन

साहित्य की आधुनिक विधाओं में उपन्यास की सर्वाधिक लोकप्रियता निर्विवाद है और उसमें भी निर्विवाद है चरित्रचित्रण का महत्त्व। चरित्रचित्रण उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व ही नहीं, उसका प्रधान आकर्षण भी है। उपन्यास में जिसकी सहायता से पाठक पात्रों से सायुज्य स्थापित करके आत्म-विभोर हो जाया करता है, वह चरित्रचित्रण ही है। उपन्यास का शेष सब कुछ भूल जाने पर भी पाठकों की कल्पना में साकार और स्मृति में अमर रहने वाले पात्रों का स्वरूप भी चरित्रचित्रण द्वारा ही सम्भव हो पाता है। उपन्यास को बेकर ने गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या और इरा वोल्फर्ट ने मानव-जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद कहा है। प्रेमचन्द उसे मानव-जीवन का चित्रमात्र मानते थे और उससे आशा करते थे कि वह मानव-चरित्र पर प्रकाश डाले। वास्तव में, पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन उपन्यास की प्रमुख समस्या है। उपन्यास-रचना के लिए एक बार लेखनी उठा लेने पर कोई उपन्यासकार चरित्रचित्रण की समस्या से नहीं बच सका। उसके उपन्यास में चरित्रचित्रण ने प्रधानता ग्रहण की हो या वह गौण रहा हो, प्रतिपाद्य बनकर आया हो या अनायास ही आ घुसा हो—चरित्रचित्रण के बिना उसका उपन्यास 'उपन्यास' नहीं कहला सकता और चाहे कुछ कहलाए, क्योंकि उपन्यास का मूलाधार मानव और उसका चरित्र है और चरित्र अभिव्यक्ति माँगता है।

अपने विद्यार्थी-जीवन के आरम्भ में ही लेखक उपन्यास के इस तत्त्व की ओर आकृष्ट हो गया था, पर ज्यों-ज्यों इस ओर उसकी जिज्ञासा बढ़ती गई, हिन्दी में इस विषय के उचित आलोचना-साहित्य का अभाव देख, उसके हाथ निराशा ही लगी। वैसे तो समूचा उपन्यास-साहित्य ही आलोचकों द्वारा उपेक्षित रहा है और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित फुटकर लेखों और हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में उपन्यास के अन्तर्गत परीक्षोपयोगी विवरणों को छोड़, अकेले उपन्यास-साहित्य पर लिखे आलोचना-ग्रन्थों की संख्या भी अभी नगण्य है, पर चरित्रचित्रण को आधार मानकर हिन्दी-उपन्यास का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला एक भी ग्रन्थ

अभी लेखक के देखने में नहीं आया। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में उपन्यास-चर्चा के अन्तर्गत चरित्रचित्रण का शीर्षक अवश्य मिलता है, पर उसमें पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए उपन्यासकारों द्वारा सायास या अनायास अपनाई गई चरित्र-चित्रण की विविध प्रणालियों का उल्लेख तक नहीं मिलता। उनमें मिलता है केवल यह कि उपन्यासकारों की रचनाओं में उनके पात्रों के चरित्र का—चरित्रचित्रण का नहीं—जो स्वरूप उभरा है वह कैसा है, अर्थात् वह समाज-सम्मत है या नहीं और उस चर्चा का अन्त प्राय इन शब्दों में होता है कि अमुक पात्र समाज के लिए हितकारी है या अनिष्टकारी; वह अच्छा है या बुरा। इन आलोचनाओं में पात्रों को आलोचक की चरित्र सम्बन्धी मान्यताओं और विश्वासों पर पूरा उतरते देखने की चेष्टा मिलती हैं और यही प्रवृत्ति आलोचकों की निराशा का कारण बनती है। एक ही पात्र की कुछ आलोचक प्रशंसा करते दीखते हैं तो कुछ उस पात्र की तथा उसके स्रष्टा की निन्दा करते हुए मिलते है।

इन आलोचनाओं में लेखक यह देखने के लिए लालायित रहा है कि पात्रों का चरित्र चाहे कैसा हो, उपन्यासकार अपने पात्रों को पाठकों की कल्पना में किस प्रकार साकार करता जाता है; किस प्रकार उसके पात्र काले अक्षरों से भरे उपन्यास के समतल पन्नों से धीरे-धीरे उभर कर पाठकों के कल्पना-चक्षुओं के आगे सजीव होकर नाच उठते है; किस प्रकार वह अपने पात्रों का बाह्याभ्यन्तर खोलकर पाठकों को यह प्रतीत करा सकने में सफल हो पाता है कि उपन्यासकार की तरह वे भी उन पात्रों के बारे में सब कुछ जानते हैं और उनके मन का कोई भी कोना उनके पाठकों से अछूता नहीं रहा। शिवनारायण श्रीवास्तव के 'हिन्दी-उपन्यास' और यज्ञदत्त शर्मा के 'हिन्दी के उपन्यासकार' नामक ग्रन्थों में भी यह अभाव खटकता है। जगदीश पाण्डेय कृत 'शील-निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग' में भी यह विषय सुलझने की अपेक्षा उलझकर ही रह गया है। इसके अतिरिक्त उसमें हिन्दी के केवल तीन उपन्यासों 'गोदान', 'सुनीता' और 'शेखर : एक जीवनी' की ही चर्चा की गई है। डा० देवराज उपाध्याय के प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' से कुछ आशा बंधी थी, पर विषयान्तर हो जाने से उसमें भी चरित्रचित्रण पर अधिक प्रकाश न पड़ सका।

यह सब लिखने से लेखक का यह अभिप्राय नहीं कि उसके इस प्रबन्ध से उपर्युक्त अभाव की पूर्ति हो जाएगी, न ही वह इस प्रकार का कोई दावा करता है। उसका तो केवल यही निवेदन है कि इस प्रबन्ध को लिखने की प्रेरणा उसे इस विषय के ग्रन्थों के अभाव से मिली। उसे यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं कि मानव-चरित्र जैसे अतिगूढ़ विषय को समझने-समझाने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। हिन्दी-उपन्यास के अथाह सागर में अवगाहन करके चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों को पकड़ सकना तो और भी कठिन है। अपने इस विनीत प्रयास द्वारा वह यदि

विद्वानों का ध्यान इस विषय की ओर खींच सका तो उसके संतोष के लिए यही पर्याप्त होगा।

प्रबन्ध की योजना

हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण के विकास की मुख्य रूप से तीन अवस्थाएँ कही जा सकती हैं। पहली अवस्था है आरम्भिक तिलस्म-एय्यारी और जासूसी के उपन्यासों में हुए चरित्रचित्रण की, जिसके लिए उन उपन्यासकारों ने कोई विशेष आयास नहीं किया। उनके उपन्यासों में पात्रों के चरित्रचित्रण का जो भी रूप मिलता है, वह उनसे अनायास ही बन गया था। मानव-चरित्र के प्रकाशन में उन उपन्यासकारों की रुचि न थी। उनका मुख्य लक्ष्य पाठकों का मनोरंजन था। विकास की दूसरी अवस्था का आरम्भ प्रेमचन्द के पदार्पण से हुआ और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय तक इसका जोर रहा। प्रेमचन्द और उनके समकालीन उपन्यास-कारों ने अपने पात्रों का चरित्रचित्रण बड़े आयास से किया और उसमें उन्हें सफलता भी मिली, परन्तु चरित्रचित्रण उनके उपन्यासों का साध्य न था। उनमें वह किसी न किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनकर ही आया था। *मानव-चरित्र एक हिमनग (आईसबर्ग) के समान है, जिसका नवमांश ही जल के* ऊपर दिखाई देता है और शेष जलमग्न रहता है। सोद्देश्य चरित्रचित्रण वाले इन उपन्यासकारों की रुचि *हिमनगरूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले भाग के* चित्रण में ही रही है और अपने पात्रों की आकृति-वेशभूषा, उनके आसपास की परिस्थिति, उस परिस्थिति में व्यक्त होने वाले उनके अनुभाव, क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि के वर्णन में ही उन्होंने पात्रों के चरित्रचित्रण की इतिश्री मान ली है। इनमें से कुछ उपन्यासकारों ने हिमनगरूपी मानव-चरित्र के जलमग्न अव्यक्त भाग के अस्तित्व को स्वीकार करके उसके चित्रण की चेष्टा की भी तो वे चित्रण बहुधा मनोवैज्ञानिक सत्यांशों से दूर जा पड़े। अधिकांशतः ये उपन्यासकार अपने पात्रों का 'वे' के रूप में बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण ही कर पाए है, 'मैं' के रूप में अन्तरंग (सब्जैक्टिव) चित्रण नहीं। उनके सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह रूप पर्याप्त भी था। तीसरी अवस्था मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय से सम्भव हुई। उसमें उपन्यासकार हिमनगरूपी मानव-चरित्र के जलमग्न अव्यक्त, अवचेतन और अचेतन, अंश के प्रकाशन की ओर प्रवृत्त हुए और अपने पात्रों के चरित्रचित्रण के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का आश्रय लिया।

इसलिए, विषय-प्रतिपादन की सुविधा को देखते हुए—वर्गीकरण की दृष्टि से नहीं—प्रबन्ध में 'अनायास चरित्रचित्रण', 'सोद्देश्य चरित्रचित्रण' और 'मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण' शीर्षकों के अन्तर्गत हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों की रचनाओं में पाई जाने वाली चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों का निरूपण किया

गया है। 'अनायास चरित्रचित्रण' से लेखक का अभिप्राय यह नही कि इस वर्ग के उपन्यासकारो ने अपने पात्रो के चरित्रचित्रण के लिए कोई भी आयास नही किया। अपने उपन्यासों के घटना-वर्णन, पात्रो के वेशभूषा-चित्रण, सवाद रचना आदि में, जिसमें उनके पात्रों का चरित्र प्रतिबिम्बित मिलता है, निस्सदेह उन्हे बड़ा आयास करना पडा होगा। पर लेखक का आशय केवल यह है कि पाठकों का मनोरंजन करने के लिए इन उपन्यासकारो ने जितना आयास किया है, उसे देखते हुए पात्रों के चरित्रचित्रण में हुआ उनका आयास न के बराबर ही समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार, सामाजिक उद्देश्य से लिखे उपन्यासो मे हुए चरित्रचित्रण को जो 'सोद्देश्य चरित्रचित्रण' की संज्ञा दी गयी है, उसका अर्थ यह नही कि सोद्देश्य चरित्रचित्रण केवल उसी वर्ग के उपन्यासों में हुआ है। न ही उसका यह अभिप्राय है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्रों का चरित्रचित्रण निरुद्देश्य हुआ है। लेखक का केवल यह मतव्य है कि दूसरी अवस्था में जहाँ चरित्रचित्रण का आधार सामाजिक उद्देश्य रहा है, वहाँ तीसरी अवस्था में चरित्रचित्रण का आधार रहा है मनोविज्ञान।

रूपरेखा

'हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास' विषयक इस प्रबन्ध के छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में औपन्यासिक चरित्रचित्रण के सिद्धान्त-पक्ष का विवेचन है। दूसरे अध्याय में हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि का चित्रण है, जिसने उसके पात्रों के चरित्र और चरित्रचित्रण के विकास को दिशा प्रदान की। तीसरे अध्याय में हिन्दी-उपन्यास के आरम्भिक युग के तिलस्म-एय्यारी और जासूसी उपन्यासों में हुए अनायास चरित्रचित्रण की विवेचना की गई है। चौथे अध्याय में सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखे गए हिन्दी-उपन्यासों में चरित्रचित्रण की प्रवृत्तियों का निरूपण है। पाँचवें अध्याय में हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में चरित्रचित्रण के स्वरूप का विश्लेपण है। छठे अध्याय में उपसंहारात्मक रूप से हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण के विकास और उसकी प्रमुख समस्याओं की सक्षिप्त चर्चा है।

'उपन्यास में चरित्रचित्रण : सिद्धान्त-पक्ष' शीर्षक वाले पहले अध्याय के तीन भाग हैं—(क) उपन्यास और चरित्रचित्रण, (ख) औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप और (ग) औपन्यासिक चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियाँ। पहले (क) भाग में उपन्यास के विविध लक्षणो का विवेचन, उपन्यास और चरित्रचित्रण के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा, उपन्यास में चरित्रचित्रण के स्वरूप का निरूपण और चरित्रचित्रण की दृष्टि से साहित्य की अन्य विधाओं—महाकाव्य, नाटक, कहानी और जीवनी—से उपन्यास की तुलना की गई है। दूसरे (ख) भाग में कथानक और चरित्रचित्रण की दृष्टि से पात्रों के शास्त्रीय रूपों का उल्लेख और उपन्यासकारों द्वारा उनके पालन के [illegible] है। तीसरे (ग) भाग

में पात्रो के बहिरंग (ऑब्जेक्टिव), अंतरंग (सब्जेक्टिव) और नाटकीय (ड्रामेटिक) चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियों के स्वरूप और उनके उपयोग की सोदाहरण व्याख्या की गई है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इस भाग में पात्रों के चरित्रचित्रण की मुख्य-मुख्य प्रणालियो की ही व्याख्या की गई है और उन्ही के आधार पर हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विवेचन किया गया है। वैसे तो चरित्रचित्रण की असंख्य प्रणालियाँ हो सकती है।

दूसरा अध्याय हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि का है। इस अध्याय में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध (सन् १८५०-१९००) की राजनीतिक परिस्थितियों और सामाजिक प्रवृत्तियो का सक्षिप्त परिचय है। तत्पश्चात् हिन्दी-उपन्यास के पूर्ववर्ती हिन्दी और सस्कृत के कथा-साहित्य और उसकी प्रवृत्तियो का विवेचन और आरम्भिक हिन्दी-उपन्यासों में पात्रों के चरित्र-विकास पर उनके प्रभाव की चर्चा की गई है। अन्त में हिन्दी में अनूदित अन्य भाषाओं के उपन्यासों का उल्लेख है, जिन्होने हिन्दी-उपन्यास में चरित्र-चित्रण का स्वरूप स्थिर करने में योग दिया था।

तीसरे अध्याय का शीर्षक 'अनायास चरित्रचित्रण' है। इस अध्याय में देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म और एय्यारी तथा गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासो में पात्रो के नामो, उनके परिचयात्मक वर्णनों, आकृति-वेशभूषा-चित्रणो, घटनाचक्रो, कथोपकथनों, अध्यायों के शीर्षको, पात्रों के एक-दूसरे को लिखे पत्रो आदि के विवेचन द्वारा यह दिखाया गया है कि इन उपन्यासकारों ने पात्रों का चरित्रचित्रण आयासपूर्वक चाहे न किया हो, चरित्रचित्रण के प्रति उदासीन वे नही कहे जा सकते। साथ ही इन उपन्यासकारो के प्रति आलोचको के उपेक्षा-भाव का उल्लेख करते हुए इनकी रचनाओ के पुनर्मूल्यन की आवश्यकता की ओर सकेत किया गया है।

'सोद्देश्य चरित्रचित्रण' शीर्षक वाले चौथे अध्याय में सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकारों द्वारा अपनाई गई चरित्रचित्रण की विविध प्रणा-लियो की विवेचना है। सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकार हिन्दी में इतने अधिक है कि किसे लिया जाय और किसे छोडा जाय, यह भी एक समस्या है। पर क्योकि इस प्रबन्ध का उद्देश्य चरित्रचित्रण की दृष्टि से हिन्दी के समस्त उपन्यासकारों की सब रचनाओं का अध्ययन करना नही, प्रत्युत् हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास दिखाना है, इसलिए प्रतिनिधि उपन्यासकारो को ही लिया गया है। प्रतिनिधि उपन्यासकारो के भी समस्त उपन्यासों को न लेकर उन्ही प्रवृत्ति वाले उपन्यासों को लिया गया है, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते है। उदाहरणार्थ, वृन्दावनलाल वर्मा के सामाजिक उपन्यासो को न लेकर उनके ऐतिहासिक उपन्यासो को ही लिया गया है। सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले प्रतिनिधि उपन्यासकारो

में प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल का स्थान निर्विवाद है। इसलिए, इनके ही उपन्यासो मे पात्रो के चरित्रचित्रण के लिए अपनाई गई विविध प्रणालियो की सोदाहरण व्याख्या की गई है। इन उपन्यासकारो के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, सियारामशरण गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के उपन्यासों में चरित्रचित्रण के स्वरूप का अध्ययन भी रुचिकर हो सकता था पर एक तो प्रतिनिधि उपन्यासकारों के अध्ययन में इन उपन्यासकारो की अधिकाश प्रवृत्तियो की व्याख्या हो गई है और दूसरे, इस छोटे से प्रबन्ध में सबको लेकर उनके प्रति न्याय नहीं किया जा सकता था।

चौथा अध्याय हिन्दी उपन्यास में 'मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण' पर है। इस अध्याय में हिन्दी के उन उपन्यासकारों द्वारा पात्रो के चरित्रचित्रण के लिए प्रयुक्त विविध प्रणालियों का सोदाहरण निरूपण है, जिन्होने मनोविज्ञान को चरित्रचित्रण का मुख्य आधार बनाया है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यास काफी सख्या में होते हुए भी प्रतिनिधि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के रूप में अभी जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय ही उल्लेखनीय माने जाते है। इसलिए, इस प्रबन्ध में उनके ही उपन्यासो मे हुए मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण का स्वरूप-विवेचन किया गया है। इन उपन्यासकारों द्वारा प्रयुक्त वहिरग और नाटकीय चरित्रचित्रण की प्रणालियो को भी छोडा तो नही गया, पर पात्रो के अंतरंग चरित्रचित्रण के निमित्त इन्होने जिन विविध प्रणालियो को अपनाया है, उनके निरूपण पर ही अधिक बल दिया गया है। मानव-चरित्र के अव्यक्त अचेतन अश को चित्रित करना कोई सरल काम नही—उसे शब्दो की भाषा में जो कि चेतन मन की ही उपज है, व्यक्त करना और भी कठिन है। इसलिए, पात्रो की अचेतन प्रवृत्तियों के चित्रण के प्रयास में जैनेन्द्र के पात्रों में जो दुरूहता आ गई है और अज्ञेय के चरित्रचित्रण में अश्लीलता का जो आभास मिलने लगा है, उसका भी विशद विवेचन किया गया है।

छठे अध्याय में हिन्दी उपन्यास में चरित्रचित्रण के विकास की तीन अवस्थाओ—अनायास, सोद्देश्य और मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण—में तारतम्य दिखाया गया है, हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय के साथ चरित्रचित्रण में आई दुरूहता का विश्लेषण है और उसके निवारण की आवश्यकता पर वल दिया गया है।

यहाँ उन वातो का उल्लेख कर देना भी असगत न होगा जिनका लेखक ने प्रबन्ध लिखते समय विशेष ध्यान रखा है। विविध उपन्यासकारों की रचनाओ में चरित्रचित्रण का निरूपण करते समय लेखक किसी पूर्व निश्चित कसौटी को लेकर नहीं चला; न ही उसने पात्रो को चरित्र सम्बन्धी अपनी मान्यताओ और विश्वासों के अनुसार देखने की चेष्टा की है। इसलिए, कोई पात्र अच्छा है या बुरा, इस झमेले में वह नही पडा। उसका ध्यान सदा इस बात पर रहा है कि किसी पात्रका वाह्याभ्यन्तर स्फटिक स्पष्ट हो पाया है तो कैसे, और यदि अस्पष्ट रहा है तो उसकी

दुरूहता का कारण क्या है। ऐसा करते हुए उसकी रुचि उतनी छिद्रान्वेषण में नही रही, जितनी उन पात्रों को समझने और उनकी व्याख्या करने में। दूसरे, उपन्यासो में चरित्रचित्रण का स्वरूप-निरूपण करते समय लेखक ने सामान्यीकरण से बचने की चेष्टा की है। किसी उपन्यासकार के चरित्रचित्रण की जब भी किसी विशिष्टता का उसने उल्लेख किया है, उसके समर्थन में उस उपन्यासकार के एकाधिक उपन्यासो से उद्धरण दिये है। तीसरे, गूढ से गूढ दार्शनिक या मनोवैज्ञानिक विषय का विवेचन करते हुए भी लेखक ने भाषा का प्रसाद गुण बनाये रखने का प्रयत्न किया है।

यहाँ पर लेखक उन विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जिनकी सहायता और कृपा से यह प्रबन्ध सम्पन्न हो सका है। अनुसन्धान-कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा लेखक को पूज्यवर पण्डित अयोध्यानाथ जी से मिली। उनके आशीर्वाद के बिना लेखक इस मार्ग पर एक पग भी नही चल सकता था। लेखक पर उनका भारी ऋण है। श्रद्धेय डा० सिद्धेश्वर वर्मा, भूतपूर्व प्रधान सम्पादक, केन्द्रीय हिन्दी-निदेशालय, शिक्षा मन्त्रालय का तपःपूत व्यक्तित्व इस कार्य में लेखक के लिए प्रकाश-स्तम्भ रहा है। समय-समय पर अमूल्य सुझाव देकर और प्रबन्ध में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली के चुनाव में पथ-प्रदर्शन करके उन्होने लेखक पर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए वह सदा उपकार मानेगा। श्रद्धेय डा० नगेन्द्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय ने व्यस्त रहते हुए भी इस प्रबन्ध को देखने की कृपा की है। उनके सत्परामर्शों के अभाव में प्रबन्ध अधूरा ही रह गया होता। लेखक उनका अत्यन्त आभारी है। डा० सोहनलाल, भूतपूर्व चीफ साइकॉलोजिस्ट, रक्षा मन्त्रालय ने इस प्रबन्ध के मनोविज्ञान-सम्बन्धी अंशों को सुन कर और अनेक सुझाव देकर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए लेखक ऋणी है। डा० विजयेन्द्र स्नातक, रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, श्रद्धेय जैनेन्द्र कुमार जी तथा अज्ञेय जी ने इस प्रबन्ध को आद्यन्त पढ़कर जो अमूल्य सुझाव दिये है, उनके लिए लेखक हृदय से आभारी है। डा० प्रभाकर माचवे से लेखक को जो प्रोत्साहन मिलता रहा है, उसके लिए वह कृतज्ञ है। इस प्रबन्ध के प्रणयन में लेखक को देश-विदेश के अनेकानेक विद्वानो के ग्रन्थो से सहायता मिली है। लेखक उन सभी विद्वानों के प्रति आभारी है।

यह प्रबन्ध श्रद्धेय गुरुवर डा० गोविन्द त्रिगुणायत, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० के निर्देशन में लिखा गया है। उनके सत्परामर्शों का लेखक ने कार्यारम्भ से लेकर अन्त तक पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उनके अनुग्रह के बिना यह अनुष्ठान पूर्ण होना सम्भव ही न था। उनके प्रति शाब्दिक आभार-प्रदर्शन लेखक के हृदय-स्थित कृतज्ञतापूर्ण भावो को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होगा।

नई दिल्ली

रणवीर रांग्रा

विषय-सूची

पहला अध्याय

उपन्यास में चरित्रचित्रण : सिद्धान्त-पक्ष

उपन्यास में चरित्रचित्रण : सिद्धान्त-पक्ष

(क) उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का महत्त्व—उपन्यास के लक्षण—उपन्यास और चरित्रचित्रण—चरित्रचित्रण का स्वरूप—चरित्रचित्रण की दृष्टि से उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास और नाटक—उपन्यास और कहानी—उपन्यास और जीवनी—वस्तुजगत के व्यक्तियो और उपन्यास-जगत के पात्रो में अन्तर।

(ख) औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप

औपन्यासिक पात्र—वस्तुजगत के व्यक्तियो और औपन्यासिक पात्रो में सम्बन्ध—पात्र-चयन : सख्या और परिधि—पात्रो के भेदोपभेद : कथानक की दृष्टि से—प्रधान और गौण—प्रधान पात्रो के भेद : नायक-नायिका—प्रतिनायक-प्रतिनायिका—पताकानायक-पताकानायिका—विदूषक—गौण पात्र और उनकी उपादेयता—पात्रो के भेद : चरित्रचित्रण की दृष्टि से—स्थिर पात्र (स्टेटिक)—विकसनशील पात्र (किनेटिक)।

(ग) औपन्यासिक चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियाँ

बहिरंग (आब्जेक्टिव) चित्रण—पात्रो के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण—पात्रो के प्रथम परिचय में उनका चरित्र—आकृति-वेशभूषा-वर्णन—स्थित्यंकन तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण—अनुभाव-चित्रण (एक्सप्रेसिव फीचर्स)।

अंतरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण—अन्त प्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)—अन्तर्द्वन्द्व (इन्टर्नल कान्फिलक्ट)—अतर्विवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)—मनोविश्लेषण (साइकॉ-ऐनेलिसिस)—मुक्त आसग (फ्री ऐसोसिएशन)—बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेंस)—स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम-ऐनेलिसिस)—निराधार प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस)—सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस)—प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रिकोलेक्शन)—पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)—शब्द सहस्मृति परीक्षण (वर्ड ऐसोसिएशन टेस्ट)।

नाटकीय चित्रण—घटनाओ द्वारा चरित्रचित्रण—कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण—उद्धरण शैली—डायरी द्वारा चरित्रचित्रण, पत्रात्मक शैली।

(क) उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास

उपन्यास का महत्त्व—'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति ।

उपन्यास के लक्षण

उपन्यासकार की निरंकुशता—उपन्यास की विविध परिभाषाएँ—नियत आकार वाला गद्याख्यान—गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की भाषा में भावो का गद्यानुवाद—उपन्यास की सर्वग्राही परिभाषा—उपन्यास की परिभाषा, इस प्रबन्ध के लिए ।

उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का मुख्य विषय : मानव—चरित्रचित्रण उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व—कथानक और चरित्र के आधार पर उपन्यास का वर्गीकरण . भ्रामक—तिलस्मी, एय्यारी और जासूसी उपन्यासो में भी चरित्रचित्रण ।

चरित्रचित्रण का स्वरूप

चरित्र—चरित्र एक विकसनशील तत्त्व—विकसनशील तत्त्व : अंत करण—अंत.करण और उसकी प्रक्रिया—अंत करण ही मनुष्य का मूल चरित्र—चरित्र की विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिभाषाएँ—मानवाचरण का मूल प्रेरक उसका अंत.करण—चरित्रचित्रण की कतिपय परिभाषाएँ—व्यक्तित्वचित्रण—उपन्यास में चरित्रचित्रण का समुचित स्वरूप ।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से

उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास 'एपिक इन प्रोज' नहीं—उपन्यास की नींव : जीवन की यथार्थताएँ—उपन्यास में फलागम अनिवार्य नहीं—महाकाव्य में व्यक्ति-चरित्र का अभाव—**उपन्यास और नाटक**—उपन्यासकार का एकमात्र साधन, शब्द—नाटक की सीमा—उपन्यासकार की महानता—**उपन्यास और कहानी**—तात्विक अन्तर—कहानी में चरित्र के क्रमिक विकास का अभाव—कहानी की सीमा—**उपन्यास और जीवनी**—जीवनी में पात्रों का 'आब्जेक्टिव' चित्रण—जीवनी के पात्र · एक पहेली—जीवनी में कार्य-कारण-परम्परा की शिथिलता—**वस्तुजगत के व्यक्तियों और औपन्यासिक पात्रों में अन्तर**—औपन्यासिक पात्रों का आन्तरायिक (इन्टरमिटेंट) जीवन—कुतूहलोद्दीपक जीवन—सोद्देश्य क्रियाकलाप—नियमित जीवन—पात्र अज्ञेय नही ।

उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का महत्त्व

साहित्य की आधुनिक विधाओं में उपन्यास का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह महत्त्व त्रयोन्मुखी है—साहित्यिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक। इसे हम साहित्य का प्राण कह सकते है। साहित्य की हम कोई भी परिभाषा स्वीकार करे, भारतीय दृष्टि से इसमें लोकहित-भावना की अवस्थिति माननी ही होगी। लोकहित-भावना की अभिव्यक्ति जितनी सुन्दरता से साहित्य की इस विधा के माध्यम से हो सकी है उतनी और किसी साहित्यांग से नहीं, क्योंकि जीवन और जगत की प्रतिच्छाया अपनी सम्पूर्णता में उपन्यास में ही चित्रित हो पाती है[1]। काव्य, नाटक आदि अन्य विधाएँ उसके रसात्मक और रमणीय स्थलों का उद्घाटन करके अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेती है। जीवन की जटिलता का जैसा सजीव चित्रण उपन्यास में सम्भव हुआ है वैसा काव्य, नाटक आदि में न तो किया जाता है और न इसके लिए उनके विधान में कोई स्थान ही होता है। अपनी इसी विशिष्टता के कारण उपन्यास साहित्य के अन्य अंगों से आगे बढ़ता हुआ दिखाई पड रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी उपन्यास का महत्त्व कम नहीं है। युग विशेष की संस्कृति साहित्य की उसी विधा में अपनी सम्पूर्णता में प्रतिबिम्बित हो पाती है, जिसमें जीवन के सभी पक्षो का, बिना किसी भेदभाव के, यथार्थ चित्रण किया जा सकता हो। इस दृष्टि से उपन्यास ही अग्रगण्य है। उसमें संस्कृति के संतुलित चित्रण मिलते हैं। सच तो यह है कि उपन्यास युग विशेष की संस्कृति का उत्कृष्टतम दर्पण होता है।

उपन्यास का सबसे अधिक महत्त्व मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिकों को साहित्य में यदि कहीं से भी अपने सिद्धान्तों के स्थिरीकरण की प्रेरणा मिल सकती है तो वह उपन्यास से ही सम्भव है। यह सत्य मनोवैज्ञानिकों को

---

१. Henry James, "The Art of Fiction", 'Portable Henry James', Viking Press, New York, 1951, p. 303 :

"The only reason for the existence of novel is that it does attempt to represent life."

भी स्वीकार करना पडा है[२]। ऑलपोर्ट तो ऐसे उपन्यासो की एक सूची तक दे देता है, जो मानव-व्यक्तित्व के जिज्ञासु को अवश्यमेव पढ़ने चाहिएँ[३]। मनोवैज्ञानिकों के सामने यदि उपन्यास न होते तो सम्भव है बहुत से उन मनोवैज्ञानिक सत्य-खण्डों का उद्‌घाटन न हुआ होता जिनके कारण मनोविज्ञान का आज इतना महत्व है।

निश्चय ही उपन्यास साहित्य, समाज और मनोविज्ञान के लिए एक अमूल्य वरदान सिद्ध हुआ है।

'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति

'उपन्यास' शब्द 'उप' और 'नि' पूर्वक 'अस्' धातु में 'घञ' प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। 'अस्' का अर्थ होता है रखना, स्थिर करना, प्रक्षेपण करना आदि[४]। इस आधार पर उपन्यास शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ हुआ—वह रचना जिसमें जीवन के अनेक पक्षों का प्रक्षेपण (संघटन) किया गया हो। साहित्य-शास्त्रियों के हाथ में पडकर इस शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ का विस्तार हुआ और वह इस कोटि की रचना के प्राणभूत तत्त्व 'रंजन' के आधार पर 'प्रसादन'[५] का वाचक बन गया। उस युग में 'प्रसादन' या 'रंजन' का श्रेय अधिकतर 'उक्तिवैचित्र्य' या 'वक्रोक्ति' अथवा 'उक्तिवैचित्र्यपूर्ण वक्तृता'[६] को मिलने लगा। इस प्रकार, इस शब्द के अर्थ का विविध रूपों में संकोच और विस्तार हुआ। किन्तु उसकी रंजन वाली विशेषता लगभग सभी अर्थों में, किसी-न-किसी रूप में, सन्निहित मिलती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्य में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग उस रचना के लिए किया जाता था जिसमें जीवन के विविध पक्षो का बिना किसी भेदभाव के चित्रण किया गया हो और जिसमें लोकरंजन की प्रवृत्ति का पूर्ण विकास दिखाई पडता हो।

संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त 'उपन्यास' शब्द के साथ संलग्न 'प्रसादन' या 'रंजन' सम्बन्धी अर्थ हिन्दी-साहित्य तक पहुँचते-पहुँचते बहुत बदल गया था। रंजन के उन विविध स्वरूपों तक भी दृष्टि दौडाई जाने लगी थी जो लोक-कल्याण के विघातक

---

२. C. G. Jung, 'Modern Man in Search of a Soul', Routledge & Kegan Paul London, 1940, p. 178.

३. G. W. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation,' Constable London, 1951, p. 305—Footnote 41 :

"The following novels of character.........are samples of literary writing containing valuable psychological lessons for the student of personality."

४. Kale, 'Higher Sanskrit Grammar', Appendix to 'Dhatu Kosh,' 7th edn., p.7.

५. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, जीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, सन् १९३४, श्लोक ३६७, पृ० ४२२ : 'उपन्यासः प्रसादनम्' (प्रसन्नता सम्पादनम्—टीका)।

६. Amrushatak, 'Kavya Sangraha', Calcutta, 1872, S. 27:

'निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः' में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग लगभग इसी अर्थ में हुआ है जिसे हिन्दी में 'वक्तृता' कहते हैं।

थे। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य साहित्य की देन थी, जिसमें लोक-रंजन को लोक-रक्षण से सर्वथा निरपेक्ष समझा जाता रहा है। संस्कृत-साहित्य में लोक-रंजन का लोक-रक्षण की प्रवृत्ति से सदा गठबन्धन रहा। इसीलिए, रंजनकारी चौंसठ कलाओं के अन्तर्गत साहित्य का सन्निवेश नहीं किया गया है[७]। इस दृष्टिकोण का परित्याग करने से उपन्यासकार उपन्यास की परिधि के सम्बन्ध में भ्रमित होता गया।

उपन्यास के लक्षण

उपन्यासकार की निरंकुशता

आज उपन्यास हमारे सामने इतने अधिक रूपों में विद्यमान है कि वह जीवन के समान ही बहुमुखी और जटिल हो गया है। उपन्यास के इतिहास के आदिकाल से ही उपन्यासकार उसकी रचना में स्वतन्त्रता का आग्रह करता रहा है और उसे मनमाना रूप देता आया है। इस स्वतन्त्रता का उसने इतना अधिक उपभोग किया है कि बेचारे उपन्यास को जादूगरी के खेलों से लेकर धर्मोपदेशों, समाज-सुधारों, इतिहास-शिक्षण की विविध प्रणालियों, विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं, दार्शनिक मस्तिष्क की उलझनों, यौन सम्बन्ध के रहस्यों तक सब कुछ का बोझ ढोना पड़ा है[८]।

उपन्यास के बहुरूपी और जटिल हो जाने का दायित्व यदि लोक-रंजन से लोक-कल्याण को निरपेक्ष मानने की प्रवृत्ति पर है तो उन उपन्यासकारों पर भी कम नहीं जो, कदाचित् इस आशंका से कि साहित्य के अन्य अंगों की भाँति कहीं उपन्यास भी आलोचना के तीक्ष्ण बाणों का निशाना बन शास्त्रीय सीमाओं में बँध कर तड़पने न लगे, उसे भावी आलोचनाओं की पहुँच से परे रखने के लिए आरम्भ से ही उसके निर्माण में निरंकुशता का आग्रह करने लगे थे। अपनी रचना 'टॉम जोन्स' में फील्डिंग ने बड़ी निर्भीकता और आत्मविश्वास से घोषणा की है कि मैं, वास्तव में, साहित्य के एक नये क्षेत्र का प्रवर्त्तक हूँ, इसलिए उसमें जो नियम चाहूँ बना सकता हूँ[९]। इसी प्रकार, अपनी रचनाओं के आलोचकों के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव दिखाते हुए हिन्दी के आदिकालीन प्रसिद्ध उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री ने भी एक बार बड़ी निडरता से लिखा था कि "कुछ दिन की बात है कि मेरे

---

७. (क) वात्स्यायन, 'कामसूत्र', १। १६.
(ख) डा० गोविन्द त्रिगुणायत, 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', प्रथम भाग, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५७, पृ० ५२.

८. Phillips Guedalla, 'The Sunday Times', 27th May, 1928 ·
"It would almost appear as though any man with anything to say on any theme said it in fiction".

९. Henry Fielding, 'Tom Jones', Book II, The Modern Liby., New York, p. 41 :
"As I am, in reality, the founder of a new province of writing, so I am at liberty to make what laws I please therein."

मित्रो ने सवादपत्रों में इस विषय का आन्दोलन उठाया था कि इसका (चन्द्रकान्ता का) कथानक सम्भव है या असम्भव। मै नही समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढाई गई। जिस प्रकार पचतन्त्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गये, उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए ......'चन्द्रकान्ता' में जो बातें लिखी गई है वे इसलिए नही कि लोग उसकी सचाई-झुठाई की परीक्षा करे, प्रत्युत् इसलिए कि उसका पाठ कौतूहलवर्द्धक हो।"[१०] उपन्यास की रचना में मनमानी करने के लिए उपन्यासकारों के इस आग्रह के फलस्वरूप ही आज इसमें विषय और रूप की इतनी विविधता मिलती है। उपन्यासकारो के इस स्वातन्त्र्य-सग्राम को जब समालोचकों का समर्थन मिल गया और उपन्यासकार स्वयं भी आलोचना के अखाड़े में कूद पडे, तब स्थिति और भी बिगड़ गई। उपन्यास-कला के प्रसिद्ध व्याख्याकार और समालोचक पर्सी लुब्बॉक ने उपन्यासकारों को ढील देते हुए यहाँ तक कह दिया कि उपन्यास का अत्युत्तम रूप वही है जो अपने प्रतिपाद्य के प्रति अधिकाधिक न्याय कर सके, उपन्यास के स्वरूप की इसके अतिरिक्त और कोई परिभाषा नहीं।[११] इसी धारणा को बल प्रदान करते हुए ई० एम० फार्स्टर ने कहा कि मेरे सामने साहित्य के स्वरूप की समस्या का समाधान किसी सूत्र के रूप में नही, अपितु लेखक की उस शक्ति के रूप में आता है जिससे वह पाठकों को अपनी बात की प्रतीति कराकर उनसे जो चाहे मनवा लेता है।[१२]

ऐसी स्थिति में उपन्यासो के भाव और रूप में साम्य ढूँढ निकालना एक जटिल समस्या बन जाती है, पर उसे सुलझाये बिना उपन्यास की परिभाषा कर सकना दुस्साध्य ही नही, असंगत भी होगा। यह जाने बिना कि उपन्यास क्या है एक-दूसरे से भिन्न भाव और रूप-रग वाली रचनाओं—'सौ अजान, एक सुजान', 'चन्द्रकान्ता-सतति', 'गोदान', 'त्याग-पत्र', 'शेखर : एक जीवनी', 'सूरज का सातवाँ घोडा', 'परन्तु' इत्यादि—को उपन्यास की सज्ञा दे देने की चेष्टा ऐसी ही है।

---

१०. देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता संतति', चौबीसवाँ हिस्सा, लहरी बुक डिपो, बनारस, गुटका, बीसवाँ संस्करण, पृ० ८५-८६.

११. Percy Lubbock, 'The Craft of Fiction', Jonathan Cape, London, 1954, p. 40:

"The best form is that which makes the most of its subject, there is no other definition of form in fiction."

१२. E.M. Forster, 'Aspects of the Novel', Edward Arnold & Co., London, pocket edn., 1949, p. 75:

"For me, the whole intricate problem of method resolves itself not into any formula, but into the power of the writer to bounce the reader into accepting what he says."

उपन्यास की विविध परिभाषाएँ

नियत आकार वाला गद्याख्यान—उपर्युक्त कठिनाइयों के होते हुए भी उपन्यास को परिभाषा मे बाँधने के प्रयत्न यदा-कदा होते ही रहे। फ्रांसीसी समालोचक एबेल शैवेले ने उपन्यास को एक नियत आकार वाला गद्यमय आख्यान माना है, फार्स्टर ने भी इसी परिभाषा को स्वीकार कर लिया है, पर साथ यह जोड दिया है कि उसका आकार ५०,००० शब्दो से कम नही होना चाहिये[१३]। यह परिभाषा अन्य कल्पित कथाओं से उपन्यास को अलग दिखाने में तो असमर्थ है ही, साथ ही इस भ्रमपूर्ण धारणा को भी बल देती है कि उपन्यास कहानी का वृहत् रूप है और कहानी उपन्यास का लघु रूप, अर्थात् कहानी और उपन्यास में केवल आकार का अतर है। इस परिभाषा के अनुसार एक ओर तो बाण भट्ट की 'कादम्बरी' तथा दण्डी के 'दशकुमारचरित' सरीखी विशालकाय रचनाओं को उपन्यास की सज्ञा देनी पड़ेगी और दूसरी ओर जैनेन्द्र के 'परख' तथा 'त्यागपत्र', धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोडा,' प्रभाकर माचवे के 'परन्तु' आदि को उनके छोटे आकार के कारण उपन्यास मानने से इनकार करना होगा। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा आख्यायिका मात्र पर लागू होती है, आख्यायिका और उपन्यास के अंतर को प्रकट नही करती। यह तो माना जा सकता है कि प्रत्येक उपन्यास आख्यायिका है, पर प्रत्येक आख्यायिका उपन्यास हो, यह आवश्यक नही।

गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या—अर्नेस्ट ए० बेकर द्वारा की गई उपन्यास की परिभाषा—गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या[१४]—हमें इस मार्ग पर एक कदम और आगे ले बढती है। हिन्दी के यशस्वी उपन्यासकार प्रेमचन्द ने भी इसी प्रकार की परिभाषा की है[१५]। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक कल्पित गद्यमय आख्यान को उपन्यास नही कहा जा सकता। उपन्यास की संज्ञा उसी कल्पित गद्यमय आख्यान को दी जाएगी जिसमें मानव-जीवन की व्याख्या की गई हो। उपन्यास को कल्पना की ऊँची उडान लेने पर भी अपने पग जीवन की

---

१३. 'Ibid', p 9 "M. Abel Chevalley has, in his brilliant little manual provided a definition he says, 'a fiction in prose of a certain extent... That is quite good enough for us and we may perhaps go so far as to add that the extent should not be less than 50,000 words."

१४. Richard Church, 'The Growth of the English Novel', Methuen & Co, London, 1951, p 8:

"This was a great step towards the modern novel, as defined by Earnest A. Baker, the interpretation of human life by means of fictitious prose in narrative."

१५. (क) प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृ० ३८ :

"मै उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।"

(ख) ज्ञानेन्द्रमोहन दास, 'बाङ्गला भाषार अभिधान', प्रथम भाग, पृष्ठ ३३१, कालम ३ : "गद्ये रचित ये काल्पनिक काहिनीते वा गल्पे प्रकृत जीवनेर चित्र अंकित हय।"

यथार्थ भूमि पर टिकाए रखने होंगे। पर यदि वेकर के मतानुसार मानव-जीवन की व्याख्यामात्र को उपन्यास का एक अनिवार्य गुण मान लिया जाए तो तिलस्म और एय्यारी की भूलभुलैयों में अपने पाठकों को भरमाए रखने वाली 'चन्द्रकान्ता-संतति' तथा 'भूतनाथ' की-सी रचनाओ को उपन्यास की सज्ञा देना कहाँ तक संगत होगा ? यदि उन्हें उपन्यास कहना असंगत है तो क्या जीवन की गम्भीर दार्शनिक व्याख्या करने वाले सभी कल्पित गद्यमय आख्यानों को उपन्यास मान लिया जाएगा, भले ही उनसे पाठको का मनोरजन न हो सके। यदि नहीं, तो कहना होगा कि जीवन की शुष्क और नीरस व्याख्या को नही, प्रत्युत् प्रभावोत्पादक तथा सरस व्याख्या को ही उपन्यास का एक अनिवार्य गुण माना जाएगा। यदि जीवन की व्याख्या करना ही लक्षित हो तो वह उपन्यास की अपेक्षा धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रथो के रूप में अधिक अच्छी तरह हो सकती है।

सुन्दर कथानक : अच्छे पात्र—इस सम्बन्ध में एडिथ ह्वार्टन की परिभाषा, जो उन्होंने अपने निबन्ध 'पर्मानैण्ट वैल्यूज इन फिक्शन' में की है, बडी सुबोध और मार्मिक है . उपन्यास एक ऐसा कल्पित आख्यान है जिसमें सुन्दर कथानक और भली प्रकार से चित्रित पात्र होते है[१६]। इस परिभाषा का तात्पर्य कदाचित् तब तक स्पष्ट नही होगा जब तक यह पता न लगे कि 'सुन्दर कथानक' और 'भली प्रकार चित्रित पात्रों' से ह्वार्टन का क्या अभिप्राय है। अपने इसी निबन्ध में वह आगे लिखती है कि सिन्क्लेयर लूईस की सफलता का कारण यह है कि वह अपने पात्रो को पहचानी जा सकने वाली मुखाकृतियाँ देकर चित्रित कर सका था और उन पात्रो की कहानी भी प्रभावोत्पादक सरलता से सुना सका था[१७]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ह्वार्टन के निकट सुन्दर कथानक वह है जो सुबोध और प्रभावोत्पादक हो और निर्लिप्त भाव से सुनाया गया हो और भली प्रकार से चित्रित पात्र वे हैं जो अलग-अलग आकृतियाँ धारण करके पाठकों की आँखों के सामने सजीव बनकर नाच उठें। इस परिभाषा की विशेषता यह है कि इसमें उपन्यास के दोनो मूल तत्त्वों—कथानक और चरित्रचित्रण—के प्रति न्याय करने का प्रयास किया गया है और उसके अनिवार्य गुण मनोरंजकता को भी भुलाया नही गया। वैसे तो उपन्यास में अकेला पात्रों का चरित्रचित्रण ही एक ऐसा तत्त्व है जो उपन्यास को आख्यायिका के अन्य सभी रूपों से अलग कर देता है क्योंकि जितना सूक्ष्म और प्रकृत चरित्रचित्रण उपन्यास में होता है उसके लिए अन्य आख्यायिकाओं में न तो स्थान होता है और

१६. Edith Wharton, "Permanent Values in Fiction", 'Writing for Love or Money', ed. Norman Cousins; Longmans Green & Co., Toronto, 1949, p. 52 :
"A novel is a work of fiction containing a good story and well drawn characters."

१७. 'Ibid'. p. 56 :
"It is due far more to the fact that he could draw people with recognizable faces and told their stories with a vigorous simplicity."

न उसकी आवश्यकता ही। इस परिभाषा में भी एक कमी है। उपन्यास और मानव-जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर इसमें सकेत तक नही किया गया।

मानव-जीवन की भाषा में भावों का गद्यानुवाद—उपन्यास और मानव-जीवन के घनिष्ठ सम्बन्ध पर इरा वौल्फर्ट ने बहुत बल दिया है। उपन्यास की परिभाषा करते हुए वह लिखता है कि उपन्यास सक्रिय मानव-जीवन की भाषा में भावो का गद्यानुवाद है। इसकी व्याख्या करते हुए उसने आगे कहा है कि वह गद्यानुवाद इतना शुद्ध होना चाहिए कि उससे पाठको का आत्मज्ञान बढ़े[१८]। अर्नेस्ट ए० बेकर की भाँति इरा वौल्फर्ट भी उपन्यास से आशा करता है कि वह जीवन की व्याख्या करे, पर वह यह नही चाहता कि वह व्याख्या केवल सैद्धान्तिक हो जैसी कि धार्मिक या दार्शनिक ग्रन्थो में मिलती है। उपन्यास से उसकी माँग है कि वह पात्रो के जीवन में घटित घटनाओ और उनके प्रति पात्रों की प्रतिक्रियाओं तथा इन दोनो के घात-प्रतिघात के रूप में ही पात्रों और उनकी समस्याओ का चित्रण कर दे। उपन्यासकार अपनी ओर से उसमें न कुछ डालता प्रतीत हो और न निकालता। व्याख्यात्मक भाग में उपन्यास के यथार्थवादी और मनोवैज्ञानिक होने की ओर भी सकेत है। इस परिभाषा में भी एक कमी दिखाई देती है। यह परिभाषा आख्यायिका मात्र पर समान रूप से लागू होती है। बहुत सी आधुनिक कहानियाँ इस कसौटी पर खरी उतरेगी, पर इसी से क्या उन्हें उपन्यास की सज्ञा दी जा सकती है ?

उपन्यास की सर्वग्राही परिभाषा—अब तक उद्धृत प्राय. सभी परिभाषाएँ एकागी है। किसी में उपन्यास के विषय-वस्तु पर बल दिया गया है, तो किसी में उसके रूप पर। किसी एक में भी कदाचित् उपन्यास की सर्वसामान्य विशेषताओं को पकडने का प्रयत्न नही किया गया। वैब्स्टर ने इस प्रकार की चेष्टा की है। इसके निकट उपन्यास एक ऐसा कल्पित, विशालकाय तथा गद्यमय आख्यान है जिसमें एक ही कथानक के अन्तर्गत यथार्थ जीवन के निरूपण का प्रयास करने वाले पात्रों और उनके क्रिया-कलापो का चित्रण हो[१९]। यह परिभाषा हमारे सामने उपन्यास की निम्नलिखित सर्व-सामान्य विशेषताओं को लाती है

१. उपन्यास एक गद्यमय आख्यान है,

२. इसका कथानक कल्पित होता है,

---

१८. Era Wolfert, "What is a Novel and What is it Good for", 'The Writer's Book'. Harper and Brothers, New York, 1950, p 8 :

"They (novels) are prose translations of ideas into the language of human life being lived — the translation must be made with such an accuracy as to increase the reader's knowledge of his own self."

१९. Webster, 'New International Dictionary of English Language', 1945, p. 1670 :

"A fictitious prose tale of considerable length in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot."

३. यह विशालकाय होता है,

४ इसके पात्र और उनके क्रिया-कलाप यथार्थ जीवन का निरूपण करते है, तथा

५. इसके सारे पात्रों और उनके क्रिया-कलापो का चित्रण एक ही कथानक के अन्तर्गत होता है।

उपन्यास की उपर्युक्त विशेषताओ में से अंतिम अकेली ही उपन्यास को अन्य विशालकाय आख्यायिकाओ से अलग कर देती है, पर इस परिभाषा से भी पूरा सन्तोष नही हो पाता। इसमें उस तत्त्व का नाम तक भी नही जिसके अभाव में उपन्यास 'उपन्यास' नही रहता। वह है उपन्यास की मनोरजन-शक्ति।

उपन्यास की परिभाषा : इस प्रबन्ध के लिए—प्रत्येक उपन्यासकार तथा समालोचक के निकट उपन्यास की अपनी-अपनी, और बाकी सबसे निराली, परिभाषा देखकर ही कदाचित् किसी ने कहा है कि उपन्यास की सच्ची परिभाषा उसका इतिहास ही है। इस उक्ति में गहरी सत्यता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखे तो उपन्यास व्यक्ति के अपनी परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है[२०]। तो भी हम हिन्दी के उपन्यास-साहित्य की परिधि निर्धारित करने के लिए किसी भी कल्पित बड़े गद्याख्यान को, जिसमें एक ही मनोरजक कथानक के अन्तर्गत प्रायः प्रकृत जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों से सम्बन्धित घटनाओ, उनकी प्रतिक्रियाओ और दोनों के घात-प्रतिघात से विकसित उनके व्यक्तित्व का सजीव चित्रण हो, उपन्यास की सज्ञा दे देंगे।

उपन्यास और चरित्रचित्रण

उपन्यास का मुख्य विषय : मानव—अब तक हमने जितने भी विद्वानों के मतों का उल्लेख किया है, उनमें उपन्यास की परिभाषा के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो, इस बात से किसी को इनकार नहीं—फार्स्टर को छोड़कर जो इस विषय में मौन है—कि उपन्यास का मुख्य विषय मानव-जीवन है। बेकर ने उपन्यास को गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या, इरा वौलफर्ट ने सक्रिय मानव-जीवन की भाषा में भावो का गद्यानुवाद तथा प्रेमचन्द ने मानव-जीवन का चित्र-मात्र कहकर मानव-जीवन के साथ उपन्यास के घनिष्ठ सम्बन्ध की सीधे-सादे शब्दो में घोषणा कर दी है। प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार हेनरी जेम्स ने तो इसी बात पर जोर देते हुए यहाँ तक कह दिया है कि उपन्यास के अस्तित्व का एक मात्र कारण यह है कि वह जीवन के चित्रण का प्रयास करता है[२१]।

---

२०. वात्स्यायन : "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण", 'कल्पना'—जून, १९५२.

२१. Henry James, "The Art of Fiction", 'The Portable Henry James', p. 393

उपन्यास का वास्तविक विषय तो मानव है पर मानव जीवधारी है, उसका जीवन होता है। मनुष्य का परिचय जीवन सग्राम में प्रस्फुटित उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया से तथा अन्य व्यक्तियो से उसके आदान-प्रदान से मिलता है। मानव को उसके जीवन से अलग करके नही देखा जा सकता। इसलिए उपन्यास का विषय मानव-जीवन बन जाता है। मानव एक पहेली है, एक रहस्य है। उस पहेली को सुलझाने का, उस रहस्य को खोलने का, प्रयत्न करना उपन्यास का चरम लक्ष्य है। उपन्यास की परिभाषा देते हुए एडिथ ह्वार्टन इसलिए यह कहना नही भूली कि उपन्यास में सुन्दर कथानक के साथ-साथ भली प्रकार से चित्रित पात्रो का होना भी अनिवार्य है। वैब्स्टर ने उपन्यास में पात्रों की अनिवार्यता को तो माना ही है, साथ-साथ यह भी कह दिया है कि वे यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व करते है। सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव स्वभावत. सब किसी के बारे में, जिससे उसका वास्ता पडता हो, या वास्ता पडने की सम्भावना हो, जानना चाहता है। पर वह जानना उतना ही चाहता है जितने से उसका सम्बन्ध हो। मानवेतर प्राणियो अर्थात् पशु-पक्षियो के सम्बन्ध में भी वह उतना ही जानना चाहता है जितने से उसका काम चल जाए। पर मानव होने के नाते अपने भीतर के मानव से तथा बाहर के मानवो से उसका चौबीस घण्टे, प्रतिक्षण-प्रतिपल, पाला पडता है। मानव को जाने बिना, उसे समझे बिना, मनुष्य की गति नही—न समाज मे और न आत्मोन्नति के मार्ग में। इस रहस्यमय मानव के उद्घाटन की व्याकुलता, प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में, प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। मानव के उपन्यास की ओर आकृष्ट होने और उपन्यास के अपने पूर्ववर्ती साहित्य पर एकदम छा जाने का यह भी एक बडा कारण है।

चरित्रचित्रण : उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व—उपन्यास मनुष्य की यथार्थताओं से बना एक घर है[२२]। इसलिए, जब भी किसी ने इसके निर्माण के लिए लेखनी उठाई वह पात्रो और उनके चरित्र-चित्रण की समस्या से बच न सका। उसके उपन्यास में चरित्र-चित्रण ने प्रधानता ग्रहण कर ली हो या वह गौण रहा हो; वह प्रतिपाद्य बन गया हो या आनुषगिक रहा हो, उपन्यास में उसने उसे जानबूझकर छेडा हो अथवा वह उसमें अनायास आ घुसा हो, पात्र और उनके चरित्र-चित्रण के बिना उसका उपन्यास 'उपन्यास' नही कहला सकता और चाहे कुछ भी कहलाए, क्योकि उपन्यास का मूलाधार मानव और उसका चरित्र है। उपन्यास में जब कभी मनुष्येतर प्राणि पात्र के रूप में आते है तो वे भी मानव-प्रकृति के रग में रगे हुए

२२. Stephen Spender, "The Novel and Narrative Poetry", 'The Penguin New Writing', Penguin Books, Sep 1942, p. 125:

"They (Stendhal and Balzac) regarded an introduction of the poetic into novel as cheating The novel was a house built of facts about people: their behaviour, environment, development, income, passion".

होते हे । उपन्यासकार उनका मानवीकरण करके ही उन्हें अपने उपन्यास में लाता है। इसके उपन्यास का घोड़ा वा कुत्ता मनुष्यो की सी संवेदनशीलता लिए रहता है, श्रौर उपन्यास में उसका चित्रण तब तक श्रौर उतना ही होता है जब तक श्रौर जितना वह उपन्यास के मनुष्य पात्र या पात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होता हो।

कथानक श्रौर चरित्रचित्रण के श्राधार पर उपन्यास का वर्गीकरण : भ्रामक— हम पहले कह आये हैं कि चरित्रचित्रण के बिना उपन्यास 'उपन्यास' नही रहता। जो आलोचक तथा पाठक (उपन्यासकार नहीं, क्योंकि 'ऑल आर्ट्स बीइंग अनकॉन्शस' वे तो जानते भी नही कि वे किस प्रकार का उपन्यास लिख रहे है) अपनी सुविधा के लिए उपन्यास को चरित्र वाले उपन्यास तथा घटना वाले उपन्यास दो भागों में बाँट देते हैं, वे एक विवाद तो खड़ा कर ही देते है, पर साथ ही उपन्यास के प्रति अन्याय भी कर बैठते हैं। वे कदाचित् यह नहीं समझते कि उपन्यास अपने आप में एक इकाई है और कथानक तथा चरित्र-चित्रण उसके अग है, अंग भी ऐसे जो अन्योन्याश्रित हो। उपन्यास का लक्ष्य ही इन दोनों का लक्ष्य है। यह कहना भ्रामक होगा कि घटना वाले उपन्यास चरित्र-चित्रण से अछूते रह सकते हैं या चरित्रचित्रण के उपन्यास घटनाओ के बिना बढ़ सकते है। उपन्यास में पात्रों का होना अनिवार्य है, उन पात्रों का जो जीवित हों। जीवित पात्रों के जीवन में घटनाएँ भी घटित होंगी—उनका साँस लेना तक अपने आप में एक घटना है—और उनका व्यक्तित्व भी रहेगा, क्योंकि व्यक्तित्व के बिना 'व्यक्ति' कैसा ? मानव-जीवन के अनुरूप उपन्यास में भी घटना श्रौर चरित्र के सूत्र आपस में इतने उलझे रहते हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखने का प्रयत्न ऐसा ही है जैसे समूचे मुख का सौन्दर्य न देखकर नाक की बनावट पर प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करना श्रौर होठों के मोटेपन पर कुढकर उनकी निन्दा करना। वास्तव में, चरित्र घटनाओं का फल नहीं तो श्रौर क्या है तथा घटना चरित्र की व्याख्या के अतिरिक्त श्रौर क्या है ? मानिए, उपन्यास का एक पात्र प्रतीक्षालय में बैठा-बैठा अचानक सामने रखी मेज पर अपने पाँव टिका देता है, यह एक घटना हुई, पर क्या इस घटना में पात्र का चरित्र प्रतिबिम्बित नही होता ? दो साइकिल सवारो की अचानक टक्कर हो गई, यह एक घटना हुई जिसमें अपराध किसी का नही था। इसके बाद दोनों का अपने कपडे झाड़, साइकिल उठा, एक-दूसरे से क्षमा माँगकर चल देना या साइकिल एक तरफ पटक, चोट की चिन्ता छोड, मुक्के तानकर एक दूसरे पर पिल पड़ना, उस पहली घटना से निकली दो श्रौर घटनायें है, जिनमें से किसी एक की अवतारणा उन पात्रों के चरित्र पर निर्भर करेगी।

[illegible] घटनाएँ हमारे चरित्र को निखारती हैं, [illegible] किसी अंश में भी हाथ नहीं रहता ? [illegible] निखारती हैं श्रौर कभी चरित्र घट- [illegible] घटनाओ से या घटनाओं को चरित्र

से पृथक् करके उनकी तुलना करने का प्रयत्न उतना ही घातक है जितना किसी व्यक्ति के नाक और कान की तुलना करते हुए एक को आवश्यक और दूसरे को अनावश्यक ठहरा देना। वास्तव मे, उपन्यास एक जीवित वस्तु है— प्रत्येक जीवधारी रचना की तरह एक समूची अप्रतिहत और अविभाज्य इकाई। उसके प्रत्येक अग मे दूसरे अगो का कुछ-न-कुछ अश अवश्य निहित रहता है। इसलिए, ऐसा आलोचक जो उसके बाहरी ढाँचे के आधार पर भौगोलिक रेखाएँ बनाने का साहस करता है, वह कुछ ऐसे सीमा-चिह्न बना देता है जो बनावटी होते है[२३]।

तिलस्मी, ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासो में भी चरित्रचित्रण

उपन्यास इतिवृत्तात्मक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो अथवा मनोवैज्ञानिक, उसमें जब तक पात्र हैं—पात्रो के बिना कोई उपन्यास देखा नही गया—और है जीवित पात्र, तब तक चरित्रचित्रण भी रहेगा। उपन्यास का उद्देश्य कुछ भी हो, वह कोरा मनोरजक हो या समाजोपयोगी, मनोवैज्ञानिक हो अथवा सत्यान्वेषी, इससे कोई अन्तर नही पड़ता। यहाँ तक कि कोरे कुतूहलोद्दीपक तिलस्म और ऐय्यारी वाले तथा जासूसी उपन्यासो में भी पात्रो के चरित्र को उनके कृत्यो तथा कथोपकथनों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास मिलता है। कई स्थलों पर तो लेखक स्वय पात्रो का वर्णन इस ढंग से करता हुआ प्रतीत होता है मानो वह अपने पाठको पर किसी पात्र विशेष के चरित्र की— वह अच्छा हो या बुरा — धाक बैठाना चाहता हो। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' को ही ले। उसके प्रमुख स्त्री पात्र मायारानी के सम्बन्ध में खत्री जी स्वयं लिखते है · "अहा ! ईश्वर की महिमा विचित्र है। बुरे कर्मों का बुरा फल अवश्य भोगना ही पड़ता है। जो मायारानी अपने सामने किसी को समझती ही न थी, वही आज किसी के सामने जाने या किसी को मुँह दिखाने का साहस नही कर सकती।"[२४] यहाँ लेखक बताना चाहता है कि मायारानी को अपने पिछले बुरे कर्मो का फल मिल रहा है। मायारानी स्वय इस बात को स्वीकार करती है ."(हिचकी लेकर) क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किससे मदद माँगू ? ऐसी अवस्था में मेरी कौन सहायता करेगा ? हाय ! आज तक मेने किसी के साथ

---

२३. Henry James, "The Art of Fiction", 'The Portable Henry James', p. 404 : "A novel is a living thing, all one and continuous, like any other organism, and in proportion as it lives will it be found, I think, that in each of the parts there is something of each of the other parts. The critic who over the close texture of a finished work shall pretend to trace a geography of items will mark some frontiers as artificial, I fear, as any that have been known to history"

२४. देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता सन्तति', लहरी बुक डिपो, काशी, सोलहवां संस्करण, १९५१, ९वां हिस्सा, आठवां बयान, पृष्ठ ४९।

किसी तरह की नेकी नही की, किसी को अपना दोस्त नही बनाया, और किसी पर अहसान का बोझ नही डाला।"[२५]

ऐसे स्थलो को देखकर मानना पड़ता है कि लेखक घटनाओ के घटाटोप में भी चरित्रचित्रण के प्रति उदासीन नही रहा। इस प्रकार के एक-दो नही, असंख्य उदाहरण दिए जा सकते है जिनमें ऐसे उपन्यासो का लेखक स्वय अथवा पात्रों के स्वगत कथनों द्वारा, उनके तथा अन्य पात्रो के कथोपकथनों द्वारा, उनके चरित्र पर प्रकाश डालता जाता है, जिससे उपन्यास की स्वाभाविकता बनी रहती है। जासूसी उपन्यासो के लिए बहुत सी बातो को हानिकारक घोषित करके उपन्यास में उनके समावेश का निषेध करने वाले उपन्यासकार वान डाइन को भी अपने प्रसिद्ध लेख 'ट्वैन्टी रूलज फॉर राइटिंग डिटेक्टिव स्टोरीज़' में उपन्यास में स्वाभाविकता लाने के लिए एक सीमा तक पात्रो के चरित्र चित्रण की अनुमति दे देनी पड़ी। उसके विचारानुसार जासूसी उपन्यास में यद्यपि लम्बे वर्णनात्मक परिच्छेद तथा पेचीदा चरित्र-विश्लेषण नही होने चाहिए, तो भी उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए पर्याप्त वर्णनात्मकता और चरित्रचित्रण अवश्य होना चाहिए।[२६] अपने महत्त्वपूर्ण लेख 'दि नॉटी चाइल्ड ऑव दि नॉवेल' में प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार क्यू० पैट्रिक ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जासूसी उपन्यास में सब कुछ व्यर्थ हो जाता है, यदि उसके पात्र व्यक्तित्व धारण नही करते।[२७]

इस प्रकार, मानना पड़ता है कि चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक अभिन्न तत्त्व है—उपन्यास में वह अनायास ही हुआ हो या सायास, उसमें वह साधन बन कर आया हो या साध्य बन कर।

चरित्रचित्रण का स्वरूप

किसी कथा के पात्रों के चरित्र का प्रकाशन चरित्रचित्रण है, इतना कह देने से समस्या सुलझती तो नही, पर अपने वास्तविक रूप में अवश्य सामने आ जाती है कि चरित्रचित्रण को समझने से पहले चरित्र को समझना होगा।

---

२५. वही, पृष्ठ ५३।

२६. S. S Van Dine, "Twenty Rules for Writing Detective Stories", 'The Writers Hand Book', The Writers Inc. Boston, 1952, p. 260.

"A detective novel should contain no long descriptive passages .....no subtly worked out character-analysis.. . .to be sure there must be a sufficient descriptiveness and character delineation to give the novel verisimilitude"

२७. Q. Patrick, "The Naughty Child of Fiction", 'Writers Hand Book', p. 246:

"A reader is pleasurably mystified only when the author manages to interest him in a clearly presented problem involving characters that have some reality for him .. .If ever the pattern becomes blurred, or the characters take on no individuality, masked figures can prawl around haunted houses, detectives can make cryptic decisions, shots can whiz past the heroine's ears — all in vain."

चरित्र के सामान्यतः दो स्वरूप बताए जाते हैं — सत् और असत्। 'सत्' चरित्र से अभिप्राय है मनुष्य का वह आचरण, जो नीति-सम्मत और समाज के अनुकूल हो। इससे उलटा आचरण, जो समाज और उसकी नीति के विरुद्ध हो, 'असत्' चरित्र माना है। समाज द्वारा स्वीकृत आचरण के पालन करने वाले को चरित्रवान कहा जाता है और जिसका आचरण असामाजिक हो या अनैतिक हो, वह चरित्रहीन कहलाता है। पर, इस प्रकार, किसी को चरित्रवान और किसी को चरित्रहीन कहना वास्तव में अनुचित है। मनुष्य अचर नही, चर है। वह जड नही, चेतन है। वह स्थिर नही, विकसनशील है। जन्म से लेकर मृत्यु तक वह कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। उसका आचरण समाज के अनुकूल हो या प्रतिकूल, नैतिक हो अथवा अनैतिक, उसके प्राणों का तकाजा है, उसकी चेतना की माँग है कि वह कुछ-न-कुछ करता रहे। इस दृष्टि से कोई भी मानव चरित्र से व्यतिरिक्त नही माना जा सकता। चरित्र वाले तो सभी हैं, चरित्रहीन किसे कहा जाए ?

चरित्र एक विकसनशील तत्त्व—चरित्र के सम्बन्ध में एब्बॉट ने कहा है कि कोई मनुष्य जो कुछ है वही उसका चरित्र है[२८]। मनुष्य क्या है, यह बताते हुए लेब्निज ने उसे 'व्यक्ति' की सज्ञा दे कर पशुओ से पृथक् कर दिया है[२९]। प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति है, दूसरो से भिन्न है। उसका अपना व्यक्तित्व है। उसका अपना चरित्र है, जो उसे दूसरो से अलग बनाए रखता है। कोई एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों से सर्वथा भिन्न तो हो नही सकता। अन्य मनुष्यो की भाँति उसके भी नाक-कान, हाथ-पाव, मन, बुद्धि, प्राण इत्यादि तो होंगे ही, पर उसकी इस अभिन्नता में भी भिन्नता, समानता में भी असमानता, विद्यमान रहती है। कोई भी मनुष्य हू-बहू वह नही हो सकता जो दूसरा है। पर यह क्यो ? मनुष्य को 'व्यक्ति' की सज्ञा देते हुए लेब्निज ने यह भी कहा है कि वह प्रज्ञात्मक, आत्मचेतन, सतत गतिशील, अनिर्वचनीय तथा अद्भुत सत्त्व है,[३०] जिससे प्रतीत होता है कि उसकी दृष्टि में मनुष्य की अनिर्वचनीयता और उसकी अद्भुतता का कारण उसकी प्रज्ञात्मकता तथा आत्मचेतनता है। मनुष्य प्रज्ञात्मक है; वह बौद्धिक है। बुद्धि तत्त्व की विभिन्नता ही मानवो के पारस्परिक भेद का कारण है मनुष्य प्रत्येक काम करते समय उस क्षण-विशेष की अपनी बुद्धि के अनुसार उसे ठीक समझ कर ही करता है। भले ही दूसरे क्षण वह अपनी करनी पर पछताने लग जाए। किसी एक परिस्थिति में एक व्यक्ति की बुद्धि जिसे ठीक मानती है, आवश्यक नही

२८. Webster, 'New International Dictionary of English Language', 1951, p. 461, under 'Character' :
"In truth, character is what a person is." (Abbot)

२९. अर्जुन चौबे काश्यप, 'सामान्य मनोविज्ञान', राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया, प्रथम संस्करण, १९५१, पृ० ७४७.

३०. वही पृ० ७४७.
"A rational, self-conscious, incommunicable and unique substance." (Leibniz).

कि दूसरों की बुद्धि भी उसे ठीक समझे। और तो और, एक ही व्यक्ति की बुद्धि समान परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के निश्चय करती हुई पाई जाती है।

विचारो की विभिन्नता होते हुए भी मनुष्यमात्र में विचारशीलता की अनिवार्यता, उसकी भिन्नता में अभिन्नता, इस बात का प्रमाण है कि मनुष्यमात्र का गठन एक-से तत्त्वो से हुआ है। परन्तु मनुष्यमात्र में विचारशीलता की अनिवार्यता होने पर भी उनके विचारो में भिन्नता, उनकी अभिन्नता में भिन्नता, एक स्पष्ट सकेत है कि मनुष्य विकसनशील है, उसमें कोई ऐसा तत्त्व है जो विकास की विभिन्न दिशाएं ग्रहण कर, उसे जाति में व्यक्ति बना देता है, उसे व्यक्तित्व प्रदान कर देता है।

विकसनशील तत्त्व : अंतःकरण—मनुष्य के भीतरी विकसनशील तत्त्व तक पहुँचने के लिए हमें मानव के गठन को देखना होगा। श्रीमद्भगवद्गीता के १३वें अध्याय में इस विषय का सकेत करते हुए कहा गया है : 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'[३१] और फिर सक्षेप में मानव-शरीर का गठन इस प्रकार दिया गया है :

'महाभूतान्यहकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकंच पंचचेन्द्रियगोचराः' ॥५॥
'इच्छा द्वेषः सुख दुःख सघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' ॥६॥

(श्रीमद्भगवद्गीता-१३। ५-६)

५वें श्लोक में क्षेत्र नामक मानव-शरीर के गठन के सम्बन्ध में चर्चा की गई है और ६ठे श्लोक में उसके विकारो का वर्णन है।[३२] मनुष्य के शरीर में इन तत्त्वों का महत्त्व और उनका एक दूसरे पर प्रभुत्व दिखाते हुए गीताकार ने पहले ही कहा है :

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः' ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता-३। ४२)[३३]

गीताकार ने मनुष्य शरीर का यह सारा विकास अव्यक्त प्रकृति से माना है।[३४] उसके विचार में बुद्धि, मन, और इन्द्रियाँ उस अव्यक्त प्रकृति के विकसित रूप हैं, उसके विकार हैं।

---

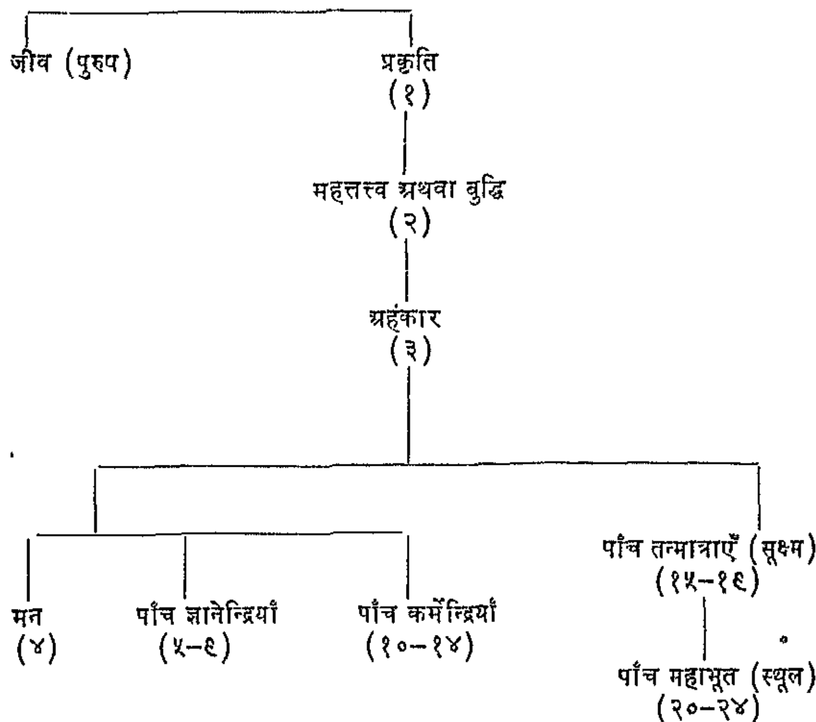
३१. श्रीमद्भगवद्गीता-१३। १.

३२. श्रीमद्भगवद्गीता, १६वां सस्करण, गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०००, पृ० ४०३.

३३. कठोपनिषद् (३ । १०-११) में शरीर के तत्त्वों का पारस्परिक महत्त्व इस प्रकार कहा गया है:—
'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥१०॥ पुरुषान्न पर किंचित्साकाष्ठा सा परागतिः ॥११॥

३४. Radhakrishnan, 'Indian Philosophy', (Vol I), George Allen & Unwin. London, 1948, p. 535 :
"The whole drama of evolution belongs to the object world. Intelligence, mind, senses are looked upon as the developments of the unconscious prakrti, which is able to bring about this ascent on account of the presence of spirit."

सांख्य में इस विषय को विस्तार से लिया गया है। सांख्य के मतानुसार[35] प्रकृति से उत्पन्न होने वाले शारीरिक तत्त्वों को वंशवृक्ष[36] के रूप में इस प्रकार दिखाया जा सकता है :—



अन्तःकरण और उसकी प्रक्रिया—मानव शरीर के उपर्युक्त तत्त्वों में से दूसरा, तीसरा और चौथा—बुद्धि, अहंकार और मन—सबसे अधिक—महत्त्वपूर्ण हैं। सांख्य

३५. सांख्य अ० १ सू० ६१ :

सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतो—
हंकारोऽहंकारात् पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पंचतन्मात्रेभ्यः
स्थूल भूतानि पुरुष इति पंचविशतिर्गणः ॥

३६. (क) Hiriyanna, 'The Essentials of Indian Philosophy', George Allen & Unwin, London, 1951, p. 111.

और

(ख) तिलक, 'गीता-रहस्य', (माधवराव सप्रे का हिन्दी अनुवाद), पृ० १८९।

लोग इस तत्त्ववर्ग को अन्तःकरण[३७] कहते हैं, किन्तु वेदान्ती अन्तःकरण में इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त 'चित्त' नामक एक चौथा तत्व भी मानते हैं।[३८] महाभारत में इन दोनों मतों में सामजस्य स्थापित करते हुए कहा गया है कि मन जब पहले-पहल बाह्य विषयों का ग्रहण अर्थात् चिन्तन करने लगता है, तब वही चित्त हो जाता है[३९]। इस प्रकार, चित्त मन के अन्तर्गत ठहरता है, पर कुछ विद्वान बुद्धि में ही उसका सन्निवेश मानते हैं।[४०]

यह अन्तःकरण अनुभूतिशील और प्रतिक्रियाशील दोनों ही है।[४१] मनुष्य जब भी कोई अनुभव प्राप्त करता है उसके अन्तःकरण की प्रक्रिया इस प्रकार होती है : मन ज्ञानेन्द्रियों द्वारा संस्कार प्राप्त करता है और फिर इन संस्कारों को निर्णय के लिए बुद्धि के सामने उपस्थित करता है और बुद्धि बताती है कि वह संस्कार कैसा है। इसी प्रकार मनुष्य जब भी कोई प्रतिक्रिया करता है, उसके अन्तःकरण के व्यापार का क्रम यह होता है पहले मन बुद्धि से विचार करता है कि यह कार्य अच्छा है या बुरा, करने योग्य है या नहीं। बुद्धि से निर्णय ले लेने के पश्चात् उस निर्णय के अनुकूल ही मन में उस काम के करने की इच्छा या वासना उत्पन्न होती है। तब मन उस काम को करने के लिये प्रवृत्त होता है और कर्मेन्द्रियों को वैसा करने की आज्ञा देता है।[४२] इस प्रकार बुद्धि के दो व्यापार रहते हैं : कार्य-अकार्य का, अच्छे-बुरे

---

३७. (क) Hiriyanna, 'The Essentials of Indian Philosophy', p. 112·
"Of this group the most important are 'manas', egoism (ahankara) and the intellect (buddhi), which are together described as the 'internal organ' (antah-karana),"
(ख) Sinha, 'Indian Psychology: Perception', K. P. T. T., 1934, p. 121.
"Buddhi', 'ahankara' and 'manas' are one in nature, they together constitute the one internal organ "antahkarana"

३८. (क) Nikhilananda, 'Vedantasara of Sadananda Yogendra'. Advait Ashram Almora, 1949, p. 48 : "Antah-karana'..... " the inner organ, of which 'Chitta', 'Buddhi', 'manas' and 'ahankare' are the different aspects".
(ख) सदानन्द योगेन्द्र, 'वेदान्तसार', ६७
'अन्योरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः'
(ग) 'कल्याण' (वेदान्त अंक), भाग ११, अंक २, सम्वत १९९३, पृ० ६४६ तथा ६४७ के बीच दी हुई 'श्रीशंकरमतानुसार पदार्थ-विभाग की तालिका।'

३९. 'महाभारत', शांतिपर्व, २७४। १७.

४०. Nikhilananda, 'Vedantasara of Sadananda Yogendra', p. 49
This (Chitta) is included in 'Buddhi' or the intellect."

४१ Hiriyanna, 'The Essentials of Indian philosophy', p. 112 :
"...its (antah-karana's) chief function is to receive impressions form outside and respond suitably to them."

४२. Vachaspati Misra, 'Sankhyatattvakaumudi' with Vidwattosini, Bombay, Samvat 1969, 23.

का, निर्णय देना और उस निर्णय के आधार पर उस काम के करने की मन में वासना उत्पन्न करना। बुद्धि के इन दो व्यापारों के आधार पर उसके दो भेद कर दिये गये है। पहली को 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' और दूसरी को 'वासनात्मक' या साधारणत. 'बुद्धि' कहा जाता है। मनुष्य की अनुभूति और प्रतिक्रिया का वास्तविक आधार यह 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' है, इसके कारण ही मनुष्य 'रेशनल' कहलाता है। मन तो उसका मन्त्रीमात्र है, उसकी आज्ञाओं के अनुसार काम करवाने वाला। इसीलिये इस व्यवसायात्मिका बुद्धि की स्थिरता और शुद्धि के लिये गीताकार ने बहुत जोर दिया है।[४३]

प्रकृति की उपज होने के कारण अन्त करण के ये व्यापार होते तो हैं प्रकृति के गुणों (सत्व, रजस् और तमस्) के द्वारा, पर अहंकार के कारण मोहवश जीवात्मा अपने को ही इन सब कर्मों का कर्त्ता समझने लग जाता है।[४४] इसलिये इस मानव शरीर में कर्त्ता न तो जीव को माना जा सकता है और न ही जड़ प्रकृति को। कर्त्ता तो अहकार (जीव का अहंभाव) है।[४५] जैसा कि इस वंशवृक्ष से स्पष्ट है अहंकार वह सूक्ष्म तत्त्व है जिसकी उत्पत्ति बुद्धि (महत्त्व) के बाद होती है और जिसकी उत्पत्ति के बाद से ही व्यक्ति की सत्ता स्थिर होती है।[४६] "मैं" और "मेरे" का भाव इसी अहकार की उपज है। जीव के अह भाव के कारण ही यह अत करण, जिसे

"..Every one who deals with an object first intuits it, then reflects upon it, then appropriates it to himself, then resolves 'this is to be done by me,' *and then he proceeds to act. This is familiar to everyone.*"

४३. श्रीमद्भगवद्गीता २।४१, ५३ :

(क) व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥२—४१॥

(ख) श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥२—५३॥

४४. (क) Hiriyanna, 'The Essentials of Indian Philosophy', P. 110:

"Prakrti adjusts itself first to the needs of Purusa by evolving the most important aids to life's experience, viz., the organ of thinking and the principle of consciously or unconsciously appropriating the thought or regarding it as one's own."

(ख) श्रीमद्भगवद्गीता, ३।२७ :

'प्रकृतेःक्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश.।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

४५. 'सांख्य', ६।५४ : "अहकारकर्ता न पुरुषः"।

४६. 'कठोपनिषद्', टीका-नारायण स्वामी, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, देहली, सप्तम् संस्करण, १९४८, पृ० ५०—(फुटनोट) : "सूक्ष्म भूत जिसकी उत्पत्ति महत्तत्त्व के बाद होती है और जिसकी उत्पत्ति के बाद ही व्यक्तित्व (Individuality) की सत्ता स्थिर होती है। 'मैं' और 'मेरे', मन का यह भाव भी इसी अहंकार की उपज है।

अंतरात्मा भी कहा जाता है, प्रकृति का केवल विकारमात्र न रह कर व्यक्ति विशेष का अंत:करण बन जाता है।

इस प्रकार, मनुष्य के शरीर में सार वस्तु तो अंत:करण है। प्राणों का समावेश भी इसी में किया गया है।[४७] शेष, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तो मन की आज्ञा का पालन करने वाली भृत्यमात्र हैं। पाँच तन्मात्राएँ सूक्ष्म देह के और पाँच महाभूत स्थूल देह के तत्त्व हैं।

यह अन्त:करण विकसनशील है। इसके व्यापारों का भी विकास होता रहता है। "जीवन में अन्त:करण को (या अंतरात्मा को)[४८] जो-जो अनुभव प्राप्त होते हैं, उनके सार तत्व वह बटोर लेता है और उन्ही को आगे होने वाले अपने विकास का आधार बनाता है। मनुष्य के शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव के साथ उसका जो 'लिंग'[४९] या 'सूक्ष्म' शरीर जाता है उसमें ही अन्त:करण के ये अनुभूतिसार सुरक्षित रहते है और जब जीव पुन: जन्म ग्रहण करता है तो इस अनुभूतिसार के आधार पर, अंत:करण के पूर्व विकास के आधार पर, नया अंतःकरण बनता है जो इस नये जीवन के आघात-प्रत्याघातों से विकास पाने लगता है।

अन्तःकरण ही मनुष्य का मूल चरित्र

मनुष्य के शरीर में विद्यमान अंत:करण ही एक तत्व वर्ग है जो मनुष्य की अभिन्नता में भिन्नता ला देने का कारण है, जो स्वयं विकसनशील है और विकास की विभिन्न दिशाएं ग्रहण कर उसे जाति में व्यक्ति बना देता है, उसे व्यक्तित्व प्रदान कर देता है। यह अन्तःकरण ही मनुष्य का मूल चरित्र है। कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रकट मानव की क्रिया-प्रतिक्रियाएं तो इसका प्रकाशनमात्र हैं; इस की अभिव्यक्ति है। पर जैसा कि इसके गठन से ही स्पष्ट है, अंत:करण एक विलक्षण तत्ववर्ग है। इसे कार्य-

४७. तिलक, 'गीता रहस्य', (हिन्दी अनुवाद), पृ० १४३

४८. रामचन्द्र वर्मा, 'संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर' काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण,सं० २००२, पृ० ११ : अंतरात्मा--संज्ञा स्त्री (सं०), १. जीवात्मा। २. अंतःकरण

४९. (क) Aurobindo, 'Lights on Yoga' Arya Publishing House, Calcutta, 1948, p. 20 :

"The soul gathers the essential element of its experiences in life and makes that its basis of growth in the evolution, when it returns to birth it takes up with its mental, vital physical sheaths so much of its Karma as is useful to it in the new life for further experience."

(ख) अरविन्द, 'योगप्रदीप', श्री अरविन्द ग्रन्थमाला,कलकत्ता, १९३६, पृ० ३५।

(ग) तिलक, 'गीता-रहस्य' (हिन्दी अनुवाद), पृ० १८८ :

"जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किए ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसके आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्वों का (बुद्धि, अहंकार, मन, दस इन्द्रियां और पांच तन्मात्राएं) यह लिंग शरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है, और जब तक उसे पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति हो नहीं जाती तब तक उस लिंग शरीर के ही कारण, उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।"

कारण के चौखटे में नही बाधा जा सकता। उसकी क्रियाओं और प्रनिक्रियाओ के बारे में कोई निश्चित अनुमान लगाना असम्भव-सा ही है। प्राय देखा गया है कि एक ही परिस्थिति में पली एक ही माता-पिता की जोडी सतान परस्पर विरोधी आचरण की होती है। कदाचित् चरित्र की इसी विलक्षणता के कारण, उसकी परिभाषा देते हुए अपने एक लेख 'प्लॉट ऑर कैरेक्टर' के अन्त में प्रसिद्ध अमेरिकन आलोचक एग्री ने हार मानते हुए कहा है . चरित्र वह उपादान है जिसके गुणो (वर्चुज) का अभी तक पता नही चल सका। चरित्र को परिभाषा में बांधते हुए इसी लेख मे उसने माना है कि तथा-कथित 'भीतरी प्रकृति,' वह आत्मा जो न जानी जा सकने वाली प्रतीत होती है, ही चरित्र है—इससे न कुछ कम और न अधिक।[५०]

चरित्र की विभिन्न मनोवैज्ञानिक परिभाषाएँ

अन्त करण के उपर्युक्त गठन को समझ लेने के बाद, ऐसा प्रतीत होने लगता है कि चरित्र को परिभाषा में बाँध लेने के प्रयत्न में आधुनिक मनोविज्ञान अन्त करण को टटोल रहा है पर वह उसकी पकड़ में नही आ रहा। पाश्चात्य मनोविज्ञान का मूल्यांकन करते हुए प्रोफेसर हॉकिंग ने आधुनिक मनोविज्ञान की इस असमर्थता को मुक्त कठ से स्वीकार किया है।[५१] मैक्डूगल ने चरित्र को प्रज्ञात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक तत्वो का सगठन माना है।[५१] निश्चय ही चरित्र इन तत्वों के सगठन मात्र से कुछ अधिक होगा। जैसा कि घी, चीनी, रवा और पानी का सगठन मात्र हलवा नही। इन वस्तुओं के संगठन से हलवा बनाने की एक प्रक्रिया होती है और इस प्रक्रिया को चलाने वाला भी कोई होता है। मैकड्यूगल ने चरित्र के तत्त्व तो बता दिये, पर उनका सगठन कैसे होता है, यह नहीं बताया। इसके अतिरिक्त क्रियात्मक तत्त्व अर्थात् कर्मेन्द्रियों को चरित्र का तत्त्व मानना भी विचारणीय हो

---

५०. Lajoi Egri. "Plot or Character", 'The Writers Book', Harper & Bros, New York, 1950, p. 160:

"What is a character ? A factor whose virtues have not yet been discovered."

"...the so called 'inwardness', the seemingly unpredictable soul, is nothing more nor less than character."

५१. W. E. Hocking, 'Mind and Near Mind', 'Proceedings of the Sixth International Congress of Philosophy', ed. E. S. Brightman, Longmans, London, 1927, p. 203 and 215:

"But the extant science or sciences of mind have presented us not the *mind itself, but substitutes for mind — Near-minds, we may call them* ....The several Near-minds of the scientific psychology have their worth and their actuality; but they have life only as organs of mind."

५२. अर्जुन चौबे काश्यप, 'सामान्य मनोविज्ञान', द्वितीय भाग, राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया, प्रथम संस्करण, १९५१, पृ० ७५८।

सकता है, क्योंकि कर्मेन्द्रियाँ चरित्र नहीं, चरित्र के प्रकाशन के साधन मात्र है। चरित्र की ऐसी ही एक अधूरी परिभाषा नाट्यकला की व्याख्या करते हुये विलियम आर्कर ने भी अपनी पुस्तक 'प्लेमेकिंग ए मैन्युअल आव क्रेफ्ट्समैनशिप' में दी है : प्रज्ञात्मक, भावात्मक और उत्तेजनात्मक आदतों का सम्मिश्रण या समूह।[५३]

डा० रोबक के मतानुसार चरित्र जन्मजात मूल प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाओं के निग्रह वाला एक सतत जागृत मनोवैज्ञानिक झुकाव है, जो एक व्यवस्थापक सिद्धांत के अनुसार चलता है।[५४] रोबक द्वारा दी गई चरित्र की यह परिभाषा मनोविज्ञान की अपेक्षा नीतिशास्त्र के अधिक निकट प्रतीत होती है। जन्मजात मूल प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाओं का निग्रह चरित्र का स्वभाव नहीं,[५५] यह तो नीति, समाज या सभ्यता की माँग है कि इन उत्तेजनाओं का दमन किया जाये। मन तो स्वभावतः बुद्धि के अनुशासन से मुक्त होकर इन प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाओं को उनके प्रकृत रूप में बहने देना चाहता है; पर यदि कार्य-अकार्य का निर्णय करने वाली व्यवसायात्मिका बुद्धि स्वस्थ और शान्त हो तो मन में निरर्थक वासनाएं उत्पन्न नहीं होती और उसकी प्रवृत्त्यात्मक उत्तेजनाएं दबी रहती हैं[५६] और वह बिगड़ने नहीं पाता।

चरित्र की परिभाषा देते हुए अपने ग्रन्थ 'ह्यूमन नेचर इन द मेकिंग' में शॉन ने कहा है कि क्रियाशील 'सैल्फ'—वह सैल्फ जो किसी न किसी सामाजिक परिपार्श्व में विकासोन्मुख रहता है—ही चरित्र है।[५७] 'सैल्फ' की व्याख्या करते हुए शॉन ने पहले ही कहा है कि सैल्फ अपने आप को अलग समझने का एक ज्ञान मात्र है।[५८] इस प्रकार 'सैल्फ' अहंकार का पर्याय हो जाता है। शॉन के अनुसार विकासोन्मुख

५३. William Archer, 'Playmaking : A Manual of Craftsmanship' :
"A complex of intellectual, emotional and nervous habits."

५४. (क) Roback. "Character and Inhibition", 'Problems of Personality', C. M. Campbell, 1925, p. 117-118.
(ख) Roback, "The Psychology of Character", Routledge & Vegan Paul. London, 3rd ed. 1952, p. 568.
"An enduring psychological disposition to inhibit instintive impulses in accordance with a regulative principle."

५५. 'श्रीमद्भगवद्गीता', ३।३३ :
सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

५६ 'श्रीमद्भगवद्गीता', २।४१, ४४ तथा ३। ४२.

५७. Max Schoen, 'Human Nature in the Making', The Wordsworth, Ltd., Surrey 1947, p. 159.
"Character is the self in action, in the process of cultivation in some social medium."

५८. Ibid, p. 153:
"Self is a form of knowledge, the knowledge of being different."

अहकार ही चरित्र है। पर क्या अहकार को चरित्र माना जा सकता है ? यह अहकार तो 'मेरे तेरे' का भाव-मात्र है, जिसकी उत्पत्ति महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि से होती है। जब बुद्धि न होगी और उसका व्यापार नही होगा तो जीव मोह-वश अपना समझेगा किसे ? वास्तव में विकास तो बुद्धि का होता है और जीव विमूढ होकर, अहकार से, उसे अपना समझ बैठाता है। इसलिये बुद्धि का समावेश आवश्यक है, पर मन वजीर के बिना इन दोनों का व्यापार चल कैसे सकता है ?

मानवाचरण का मूल प्रेरक, अन्तःकरण

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं में से कोई भी हमारी संतुष्टि नही कर पाती और हमें मानना पडता है कि बुद्धि, अहंकार और मन, इन तीनों की सम्मिलित प्रक्रिया अर्थात् अन्त.करण से ही मनुष्य का विकास होता है। अन्त करण का विकास ही मनुष्य का विकास है। विकासोन्मुख अन्त.करण ही मूल चरित्र है और किसी क्षण विशेष की उसकी विकासावस्था है मनुष्य का व्यक्तित्व। प्रकृति के विकार होने के नाते उसके गुणो को धारण करने वाले अन्त करण के तत्व अर्थात् बुद्धि, अहकार और मन पूर्व कर्म के अनुसार, पूर्व परम्परागत या आनुषंगिक सस्कारो के कारण अथवा शिक्षा आदि अन्य कारणो से,[५९] कम या अधिक सात्विक, राजस और तामस होकर उनका विकास करते है; चरित्र का निर्माण करते है।

चरित्रचित्रण की कतिपय परिभाषाएँ

चरित्रचित्रण की परिभाषा देते हुए स्कॉट मेरेडिथ ने कहा है कि चरित्रचित्रण कथा के पात्रो की व्यक्तिगत तथा न्यारी विशेषताओ अथवा उनके स्वाभाव को प्रकाश में लाकर उन्हे एक दूसरे से भिन्न दिखाने की एक विधि है।[६०] इस परिभाषा के मूल में ही कही गडबड है। पात्रो को एक-दूसरे से भिन्न दिखाने से ही उनका चरित्र प्रकाश में आ जायगा, यह समझना भ्रममात्र है। वस्तुस्थिति तो यह है कि पात्रों का चरित्र ठीक ढग से चित्रित होने से वे अपने आप ही एक-दूसरे से भिन्न दीखने लग जाते हैं। यदि पात्रो को एक-दूसरे से भिन्न दिखाना ही चरित्र-चित्रण है तो उसके लिये उनके रग-रूप, आकार-प्रकार, वेश-भूषा इत्यादि का चित्रण ही पर्याप्त होना चाहिए। फिर उनके 'न्यारे गुण और स्वभाव' को प्रकाश मे लाने की आवश्यकता क्यो पड़ी ? इससे स्पष्ट है कि पात्रों को एक-दूसरे से न्यारा दिखलाना चरित्र-चित्रण का साध्य नहीं, उसका साध्य तो उनके चरित्र या स्वभाव का प्रकाशन है।

---

५९. डा० सहस्रबुद्धे, 'स्वभावलेखन' (मराठी में), माडर्न बुक डिपो प्रकाशन, पूना, १९३८, पृष्ठ १४ : 'सामान्यतः अनुवंश, परिस्थिति, संस्कार व विचार-विकार यांना मनुष्य स्वभावा चे घटक''' ।'

६०. Scott Meredith, "Stuffing the Hollow-man — Characterization", 'Writing to Sell', Harper & Bros., New York, 1950, p. 62.

"Characterization......is the method of distinguishing your story people from one another... .. by revealing their individual and distinctive qualities or nature

इस परिभाषा में एक और बात भी विचारणीय है कि क्या पात्रो के केवल न्यारे गुण या स्वभाव के प्रकाश से उनका चरित्रचित्रण अप्रकृत और अधूरा न रह जायेगा मनुष्यमात्र का मूल एक होने से उनमें भिन्नता होते हुए भी कुछ न कुछ समानता अवश्य रहती है, जिसे न दिखाने से पात्रो के चरित्र के अस्वाभाविक हो जाने की सम्भावना रहती है। कदाचित इसीलिये उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द ने कहा है कि 'सब आदमियों के चरित्र में बहुत कुछ समानताएँ होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती है। यही, चरित्र सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और भिन्नत्व में अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है',[६१] जिससे चूक जाने पर उपन्यास के पात्रों पर उँगलियाँ उठने लगती है। अंग्रेजी उपन्यासकार चार्लस डिकन्स के उपन्यास 'म्यूच्यूअल फ्रेण्ड्ज' के पात्रो के सम्बन्ध में उपन्यासकार हैनरी जेम्स ने भी लगभग इसी आधार पर अपनी शिकायत प्रकट की थी।[६२]

इसी प्रकार चरित्र-चित्रण की व्याख्या करते हुए रॉबिन्सन ने कहा है कि सक्षेप में, 'चरित्रचित्रण' शब्द का अभिप्राय है कहानी में लोगो (पात्रों) को पर्याप्त मूर्तिमत्ता और स्वाभाविकता के साथ इस प्रकार चित्रित करना कि वे पाठकों के लिये छाया-नाम न रह कर पुस्तक के समतल पन्नो से उभर आए और कम से कम उस समय के लिये तो व्यक्तित्व धारण कर लें।[६३] पात्रों का इस प्रकार चित्रण कि वे व्यक्तित्व धारण कर, पाठकों की कल्पना में सजीव होकर नाच उठें, उनके विकास की विभिन्न अवस्थाओं का प्रकाशन ही होगा। पर पात्रों का चरित्र विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक कब, क्यों और कैसे पहुँचा, यह दिखाये बिना उपन्यास में चरित्र-चित्रण अधूरा रह जायेगा। लौट्जे के शब्दो में पात्रो के चरित्र का क्रमिक निर्माण ही उपन्यास की वास्तविक समस्या है।[६४]

उपन्यास में चरित्रचित्रण का समुचित स्वरूप

✓इसलिये, उपन्यासकार को अपने पात्र के अन्तःकरण के सम्पूर्ण रुझान, उसके

---

६१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', सरस्वती प्रेस, बनारस, चौथा संस्करण, १९४९, पृष्ठ ३८.

६२. Henry James, "The Limitations of Dickens", 'The Portable Henry James, Viking Press, New York, 1951, p. 436.

"The people (Boffins etc.) have nothing in common with each other, except the fact that they have nothing in common with mankind at large."

६३. M. L. Robinson, 'Writing for Young People', Thomas Nelson, New York, 1950, p. 11:

"The characterization means briefly the setting of people in the story with a sufficient degree of visibility and plausibility so that they may for the readers emerge from the flat page as more than shadowy names, and possess, for the time at least, the rudiments of personality".

६४. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 148.

"Slow shaping of character is the problem of novel." (Lotze)

आसपास की परिस्थिति, परिस्थिति की उसके मन पर होने वाली प्रतिक्रिया, उस प्रतिक्रिया की उसके अन्तःकरण पर संस्कार डालने की शक्याशक्यता और विभिन्न प्रसंगों में उसके अन्तःकरण में उत्पन्न विचारों और प्रकट में होने वाले विकारों के कम या अधिक सात्विक, राजस और तामस होने का पूरा-पूरा चित्रण करना होगा। विभिन्न परिस्थितियों में पात्रकी भिन्न-भिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाएं हो सकती है, समान परिस्थितियों में भी उसकी प्रतिक्रियाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं पर उन विभिन्न क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रेरकों में एकसूत्रता लाकर उपन्यासकार को पात्रों के चरित्र-विकास में संगति लानी होगी।[६५] सारांश यह कि उपन्यासकार को अपने पात्रों का पूर्णज्ञाता बनना होगा, उनके सम्बन्ध में उसे पूरी-पूरी जानकारी रखनी होगी और उस जानकारी को पाठकों पर प्रकट करते हुए उन्हें प्रतीति करा देनी होगी कि भले ही वह समय और स्थान के अभाव में अपने पात्रों की पूर्ण व्याख्या न कर सका हो, पर उसके पात्र पहेली नहीं है।[६६] तभी उसके पात्र सजीव हो सकेंगे। अपने पात्रों का एकसाथ स्रष्टा और जीवनीकार दोनों होने से उपन्यासकार के लिये ऐसी प्रतीति करा सकना असाध्य तो नहीं, कष्टसाध्य अवश्य है पर सच्चा उपन्यासकार कष्ट सहने में कसर कब उठा रखता है।

उपन्यास और महाकाव्य में चरित्रचित्रण

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने काव्य को 'रसात्मकं वाक्य' कहा है[६७] और 'रसगंगाधर' में पण्डितराज जगन्नाथ ने विश्वनाथ और अन्य आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया है कि रमणीय अर्थ का बोध कराने वाला शब्द ही काव्य है। रमणीय अर्थ से पण्डितराज का अभिप्राय है अलौकिक आनन्द की सृष्टि करने वाले ज्ञान की उपलब्धि। अलौकिकता के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि वह आनन्द में पाये जाने वाले चमत्कार के लिए दूसरा पर्यायवाची एक भेद-विशेष है और अनुभव ही उसका साक्षी है।[६८] प्रत्येक महाकाव्य पहले काव्य है और बाद में महाकाव्य। इसलिए वह रमणीय अर्थ का प्रतिपादक तो होगा ही, इसके अतिरिक्त

---

६५. Haines, 'Living with Books', p. 526 :

"It is not consistency of action that makes a novel true to human nature and human experience, but consistency of motive and character."

६६. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 61:

"A character in a book is real when the novelist knows everything about it. He may not choose to tell us all he knows But he will give us the feeling that though the character has not been explained, it is explicable."

६७. विश्वनाथ, 'साहित्यदर्पण', १।३ : 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

६८. जगन्नाथ, 'रसगंगाधर', प्रथम आनन :

"रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभव साक्षिको जाति-विशेषः"

उसमे कुछ और विशेषताएँ भी होंगी, जो उसे काव्य से महाकाव्य बनाती है। महाकाव्य की अतिरिक्त विशेषताओ का उल्लेख विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण'[६९] में किया है। महाकाव्य की ये अनिवार्य विशेषतायें उपन्यास के लिए अनिवार्य न होते हुए भी, छन्दोबद्धता को छोडकर, निषिद्ध नही हैं।

अपने प्रारम्भिक रूप में उपन्यास वर्णनात्मक कविता का स्थानापन्न रहा होगा। गद्य-पद्य-युक्त विस्मयोत्पादक प्रारम्भिक उपन्यास इसी ओर स्पष्ट संकेत है। कदाचित् इसीलिए फील्डिग ने अपने उपन्यास 'जोजेफ एण्ड्रयूज' को 'गद्य में लिखा हुआ एक सुखान्त महाकाव्य' कहा था।[७०] श्रेष्ठ उपन्यास के लक्षण बताते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकार हार्डी ने भी कहा था कि एक प्रकार की काल्पनिक रचना जो प्राचीन युग के अत्युत्तम महाकाव्य, नाटक या आख्यायिका के निकटतम हो।[७१] जेम्स जायस, डी० एच० लॉरेंस, वर्जीनिया वुल्फ तथा हिन्दी में जयशकर प्रसाद, राधिका रमणप्रसाद सिह, अज्ञेय जेसे कई उपन्यासकार गद्य में लिखते लिखते अचानक अपने आप को कविता करते हुए पाते है। इसका अभिप्राय यह नही कि वे छन्दोबद्ध रचना करने लगते है, बल्कि ऐसी रचना करने लगते है जो गद्य में होते हुए भी कविता के निकटतर होती है। उनके गद्य की रमणीयार्थ-प्रतिपादकता किसी प्रकार भी कविता की रमणीयता से कम नहीं होती। आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के विषय में तो यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि जब उपन्यासकार

---

६९. विश्वनाथ, 'साहित्यदर्पण', ६।५७९ :

सर्गबन्धो महाकाव्य तत्रैको नायकः शूरः।
सद्वश क्षत्रियो वाऽपि धीरोदात्तगुणान्वितः॥
एकवशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगार वीर-शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
...   ...
इतिहासोद्भव वृत्तमन्यत् वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेक च फलं भवेत्।
...   .
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतांच गुणकीर्त्तनम्।
...   .
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह।
..   ..
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेय-कथया सर्गनाम तु॥

७०. Arnold Kettle, 'An Introduction to the English Novel,' Vol I :

"Fielding described 'Joseph Andrews' as a comic epic poem in prose."

७१. Stephen Spender, "The Novel and Narrative Poetry", 'Penguin New Writing', Sept. 1942.

"Good fiction may be defined here as that kind of imaginative writing which lies nearest to the epic, dramatic and narrative master-pieces of the past." (Thomas Hardy)

स्थूल वर्णनात्मकता से निकल कर मानस की अतल गहराइयों में उतरने लगता है और उसके पात्रो का चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) उमड़ पड़ता है, उपन्यास कविता के निकटतम पहुँच जाता है। पात्रों की एक साथ कई स्तरो पर अभिव्यक्ति के लिए, जो आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की प्रमुख विशेपता है,[७२] कविता अत्यन्त उपयुक्त है,[७३] वह कविता छन्दोबद्ध भले ही न हो।

उपन्यास 'एपिक इन प्रोज़' नहीं—तो क्या महाकाव्य और उपन्यास के इस साम्य के आधार पर यह मानना होगा कि अभिव्यक्ति के प्रकारान्तर, गद्य तथा पद्य, के अतिरिक्त इनमें और कोई अन्तर है ही नहीं ? क्या फील्डिग आदि कुछ लोगो के अनुसार यह मान लेना उपयुक्त होगा कि महाकाव्य पद्यमय उपन्यास (नॉवेल इन वर्स) [७४] है और उपन्यास गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) है ? यदि इस कथन में कुछ भी सार है तो उपन्यास और महाकाव्य के तत्त्वो का स्वरूप एक-सा होना चाहिए ; पर वस्तुस्थिति इससे भिन्न है—विशेपत: चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में--और यह अकारण नही। वैब्स्टर ने 'एपिक' की परिभाषा करते हुए उसे वीर नायको के पराक्रम का वर्णन करने वाली उच्च कोटि की कविता कहा है।[७५] इस परिभाषा के अनुसार तथा विश्वनाथ द्वारा दिए गए महाकाव्य के लक्षणों में से एक 'सताञ्च गुण कीर्तनम्'--के आधार पर महाकाव्य या एपिक' का उद्देश्य ठहरता है—वीरो के पराक्रम[७६] का अतिरंजित वर्णन करके उन्हे महिमान्वित करना और साथ ही दुर्जनो की निन्दा भी करना : 'क्वचिनिन्दा खलादीनाम्'। इसलिए मानना होगा कि महाकाव्य का भवन आदर्श पर टिका है, क्योकि वास्तव मे कोई भी मनुष्य सम्पूर्णतया सात्विक या सम्पूर्णतया तामसिक नही हो सकता। उसमें सत्व, रज और तम तीनो गुणो का न्यूनाधिक रूप में बने रहना अनिवार्य है। किसी मनुष्य में सब कुछ प्रशसनीय ही हो या सब कुछ निन्दनीय ही हो, यह असम्भव है।

इसके विपरीत उपन्यास की नीव यथार्थ जीवन है। हेनरी जेम्स के शब्दो में उपन्यास के अस्तित्व का एकमात्र कारण यह है कि वह हमारे जीवन के चित्रण

---

७२. वात्स्यायन, "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण", 'कल्पना', जून, १९५२।

७३ Stephen Spender, 'The Novel and Narrative Poetry'

" . it shows that poetry is really the medium most suited to such devices as the 'interior monologue' and variations through the minds of several characters on a single theme".

७४. शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', सरस्वती मन्दिर, बनारस, सं० २००२, पृष्ठ ३।

७५. Webster, 'American Standard Dictionary', p. 111

"A poem of elevated character, describing the exploits of heroes."

७६. वीरों से अभिप्राय केवल युद्धवीर से नहीं दयावीर, धर्मवीर और दानवीर से भी है। देखिए—साहित्यदर्पण ३।२३८ :

"स च दानधर्मयुद्धै र्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्"

का प्रयत्न करता है।[७७] उपन्यास लोगो की यथार्थताओ से बना एक घर है। किसी पात्रको या नायक को महिमान्वित करने या न करने का प्रश्न उपन्यास में उठता ही नही। कोई पात्र जैसा हे, उपन्यास उसे वैसा ही चित्रित करने का प्रयत्न करता है उपन्यास पात्रो की पराजयो को उतनी ही तन्मयता से चित्रित करता है, जितनी तन्मयता से उनकी विजयो को, उनके अवगुणों को उतना ही महत्त्व देता है, जितना महत्त्व उनके गुणो को देता है, बल्कि कई बार यह विचार किए बिना कि यह उन की सफलता या असफलता, यह उनको यथावत् चित्रित करने का प्रयत्न करने लगता है। इसलिए यह विचारणीय हो सकता है कि क्या 'गोदान' का होरी, 'ककाल' का विजय, 'शेखर' एक जीवनी' का शेखर, 'अन्तिम आकाँक्षा' का रामलाल, 'द गुड अर्थ' का वैगलुंग', 'प्राइड एण्ड प्रेज्यूडिस' की एलिजाबेथ, आदि महाकाव्य के नायिक-नायिकाएँ बन सकते थे ? नही, कदापि नही। उन्होंने ऐसे कौन से पराक्रम किये है, उनमे ऐसे कौन से अत्यधिक प्रशंसनीय गुण है, जो उन्हें महाकाव्य के नायकत्व के अधिकारी बना देते ? पर वे, अपने गुणावगुण सहित अपनी सफलताओं-विफलताओ के साथ, जो कुछ भी है, जैसे भी है, उपन्यास-जगत के अमूल्य रत्न है।

उपन्यास की नींव : जीवन की यथार्थतायें—इसका अभिप्राय यह नहीं कि उपन्यास में महाकाव्य के धीरोदात्त[७८] नायक की अवतारणा हो ही नही सकती। उपन्यास का नायक या कोई अन्य पात्र धीरोदात्त हो सकता है, पर धीरोदात्त होना उसकी अनिवार्यता नही। ऐसी स्थिति में उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज़) और महाकाव्य को पद्यमय उपन्यास (नावेल इन वर्स)[७९] कह कर उनके पारस्परिक अन्तर को मिटाने का प्रयत्न करना दोनो के प्रति अन्याय करना होगा। उपन्यास 'एपिक इन प्रोज़' का-सा हो सकता और नहीं भी हो सकता। कोई उपन्यास गद्यमय महाकाव्य प्रतीत होने लगे तो उसे महाकाव्य ही मान लेना उपयुक्त न होगा, क्योंकि स्थूल स्वरूप का साम्य हो जाने पर भी उनमें तात्त्विक अन्तर ज्यों का त्यों बना रहेगा। महाकाव्यकार की सारी तपस्या मानव-प्रकृति के अपरिवर्तनीय गुणों के उद्घाटन के लिए होती है, जो मूलरूप में उसके अपने मानस में स्थित रहते है, पर उपन्यासकार देश-काल परिस्थिति तथा कार्य-कारण की परिधि से नही निकल पाता। इसीलिए महाकाव्य की प्रभावोत्पादकता देशकालातीत होती है, पर उपन्यास के सम्बन्ध में यह पूर्णतया नही कहा जा सकता।

---

७७. Henry James, "Art of Fiction", 'The Portable Henry James', New York, 1951, p. 393

७८. विश्वनाथ, 'साहित्य दर्पण', ३।६८ :

धीरोदात्त :

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्वः।
स्थैर्यान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

७९. श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृ० ३.

उपन्यास में फलागम अनिवार्य नहीं—उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) कहना तो और भी असगत होगा, क्योंकि महाकाव्य की अनिवार्य विशेषतायें उपन्यास के लिए अनिवार्य नही। उपन्यास महाकाव्य की मर्यादा का उल्लघन कर सकता है। उदाहरणार्थ, महाकाव्य के नायक के लिए धीरोदात्त होना ही पर्याप्त नही, वल्कि यह भी आवश्यक है कि महाकाव्य के अन्त में उसे फल की प्राप्ति हो। 'महाकाव्य का नायक अन्त में सफलता अवश्य प्राप्त करता है, यदि नायक विफल रहता है तो रचना महाकाव्य के स्तर से गिर जायगी'।[८०] उसके नायक मे इतनी सामर्थ्य और शक्ति होनी चाहिए कि उसके प्रतिद्वन्द्वी उसके सम्मुख अन्त तक न टिके रह सके। उपन्यास के नायक के लिए इस प्रकार की कोई अनिवार्यता नही। उपन्यास सुखान्त भी हो सकता है और दु खान्त भी। इसलिए उपन्यास को गद्यमय महाकाव्य (एपिक इन प्रोज) कहना क्या उसके प्रति अन्याय करना न होगा ?

महाकाव्य में व्यक्ति-चरित्र का अभाव—महाकाव्य में पात्रो की रचना और उनका चरित्रचित्रण एक पूर्वनिश्चित ढर्रे पर ही होता है। उसमें नायक होता है और उसका प्रतिद्वन्दी खलनायक भी। नायक धीरोदात्त होता है और खलनायक धीरोद्धत।[८१] कुछ पात्र नायक के सहायक होते है और कुछ खलनायक के। नायक के सहायक पात्र सज्जन होते हैं और खलनायक के सहायक दुर्जन। दोनो दलों में भीषण संघर्ष होता है और अन्त में नायक और उसके दल की विजय होती है। इस प्रकार महाकाव्य के पात्र प्राय. किसी-न-किसी वर्ग के प्रतीक या प्रतिनिधि (टाइप) ही होते है, परन्तु व्यक्ति-चरित्र, जिसका चित्रण आधुनिक उपन्यास की एक विशेषता है, महाकाव्य में दुर्लभ है।

उपन्यास और नाटक में चरित्रचित्रण

कई बार यह मान लिया जाता है कि रग-मच का सम्बन्ध पात्रों की क्रियाशीलता से तथा उससे उत्पन्न घटनाओं से इतना अधिक है कि नाटक में चरित्रचित्रण का स्थान गौण समझा जाना चाहिए। परन्तु वास्तव में पात्रों का सबसे अधिक महत्व यदि किसी साहित्य-प्रकार में है तो वह नाटक है जिसका अभिनय पात्रो के बिना हो नही सकता। नाटककार स्वयं तो रंगमच पर आता नहीं और जब तक रगमच पर कोई आए नहीं तब तक नाटक का आरम्भ कैसे हो ? नाटक के प्रारम्भ से लेकर

---

८०. (क) डा० एस० पी० खत्री, 'आलोचना . इतिहास तथा सिद्धान्त', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ २४५।

(ख) 'महाकाव्य' के लक्षण देते हुए विश्वनाथ ने भी तो 'साहित्यदर्पण' में कहा है : 'चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकच फल भवेत्।

८१. धीरोद्धतः (साहित्यदर्पण—३।६६)
मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहकारदर्पभूयिष्ठ ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरै धीरोद्धतः कथित :॥

अन्त तक एक वा अनेक पात्र रगमच पर आकर कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। क्या उनके क्रिया-कलाप में उनका चरित्र नही झलकता ?

रंगमंग पर आए हुए प्रत्येक पात्र का आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार तथा कथोपकथन आदि प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में उसके चरित्र का ही तो चित्रण करते है। जहाँ वे ऐसा नही करते वहाँ नाटक में कार्य की एकता के भग होने की सम्भावना वनी रहती है। कार्य की एकता नाटक का प्राण है। नाटक में चरित्रचित्रण के महत्त्व को स्थापित करते हुए आर्थर जॉन्स ने तो यहाँ तक कह दिया कि किसी अभिनेय कृति में कथानक, घटनाएँ और वातावरण, जब तक कि वे चरित्रचित्रण से सम्बन्धित न हो, अपेक्षाकृत अबौद्धिक रहते हे। उन्हे चरित्रचित्रण के विकास की एक कड़ी बनना चाहिए।[८२] रगमच पर किया गया अभिनय यदि पात्रो के चरित्र पर प्रकाश नही डालता, तो समझना चाहिए कि वह अपने मार्ग से भटक गया है; साधन से साध्य वन कर अपना लक्ष्य खो बैठा है। नाटक में चरित्रचित्रण का स्थान निर्धारित करते हुए अपने लेख 'प्लाट ऑर कैरेक्टर' में एग्री ने ठीक ही लिखा है कि श्रेष्ठ नाटक उन पुरुषों की देन है, जिनका धैर्य असीम था। कदाचित् उन्होंने अपने नाटक गलत सिरे से प्रारम्भ किए, पर वे पग-पग पर सघर्ष करते पीछे हटते रहे, जब तक कि उन्होने अपनी रचना का आधार चरित्र को नही बना लिया, चाहे उनके चेतन में यह बात न आई हो कि चरित्र ही एक ऐसा तत्व है जो नाटक की नीव हो सकता है।[८३]

उपन्यासकार का एक मात्र साधन : शब्द—प्राचीन आचार्यो ने दृश्य और श्रव्य नाम से साहित्य के जो दो भेद किए हे,[८४] उनके अनुसार उपन्यास श्रव्यकाव्य के अतर्गत है और नाटक दृश्यकाव्य के। उपन्यास को सुनने या पढने से श्रोता या पाठक पर वह सब-कुछ प्रकट हो जाता है, जो उपन्यासकार उस तक पहुँचाना चाहता है, पर नाटक को केवल पढ़ने या सुनने से वह सब प्रकाश में नही आता, जो नाटककार व्यक्त करना चाहता है। अत उसके साथ-साथ अभिनय देखने की भी आवश्यकता रहती है। नाटककार के मंतव्य की अभिव्यक्ति नाटक के शब्दो और उसके

८२. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 186 :
"Story and incident and situation in the theatrical work are, unless related to character, comparatively unintellectual. They should only be another phase of development of characterization." (Henry Arthur Jones)

८३. Lajoi Egri, "Plot or Character", 'The Writers Book', p. 168 :
"The great plays came to us from men who had unlimited patience for work. Perhaps they started their plays at the wrong end but they fought themselves back inch by inch, until they made character the foundation of their work, although they may not have been objectively conscious that character is the only element that could serve as the foundation."

८४. विश्वनाथ, 'साहित्यदर्पण', षष्ठ परिच्छेद, कारिका २७५ तथा ५७७
"दृश्य श्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। दृश्य तत्राभिनेयम् ॥२७५॥
श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत् पद्यगद्यमय द्विधा ॥५७७॥"

अभिनय दोनों में बँटी रहती है, जिनके समन्वय में ही उसकी सम्पूर्णता निहित है। परन्तु उपन्यास अपने लिखित रूप मे एक पूर्ण रचना है—अपने आप में एक पूर्ण कृति। वह सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष है। उपन्यासकार अपने पाठकों तक जो कुछ पहुँचाना चाहता है, उसे शब्दो के रूप मे ढाल देता है। उपन्यास का कथानक तथा पात्र और उनके कथोपकथन ही नही, उन पात्रो की वेश-भूषा, अंग-भंगिमा, भाव-विचार, विभिन्न दृश्य आदि तथा वे सब जो नाटक के अभिव्यक्ति-साधन है, उपन्यास के शब्दो में निहित रहते है। इसीलिए उपन्यास को नाटक की भाँति अपने मे अलग किसी रंगमंच की आवश्यकता नही रहती, उसका रंगमंच शब्द-चित्र के रूप में उसके भीतर ही रहता है, जिस पर प्रकट होने की पात्रो के साथ-साथ उपन्यासकार को भी स्वतन्त्रता रहती है। कदाचित् इसी कारण, मेरियम क्रॉफोर्ड ने उपन्यास को 'जेबी नाट्यशाला' (पाकेट थियेटर)[८५] कहा है।

नाटककार की सीमा—उपन्यास और नाटक का यह तात्विक अन्तर उनके पात्रो के चरित्रचित्रण के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर ला देता है। अपने पात्रों का स्रष्टा और कथाकार (नैरेटर) दोनों होने के कारण चरित्रचित्रण[८६] के लिए जितनी सुविधाएँ उपन्यासकार को प्राप्त है, वे सब नाटककार को उपलब्ध नहीं। नाटककार की स्थिति कुछ-कुछ वही है, जो जगत्स्रष्टा की। वह स्रष्टा तो है, पर रंगमंच पर प्रकट होकर अपनी सृष्टि की कहानी नही सुना सकता। इसलिए, नाटक के पात्रो का स्वरूप उपन्यास के पात्रों से भिन्न हो जाता है। उपन्यास के पात्र साहित्य के पात्र है, पर नाटक के पात्र वस्तु-जगत के व्यक्ति प्रतीत हों, इसी में नाटक की सफलता है। परन्तु जगत के व्यक्ति एक-दूसरे के लिए—अपने लिए भी तो—एक पहली है। जो उनका स्रष्टा है तथा उनका पूर्ण ज्ञाता है, वह उनका परिचय नही कराता और हमें एक-दूसरे के क्रियाकलाप, आचार-व्यवहार आदि के आधार पर अनुमान लगाना पड़ता है जो सीमित तो होता ही है पर कई बार भ्रामक भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार, नाटक में पात्रो की वेश-भूषा और आकार-प्रकार से, उनके आचार-व्यवहार और कथोपकथन आदि से पात्रो के चरित्र की जितनी व्याख्या हो जाती है, वही नाटक मे चरित्रचित्रण की सीमा है। उससे अधिक कुछ कर सकने में नाटककार असमर्थ है। परन्तु उपन्यासकार जब इन सब साधनो के प्रयोग द्वारा भी अपने पात्रो का पूर्ण चित्रण नही कर पाता, उनके बारे में अपनी जानकारी की पूर्ण अभिव्यक्ति नही कर पाता, तो वह कथाकार के रूप में प्रकट होकर, प्रत्यक्ष शैली द्वारा उस कमी को पूरा कर देता है। नाटककार जहाँ नाटकीय प्रणाली (इन्डायरेक्ट मैथड) को ही अपना सकता है, वहाँ उपन्यासकार को प्रत्यक्ष प्रणाली (डायरेक्ट मैथड) के प्रयोग की भी स्वतन्त्रता रहती

८५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 129 ·
"The novel is, Marin Crawford once happily phrased it, a 'pocket theatre'".
८६. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 61.

है। नाटककार को अपने पात्रों से अलग रह कर, उन्हें अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा स्वय व्यक्त होने देना पडता है।

उपन्यासकार यह सब तो करता ही है, इसके अतिरिक्त उनके हृदय में बैठ कर उनके सकल्प-विकल्प और भाव-विचार की व्याख्या और आलोचना करता हुआ अधिकारपूर्ण निर्णय भी देता चलता है। वैसे तो नाटककार भी अपने पात्रों के चरित्र की आलोचना दूसरे पात्रों के कथोपकथनो और उनकी प्रतिक्रियाओं के रूप मे करता हुआ प्रछन्न रूप से अपना मत प्रकट कर देता है, पर उसका वह मत एक पात्र के बारे मे दूसरे पात्रो की आलोचनामात्र प्रतीत होने से उतना विश्वसनीय नही प्रतीत होता जितना कि उपन्यासकार का मत। उपन्यासकार स्थानाभाव के कारण भले ही पात्रों के बारे में अपनी जानकारी को प्रकट न करे, पर वह पाठको को यह विश्वास दिला देता है कि वह अपने पात्रो के बारे में सब कुछ जानता है और यह भी कि यद्यपि उसके उपन्यास में उनकी पूरी व्याख्या नही की गयी पर वह की जा सकती हे, उसके पात्र पहेली नहीं, व्याख्येय हे। नाटककार यह प्रतीति कराने में अशक्त है, क्योंकि नाटक में अभिनय के अभाव में चरित्रचित्रण अधूरा रह जाता है और अभिनय की सफलता अभिनेताओ पर निर्भर करती है, नाटककार पर नही। इसलिए नाटक में पात्रों का चरित्रचित्रण एक सीमा तक ही प्रकाश में आ सकता है और शेप के लिए दर्शकों को अनुमान से काम लेना पडता है। यह नाटककार की मजबूरी है, नाट्यकला की सीमा है।

उपन्यासकार की महानता—अब तक जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यह नही कि नाटककार की अपेक्षा उपन्यासकार का काम सरल है। इसमें सदेह नहीं कि उपन्यासकार की स्वतन्त्रता नाटककार को उपलब्ध नही, पर यह भी सत्य है कि रगमच की जो सुविधाएँ नाटककार को सहज उपलब्ध है, उनसे उपन्यासकार वंचित रह जाता है। नाटककार को अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार जो कुछ बना बनाया मिल जाता है, वह उपन्यासकार को अपने परिश्रम से बनाना पडता है। उसे नख से लेकर शिख तक अपने पात्रो को गढना पडता है; उनकी वेश-भूषा, आकार-प्रकार, क्रिया-कलाप इत्यादि वह सब कुछ जो नाटककार को बना-बनाया मिल जाता है, उसके लिए उपन्यासकार को अथक परिश्रम करना पड़ता है। इतना ही नही उसे अपने पात्रो की क्रीडा के लिए क्रीड़ा-स्थल बनाना पडता है और उनके कार्य के लिए कार्य-क्षेत्र भी। पात्रों का घर-गाँव, उनके खेत-खलियान तथा नगर और उसके ठाठ-बाट से लेकर बर्फ से ढके हुए पर्वतो के शिखर और उनके नीचे कल-कल का नाद करती हुई चचल गति सरिताओ आदि तक उसे न जाने क्या-क्या बनाना पडता है। पर उसकी कठिनाई यह नहीं कि उसे इतना कुछ बनाना पड़ता है। उसकी कठिनाई यह है कि उसे ये सब वस्तुएँ लकडी, चूना, मिट्टी से नही, केवल शब्दो द्वारा बनानी पडती हैं। शब्दों द्वारा ही उसे इन सबको मूर्त्तरूप देना पडता है। ऐसा मूर्त्तरूप जो मूल वस्तु की टक्कर का हो। अपने पात्रों के आकार-प्रकार, वेश-भूषा बना देने से ही उसका काम

नही चलता, उसे उनके भाव-विकार, संकल्प-विकल्प आदि के ऐसे शब्द-चित्र खीचने पड़ते है कि वे पात्र सजीव होकर, उपन्यास के पन्नों से उभरकर, पाठकों के कल्पना-चक्षुओं के सामने मूर्तिमान होकर नाच उठें।

उपन्यासकार को नाटककार की अपेक्षा परिश्रम तो अवश्य अधिक करना पड़ता है, पर इसके बदले में उसे जो स्वतत्रता मिल जाती है, वह अमूल्य है। उपन्यास के विशाल चित्रपट के कारण और प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनो प्रणालियो को अपनाने की उसे जो स्वतत्रता है, उसके कारण तथा समय और स्थान के प्रति उसकी उदासीनता क्षम्य होने के कारण उपन्यासकार मे स्रष्टा की एक अद्भुत शक्ति आ जाती है जो पात्रों के चरित्र का अपूर्व सफलता से चित्रण करने मे उसे समर्थ बना देती है। अपने पात्रों के चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण वह जितनी सफलता से कर पाता है, इसमें उतनी सफलता नाटककार को कभी नही मिल सकती। अपने पात्रो के चरित्र के विकास की मुख्य-मुख्य अवस्थाओं को तो नाटककार भी रगमच पर दिखा देता है, पर उपन्यासकार की स्वतत्रता के अभाव में तथा समय और स्थान की पाबन्दी के कारण वह यह दिखा सकने में असमर्थ रहता है कि उसके पात्र विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक कैसे पहुँचे हैं। नाटक में पात्रो का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में विकास प्राय रगमच के पीछे अन्धकार में ही हुआ करता है, क्योकि पात्र जब पुन रंगमच पर प्रकट होते है तो वे विकास की अगली अवस्था तक पहुँच चुके होते है। उनका यह विकास कब, क्यो, और कैसे हुआ, दर्शकों के लिए बहुधा यह एक रहस्य रह जाता है। इसके विपरीत उपन्यासकार प्राय. पात्रो के मन का झुकाव, उसके आसपास की परिस्थिति, परिस्थिति की उस पर पड़ने वाली छाप, उस छाप के प्रति उसकी प्रतिक्रिया आदि का चित्रण करते हुए जाने या अनजाने चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण करता रहता है। यद्यपि पहले के उपन्यासो में भी यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है, पर आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की तो मुख्य समस्या ही पात्रो के चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण है।

उपन्यास और कहानी में चरित्रचित्रण

तात्त्विक अन्तर—बेकर के शब्दों में उपन्यास गद्यमय कल्पित आख्यान द्वारा जीवन की व्याख्या है।[८७] हेनरी जेम्स ने उसे जीवन की व्यक्तिगत और सीधी छाप[८८] कहा है और उसके अस्तित्व का एकमात्र कारण यह माना है की वह जीवन के चित्रण का प्रयत्न करता है।[८९] यदि जीवन का चित्रण, समूचे जीवन का चित्रण-

८७. Richard Church, 'The Growth of the English Novel', p. 8.

८८. Henry James, "The art of Fiction" 'Portable Henry James', New York, 1951, p. 398,
"A personal and direct impression of life."

८९. Ibid p. 393;

ही उपन्यास के अस्तित्व का एकमात्र कारण है तो कहानी के अस्तित्व का मूल कारण यह है कि उपन्यास मे किए गए जीवन के चित्रण को पढने और पचाने के लिए समय चाहिए, जो आज के मनुष्य के पास है नही। समय का अभाव आज के युग की समस्या है और 'कम से कम समय मे अधिक से अधिक काम है आज के युग की माँग। साहित्य के क्षेत्र में इस माँग की पूर्ति का प्रयत्न है कहानी। कहानी की सब से पहली और अनिवार्य विशेषता—उसके मनन के लिए आध घण्टे से दो घण्टे तक लगें,[६०] या वह एक ही बैठक मे पढी जा सके[६१]—इसका सबल प्रमाण है। अपनी विकास-यात्रा में कहानी ने कई रूप धारण किये, अनेक शैलियो को अपनाया और छोड़ा, पर उसकी यह विशेषता अक्षुण्ण रही।

कहानी और उपन्यास के इस मूल अन्तर का सीधा प्रभाव उनके आकार पर पड़ा और कुछ लोगो को भ्रम हुआ कि कहानी और उपन्यास में आकार का ही तो भेद है। इस भ्रान्ति से एक और भ्रान्त धारणा फैली कि कहानी उपन्यास का सक्षिप्त संस्करण है या कहानी उपन्यास का लघु रूप है और कहानी का विस्तृत रूप है उपन्यास। यह भ्रम यही तक नही रुका, प्रत्युत् इस रूप में विकसित हुआ कि कहानी उपन्यास का आगामी रूप है और यह अंतत. उपन्यास का स्थान ग्रहण कर लेगी।[६२] वस्तुतः, कहानी न तो उपन्यास का आगामी रूप है और न ही वह उपन्यास की स्थानापन्न हो सकती है, क्योकि कहानी 'कहानी' है और उपन्यास 'उपन्यास'। 'कम से कम समय में अधिक से अधिक काम' के सिद्धान्त पर चलने वाली कहानी के पास न उतना समय है और न उतना स्थान, जितना उपन्यास को सहज उपलब्ध है। कहानी के पास वह विस्तृत पट भी नही, जो उपन्यास के पास है। इसलिए उपन्यास की भाँति समूचे जीवन का, उसके विविध रंग-रूपो तथा नाना प्रकार के रहस्यो का चित्रण करने में कहानी असमर्थ है। वह समूचे जीवन का यथार्थ चित्र न होकर उसके किसी अंग-विशेष का सरलीकरण है।[६३] इलाचन्द्र जोशी ने भी कहा है कि जीवन का चक्र नाना परिस्थितियो के सघर्ष से उलटा-सीधा चलता रहता है। इस सुवृहत् चक्र की किसी विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति को प्रदर्शित करने में ही कहानी की विशेषता है। कहानी और उपन्यास के इसी अंतर को

६०. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 337 :
"Short story is a narrative prose requiring from half an hour to one or two hours in its perusal" (Edgar Allan Poe)

६१. 'Ibid', p. 338 :
"Short story is a story that can be easily read at a single sitting."

६२. Hudson, 'An Introduction to the Study of Li erature', p. 336 :
"...it (short story) is the 'coming form' of fiction, and that ultimately it will replace the novel entirely."

६३. Soman, 'General Introduction to Stevenson's Stories'.
"The short story is not a transcript of life, but a simplification of some

स्पष्ट करते हुए एक बार जयशंकर प्रसाद ने कहा था कि आख्यायिका में सौंदर्य की झलक का रस है। मान लीजिए आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में एक गोल-मटोल शिशु खेल रहा है, सुन्दरता की मूर्ति, उसकी झलक मिलने न मिलने भर में सवारी आगे निकल जाती है, किन्तु उतनी ही झलक उतनी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है। इसी को बेरीपेन ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है 'उपन्यास एक तृप्ति है तो कहानी है एक उत्तेजना[६४]। उपन्यास मे जीवन की समस्याओं की व्याख्या मिलती है और मिलता है समस्याओं का समाधान। कहानी में यह बात नही पाई जाती। कहानी एक प्रश्न को उठाती है, किन्तु उसका उत्तर पूर्णरूप से नहीं देती। व्याख्या उपन्यास का प्राण है। व्यंजकता (सज्जेशन) और प्रतिध्वनि (ईको) कहानी की जीवन श्वासें है।[६५]

कहानी में चरित्र के क्रमिक विकास का अभाव—इसलिए, उपन्यास की भांति मानव के समस्त जीवन का चित्रण कहानीकार की सामर्थ्य से बाहर है। उपन्यासकार की सभी सुविधाएँ उसे प्राप्त होने पर भी चित्रपट की संकीर्णता उसके प्रत्येक प्रयत्न पर संक्षेप की मोहर लगा देती है। घटना का वर्णन करना हो या पात्रों का चरित्र-चित्रण, वातावरण की सृष्टि करनी हो अथवा किसी सिद्धान्त का निरूपण, उसे विस्तार और विश्लेपण में न जाकर सांकेतिक शैली से ही अपना काम निकालना पडता है। इस मजबूरी के कारण कहानीकार अपने पात्रो के चरित्र का पूर्ण चित्रण तो कर ही नही सकता,[६६] पर जितने पर वह अपना ध्यान केन्द्रित करता है, उसमें भी उसे बड़े संक्षेप से काम लेना पडता है। इतनी असुविधायें होने पर भी उसकी चेष्टा यही रहती है कि उसके पात्रो का चरित्रचित्रण उतना ही प्रभावोत्पादक हो जितना उपन्यास के पात्रों का। इसलिए अपने पात्रो की चारित्रिक विशेषताओं को चुनते समय और उन्हे उपयुक्त शैली में व्यक्त करते समय उसका प्रयत्न रहता है कि उसके पात्र पुस्तक के पन्नों से उभर कर, पाठको के कल्पना चक्षुओं के सामने ऐसा सजीव व्यक्तित्व धारण करके नाच उठें कि उनके मानस-पटल पर उसकी गहरी छाप पड़े बिना न रहे। इसलिये अपने पात्रो के चरित्रचित्रण में उसका ध्यान प्रभावोत्पादन की ओर अधिक रहता है, उसकी चरित्र सम्बन्धी गुत्थियों के सुलझाने की ओर कम। कहानी के पात्रो के भव्य व्यक्तित्व के प्रभाव में अनायास 'वाह-वाह' कर उठने पर भी पाठक यह दावा नहीं कर सकता कि वह उनके बारे में सब कुछ

६४. Berry Pain, 'The Short Story', p. 45-46 :
"The novel is a satisfaction, the short story is a stimulus."

६५. पहाडी।

६६. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' '
"कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेपण की गुंजाइश नही होती। यहां हमारा उद्देश्य सम्पूर्ण

जानता है, जबकि उपन्यास का पाठक ऐसा दावा कर भी सकता है। कहानीकार अपने पात्रों के चरित्र की कुछ एक विशेषताओं को ध्यान में रखकर, परिस्थिति विशेष में व्यंजित उसके व्यक्तित्व को हमारे सामने ला खडा करता है, पर वह यह नही बता पाता कि उसके पात्र ने वह व्यक्तित्व क्यों और कैसे धारण किया तथा व्यक्तित्व के विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक वह क्यो और कैसे आया।

किसी व्यक्ति के स्वाभाविक रुझान, विभिन्न परिस्थितियो की उसके मन पर पडने वाली छाप, उन परिस्थितियों के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, तथा विभिन्न देश, काल व परिस्थितियो में उसकी मनोदशा एवं आचार-व्यवहार देखे बिना उसे अच्छी तरह से जानने का दावा कैसे किया जा सकता है। अपने नित्य प्रति के जीवन में भी हम जब कभी किसी से मिलते है, तो प्रथम भेंट में उसके बारे में सब कुछ नही, कुछ ही समझ पाते है। हमारे मन पर प्रथम भेंट की छाप पडती अवश्य है, पर उसे हम सही और अन्तिम नही मान सकते। प्रथम भेंट की छाप की यथार्थता और उपयुक्तता को परखने के लिए हमें विभिन्न परिस्थितियो में होने वाली उस व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया की जाँच करनी पडती है, पर जीवन को उसकी विविधता में दिखाना कहानी का विषय नही। वह अपने पाठकों को अगले अनुभवों की प्रतीक्षा में नही रख सकती। इस लिए, जहा उपन्यास की समस्या चरित्र का क्रमिक विकास है, वहाँ कहानी की समस्या है—व्यक्तित्व की झाँकी दिखाकर प्रभाव उत्पन्न करना। कहानीकार अपने पात्रो के व्यक्तित्व के विविध रूप दिखाता है, उनके चरित्र का क्रमिक विकास नहीं।[६७] पर पात्रों के व्यक्तित्व के विविध रूप दिखाना, उनके चारित्रिक परिवर्तन-मात्र को व्यक्त करना ही चरित्र-चित्रण नही, चरित्र-चित्रण की सार्थकता चरित्र निर्माण के तत्त्वो और उसकी प्रक्रिया को दिखाने में है; विकासमान चरित्र के उद्घाटन मे है। जैसा कि हम पहले बता चुके है, चरित्र विकसनशील है; प्रतिक्षण-प्रतिपल उसका विकास होता रहता है। चरित्र के समूचे धारा प्रवाह को दिखाना ही चरित्रचित्रण है। चरित्र के विकास की किसी विशेपावस्था अर्थात् व्यक्तित्व[६८] को उस धाराप्रवाह से चुल्लू भर जल के समान निकाल कर दिखाना, उस धारा की प्रवाहशीलता के महत्त्व के प्रति आँखें मूँद लेना है। इस लिए, चरित्र-चित्रण के वास्तविक अर्थ में कहानी में चरित्रचित्रण नहीं पाया जाता, क्योंकि विस्तार और विश्लेपण के विना चरित्र-चित्रण हो नहीं सकता और कहानीकार संश्लेषक है, विश्लेपक नही। संक्षेप शैली उसका प्राण है।

६७. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 336-37 :
"In short story character is revealed, not developed."

६८. Max Schoen, 'The Human Nature in the Making', p. 150 :
"Character is the self in action, the self in the process of *cultivation* in some social medium, the product of which process at a particular

कहानी की सीमा—अपने पात्रों का स्रष्टा और वक्ता दोनों होने के कारण कहानीकार भी उपन्यासकार की तरह उनका पूर्ण ज्ञाता होता है और उपन्यासकार की भाँति उसे भी उनका आकार-प्रकार आचार-विचार आदि चित्रित करने के लिए नाटकीय और विश्लेषणात्मक दोनों शैलियों को, जब जिसकी आवश्यकता हो, अपनाने की स्वतन्त्रता रहती है। पर कहानी के चित्रपट की सकीर्णता उसे दोनों मे से किसी एक का भी पूरा-पूरा लाभ नही उठाने देती। इसीलिए कहानी में वर्णन और कथोपकथन होते हुए भी उसमें, वास्तविक अर्थ मे, न तो सवाद मिलते है और न विश्लेषण अथवा व्याख्या ही, जिनके माध्यम से उपन्यासकार यह विश्वास दिला देता है कि वह अपने पात्रों का पूर्ण ज्ञाता है और यह भी कि यद्यपि उसके पात्रों की पूरी व्याख्या नही की गई, पर वह की जा सकती है। कहानीकार यह प्रतीति करा सकने मे असमर्थ है। उसके पात्रों की दुरूहता बनी रहती है, क्योकि वह उनके चरित्र का क्रमिक विकास और उसके कारण नही दिखा पाता। यह उसकी मजबूरी है, कहानी-कला की सीमा है। इसलिए ऐसे पात्र जो हमारी कल्पना में साकार होकर स्मृति मे अमर हो जाते हैं वे उपन्यास के पात्र होते है, कहानी के नही।

उपन्यास और जीवनी में चरित्रचित्रण

उपन्यास के भविष्य पर अपने विचार प्रकट करते हुए प्रेमचन्द ने एक बार कहा था : "भावी उपन्यास जीवन चरित्र होगा, चाहे किसी बडे आदमी का हो या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बडाई का फैसला उन कठिनाइयो से किया जाएगा, जिन पर उसने विजय पाई है।"[९९] इसी भाव को दूसरे शब्दो में रखते हुए विलियम बैरेट ने कहा है कि श्रेष्ठ उपन्यास किसी कल्पित व्यक्ति की जीवनी होता है और जब जीवनी पूरी हो चुकती है, वह व्यक्ति कल्पित नहीं रहता, वल्कि अपने स्रष्टा की भाँति यथार्थ बन जाता है।[१००] अपना पहला उपन्यास 'शेखर' जीवनी की शैली में लिखकर और उसे 'एक जीवनी' की सज्ञा देकर अज्ञेय ने मानो उपर्युक्त दोनों कथनो को सार्थक सिद्ध कर दिया हो। कहना न होगा कि 'शेखर : एक जीवनी' की गणना हिन्दी के श्रेष्ठतम उपन्यासो में होती है।

जीवन में पात्रों का 'आब्जेक्टिव' चित्रण—अपने विकसित रूप में उपन्यास और जीवनी दोनो के एक-दूसरे के निकट पहुँच जाने पर भी उनका तात्त्विक अन्तर स्पष्ट बना रहता है। उनकी शैली में समानता होने पर भी उनकी आत्मा में दुराव

९९. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' (भाग १), सरस्वती प्रेस, बनारस, चतुर्थ संस्करण, १९४९, पृष्ठ ५६।

१००. William E. Barret, "The Living Character", 'The Writer's Hand Book', p. 120.

"A good piece of fiction is the biography of an imaginary person... and when the biography is complete, the person is no longer imaginary,

बना रहता है। उपन्यास का आधार होता है, कल्पित व्यक्ति का या, ऐतिहासिक उपन्यासो में वस्तुजगत के व्यक्ति का, कल्पित जीवन पर जीवन का आधार होता है—वस्तु जगत के व्यक्ति का यथार्थ जीवन। कल्पना उपन्यास का प्राण है, पर जीवनी के लिए वह घातक है। उपन्यासकार अपने पात्रो का या उनके कल्पित जीवन का स्रष्टा और कथाकार दोनो होता है, पर जीवनीकार अपने पात्रो का कथाकार ही होता है, स्रष्टा नही। उसके पात्रो का स्रष्टा कोई और है, जो कथाकार नही। अपने पात्रो का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका पूर्ण ज्ञाता होता है। अपने पात्रो के संकल्प-विकल्प उनके भाव-विकार, उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदि कुछ भी उससे छिपा नही रहता। जीवनीकार अपने नायक या अन्य पात्रों के सम्बन्ध में, प्रयत्न करने पर भी, सब कुछ नहीं जान पाता। अपने पात्रो के प्रति जीवनीकार की जानकारी की एक सीमा होती है। वह उनके क्रिया-कलापो के, उनके आचार-व्यवहार के, पीछे नही झाँक सकता, उसकी पहुँच अपने पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओ के भीतरी कारणो तक नही होती। वह जो कुछ प्रकट में देखता है, उसके आधार पर भीतरी कारणो का अनुमान लगाता है।

प्रत्येक मनुष्य के दो रूप होते हैं, एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। उस का आकार-प्रकार, उसका आचार-विचार अर्थात् उसकी कर्मेन्द्रियो की समस्त क्रियाएँ व्यक्त होती है, पर किसी कार्य को करने से पहले उसके अन्त:करण का रुझान, उसके भाव और विचार, उसकी इच्छाएँ और वासनाएँ आदि जिनको वह भयवश अथवा प्रलोभनवश प्रकट नही होने देता या जो प्रयत्न करने पर भी प्रकट नहीं हो पातीं, उसके अव्यक्त रूप के अन्तर्गत हैं। क्योकि उपन्यास किसी एक या अनेक कल्पित व्यक्तियो का जीवन या यथार्थ व्यक्तियों का कल्पित जीवन होता है, वह कल्पना द्वारा अपने पात्रों के व्यक्त और अव्यक्त दोनो रूपों का निर्माण कर लेता, पर कल्पना इतिहासकार और जीवनीकार, दोनो के लिए, वर्जित है। वे मनुष्य के, अपने पात्रों के, व्यक्त रूप में ही फँसे रह जाते हैं। व्यक्त यथार्थ ही उनके लिए सब कुछ है और वह जो दृष्टि की ओट में छिपा रहता है, जो अव्यक्त यथार्थ है, जिसे प्रकाश में लाना उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य होता है,[१०१] इतिहास और जीवनी की पहुँच से बाहर है। क्योकि उपन्यासकार अपने पात्रो का पूर्ण ज्ञाता होने से उनके चरित्र के विकास की प्रत्येक दिशा और दशा से भली प्रकार परिचित होता है, उसे उनके विकास का कोई भी रूप अस्वाभाविक और अकारण नही दीखता। अपने पात्रों के प्रत्येक परिवर्तन के उसके पास ठोस कारण रहते हैं। उपन्यास में अकारण कुछ नहीं होता और वह कथाकार होने के नाते सब-कुछ अपने पाठकों पर प्रकट कर देता है।

पाठकों के लिए उनके पात्र गोरख-धधा नही बने रहते, वे उनके परिवर्तन पर आश्चर्य चकित नही होते। पर, इनके विपरीत जीवनीकार बाह्य कारणो तक ही सीमित रहने से अपने पात्रों के चारित्रिक विकास के भीतरी कारणों को नहीं पकड़ पाता और बहुधा उनके चारित्रिक परिवर्तनो की व्याख्या के प्रयत्न में भाग्यवाद की शरण लेने के लिए विवश हो जाता है। पर उपन्यास में कुछ भी सौभाग्य या दुर्भाग्य से नही होता; कुछ भी अचानक नही होता दीखता। उपन्यास में जो-कुछ भी होता है अनिवार्यत. होता दीखता है। इस सम्बन्ध में, फ्रेंच आलोचक एलेन को उद्धृत करना अनुचित न होगा। उपन्यास और इतिहास के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उसने कहा है—इतिहास बाह्य कारणो पर बल देने के कारण भाग्य प्रधान बन जाता है, जबकि उपन्यास में भाग्यवाद का नाम नही रहता वहाँ सब-कुछ का आधार मानव-स्वभाव होता है और उसमे सब-कुछ साभिप्राय होता है, आवेश, जुर्म, मुसीवत तक भी।[१०२]

जीवनी के पात्र : एक पहेली—पात्रो के चरित्र-चित्रण के लिए उपन्यासकार और जीवनीकार के सामग्री सकलन और उसके प्रयोग मे भी अतर रहता है। अपने पात्रो का चरित्र-चित्रण प्रारम्भ करने के लिए उपन्यासकार को वस्तु-जगत के व्यक्तियों से केवल उतनी सामग्री लेनी होती है, जितनी से वह कल्पना की उडान ले सके। वस्तु-जगत के व्यक्तियों के सम्बन्ध मे वह सब कुछ जानने का प्रयास नही करता। वह किसी व्यक्ति से उसका आकार लेता है और किसी से उसका प्रकार, किसी की क्रिया लेता है और किसी की प्रतिक्रिया, किसी का भाव लेता है और किसी का विकार और कल्पना की कूची से उनमें संकल्प और विकल्प, इच्छाओ और वासनाओ के रग भर कर एक साकार और सजीव मूर्ति बना डालता है, जो सहज में ही पाठकों के हृदय-पटल पर अपनी अमिट छाप छोड जाती है। जीवनीकार का चरित्र-चित्रण का ढंग इससे भिन्न होता है। वह अपने पात्रों की, जो वस्तु-जगत के व्यक्ति होते हैं, पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए कठोर परिश्रम करता है। उसके जीवन में घटित हुई प्रत्येक घटना को, उस घटना के दूसरो पर पडने वाले प्रभाव को और उसके प्रति उनकी प्रतिक्रिया को और न जाने किस-किस को संजोने के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। वह अपने पात्रों का रेखा-प्रतिरेखा यथातथ्य चित्रण करना चाहता है, जिस विधि का पालन उपन्यास में चरित्र-चित्रण की विफलता का कारण बन जाता है।[१०३]

इस प्रकार जीवनीकार अपने पात्रो के व्यक्त रूप को, जिस अंश में वह ग्रहण

---

१०२. Allain, 'Systeme des Beaux', p. 314-315 : ,
"History, with its emphasis on external causes, is dominated by the *notion of fatality*, whereas there is no fatality in the novel; there everything is founded on human nature, and the dominating feeling is of an existence where everything is intentional, even passion and crimes, even misery." (Trans. by Forster)

१०३. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146.

कर पाता है, उसी में उसके चरित्र के प्रतिबिम्ब को पकड़ने की कोशिश करता है और जो प्रत्यक्ष नही, परोक्ष मे है, उसे अनुमान से जानना चाहता है। पर अनुमान तो अनुमान ही है। अनुमान के आधार पर की गई पात्रो के चरित्र की व्याख्या न तो सत्य सिद्ध होती है और न ही वह पाठको को प्रतीति करा सकने में सफल होती है। इसलिए इतना कठोर परिश्रम-साध्य होने पर भी जीवनी के पात्रो का चरित्र-चित्रण पाठकों के हृदय-पटल पर इतनी गहरी छाप नही लगा पाता जितनी उपन्यास के पात्रो का चरित्र-चित्रण, क्योंकि इतना प्रयत्न करने पर भी जीवनी के पात्रो की पूरी-पूरी व्याख्या नही हो पाती, वे किसी न किसी सीमा तक एक पहेली बने रहते है। उपन्यासो के पात्रो का गुप्त से गुप्त जीवन भी व्यक्त हो जाता है, या समय आने पर प्रकट हो जाता है, पर इतिहास और जीवनी के पात्रो का गुप्त जीवन व्यक्त नही हो पाता और वे एक पहेली बने रहते हैं।[१०४]

जीवनी में कार्य-कारण की परम्परा : शिथिल—क्योंकि उपन्यास में कुछ भी अकारण नही होता और पात्रो के चारित्रिक परिवर्तन उनके भीतरी कारणो के परिणामस्वरूप होते दिखाई देते है, इसलिए उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध रहता है। उसके पात्रो का प्रत्येक कार्य कुछ व्यक्त या अव्यक्त कारणों से संचालित होता रहता है। ये व्यक्त या अव्यक्त कारण ही उसके चरित्र के विकास, तथा विकारा की दिशा और दशा पर नियन्त्रण रखते है, उसका लक्ष्य निर्धारित करते है और उसे धीरे-धीरे उस लक्ष्य की ओर लिए बढते है। पर जीवनी में ऐसा नही होता। वस्तु-जगत के व्यक्ति होने से उनका जीवन हमारे जीवन की भाँति ही चलता है। हमारे साथ प्राय. ऐसा कुछ घटित होता रहता है, जिसका कारण हम प्रयत्न करने पर भी नहीं जान पाते। हम कहाँ, क्यों और कैसे जा रहे हैं, यह हमारी समझ में आता ही नही। हमारे चरित्र का विकास किस दिशा में हो रहा है, इसका हमें कुछ पता नही रहता। जिस प्रकार हमारा जीवन और चरित्र असंयमित रहता है, उसी प्रकार जीवनी के पात्रों का भी। जीवनी के पात्र भी असंयमित रूप से बढ़ते जाते है, उनके चरित्र के विकास पर जीवनीकार का कोई काबू नही रहता, क्योकि वह उनका जीवनकार नहीं, केवल जीवनीकार ही है। पर उपन्यास में ऐसा नही होता। उपन्यास के पात्रो के चारित्रिक विकास की प्रत्येक दिशा और दशा पूर्व व्यक्त कारणो के अनुकूल और स्वाभाविक होती है, साभिप्राय होती है और उपन्यास के पात्र जीवनी के पात्रो की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित प्रतीत होते हैं।

जीवनी के सभी पात्र ठोस वस्तु-जगत के व्यक्ति होते है। इसलिए यहाँ

१०४. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 62 :

"Fictional characters are those whose secret lives are visible or might be visible, but people in history or biography are those whose secret lives are invisible."

वस्तु-जगत के व्यक्तियों और औपन्यासिक पात्रों के अन्तर को स्पष्ट कर देना अप्रासगिक न होगा ।

वस्तु-जगत के व्यक्तियों और उपन्यास-जगत के पात्रों में अन्तर

आन्तरायिक (इन्टरमिट्टेन्ट) जीवन—औपन्यासिक पात्र सजीव और स्वाभाविक होते हुए भी वस्तु-जगत के व्यक्तियों से कई प्रकार से भिन्न होते है। वस्तु-जगत के व्यक्ति जब तक जीवित रहते है तब तक उन्हे लगातार इस जगत की रगशाला के अगणित मचो में से किसी न किसी पर खेलते ही रहना पडता है। वे जीविकोपार्जन के लिए दौड-धूप कर रहे हो या स्वाध्यायरत हो, खेल के मैदान मे उछल-कूद कर रहे हो या खाट पर लेटे सो रहे हो, उनका खेल थमता नही। उनकी जीवनव्यापी क्रिया रुकना नही जानती। विना रुके उन्हे जीवनपर्यन्त जुटे रहना पडता है। पर उपन्यास जगत मे केवल एक ही रगमच[१०५] रहता है, जिस पर किसी समय विशेष मे केवल वही पात्र आते हे जिनका प्रकट होना उस समय अत्यन्त आवश्यक होता हे। निश्चित समय मे अपना काम समाप्त करके वे पात्र मच से उतर आते है और तब तक के लिए लुप्त रहते हे, मरे रहते हे, जब तक कि पुन मच पर उनकी आवश्यकता न पडे।

उपन्यास-जगत के पात्र जन्म लेते ही मच पर आ जाये और जीवनपर्यन्त उस पर डटे रहे, यह आवश्यक नही। उपन्यास के मच पर वे तब तक नही लाये जाते जब तक कि उपन्यास-जगत मे उनकी आवश्यकता न पडे, भले ही उपन्यास में पहली बार प्रकट होने से पहले उन्हे अपने जीवन के पन्द्रह-बीस वर्ष किसी अज्ञात लोक में बिताने पडे। इसी प्रकार उपन्यास-जगत मे जरूरत न रहने पर वे पुन मच पर नही आते, उनके मरने में चाहे अभी बीस वर्ष पडे हो। परन्तु वस्तु-जगत के व्यक्तियों को जन्म से लेकर मृत्यु तक इसी जगत में रहना पडता है। इस जगत को उनकी जरूरत हो या न हो, उन्हे यहाँ पड़े ही रहना होता है।[१०६] इसी अन्तर को स्पष्ट करते हुए ई० एम० फार्स्टर ने सुन्दर व्यग्योक्ति की है : उपन्यास में पात्रों का आगमन मनुष्यो की भाँति नही, पार्सलो की भाँति होता हे। उपन्यास मे जब कभी कोई बच्चा प्रकट होता हे तो ऐसा लगता हे मानो किसी ने उसे डाक द्वारा भेजा हो। 'डिलिवरी' मिलने के बाद एक ज्येष्ठ पात्र जाकर उसे उठा लाता है और पाठको को दिखा देता हे। तत्पश्चात् उसे तब तक के लिये 'कोल्ड स्टोरेज' में रख

---

१०५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 129

१०६. Robert Liddell, 'A Treatise on the Novel', Jonathan Cape, London, 2nd imp.1949, p 91

" . life enforces on us a continuous existence, whereas a character in a fiction does not exist except at such times when he appears on the scene."

दिया जाता है जब तक कि उपन्यास के कार्य में उसकी सहायता की पुन आवश्यकता न पड़े।[१०७]

कुतूहलोद्दीपक जीवन—हमारे अपने जीवन में दिन और महीने ही नही कई-कई वर्ष व्यर्थ बीत जाते है और हम कोई ऐसा कार्य नही कर पाते जो उल्लेखनीय या कुतूहलोद्दीपक हो, पर किसी पात्र को उपन्यास के मंच पर प्रकट होने की तब तक अनुमति नही दी जाती जब तक कि यह निश्चय न हो जाये कि प्रकट होकर वह कोई विशेष कार्य करेगा। अन्यथा कार्य की एकता भग हो जाने पर पात्र उपन्यास-जगत में भटकते फिरेगे और उसकी सारी व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देंगे।

सोद्देश्य क्रिया-कलाप—जन्म और मरण के समय हमारी अनुभूति क्या होती है, इसका ज्ञान हमे अनुमान से या दूसरो से सुनी-सुनाई बातो के आधार पर होता है। हमें इन अनुभूतियो का ठीक-ठीक ज्ञान नही रहता, क्योंकि इन अनुभूतियों के समय हमारी अभिव्यक्ति क्षीण हो गई होती है और जब तक हममे अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य आ पाती है तब तक हम उन्हे भूल चुके होते हैं। पर उपन्यासकार एक साथ स्रष्टा और कथाकार दोनो होने के कारण अपने पात्रों को वही अनुभूति करा सकता है, और कराता है, जो परिस्थिति विशेप में आवश्यक हो। आवश्यकतानुसार, उसका पात्र मृत्यु-शैय्या पर पड़ा अपने जीवनव्यापी कृत्यों पर रो सकता है या अपने विगत जीवन पर गर्व करता हुआ शान्ति-पूर्वक मर सकता है। इसी प्रकार पात्रो के जीवन-मरण का प्रयोग उपन्यास में कभी कथानक को बढ़ाने और कभी समेटने के लिए दिया जाता है पर वस्तु-जगत के किसी व्यक्ति के जन्म-मरण से वह जगत न तो सिमटता है और न फैलता है। मानव-जीवन में उसकी सीमा जन्म-मरण के अतिरिक्त आहार-निद्रा, भय, मैथुन भी उसकी महत्वपूर्ण यथार्थताएँ हैं। पर इन परिस्थितियो में वस्तु-जगत के व्यक्ति की अनुभूति और उपयोगिता से औपन्यासिक पात्रो की अनुभूति और उपयोगिता भिन्न होती हैं। उपन्यास के पात्रों का भोजन करना भूख मिटाने के लिए नही, किसी और प्रयोजन से होता है। भोजन करते समय वे किसी रमणी के सौन्दर्य-पाश में उलझ जाएं या उसमें मिला हुआ विप खा जाएं। भोजन का सम्बन्ध उनके पेट से नही, उपन्यास के कथानक से होता है। उपन्यास में निद्रा का प्रयोग भी प्रायः पात्रो को विश्राम दिलाने के उद्देश्य से नहीं, अपितु उन्हें कोई स्वप्न दिखा कर उनके भविष्य की ओर सकेत करने या चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए होता है। उपन्यास में स्त्री पात्र और पुरुप पात्र का मेल संतानोत्पत्ति के लिए नही, उनका चरित्र-विकास दिखाने के लिए या किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की व्याख्या के लिए होता है। इसीलिए, 'सैक्स' समस्या पर औपन्यासिक पात्र जितने केन्द्रित रहते हैं, वस्तु-जगत के प्राणी उतने नही; पात्रो को मानो खाने-कमाने की न सुधि हो और न आवश्यकता।

---

१०७. Forster, 'Aspect of the Novel', p. 61.

नियमित जीवन—औपन्यासिक पात्रों का जीवन हमारे जीवन की अपेक्षा अधिक नियमित होता है। उनका विकास प्रायः किसी ऐसी प्रक्रिया से होता है जो सर्वसंगत हो या आसानी से समझी जा सके। उनके भाव और विचार एक के बाद दूसरे किसी क्रम विशेष से विकसित होते चलते है। वे एकदम रोने नही लग जाते और न ही अकारण अट्टहास में फूट पडते है। वास्तव में, उनके जीवन मे कुछ भी अकारण या अचानक नही होता। हमारी जीवन-नैया धारा के बहाव में उठती-गिरती निरन्तर बहती चलती है, वह उस धारा की दया पर है, उसका अपना कोई लक्ष्य नही। पर उपन्यास के पात्रो की जीवन-नैया का एक विशेष लक्ष्य रहता है, जिसकी ओर प्रत्यक्ष व परोक्ष में उसका चालन होता रहता है।

पात्र अज्ञेय नही—वस्तु-जगत का मानव एक पहेली है। इस ससार में कोई भी व्यक्ति यह दावा नही कर सकता कि वह किसी दूसरे को पूर्ण रूप से जानता है। यदि कोई ऐसा दावा करता भी है तो वह थोथा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ऐसा दावा करने वाला हमारा स्रष्टा नही होता—स्रष्टा ही अपनी सृष्टि को पूर्णरूपेण जाना करता है—और जो हमारा स्रष्टा है, वह मौन है, उसने उसे बताया नही, तो फिर वह व्यक्ति पूर्ण ज्ञाता बना कैसे? इसी लिए हम अपने निकटतम सम्बन्धियो के लिए—यहाँ तक कि अपने लिए भी— एक पहेली बने रहते है। परन्तु उपन्यास के पात्र पहेली नही बने रहते। पाठको पर उनका सारा रहस्य खुल जाता है, क्योकि उपन्यासकार जो उन पात्रो का स्रष्टा है, उनकी नस-नस से परिचित है वही कथा-कार (नैरेटर) बन कर उनका रहस्योद्घाटन करने लग जाता है। स्रष्टा और वक्ता दोनो का उपन्यासकार में एकीकरण हो जाने से उपन्यास के पात्र पाठकों के लिए अज्ञेय नही बने रहते। उनके जीवन का प्रत्येक मोड और उसके कारण समझे जा सकते है। स्थानाभाव के कारण उपन्यासकार अपने पात्रो के सम्बन्ध में सब कुछ न भी बता पाए तो भी वह पाठकों को यह विश्वास दिला देता है कि उसके पात्र और उनके विकास की प्रत्येक दिशा ज्ञेय है, उनके बारे में अज्ञेय कुछ नही।[१०८]

(ख) औपन्यासिक पात्रों के शास्त्रीय रूप

पात्र

औपन्यासिक पात्र—वस्तुजगत के व्यक्तियो और औपन्यासिक पात्रो मे सम्बन्ध—पात्र चयन सख्या और परिधि।

पात्रों के भेदोपभेद

कथानक की दृष्टि से

प्रधान पात्र—गौरा पात्र

प्रधान पात्रो के भेद नायक-नायिका—प्रतिनायक-प्रतिनायिका—पताका-नायक पताका-नायिका—विदूषक।

गौरा पात्र—गौरा पात्रो की उपादेयता—कथानक को गति देना—वातावरण की सृष्टि करना—वातावरण मे परिवर्तन लाना—अन्य पात्रो का चरित्र-प्रकाशन।

चरित्र-विकास की दृष्टि से

स्थिर (स्टेटिक)

विकसनशील (किनेटिक) पात्र

औपन्यासिक पात्र

उपन्यास के पात्रों की परिभाषा करते हुए फॉर्स्टर लिखता है : आत्माभिव्यक्ति करता हुआ उपन्यासकार कुछ एक शब्द मूर्तियाँ गढ़ डालता है ; फिर उनके साथ नाम और लिंग जोडता है, उन्हे अनुभाव प्रदान करता है, उनसे उद्धरण-चिन्हो में बात-चीत करवाता है और कदाचित् उनसे एकसार व्यवहार भी करवाता है— ये शब्द मूर्तियाँ ही उपन्यास के पात्र है।[११२] यहाँ फॉर्स्टर पात्रो को उपन्यास के कथानक से अलग करके देखता हुआ प्रतीत होता है। उपन्यास के पात्र सजीव शब्द-मूर्तियाँ तो होते है, पर ऐसी शब्द-मूर्तियाँ नही जो स्वतन्त्र और निरपेक्ष हो। उन सब में एकसूत्रता होती है और वह एकसूत्रता है कथानक की।

कथानक उपन्यास का एक अनिवार्य तत्व है जो एकसूत्र में पिरोई हुई विभिन्न घटनाओ की माला है। पर वह घटना क्या जो किसी प्राणी के साथ न घटी हो। यद्यपि वस्तु-जगत में ऐसी अनेक घटनाएँ होती रहती है, जिनका उस जगत के प्राणियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही होता, जिनकी उन्हे जानकारी तक नही होती, फिर भी उपन्यास-जगत में ऐसी कोई घटना घटित नही हो सकती, जिसका उस जगत के किसी प्राणी से किसी प्रकार का, प्रत्यक्ष वा परोक्ष, सम्बन्ध न हो। जिनके साथ औपन्यासिक घटनाएँ घटित होती है अथवा प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप से सम्बन्धित होती है, जो उनसे विकास पाते है तथा उन्हे विकास देते है, वे प्राणी मनुष्य हो या मनुष्येतर, उपन्यास के पात्र कहलाते है। जब कभी मनुष्येतर प्राणी, पशु-पक्षी आदि, उपन्यास में आकर उसके कथानक को आगे बढ़ाते है या किसी अन्य पात्र के चरित्र का कोई अंग प्रकाश में लाने का साधन बनते है, तो वे घोडे या कुत्ते के रूप में होते हुए भी मनुष्य के समान संवेदनशील होते है, मानो कोई गूँगा और बहरा मनुष्य पात्र हो।

---

११२. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 44

"The novelist......makes up a number of words-masses roughly describing himself... gives them names and sex assigns them plausible gestures and causes them to speak by the use of inverted commas, and perhaps to behave consistently. These word-masses are his characters."

वस्तु-जगत के व्यक्तियों और औपन्यासिक पात्रों में सम्बन्ध

वस्तु-जगत के व्यक्तियो और उपन्यास के पात्रो मे अन्तर होते हुए भी यह कहना अनुचित होगा कि औपन्यासिक पात्र कोरे कल्पित होते हैं। कोई भी पात्र पूर्णरूपेण कल्पित नही हो सकता; उसका आधार किसी न किसी रूप तथा अंश में वस्तु-जगत का कोई एक या अनेक व्यक्ति होते है। यह तो हो सकता है कि किसी पात्र का आधार कोई जीवित व्यक्ति न होकर किसी अन्य रचना का कोई पात्र हो, पर अन्ततः उस प्रेरक पात्र का आधार वस्तु-जगत का कोई एक या अनेक व्यक्ति अवश्य रहे होगे। उपन्यास मानव-जीवन का चित्र है। उसके अस्तित्व का कारण यह है कि वह मानव-जीवन का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तु-जगत के मानव के जिस जीवन की व्याख्या करने के लिए उपन्यास में पात्रों की अवतारणा होती है, उससे पात्रों का तनिक भी सम्बन्ध न हो, यह कैसे हो सकता है? पर, हाँ कोई पात्र किसी जीवित व्यक्ति की हूबहू नकल करे, यह आवश्यक नही। शायद ही कोई पात्र किसी जीवित व्यक्ति का यथातथ्य रूप होता होगा।

प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के लिए—अपने लिये भी तो—अज्ञेय बना रहता है। उपन्यासकार मनुष्य ही तो है। वह उस जीवित व्यक्ति को, जो उसके पात्र का आधार है, कभी पूर्णरूपेण जान सका होगा, यह असम्भव है। जब तक मूल व्यक्ति उपन्यासकार के लिए पूर्णतया ज्ञेय न हो, तब तक उपन्यासकार उसकी यथार्थ प्रतिकृति बना सकने का दावा कैसे कर सकता है? यह उसकी नहीं, मनुष्यमात्र की सीमा है। जब भी कभी किसी उपन्यासकार ने अपने पात्र के रूप मे किसी जीवित व्यक्ति की यथातथ्य प्रतिकृति बनाने का प्रयत्न किया, वह अपने इस प्रयास में तो असफल हुआ ही, अपने उपन्यास को भी असफल बना बैठा। हमें लेसिंग के इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति प्रतीत नही होती कि पात्रों के सजीव चित्रण का सबसे कम सफलतादायक उपाय यह है कि उनके रूप में किसी जीवित व्यक्ति का यथावत् रेखा-प्रतिरेखा चित्रण किया जाए।[११३] (औपन्यासिक पात्र वस्तु-जगत के व्यक्तियो द्वारा प्रेरित तो होता है, पर उनकी पूरी नकल नही होता।) उपन्यासकार एक या अनेक जीवित व्यक्तियों से उनका, उनके आकार-प्रकार, गुणावगुण, स्वभाव आदि का, वही कुछ लेता है जिसकी उसे आवश्यकता होती है। अपने नित्य-प्रति के जीवन मे सम्पर्क में आने वाले या पूर्व-परिचित व्यक्तियो में से वह किसी का मुख ले लेता है और किसी का शरीर; किसी का स्वास्थ्य ले लेता है और किसी का स्वभाव; किसी के गुण ले लेता है और किसी के अवगुण। उन सब को जोडकर वह एक पात्र रच डालता है जिसे कल्पना की कूँची से, थोडा इधर से और थोड़ा उधर से, छूकर सजीवता प्रदान

११३. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146.

"It will be found that, as a rule, a set and formal description, given item by item, is (as Lessing showed in 'Laokoon') one of the least successful ways of making a character live before us."

कर देना हे। उगका पात्र सभी से कुछ-न-कुछ ले लेता है, पर अपने को ऋणी किसी का नही मानता।[११४]

पात्र-चयन : सख्या और परिधि

कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही इतने अधिक वहिर्मुख तथा सामाजिक होते हैं कि एक बार कोई उनके सम्पर्क में आया कि उससे उनके सम्वन्ध बन गये। ऐसे व्यक्तियो का परिचय-क्षेत्र बहुत व्यापक होता है; पर एक साथ अनेक व्यक्तियो से सम्वन्ध रखते हुए भी कुछ-एक के प्रति उनका विशेष रुझान होता है। समाज के किसी सदस्य से मिलने-जुलने पर सकोच न रखते हुए भी कुछ-एक से मिलने पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है और उनके साथ उठने-बैठने, आने-जाने, बोलने-चलने में वे अपने आपको अधिक प्रकृतिस्थ पाते है। दूसरी प्रकार के व्यक्ति ऐसे होते है, जिनका परिचय-क्षेत्र बहुत सीमित होता है, जो अनेक बार सम्पर्क में आने पर भी दूसरों से घुल-मिल नही पाते; जिन्हे मित्र बनने और बनाने में देर लगती है। उनके मित्रो की सख्या कम होती है, पर वे जितने भी हो होंगे घनिष्ठ ही।

यही बात उपन्यासकारो के सम्वन्ध में भी कही जा सकती है। कई उपन्यासकारों का परिचय इतना व्यापक है और अनुभूति इतनी तीव्र कि उनके घनिष्ठ परिचय वाले तो दूर, एक बार भी जो उनके सम्पर्क मे आया वह उनके उपन्यासों की पकड के बाहर न जा सका। इसके विपरीत कई उपन्यासकार अपने पात्र एक सीमित घेरे में से चुनते है, पर एक बार वे जिस क्षेत्र को अपना लेते है, उसका कोना-कोना छान मारते है। उदाहरणार्थ प्रेमचन्द को लें। उनका चुनाव-क्षेत्र इतना व्यापक है कि किसान और जमीदार, मजदूर और मिल-मालिक, क्लर्क और अफसर, चाण्डाल और पण्डित, वकील और प्रोफेसर से लेकर वेश्या और पतिव्रता, विधवा और सधवा, माता और विमाता तक समाज के सम्पर्क में आने वाले प्राय. सब प्रकार के लोग उनके उपन्यासो में मिल जाते है। दूसरी ओर जैनेन्द्र है जिन्होने अपने उपन्यासों के पात्र प्राय बुद्धिजीवी मध्यवर्ग से ही चुने है।

व्यापक-क्षेत्र अपनाने वाले उपन्यासकारो की रुचि सब प्रकार के पात्रो के चित्रण में एक-सी रहती हो अथवा उनका चरित्र-चित्रण वे एक-सी तन्मयता तथा सफलता से कर पाते हों, यह बात नही। उन सब की अपनी-अपनी सीमाएँ होती है। भरसक प्रयत्न करने पर भी कई प्रकार के पात्रों का चित्रण वे उनके सहज स्वाभाविक रूप में नही कर सकते, पर कुछ-एक प्रकार के पात्रो के चित्रण में वे इतने सिद्धहस्त होते है कि अनायास ही वे पात्र उपन्यास के शुष्क पन्नों से उभरकर

११४. Robert Liddell, 'Treatise on the Novel', p. 98.

"*Of course, there must be beginning to every conception, but so much change seems to take place in it at once, that almost anything come to save the purpose—a face of a stranger, a face in a portrait, almost a face in the fire.*" Miss Compton Burnet.

पाठको के कल्पना-लोक में साकार होकर नाच उठते है। ऐसे पात्रो को छूते ही उनकी लेखनी चमत्कृत हो जाती है। समाज के विविध प्रकार के व्यक्तियो के जीवन और उनकी दैनिक समस्याओं मे रुचि रखने पर भी, यह मानना पडेगा, प्रेमचन्द की प्रतिभा अपने पूर्ण यौवन में तभी निखरती है जब वह निम्नमध्यवर्ग अथवा कृषक वर्ग का चित्रण करते है। उनके अमर पात्र इन्ही दो वर्गों में से लिए गये है।[११५] पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे अपने एक पत्र में उन्होने इस बात को स्वयं स्वीकार किया है : 'किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष अंग का विशेष रूप से अध्ययन नही किया। उग्र ने किया, मगर बहक गये। मैने कृषक समाज को लिया मगर अभा कितने ही ऐसे समाज पडे है, जिन पर रोशनी की जरूरत है।'[११६] शिक्षित नागरिको के चित्रण में प्रेमचन्द कभी उतने सफल न हो पाये जितने अशिक्षित ग्रामीणों के चित्रण में। नगर के पढे-लिखे पात्रो को जब कभी उन्होने छूआ वे उनके प्रति न्याय नही कर सके। उसके विपरीत वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासो के प्रधान पात्र मध्यकालीन इतिहास से सम्बन्धित शिक्षित नागरिक ही है।[११७] उसमें भी उनकी अमर कृतियाँ है—ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में चित्रित उनकी नायिकाएँ। उग्र समाज द्वारा प्रताडित तथा बहिष्कृत, समाज के विधिनिषेधो के प्रति उदासीन, व्यक्तियों के चरित्राकन में ही मस्त रहे। जैनेन्द्र की कला का चमत्कार भी उनकी नायिकाओं के सूक्ष्म मनोविश्लेषण में मिलता है। यशपाल की दृष्टि यदि शोपित नर-नारियों पर टिकी है तो अज्ञेय की असाधारण और अहंवादी व्यक्तियो पर।

इस प्रकार देखते है कि उपन्यासकार के चुनाव-क्षेत्र की व्यापकता, उसके उपन्यासो में पात्रों की विविधता और उनके चित्रण में उसकी तन्मयता से प्रायः उसकी रुचि की व्यापकता, उसकी अनुभूति की गहनता और उसकी चरित्र-चित्रण कला की सामर्थ्य का पता चल जाता है।

पात्रों के भेदोपभेद

कथानक की दृष्टि से

उपन्यास के कथानक से उनके सम्बन्ध की घनिष्ठता के आधार पर पात्रों के दो भेद किए जा सकते है : १. प्रधान पात्र तथा २. गौण पात्र। प्रधान पात्र वे होते है, जिनके भाग्य से तथा चरित्र के विकास से उपन्यास का कथानक मुख्य रूप

११५. इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृष्ठ ४।

११६. पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को प्रेमचन्द का लिखा हुआ ३ जून, १९३० का एक पत्र ('नई धारा' में प्रकाशित)।

११७. डा० रामकुमार वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा की उपन्यास-कला, "विचार दर्शन", पृष्ठ ६६ :
"प्रेमचन्द की तरह वर्मा जी भी एक आदर्श लेकर चले है। अन्तर यह है कि प्रेमचन्द ने यह आदर्श अशिक्षित ग्रामीणों के जीवन से विकीर्णित किया है और वर्मा जी ने शिक्षित किन्तु ऐतिहासिक नागरिकों से।"

से बँधा रहता है, जो कथानक को गति देते रहते है तथा उमसे विकास पाते रहते है। जिन पात्रों से उपन्यास की कथा मुख्य रूप से सम्बन्धित नही होती तथा जिनका समावेश साधन के रूप में होता है, वे गौण पात्र कहलाते है। गौण पात्र कथानक को बढावा देने, प्रधान पात्रो के चरित्र को प्रकाश में लाने, उन पर टीका-टिप्पणी करने इत्यादि के लिए रखे जाते हैं। उनका औपन्यासिक जीवन उनके लिए नही दूसरों के लिए होता है, पर उनका यह आत्मोत्सर्ग अपनी इच्छा से नही, उपन्यास-कार की आवश्यकता-पूर्ति के लिए होता है।

प्रधान पात्रों के भेद

कथानक की दृष्टि से प्रधान पात्रों के साधारणतया चार भेद किए जाते हैं : १. नायक-नायिका, २. प्रतिनायक-प्रतिनायिका, ३. पताका नायक-पताका नायिका, तथा ४. विदूषक।

नायक—विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में नायक के लक्षण इस प्रकार दिये हैं :

त्यागी कृति कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥[११८]

यद्यपि आज उपन्यास के नायक में उपर्युक्त सभी गुणो का होना अनिवार्य नही समझा जाता, तो भी उसका 'नेता' होना अनिवार्य-सा ही है। 'नायक' अथवा 'नेता' शब्द संस्कृत के 'नी' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—'ले जाना'। पुरुष पात्रों में सर्वप्रधान पात्र जो प्रारम्भ से लेकर अत तक उपन्यास को—और उसके साथ ही पाठकों के ध्यान को—अपने लक्ष्य की ओर लिए बढता है, जिसका लक्ष्य ही उपन्यास का लक्ष्य होता है, जिसको केन्द्र मानकर उपन्यास—और उसके सभी तत्व—घूमते हैं, सुखान्त उपन्यास मे जो फल का उपभोक्ता होता है और दुःखान्त उपन्यास में जिसके प्रति सबसे अधिक सहानुभूति उमड पड़ती है, वही उपन्यास का नायक होता है।

नायक के भेद—नाटक का विवेचन करते हुए सस्कृत के आचार्यों ने शील और शक्ति के आधार पर नायक के चार भेद किए हैं—१. धीरोदात्त २. धीरोद्धत ३ धीरललित, तथा ४. धीरप्रशान्त।[११९] और फिर इनमें से प्रत्येक की चार-चार श्रेणियाँ की है—(१) दक्षिण, (२) धृष्ठ, (३) शठ, और (४) अनुकूल।[१२०]

आज जब नाटक के लिए भी इस प्रकार का वर्गीकरण मान्य नही, उपन्यासों के नायकों को—विशेषतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के नायको को—इस प्रकार वर्गों में बाँटना तो और भी अस्वाभाविक प्रतीत होगा, क्योंकि उनके पात्र निरंतर विकास-

---

११८. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद, ६६वाँ श्लोक।
११९. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण' तृतीय परिच्छेद, ६७वाँ श्लोक।
१२०. वही, ७३वाँ श्लोक।

मान रहते है और उनका चरित्र नवीन दिशाएँ ग्रहण करता रहता है, जब कि इस वर्गीकरण की नीव में ही यह भाव निहित है कि मानव का विकास कुछ-एक नपी-तुली दिशाओ में ही हो सकता है। और फिर, यह भी तो विचारणीय हो सकता है कि क्या एक ही व्यक्ति विभिन्न देश, काल और परिस्थितियो में उपर्युक्त सब दिशाएँ नही ग्रहण कर सकता ? किसी मनुष्य में न तो गुण ही गुण होते है और न दोप ही दोप। मनुष्य गुणावगुणों का विकास स्थल है, इस तथ्य के प्रति उपर्युक्त वर्गीकरण उदासीन है।

नायिका—नायिका के लगभग वही लक्षण है, जो नायक के। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ नायक सर्वप्रधान पुरुष पात्र होता है वहाँ नायिका सर्वप्रधाना स्त्री पात्र। सामान्यतः उपन्यास के नायक की प्रेयसी अथवा पत्नी ही नायिका कहलाती है, पर ऐसा होना अनिवार्य नही। प्रत्येक उपन्यास में नायक और नायिका दोनो का होना अनिवार्य हो, यह भी नहीं। किसी उपन्यास में नायक और नायिका दोनो भी हो सकते हैं और केवल नायक या केवल नायिका भी। 'रंगभूमि' में नायक ही है, नायिका नही। 'झाँसी की रानी', 'त्याग-पत्र', 'दिव्या' आदि में नायिका ही है, नायक नही। नायक-प्रधान उपन्यास के नायक की पत्नी का नायिका होना अनिवार्य नही, और न ही नायिका-प्रधान उपन्यास की नायिका के पति का नायक होना। 'गोदान' के नायक होरी की पत्नी धनिया को नायिका नही कहा जा सकता, और न ही 'निर्मला', 'तितली', 'कल्याणी' आदि उपन्यासों की नायिकायो के पतियों को नायक। हाँ, यह आवश्यक है कि जिस उपन्यास मे नायक तथा नायिका दोनो हों, वहाँ उनमें लक्ष्य की एकता हो।

संस्कृत के काव्य-ग्रन्थों में नायिका का वर्णन बडे विस्तार से हुआ है। उनमें नायिकाओ के अनेक भेदोपभेद मिलते है, पर उन्हें यहाँ देना आवश्यक नही, क्योंकि उपन्यास मे नायिकाओं का विकास किसी प्रकार की सीमाओं में बँधकर नहीं हुआ है।

प्रतिनायक-प्रतिनायिका—नायक की लक्ष्य-प्राप्ति में सबसे अधिक बाधा उपस्थित करने वाले पुरुष पात्र को प्रतिनायक और नायिका के मार्ग में सबसे अधिक प्रतिरोध करने वाले स्त्री पात्र को प्रतिनायिका कहते हैं। प्रतिनायक के लक्षण देते हुए विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' में लिखा है कि वह धीरोद्धत, पापाशय तथा व्यसनी होता है।[१२१] उन्होने प्रतिनायक में धीरोद्धत नायक के सभी गुण—कपटता, प्रचण्डता, चंचलता, अहंकार, आत्मगौरव, आत्मश्लाघा[१२२]—तो माने ही है और उनके अतिरिक्त[१२३] उसका पापी और व्यसनी होना भी माना है। इस प्रकार, धीरोद्धत

१२१. विश्वनाथ, 'साहित्य-दर्पण', तृतीय परिच्छेद, १६३वा श्लोक।

१२२. वही, ६६वाँ श्लोक।

१२३. वही, १७७ के फुटनोट्स में की गई १६३वें श्लोक की टीका :

(छ) प्रतिनायकमाह, धीरोद्धत इति। धीरोद्धत :—

'मायापरः इत्यादीना नायक लक्षणे प्रागुक्त'।'

नायक और प्रतिनायक में बड़ा सूक्ष्म अन्तर रह जाता है कि धीरोद्धत नायक में इतने अवगुण होते हुए भी उसकी प्रवृत्ति पाप की ओर नहीं होती पर प्रतिनायक अथवा प्रतिनायिका स्वार्थसिद्धि के लिए सत्य और असत्य के तथा पाप और पुण्य के भेद को मिटा देते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार प्रत्येक प्रकार के नायक में धीरता[124] का होना अनिवार्य समझा गया है, उसी प्रकार प्रतिनायक में भी धैर्य और दृढ़ता का होना आवश्यक माना गया है। प्रतिनायक नायक की टक्कर का पात्र होता है। शक्ति और साधनों में वह नायक से न्यून नहीं पड़ता, बल्कि विरोधमूलक दृढ़ता और षड्यन्त्रकारिता में नायक को मात देने में समर्थ होता है। एक बार तो वह अपने प्रयत्नों में लगभग सफल हो गया होता है कि अचानक उसकी पोल खुल जाती है और उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। नायक के चरित्र विकास में प्रतिनायक का विशेष हाथ होता है। नायक के मार्ग में वह जितना सबल अवरोध खड़ा करता है, उसे पार करने में नायक को उतना ही अधिक संघर्ष करना पड़ता है। नायक को जितना अधिक संघर्ष करना पड़ेगा, उतना अधिक उसका चरित्र निखरेगा। यही बात प्रतिनायका के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

पताकानायक पताकानायिका—पताकानायक को पीठमर्द भी कहते हैं क्योंकि यह नायक की पीठ ठोकता रहता है और उसके अनुकूल वातावरण बनाने में लगा रहता है। यह प्राय प्रासंगिक कथा का नायक होता है, नायक की सी प्रकृति वाला पर गुणों में उससे कम।[125] इसका अपना कोई स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं होता। यह नायक के ही कार्य-व्यापार में योग देता रहता है और उसकी लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक बनता है।

विदूषक—उपन्यास में, आधुनिक उपन्यास में विशेषत, प्राय कोरे विदूषक पात्र नहीं मिलते। जहाँ कहीं भी इनका समावेश हुआ है, अन्य साधारण पात्रों की भाँति साधन के रूप में ही हुआ है। ऐसे पात्र उपन्यास को केवल नीरस होने से ही नहीं बचाते बल्कि अपने तीक्ष्ण व्यंगों द्वारा अन्य पात्रों पर टीका-टिप्पणी करने, नायक-नायिका की उद्देश्य पूर्ति में परोक्ष रूप से योग देने, समय-समय पर कथानक के टूटे हुए अंशों को मिलाने आदि का काम भी करते रहते हैं। उपन्यास में इनकी स्थिति गौण पात्रों से भिन्न नहीं कही जा सकती।

गौण पात्र

आधिकारिक कथा से नायक-नायिका, पताका नायक-पताकानायिका, प्रति-नायक-प्रतिनायिका की अपेक्षा कम सम्बन्ध रखने वाले पात्रों को गौण-पात्र कहा कहा जाता है।

---

१२४. वही, 'धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त।'
१२५. विश्वनाथ, 'साहित्य दर्पण', तृतीय परिच्छेद, ७८वाँ श्लोक।

गौण पात्रो की उपादेयता

उपन्यास मे गौण पात्रो का स्थान चाहे प्रधान न हो, पर उपन्यास के लिए उनकी उपादेयता किसी प्रकार भी कम नही मानी जा सकती । अवसर विशेष पर, जिनके लिए इनका समावेश किया जाता है, इनका महत्त्व और प्रभाव नायक इत्यादि प्रमुख पात्रो से किसी प्रकार कम नही होता । इनमें और प्रधान पात्रों में अन्तर यह है कि उपन्यास के कथानक का इनके जीवन से सीधा सम्बन्ध नही होता और न ही ये उपन्यास-जगत् के स्थायी सदस्य बन पाते है । उपन्यास में इनका समावेश किसी कार्य-विशेष के लिए होता है जिसे समाप्त करके ये चुपके से बाहर सरक जाते है, पाठको को उनके निकलने का पता नही चलता ।

उपन्यास मे गौण पात्रो का समावेश प्रायः निम्नलिखित उद्देश्यो को लेकर होता है—

(क) **कथानक को गति देना**—कई बार गौण पात्रो का समावेश किसी नवीन घटना को घटित करके या किसी पूर्व घटित घटना की सूचना देकर कथानक को आगे बढाने के लिए किया जाता है । 'निर्मला' में प्रेमचन्द ने एक अत्यन्त गौण पात्र बदमाश से समूचे कथानक को गति देने का काम बडे सुन्दर ढंग से लिया है । निर्मला के पिता उदयभानुलाल उसकी माँ कल्याणी से झगडकर आधी रात के समय लपकते हुए गगा की ओर चले, इस विचार से कि वहाँ जाकर नदी किनारे अपने कपड़े छोड दूँ और घर नही लौटूँ, जिससे यह भ्रम फैल जाय कि मैं डूब गया और कल्याणी खूब पछताए । रास्ते में उन्हें अचानक एक बदमाश मिल गया जिसे उन्होंने तीन साल पहले सजा दिलाई थी, बदमाश ने बदला लेने का ठीक मौका जानकर लाठी के एक ही प्रहार से उनकी कपाल-क्रिया कर दी और स्वयं भाग गया । उसके बाद उपन्यास भर में उस बदमाश के पुन· दर्शन नही होते, पर उसके एक ही काम—उदयभानुलाल की हत्या—ने निर्मला को 'निर्मला' बना दिया ।

(ख) **वातावरण में परिवर्तन लाना**—जब कभी उपन्यास के किसी स्थल-विशेष पर वातावरण इतना गम्भीर और अवसादपूर्ण हो उठे कि पाठकों का दिल बैठने लगे या कोई दो या अधिक पात्र किसी दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने में स्वयं इतने उलझ जायँ कि पाठक ऊबने लगे तब उपन्यासकार किसी ऐसे पात्र को प्रकट कर देता है जो जो वातावरण की गर्मी, अवसाद या गम्भीरता को कम करके उसे रोचक बना दे ।

'निर्मला' में मोटेराम शास्त्री का प्रयोग पाठकों का मनोरजन करके निर्मला की पहली मगनी छूट जाने के अवसाद को कम करने के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य स्थलो के लिए विदूषक के रूप में हुआ है । इसी प्रकार अश्क ने 'गर्म राख' में नायक जगमोहन के मन को दूसरी ओर लगाने के लिए कवि चातक और शुक्ला का प्रयोग किया है ।

(ग) वातावरण की सृष्टि करना—कई वार उपन्यासकार को किसी स्थान पर केवल वातावरण की सृष्टि के लिए ही अनेक पात्रों का जमघट इकट्ठा करना पड जाता है। उस समय उन पात्रों का व्यक्तिगत रूप में कोई काम नही होता उन्हे सामूहिक रूप में प्रकट होकर वातावरण का निर्माण ही करना होता है। उदाहरणार्थ, 'मृगनयनी' में जब राजा मानसिंह शिकार खेलने मृगनयनी के गाँव पहुँचते है उस समय उपन्यासकार गाँव भर के नर-नारियो को उपन्यास के पात्र बनाकर उनसे राजा-रानी की आरती उतरवाता है। इसी प्रकार उनके शिकार खेलने के समय हँकारो इत्यादि को इकट्ठा कर लेता है।

(ग) अन्य पात्रों का चरित्र-प्रकाशन—गौण पात्रों का प्रयोग बहुधा प्रधान पात्रों के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिए होता है। 'मृगनयनी' में मजदूर परिवार का समावेश राजा मानसिंह की प्रजावत्सलता दिखाने के लिए किया गया है। वह रात में वेश बदलकर देखा करता था कि उसके राज्य मे कोई दुःखी तो नही। 'शेखर : एक जीवनी' में प्रायः सभी पात्रों का प्रयोग नायक शेखर का क्रमिक विकास दिखाने के लिए हुआ है। केवल शशि को अपवाद माना जा सकता है, क्योंकि उसके अपने विकास-तन्तु भी उपन्यास मे यत्र-तत्र बिखरे पड़े है।

पात्रों के भेद : चरित्र-विकास की दृष्टि से

चरित्र के विकास की दृष्टि से उपन्यास में प्राय' दो प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते है। एक वे जिन पर उनके आस-पास के वातावरण का कोई प्रभाव नही पडता और प्रारम्भ से लेकर अत तक उनके चरित्र में कोई परिवर्तन नही दीखता। ऐसे पात्र स्वय नही बदलते, मानों वे आरम्भ से ही अपने आप में पूर्ण हो; केवल बदलता है उनके सम्बन्ध में पाठकों का ज्ञान।[१२६] इन्हे स्थिर (स्टैटिक पात्र) कहते है। दूसरे पात्र ऐसे होते है जिन पर उनके परिपार्श्व का प्रभाव पड़ता है और कथानक के विकास के साथ-साथ जिनके चरित्र का भी विकास होता रहता है। ऐसे पात्रों को विकसनशील (किनेटिक) पात्र कहते है। कुछ-एक पात्र ऐसे भी होते है जो हमारे सामने अपने अतिरजित रूप में आते है, और उनके किन्ही विशेष चिन्हो या हाव-भावों के आधार पर हम उन्हे झट पहचान लेते है—जिस प्रकार किन्ही विख्यात व्यक्तियो को उनके कार्टून देखकर—और उनके प्रति हमारा व्यग्य भाव जाग उठता है। ऐसे पात्रों को व्यंग्य-चरित्र (कैरिकेचर) कहते है। वास्तव में, ये पात्र स्थिर पात्रो का ही एक भेद है।

स्थिर (स्टैटिक) पात्र—स्थिर पात्र प्रायः व्यक्ति नही, प्रकार (टाईप) होते

१२६. Edwin Muir, 'The Structure of the Novel', Hogarth Press, 6th imp, 1949, London, p. 24-25 :

"Their (of flat characters) weaknesses, their vanities, their foibles, they possess from the beginning and never lose to the end; and what actually does change is not these, but our knowledge of them."

है—किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि। उपन्यासकार उनमें उनके वर्ग की कुछ उभरी हुई विशेषताएँ भर देता है, पर कथानक के विकास के साथ-साथ उन पात्रों की उन विशेषताओं का विकास नहीं करता। अपने परिपार्श्व के प्रति उनका जो दृष्टिकोण उपन्यास के आरम्भ में बन जाता है, वह किसी प्रकार भी विकसित नहीं होता और कथानक के अंत तक वैसा ही रहता है। प्रथम से अंतिम भेंट तक वे पात्र स्थिर रहते हैं, बदलते नहीं, बदलती है उनके बारे में केवल पाठकों की जानकारी। उपन्यासकार ऐसे पात्रों के सब गुण-दोषों का, उनके स्वभाव की सभी विशेषताओं का एकदम, उद्‌घाटन नहीं करता, क्योंकि उनके बारे में सब कुछ जान लेने के पश्चात् उनके प्रति पाठकों की उत्सुकता नहीं रह पाती। उनके प्रति पाठकों की रुचि बनाए रखने और उत्सुकता बढ़ाते चलने के लिए वह उनकी विशिष्टताओं को एक-एक करके प्रकाश में लाता है। कथानक के विकास के साथ-साथ उपन्यास के अन्य पात्रों से—और पाठकों से भी—ज्यों-ज्यों उन पात्रों का परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वे अधिक खुलते जाते हैं। पर उनके स्वभाव तथा चरित्र के जो-जो गुणावगुण प्रकट होते जाते हैं, वे उत्तरोत्तर स्पष्ट तो होते जाते हैं, पर बदलते नहीं। उपन्यासकार पहले से ही उनकी रूपरेखा इतनी पक्की और स्पष्ट बना लेता है, उनकी रुचि और अरुचि, प्रेम और घृणा, प्रवृत्ति और निवृत्ति के विषयों को ऐसा निश्चित कर देता है कि उन पूर्व-निर्धारित सीमाओं को तोड़ने का प्रश्न उनके लिए उठता ही नहीं।

स्थिर पात्रों के रूप में प्रायः कोई-एक भाव या गुण ही मुख्य रूप से मूर्तिमान होता है। उनके चरित्र के रूप में उस भाव या गुण की ही धीरे-धीरे व्याख्या तथा खण्डन एवं मण्डन होता रहता है।[१२७] अंत में वे भाव या गुण ही उनका जीवन-दर्शन बन जाते हैं—ऐसा जीवन-दर्शन जो प्रारम्भ से ही निरपेक्ष होता है और जो परिस्थितियों के प्रभाव से अछूता रहता है। इसलिए ऐसे पात्रों की जीवन-रेखाएँ इतनी स्पष्ट होती हैं कि एक या कुछ एक वाक्यों में उनका पूर्णतया वर्णन किया जा सकता है।

(एक तो स्थिर पात्रों का प्रथम परिचय कराते समय उपन्यासकार उनकी आधारभूत असाधारण प्रवृत्तियों तथा स्वभाव के गुण-दोषों पर बल दे देता है, और फिर जब उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से भी वही भाव ध्वनित होने लगता है तो पाठकों के लिए उन पात्रों को पहचानना तनिक भी कठिन नहीं रहता।) उनके स्वभाव के रुझान से परिचित होने के कारण विभिन्न परिस्थितियों में उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के बारे में अनुमान भी लगाया जा सकता है।) अपनी बोधगम्यता और

---

१२७. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 65 :

"In their (of flat characters) purest form, they are constructed round a single idea or quality : when there is more than one factor in them, we get the beginning of the curve towards the round."

स्थिरचित्तता के कारण ये पात्र पाठकों के हृदय-पटल पर ऐसी अमिट छाप लगा जाते है कि उनकी स्मृति सदा बनी रहती है, भले ही उनके जीवन की अन्य घटनाएँ भूल जाएँ।

विकसनशील (किनेटिक) पात्र—वे पात्र जो अपने परिपार्श्व से, अपने आस-पास के वातावरण से, अप्रभावित न रहते हुए कथानक के साथ-साथ विकसित होते रहते है, विकसनशील पात्र कहलाते है। स्थिर पात्रो की तरह ये पात्र आरम्भ से ही पूर्ण नही होते और न ही इनकी कोई पूर्व-निर्धारित सीमाएँ होती है। उनके विकास की भी कोई अवस्था स्थिर और अन्तिम नही कही जा सकती। ये निरन्तर विकसित होते रहते है। स्थिर पात्रो की परिस्थितियाँ, उनका परिपार्श्व, तो बदलता रहता है, वे स्वय नही बदलते, पर विकसनशील पात्रों की परिस्थितिया चाहे न बदले, एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही उनका विकास होता रहता है।

उपन्यासकार ऐसे पात्रो को उनके जीवन की मार्मिकतम अवस्था की ओर निरन्तर लिए बढता है और विभिन्न देश, काल और परिस्थितियो के कारण उनके चरित्र में होने वाले परिवर्तनो को प्रकाश में लाकर उनके आन्तरिक कारणों पर प्रकाश डालता जाता है। कई बार तो इस प्रकार के एक ही पात्र को लेकर उपन्यास-कार उसकी विविध अनुभूतियों के प्रकाशन के बहाने मानवमात्र की असख्य अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है। ऐसा प्राय मनोवैज्ञानिक उपन्यासो मे हुआ करता है जहाँ उपन्यासकार पात्रो के प्रत्येक मानसिक परिवर्तन की अत प्रेरणाओ तक पहुँचने की चेष्टा करता है।

(ग) औपन्यासिक चरित्रचित्रण की विविध प्रणालियाँ

बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

पात्रों के प्रथम परिचय में उनका चरित्र प्रथम भेंट की छाप—उपन्यासकार की चेष्टा

आकृति-वेशभूषा-वर्णन · नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति—मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बाह्य रूप-चित्रण के प्रति उदासीन

स्थित्यंकन (सिच्चूएशन पोर्ट्रेयल) तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

अनुभाव-चित्रण : अनुभावों का महत्व—अनुभावों की विश्वसनीयता—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अनुभाव-चित्रण

अंतरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण

अंत.प्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)

अंतर्द्वन्द्व (इन्टर्नल कान्फ्लिक्ट) अंतर्द्वन्द्व का मूल—चेतन और अचेतन अंतर्द्वन्द्व का चित्रण

अंतर्विवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)

मनोविश्लेषण (साइको-ऐनेलिसिस) : मुक्त आसंग (फ्री ऐसोसिएशन)—बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेंस)—स्वप्नविश्लेषण (ड्रीम ऐनेलिसिस : स्वप्न-संघटन (ड्रीम मेकेनिज्म)—उपन्यास में स्वप्न-विश्लेषण

निराधार प्रत्यक्षीकरण विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस)

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नों-ऐनेलिसिस) . सम्मोहन की प्रक्रिया—उपन्यास में सम्मोह विश्लेषण

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रिकोलेक्शन्स)

पूर्ववृत्यात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)

शब्द-सहस्मृति परीक्षण (वर्ड ऐसोसिएशन टेस्ट)

नाटकीय (ड्रामेटिक) चित्रण

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण—कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण—उद्धरण शैली—डायरी द्वारा चरित्रचित्रण—पत्रात्मक शैली

वहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्र-चित्रण

वस्तु-जगत के अनुरूप उपन्यास-जगत के भी प्रत्येक व्यक्ति अर्थात् पात्र का कोई न कोई नाम होता है। नामकरण होना तो वस्तु-जगत और उपन्यास-जगत दोनों में है, पर उसका महत्व दोनों में अलग-अलग है। नवजात शिशु का नामकरण कराने वाला पुरोहित या अन्य जो कोई भी उसका नाम प्रस्तावित करता है, वह शिशु के भावी जीवन के बारे मे कुछ भी नही जानता होता। इसलिए वस्तु-जगत के व्यक्तियो के नामो से उनके प्रति उनके माता-पिता या नाम प्रस्तावित करने वाले व्यक्ति की महत्वाकाक्षा, उसके जन्म पर उनकी प्रतिक्रिया तथा उनकी तात्कालिक मनोस्थिति का परिचय मिलता है कि वे उसे 'करोड़ीमल' बना देखना चाहते है या 'विनयपाल', उसे 'स्नेहलता' बनाना चाहते है या 'प्रतिभा'सम्पन्न।' परन्तु उस नाम का सम्बन्ध उस शिशु के चरित्र से तनिक भी नही होता, क्योकि नामकरण के समय तक उसके चरित्र का कोई भी पक्ष प्रकाश में नही आया होता। वस्तु-जगत के व्यक्ति का चरित्र-विकास उसके नाम की अपेक्षा नही रखता। व्यक्ति के नाम तथा चरित्र में अनुरूपता अथवा अननुरूपता अनिवार्य न मानी जाकर, सयोगवश ही मानी जा सकती है, क्योकि नामकरण तो इच्छामात्र से हो जाता है जबकि चरित्र-विकास कोरी इच्छा से सचालित नही होता।

पर उपन्यास के पात्रो का नाम रखने वाला उपन्यासकार कोरा पुरोहित ही नही, उनका स्रष्टा भी होता है। एक-साथ स्रष्टा और पुरोहित दोनो होने से उसकी स्थिति वस्तु-जगत के पुरोहित या नाम प्रस्तावित करने वाले किसी अन्य व्यक्ति से भिन्न हो जाती है। थैकरे जैसे कुछ एक उपन्यासकारों के इस कथन को सच मान ले कि वे पात्रो का निर्माण करके उन्हें अपने आप पर छोड देते है और उनके चरित्र-विकास में तनिक भी हस्तक्षेप नही करते,[१२८] तो भी इस बात से इनकार नही किया

१२८. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 144:
"I do not control my characters I am in their hands and they take me where they please."

जा सकता कि अधिकाश उपन्यासकार अपने पात्रो के भावी जीवन के सम्बन्ध में अनभिज्ञ नही होते। इसलिए, अपने पात्रो का नाम रखते समय उनके सामने पात्रो का समूचा चरित्र-विकास आ जाता है और वे उसके चरित्र के किसी उभरे हुए गुणावगुण के आधार पर उसका नाम रख देते है। यद्यपि इस प्रकार पात्रों के नामो द्वारा उनके चरित्र की विशिष्टता को व्यक्त करने की प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप में लगभग सभी उपन्यासकारो मे विद्यमान रहती है तो भी उपन्यासकार इससे जितना बच सके तो उतना ही श्रेयस्कर है, क्योकि इस प्रकार के चरित्रचित्रण में अस्वाभाविकता तो आ ही जाती है, साथ ही आवश्यकता से पहले पात्रो की चारित्रिक विशिष्टताओ के प्रकट हो जाने से उनके चरित्र-विकास के प्रति पाठको की उत्सुकता भी मन्द पड जाती है।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों में पात्रों के नामकरण द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन की प्रवृत्ति बडी प्रबल रही है। प्रेमचन्द, जयशकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा तथा जैनेन्द्र तक के उपन्यासो में भी यही प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रेमशंकर, बलराज, विजय, अजित, जयत, सुदामा, निर्मला, श्रद्धा, लीला, भुवनमोहिनी आदि पात्रों के नामो से ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ व्यक्त हो जाती है। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासो तक पहुँते-पहुँचते यह प्रवृत्ति बहुत क्षीण हो जाती है।

पात्रों के प्रथम परिचय में उनका चरित्र

वस्तु-जगत मे कितने ही लोग हमे मिलते रहते है पर सब के प्रति तो हम आकृष्ट नही होते। काफी देर साथ रहने पर भी कई लोग हमारा ध्यान अपनी ओर नही खीच पाते और कई लोग प्रथम दर्शन में ही हमे मुग्ध कर लेते है। यही बात औपन्यासिक पात्रो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कई पात्र उपन्यास में प्रवेश करते ही अपने मे पाठक को उलझा लेते है और अपने प्रति उसकी उत्सुकता को इतना जागृत कर देते है कि वह उनके बारे में सब कुछ जानने के लिए अधीर हो उठता है। पर कई पात्र ऐसे भी होते हैं जो उपन्यासकार द्वारा परिचय करवाए जाने पर भी पाठक को अपनी ओर खीचने में असमर्थ रहते हैं। वास्तव में, औपन्यासिक पात्रो के चरित्रचित्रण की सफलता इसी में है कि वे उपन्यास में पदार्पण करते ही पाठको को अपने में उलझा ले। इसलिए, श्रेष्ठ उपन्यासकार अपने किसी पात्र को उपन्यास के रगमच पर तब तक नही लाता जब तक कि उसके करने के लिए कोई महत्त्वपूर्ण काम नही होता। परिचयभर कराने के लिए पात्रो को उपन्यास के रगमंच पर ले आना और बाद मे उन्हे तब तक के लिए 'कोल्डस्टोरेज' में डाल देना जब तक उनकी आवश्यकता न पडे, उनके प्रति पाठको में उपेक्षा का भाव जगा देना है।

प्रथम भेंट की छाप—प्रथम भेंट में ही मनुष्य एक-दूसरे के प्रति अपनी धारणाएँ बना लेते है। मानिए, 'क' अचानक 'ख' से मिल गया। यह उनकी प्रथम [illegible]। आध घण्टे के लिए दोनो साथ रहे, उन्होंने कुछ मौसम के सम्बन्ध में, कुछ

बाजार के भाव के बारे में और कुछ अत्याधुनिक राजनीतिक विषयों पर बातचीत की और अलग हो गए। इतने थोड़े समय मे यद्यपि इन दोनों में से कोई भी एक-दूसरे के सम्बन्ध मे सब कुछ न जान सका तो भी दोनो के मन पर एक-दूसरे के व्यक्तित्व की छाप अकित हो गई और एक-दूसरे के प्रति उनकी कुछ धारणाएँ बन गई। 'क' ने सोचा कि 'ख' मिलनसार, योग्य और मनोरंजक व्यक्ति है और 'ख' ने समझा कि 'क' चतुर, बुद्धिवादी और व्यवहारकुशल मनुष्य है। प्रथम भेंट की इस प्रकार की छाप चाहे कितनी ही अनिश्चित और अस्थायी क्यो न हो, मानव स्वभाव की इस विशेषता की ओर स्पष्ट सकेत करती है कि मनुष्य दूसरों को समझने में कितना अधीर रहता है और इसी धुन मे कितनी जल्दी वह उनके बारे में अपनी धारणाएँ बना लिया करता है, बाद मे चाहे उसे वे बदलनी ही पड जाएँ।

उपन्यासकार की चेष्टा—उपन्यासकार मानव-मन की इस विशिष्टता से परिचित होता है। इसलिए, उपन्यास में पात्रों का प्रवेश कराते समय वह इस ओर प्रयत्नशील रहता है कि पाठकों से प्रथम भेंट में ही उसके पात्र उनके मन पर वैसी छाप अकित करे, जैसी वह चाहता है। अपने पात्रों का सृष्टा होने के नाते वह उनकी नस-नस से तो परिचित होता ही है और प्रायः यह भी जानता होता है कि उनके पात्रों ने चरित्र-विकास की कौनसी दिशा ग्रहण करनी है। इसलिए, उसका प्रयत्न रहता है कि उनके भावी चरित्र-विकास के अनुरूप ही पाठकों के मन पर उसकी प्रथम भेंट की छाप पडे। पाठकों पर पात्रों की प्रथम भेंट का यथेष्ट प्रभाव डालने का प्रयत्न तो प्रत्येक उपन्यासकार करता है, पर कुशल उपन्यासकार पात्रों के डील-डौल, वेश-भूषा आदि के चित्रण द्वारा उन्हें पाठकों के कल्पना-चक्षुओं के सामने साकार करके उन्हे स्वय अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा उन पर धीरे-धीरे खुलने देता है। अपनी ओर से उनकी चारित्रिक विशेषताओं के सम्बन्ध में कुछ नही कहता। जयशकरप्रसाद तथा जैनेन्द्र इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय प्रभृति मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अपने पात्रों को इसी प्रकार पाठकों पर धीरे-धीरे प्रकट होने देते है।

पर कई उपन्यासकार पात्रों की आकृति-प्रकृति, वेश-भूषा आदि का ही वर्णन करके नही रह जाते अपितु अपनी ओर से उनके चारित्रिक गुणावगुणों के सम्बन्ध में भी एक टिप्पणी जोड देते है और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों उपन्यासकार उस पात्र की अगुली पकडकर उपन्यास-जगत के रगमच पर ले आया हो और औपचारिक ढग से उसका परिचय करा रहा हो तथा पाठकों से आग्रह कर रहा हो कि वे उस द्वारा बताई गई पात्र की चारित्रिक विशिष्टताओं को सत्य मान लें। पाठकों से इस प्रकार का आग्रह करने वाले उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का शीर्ष स्थान है।

उपन्यासकार अपने पात्रो का पूर्ण ज्ञाता तो होता ही है और वह उनके भावी विकास को भी जानता होता है, पर जब कोई उपन्यासकार अपने किसी पात्र का पहली बार परिचय कराते समय ही उसके उन चारित्रिक गुणावगुणो का उल्लेख करने लगता है जो तब तक उस पात्र की क्रिया-प्रतिक्रियो से व्यक्त नही हुए होते, तो उसका वह परिचय अस्वाभाविक प्रतीत होने लगता है और उसमें पक्षपात की गन्ध आने लगती है।

कुछ भी हो, कुशल उपन्यासकार यह नही भूलता कि पाठको के मन पर पड़ी हुई पात्र के प्रथम परिचय की छाप प्रथम दर्शन की छाप के समान चाहे पूर्णतः सत्य न सिद्ध हो पर मन पर पड़े उसके अक धीरे-धीरे ही धुल पाते है और जब तक वे पूर्णतः धुल नहीं जाते पाठक द्वारा पात्रो की बाद की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के मूल्यॉकन को प्रभावित करते रहते हे।

आकृति-वेशभूपा-वर्णन वेशभूषा के सम्बन्ध में पजाबी की एक कहावत है—"खाइये मन भाऊँदा अते पाइये जग भाऊंदा', अर्थात् हमारा खाना-पीना मन-चाहा होना चाहिए, पर हमारा पहनावा जग-चाहा हो। इस कहावत में प्रतिपादित सिद्धान्त का पालन करते हुए जो लोग समय-समय पर अपनी वेशभूपा वैसी ही रखते है जैसी कि समाज उनके स्तर तथा व्यवसाय के व्यक्ति से आशा रखता है, उनकी वेशभूपा मे उनके व्यक्तित्व की झाँकी पाना उतना कठिन नही होता, जितना उन लोगों के पहनावे मे जो समाज के वेशभूपा सम्बन्धी नियमो के प्रति उपेक्षा का भाव रखने हैं। यद्यपि आज के युग मे जबकि सभी सामाजिक मूल्य डगमगा गए है, केवल आकृति या वेशभूपा के आधार पर किसी भी व्यक्ति के चारित्रिक गुणों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाना भ्रामक हो सकता है, फिर भी किसी नये व्यक्ति से प्रथम भेंट के समय हमारा ध्यान सबसे पहले उसकी आकृति और वेश-भूपा पर ही पड़ता है और जब तक उस व्यक्ति की कोई क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त नही होती, उसकी आकृति और वेश-भूपा के आधार पर उसके चरित्र को आकने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई उपाय नही रहता है।

उपन्यासकार भी उपन्यास में अपने पात्रो का प्रथम बार प्रवेश कराते समय उन की आकृति और वेशभूपा का चित्रण किया करता है और उसके माध्यम से उनके चारित्रिक गुणावगुणों के सम्बन्ध में अपने पाठको पर मनोवाञ्छित प्रभाव डालने का प्रयत्न किया करता है। यही नही, समय-समय पर उनकी आकृति और वेशभूपा में होने वाले परिवर्तनो का चित्रण करके उनकी मनोदशा में होने वाले परिवर्तनो को भी व्यक्त किया करता है। बहुधा पात्रों की आकृति और वेशभूपा का चित्रण पाठकों की कल्पना मे पात्रो को साकार खड़ा कर देने के लिए ही नही, उनके गुणावगुणो को साकेतिक शैली से व्यक्त करने के लिए भी होता है।

नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार अपने पात्रों को उपन्यास के रंगमंच पर पहली बार लाते समय पूरी पोशाक से लादकर लाते ताकि किसी वस्तु की कमी पड़ने पर उन्हें पुन. वस्तु-जगत में न जाना पड़े। रीति-कालीन कवियों की भाँति वे अपने पात्रों का नखशिख वर्णन बड़े मनोयोग से करते थे। पर पात्रों के बाह्य रूप का इतना विस्तृत वर्णन करने पर भी वे पात्र पाठकों के सामने सजीव हो उठते हों, यह बात नहीं थी। उपन्यासकारों की इस प्रवृत्ति की व्यर्थता को देखकर ही प्रेमचन्द ने कहा था कि 'किसी पात्र की हुलियानवीसी की जरूरत नहीं, दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ'[१२९], यद्यपि स्वयं वह भी इस सिद्धान्त का पूर्णत: पालन न कर सके थे।

प्रारम्भिक उपन्यासों के आकृति वेशभूषा के चित्रण की एक और विशिष्टता यह है कि उपन्यासकार पात्रों को उपन्यास में पहली बार लाते समय ही उनकी आकृति और वेशभूषा का चित्रण करता है और उसके बाद उपन्यास भर में कहीं भी उसकी आकृति और वेशभूषा की चर्चा नहीं छेड़ता, मानो अपने औपन्यासिक जीवन में वे सदा एक-सी ही पोशाक पहने रहे हों और उनकी आकृति भी एक-ही रही हो, भले ही उनके औपन्यासिक जीवन का आरम्भ युवावस्था से हुआ हो और अवसान वृद्धावस्था में। यह प्रवृत्ति प्रेमचन्द तक के उपन्यासों में भी मिलती है। अपने उपन्यास 'गोदान' के आरम्भ में वह होरी की आकृति और वेशभूषा का चित्रण एक बार कर देते हैं। उपन्यास भर में पाठकों की आँखों के सामने उसका वही एक रूप रहता है। इस प्रकार, होरी की आकृति और वेशभूषा अस्वाभाविक हो जाने के अतिरिक्त उपन्यासकार आकृति-वेशभूषा-वर्णन द्वारा चरित्रचित्रण करने की प्रणाली से वंचित रहकर अपने लिए सीमाओं का निर्माण कर लेता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार बाह्य रूप-चित्रण के प्रति उदासीन—पात्रों का ब्योरेवार नखशिख वर्णन, यदि कुशलता से किया जाय तो वह ऐसे 'टाइप' तो बना सकता है जो आसानी से पहचाने जा सकें पर इस प्रकार का वर्णन उन पात्रों को व्यक्ति-चरित्र नहीं बना सकता। कोई आदमी देखने में कैसा है—कद का लम्बा है या छोटा, उसका माथा चौड़ा और गोल है या तंग और चपटा, उसकी नाक लम्बी है या मोटी, ओंठ मोटे हैं या पतले, वह पेंट-कोट पहनता है या धोती-कुरता; इसी प्रकार कोई स्त्री पतली-लम्बी है या मोटी-छोटी, गौर वर्णा है या श्याम वर्णा, उसके नयन-नक्श तीखे हैं या मोटे, वह धोती-ब्लाउज पहनती है या सलवार-जम्पर—पात्रों के इस प्रकार के ब्योरेवार वर्णन से व्यक्ति-चरित्र की नींव नहीं डलती। इस लिए, व्यक्ति-चरित्र के उपन्यासों के प्रादुर्भाव से पात्रों के बाह्य रंगरूप वर्णन में भी अन्तर आता गया। व्यक्ति-चरित्र का उपन्यासकार जिस प्रकार अपने पात्रों के शील को एक चौखटे में न कसकर उसे लचकीला ही बनाए रखता है, उसी प्रकार वह बाह्य

१२९. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४८।

रगरूप और नखशिख की मोटी और पक्की रेखाओं में बाँधकर उन्हें गुडिया नहीं बना देता। वह अपने पात्रों की बाहरी सज्जा में नहीं अटकता, प्रत्युत बाहर के ठोस आवरण को चीरकर उनके भीतर की तरल मानसिकता के चित्रण की ओर प्रवृत्त होता है और उसी के द्वारा वह उसे अन्य मानवों से भिन्न व्यक्ति बना देता है। यह बात वह पाठकों की रुचि और कल्पना पर छोड देता है कि वे उसे जैसी भी पोशाक चाहे पहना लें। इसलिए, 'शेखर : एक जीवनी' जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यदि नायक-नायिका का बाह्य रूप-चित्रण न मिले और यदि कही मिले भी तो अत्यल्प, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

स्थित्यंकन तथा क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण किसी व्यक्ति की स्थिति विशेष (सिच्युएशन) को जाने बिना उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं के आधार पर उसके चरित्र के बारे में लगाया गया अनुमान भ्रामक सिद्ध हो सकता है, क्योंकि किसी के क्रिया-कलापों का विश्वसनीय मूल्यांकन उन्हे उस स्थिति के संदर्भ में रखकर ही किया जा सकता है जिसमें वे व्यक्त हुए हों। स्थितियाँ अपने भीतर एक या अनेक उत्तेजकों को लिये रहती हैं, जो व्यक्ति के आचरण को प्रेरित करके उद्दीप्त करते रहते हैं। इसलिए, पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया के वर्णन से पहले उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उस स्थिति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करे जिसमें वे पात्र पड गये हो, क्योंकि कारण को पूरी तरह जाने बिना कार्य का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। अपने पात्रों के स्थित्यंकन के लिए, उनके परिवेश के चित्रण के लिए उपन्यासकारों को वे सुविधाएँ कहाँ जो नाटककार को सहज उपलब्ध होती हैं। बना-बनाया स्टेज और सजे-सजाए तथा सिधे-सिधाए पात्र उपन्यासकार को उपलब्ध नहीं होते। सब-कुछ का उसे स्वय ही निर्माण करना होता है। उसकी बडी कठिनाई यह है कि उसे सब कुछ अकेले ही करना पड़ता है और साधन उनके पास केवल एक है—शब्द। उसे पात्रों की सपूर्ण स्थिति के सजीव शब्द-चित्र उपस्थित करने होते है, जिससे समस्त वातावरण पाठकों की कल्पना में मूर्त हो उठे और उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि वे सारी स्थिति अपनी आँखो देख रहे हैं।

प्रथम भेंट में किसी को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता।[१३०] पूरी तरह जान पाना तो दूर, जो कुछ थोडी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, उस पर भी पूर्णतया

१३०. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', Constable & Company, London, 1951 ; p 500 :

"In the brief period of first meeting, there is little chance for contradictions to appear, or for the judge to ascertain which traits are central and which are incidental in the personality. Some feature are hidden entirely, especially those that are asocial ; the 'persona' is not easy to penerate at first meeting."

विश्वास नहीं किया जा सकता ।[131] प्रथम परिचय के समय एक तो सभी चारित्रिक विशिष्टताओं को व्यक्त होने का अवसर नहीं मिलता । जिन कुछ-एक विशिष्टताओं को प्रकट होने का अवसर मिलता है, वे भी अनेक कारणों से दबी पड़ी रहती है या अधूरी ही व्यक्त हो पाती हैं । दूसरे, कई बार प्रथम भेंट के समय व्यक्ति स्वयं भी किसी विशेष प्रयोजन से अपने स्वभावज आचरण को दबाकर उस पर कृत्रिम शिष्टाचार का आरोप कर लेता है । इसलिए, प्रथम भेंट हमारे हृदय पटल पर जो छाप छोड़ जाती है, उसकी सत्यता को परखने के लिए जीवन की विविध परिस्थितियों में उसकी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक हो जाता है ।[132]

सामान्यतः मनुष्य की परिस्थितियों और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध रहता है । जिस प्रकार, कारण की पूरी जानकारी के अभाव में कार्य का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता, उसी प्रकार, अकेले कारण का ज्ञान भी कार्य को समझने में सहायक नहीं हो पाता । (इसलिए, कुशल उपन्यासकार अपने पात्रों की विभिन्न स्थितियों के अंकन तथा उनमें व्यक्त होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं के चित्रण में ऐसा सामंजस्य बैठाता है कि पाठकों की कल्पना में पात्र और उनकी परिस्थितियाँ साकार होती जाती है[133] और उनका चरित्र-विकास स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला जाता है ।)

अनुभाव (एक्सप्रेसिव फीचर्स) चित्रण—मनोभावों के उदय होने के पश्चात् शरीर में जो विकार दृष्टिगोचर होते है, उन्हें अनुभाव कहते है । ये अनुभाव दर्शकों को दूसरे के भावों का अनुभव कराते हैं ।[133] दूसरों के भीतरी भावों को समझने के लिए उनके अनुभावों का अध्ययन भी आवश्यक हो जाता है । दूसरों के अनुभावों का अध्ययन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है कि किसी स्थिति में पड़ते ही व्यक्ति की प्रतिक्रिया प्रकट नहीं हो जाती और जब तक उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं होती तब तक स्थिति के प्रभाव से उसकी मनोदशा में होने वाले परिवर्तन जानने के लिए उस के अनुभावों पर ही निर्भर रहना पड़ता है । स्थिति में पड़ जाने के पश्चात् और प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले पात्र के मुख तथा अन्य अंग-प्रत्यंगों में जो

---

१३१. Murphy, 'General psychology', Harper & Bros New York, p 474 :
"*Character and personality cannot be read 'at sight', but must be carefully studied.*"

१३२. Ross Stagner, 'Psychology of Personality', McGraw Hill, New York, 1948, *p.* 33 :
"A precise statement of the behaviour of an individual in a wide variety of real life situations might well be the most valuable of all materials for the study of personality."

१३३. डा० त्रिगुणायत, 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त', प्रथम भाग, पृष्ठ १५६ :
'अनुभावयन्ति इति अनुभावः' ।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन होते रहते है, उनमें पात्रों का तत्कालीन मानसिक संघर्ष प्रतिबिम्बित होता रहता है। इसीलिए, उपन्यासकार के लिए अपने पात्रों के मुख-इंगितों (फेश्यल एक्स्प्रेशन्ज), शारीरिक मुद्राओ (जेस्चर्ज) आदि का चित्रण उतना ही आवश्यक हो जाता है जितना उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ का वर्णन।

जो उपन्यासकार स्थित्यंकन के पश्चात् सीधे पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण करने लग जाता है, उसके चरित्रचित्रण में अस्वाभाविकता आ जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है मानों उपन्यासकार द्वारा बिजली का बटन दबाते ही पात्रो की प्रतिक्रिया व्यक्त हो गई हो। हिन्दी के आरभिक उपन्यासों में यह त्रुटि विशेष रूप से पाई जाती है। प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यासों में भी पात्रों के अनुभाव-चित्रण की ओर उतना ध्यान नही दिया गया जितना कि स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक होता है। उनके उपन्यासो में ऐसे स्थानो की कमी नही जहाँ पात्र स्थिति में पड़ते ही कठपुतली के समान उपन्यासकार के इशारों पर नाचते हुए प्रतीत होते हैं। यहाँ उनका सकेत मात्र किया जाता है। उपयुक्त स्थल पर इस विषय का विशद विवेचन किया जाएगा।

कई बार दूसरो को समझने के लिए उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया की अपेक्षा उनके अनुभावो का अध्ययन अधिक विश्वसनीय होता है। किसी व्यक्ति की उन्ही क्रिया-प्रतिक्रियाओ में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ प्रतिबिम्बित होती हैं, जो स्वभावज हो। स्वभावज प्रतिक्रिया को दबाकर सायास प्रकट की गई बनावटी प्रतिक्रिया के आधार पर लगाया गया अनुमान भ्रामक होगा। पर प्रकृत अनुभावों को पूर्णतः दबा सकना बडा कठिन है। लाख बनावटी चेष्टाएँ करने पर भी व्यक्ति के मुख पर बरबस एक ऐसी रेखा खिच जाती है, उसकी शारीरिक मुद्रा में एक ऐसा परिवर्तन प्रकट हो जाता है, जो उसके समस्त कृत्रिम व्यवहार की पोल खोल देता है।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में अनुभाव चित्रण का महत्त्व—जो लोग अन्तर्मुख होते है, जो समस्त बाह्य सघर्ष को अपने भीतर समेटकर जीवन भर अन्दर ही अन्दर घुलते रहते है, उनकी अन्तर्व्यथा को जानने के लिए उनके अनुभावो पर ही पूर्णतः निर्भर होना पड़ता है। इसलिए, अन्तर्मुख पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए उपन्यास-कार को उनके अनुभाव-चित्रण की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त होना पड़ता है। साथ ही व्यवहार-कुशल पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया में आई कृत्रिमता को उघाड़ने के लिए उन के मनोभावो के अनुवर्ती तथा उनके द्योतक अनुभावो का चित्रण होता है। इसलिए, आरम्भिक उपन्यासो के बहिर्मुख पात्रों के चरित्रोद्घाटन में उपन्यासकार अनुभाव-चित्रण के प्रति उदासीन दिखाई देता है और आधुनिक अन्तर्मुख, विकसनशील पात्रों को उघाड़ने में वह उनके अनुभावो में होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों तक की भी उपेक्षा नही करता। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे अनुभाव-चित्रण की उपेक्षा और इलाचन्द्र जोशी आदि के उपन्यासो में अनुभाव-चित्रण में विशेष तत्परता का यही कारण है।

अन्तरंग (सब्जेक्टिव) चित्रण

अंतःप्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)

किसी मनुष्य की काल-विशेष की परिस्थिति को, उस परिस्थिति के प्रति उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया को तथा उसके समूचे व्यक्त व्यवहार को जान लेने पर भी यह दावा नही किया जा सकता कि हम उसे पूर्णरूपेण समझ गए [१३४], क्योंकि मनुष्य का जो रूप दूसरो पर प्रकट होता है, वही तो उसका वास्तविक रूप नही होता। उसके व्यक्त रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय उसका वह रूप होता है, जो जाने या अजाने अभिव्यक्ति पाने से बचा रहता है और उसके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहता है। मनुष्य के व्यक्त आचार, विचार और व्यवहार में उसके चरित्र का एक अंश ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। शेष का तो उसकी व्यक्त चेष्टाओं में आभास तक नही मिलता।[१३५] मानव-चरित्र हिमनग (आईसवर्ग) के समान है, जिसका केवल नवमांश ही जल के ऊपर दिखाई देता है और शेष पानी के भीतर छिपा रहता है। मनुष्य के उस अव्यक्त चरित्र को जाने बिना, जो उसके समूचे रूप को प्रेरित करता है, मनुष्य को पूरी तरह समझ सकना सम्भव नही।[१३६] इसीलिए उपन्यास-स्थित्यंकन के पश्चात् अपने पात्रो की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं के चित्रण में ही नहीं उलझा रहता, प्रत्युत् उनके मानसिक संघर्ष को, अपने आस-पास के वातावरण के प्रति निरंतर विकसित होते रहने वाले उनके दृष्टिकोण तथा उनके प्रकट व्यवहार की अंत.-प्रेरणाओ (इन्टर्नल मोटिव्स) को प्रकाश में लाता रहता है।

वस्तु-जगत् में किसी व्यक्ति के व्यक्त आचरण के पीछे छिपे भीतरी प्रेरक को

---

१३४. Ruch, Psychology and Life', Scott, Foresman, New York, third edn., p 122

"When all we know about a person's behavior is the external stimulus situation, our description of his behaviour cannot be complete."

१३५. H A Murray, 'Explorations in Personality', Oxford University Press, New York, 1938, p 244 ·

"There are many complicating factors that disturb a simple intention-effect relation. In the first place, an intention is not usually realised in social life due to opposition, interruption, internal conflict or the subject's inability And even when the effect is realised it may be even harder to detect than the intention of the subject"

१३६. Ruch, 'Psychology and Life', p. 123.

"To understand why a person behaves as he does in any particular situation, you must know what external situation he is in—but you must know more than that. You must also understand his internal situation, which plays an extremely important role in arousing and detecting his behavior."

पता लगा पाना बड़ा कठिन होता है।[137] प्रायः हम उनके बारे में ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा पाया करते और वह व्यक्ति हमारे लिए एक पहेली बना रहता है। पर उपन्यासकार, अपने पात्रों का स्रष्टा होने से उन्हें बाह्याभ्यन्तर से भली प्रकार जानता होता है और उनके चरित्र-विकास की प्रत्येक दिशा के अव्यक्त प्रेरकों से परिचित होता है। इसलिए, वह अपने पात्रों की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके अनुभाव आदि के चित्रण के साथ-साथ उनको प्रेरित करने वाली अंतःप्रेरणाओं को भी प्रकाश में लाता रहता है। ऐसा किए बिना उसके पात्रों का चरित्र-चित्रण अधूरा और असंगत रह जाता है। पात्रों की अंतःप्रेरणाओं के चित्रण (मोटिवेशन)[138] द्वारा ही तो उपन्यासकार अपने पात्रों के बहुरूपी और परस्पर-विरोधी आचरण में एक-सूत्रता लाकर उन्हें युक्ति-युक्त ठहराता है, उनमें संगति बैठाता है।[139]

पात्रों की चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता उतना उनके व्यक्त आचरण की समानता पर निर्भर नहीं करती जितना कि उसके पीछे काम करने वाली प्रेरणाओं की एकसूत्रता पर।[140] समान परिस्थितियों में पात्र की सदा एक-सी प्रतिक्रिया ही प्रकट हो, यह आवश्यक नहीं, पर यदि विभिन्न प्रतिक्रियाओं को जन्म देने वाली अंतः प्रेरणाएँ भी भिन्न-भिन्न और परस्पर-विरोधी होंगी, तो उसका चरित्र-चित्रण कृत्रिम और असंगत दिखाई देने लगेगा। इसलिए किसी पात्र के विभिन्न कालीन आचार-व्यवहार में असमानता होने पर भी उसे प्रेरित करने वाले कारणों में समानता लाना आवश्यक हो जाता है। चरित्र-चित्रण की सफलता पात्र के बहुरूपी क्रिया कलापों में तर्कसंगत मेल बैठाने में है। चरित्र-चित्रण में शिथिलता प्रायः तभी आया करती है, जब पात्र या तो निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने लगते हैं, या फिर उपन्यास के कथानक की आवश्यकता-पूर्ति के लिए अपनी मूल प्रकृति के विरुद्ध आचरण करने लगते हैं और उपन्यासकार उनके परस्पर-विरोधी आचरण के युक्ति-युक्त कारण उपस्थित नहीं कर पाता।

---

१३७ Murray, 'Explorations in Personality, p. 245 :

"... .The S (subject) is often unconscious of his motives or, if conscious, is unwilling to reveal them."

१३८. Boas, 'The Enjoyment of Literature', p. 223 :

'The assigning of motives and the reactions which they cause is called motivation "

१३९. Ibid, p. 223 :

"Motives do not necessarily have to be reasonable—they are not always so in real life—but they must be natural and they must be consistent in what we know of character "

१४०. Haines, 'Living with Books', Columbia University Press, New York, 1950, p. 526.

अन्तर्द्वन्द्व (इन्टर्नल कान्फ्लिक्ट)

जब कोई पात्र जीवन के किसी ऐसे मोड पर आ पहुँचता है, जहाँ उसके सामने परस्पर विरोधी दिशा में जाने वाले दो मार्ग आ पडे हों और वह परिस्थितिवश उन दोनों में से किसी एक पर चलने के लिए बाध्य हो, पर दोनों को समान रूप से उपयोगी व अनुपयोगी समझकर यह निश्चय न कर पाता हो कि किसे अपनाए और किसे छोडे, तब उसके मन में एक अकथनीय द्वन्द्व छिड जाता है, जो उसे प्रतिक्षण बेचैन किए रखता है। ऐसी स्थिति में पात्र की अनिश्चितता का कारण जहाँ एक ओर उसकी दृष्टि में दोनों मार्गों की समान उपयोगिता व अनुपयोगिता होती है, वहाँ उसकी हिचकिचाहट का दूसरा कारण उसमें आत्मबल और इच्छा-शक्ति की कमी भी हो सकता है। फलतः वह यही सोचता रह जाता है कि अमुक मार्ग अपनाने में उसे यह क्षति उठानी पडे और दूसरे को अपनाने में उसे यह हानि होगी और वह दोनों में से किसी प्रकार की क्षति उठाने के लिए अपने को तैयार नहीं कर पाता। ऐसा पात्र भीतर ही भीतर घुलता रहता है और यदि किसी निश्चय पर पहुँचता भी है तो बडी देर के बाद और वह भी अनमने भाव से। उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ध्वनित परिस्थिति-विशेष में उसका निश्चय भले ही दूसरों को असगत प्रतीत हो, पर यदि उस निश्चय पर पहुँचने से पहले उसके मन में उठे घोर संघर्षजनित क्लेश का पता चल जाए तो उस पात्र को समझने में गलती नहीं हो सकती। इसलिए, अपने पात्रों के परस्पर विरोधी क्रिया-कलापों में सगति बैठाने के लिए भी उपन्यासकार पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया करता है।

अन्तर्द्वन्द्व का मूल—अन्तर्द्वन्द्व उन्हीं पात्रों के भीतर छिडा करता है, जिनके निकट जीवन और जगत के मूल्य स्पष्ट नहीं होते, जो यह निश्चय नहीं कर पाते कि किस को किस पर प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जिन पात्रों की आत्मा में बल होता है और जिनकी इच्छा-शक्ति प्रबल होती है तथा जिनके निकट सामाजिक मूल्य सुस्पष्ट होते हैं, उन में अन्तर्द्वन्द्व नहीं उठ पाता। वे भीषण से भीषण परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते और धैर्य से अपने पथ पर बढ़ते जाते हैं। इसीलिए हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों के पात्रों में आन्तरिक सघर्ष का नाम तक नहीं मिलता। उनके सामने सामाजिक मूल्य इतने स्पष्ट हैं कि उन्हें उस निश्चय पर पहुँचते देर ही नहीं लगती कि क्या किया जाय और क्या न किया जाय। प्रेमचन्द तक के पात्रों में भी आवश्यक मात्रा में अन्त सघर्ष नहीं मिलता। अन्त सघर्ष के कारण होते हुए भी वे उससे बचे रहते हैं। पर जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की समस्त शक्ति उनके पात्रों के भीतरी द्वन्द्व को उघाडने में ही लगती रहती है।

चेतन और अचेतन अन्तर्द्वन्द्व—पात्रों के भीतर दो प्रकार का सघर्ष हो सकता है—चेतन और अचेतन। चेतन संघर्ष वह है जो पात्रों के चेतन मन में हो, जिसके प्रति पात्र जागरूक हो और उसके कारणों को भली प्रकार से जानते समझते हों। अचेतन सघर्ष वह होता है जो पात्रों के अचेतन में ही सक्रिय हो और जिसके कारण पात्रों की

पकड़ से बाहर हो। अचेतन सघर्ष मे पात्र अपने आपको प्रतिक्षण बेचैन तो पाता है, पर उसकी बेचैनी क्यों है, यह वह समझ नही पाता। पात्र जो कुछ करना चाहता है, वह उससे हो नही पाता और जो वह नही करना चाहता उसे कर बैठता है। उसके स्वभाव मे एक ऐसा भीतरी विरोध भरा रहता है जो किसी भी स्थिति से उसका मानसिक मेल नहीं बैठने देता।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा और जैनेन्द्र के 'विवर्त्त' की नायिका भुवनमोहिनी का विवाह उस से नही हो पाता जिससे वह प्रेम करती है, पर दोनो ही बिना विरोध के उससे विवाह कर लेती है जिससे उनका प्रेम नही होता। विवाह के पश्चात् दोनो का ही यह निश्चय रहता है कि वे पति के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहेगी। पर जहाँ प्रेमचन्द की नायिका प्रेमा अपने निश्चय पर अटल रहती है और मन में किसी प्रकार के सघर्ष को उठने दिए बिना अपने पातिव्रत्य को निभा लेती है, जैनेन्द्र की भुवनमोहिनी लाख चेष्टा करने पर भी पति के प्रति सच्ची नही रह पाती। प्रेमी को भी तो वह समर्पित नही हो पाती। जीवन भर वह पति और प्रेमी के बीच भटकती रहती है, पूर्णतः समर्पित दोनो में से किसी को भी नहीं हो पाती। उसके अचेतन में यौन-प्रवृत्ति (सेक्स अर्ज) और विवेक बुद्धि (कान्शैन्स) में एक भीषण संघर्ष सक्रिय रहता है जो उसके आचार-विचार और व्यवहार को प्रभावित करके किसी भी परिस्थिति से उनका मेल नही बैठने देता। फलतः वह जीवन भर कटी-कटी सी रहती है पर उसका कारण नही जान पाती।

अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण

पात्रो के चेतन में व्याप्त संघर्ष को तो उपन्यासकार उनके अन्तर्द्वन्द्वो (इन्टारियर कॉन्फ्लिक्ट) के चित्रण द्वारा व्यक्त करा सकता है, पर अचेतन सघर्ष को उघाडने के लिए उसे बडा परिश्रम करना पडता है और उसे मनोविश्लेषण (साइकॉ ऐनेलिसिस), स्वप्न-विश्लेषण, निराधार प्रत्यक्षीकरण-विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस), सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ ऐनेलिसिस), प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑफ रिकोलेक्शन्स) पूर्ववृत्त-प्रणाली (केस हिस्ट्री मेथड), शब्द-सहस्मृति परीक्षा (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट) आदि उन सभी प्रणालियो का आश्रय लेना पडता है जिन्हें एक मनोविश्लेषक अपने पात्रो की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो को समझने के लिए अपनाता है। मनोविश्लेषक की भाँति उपन्यासकार भी मनोवैज्ञानिक प्रणालियो को अपनाता तो है, पर अपने उपन्यासों में वह उन्हें औपन्यासिक सुविधा के अनुकूल रूपान्तरित करके ही ग्रहण करता है।

अंतर्विवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)

अंतर्विवाद प्रायः अंतर्मुखी पात्रो में ही मिलता है। अंतर्विवाद पात्र का एक ऐसा मूक भाषण होता है, जिसमे पात्र छोटे-छोटे, सरल और सीधे वाक्यो में बिना किसी युक्ति-युक्त प्रबन्ध के, अपने अन्तर के उन विचारो को व्यक्त करता जाता है

जो उसके अचेतन के निकटतम हो, मानो वह वर्णन उसके उन भावों की पुनरावृत्ति हो जो उसके मन में उस समय उठ रहे हो।[१४१] अंतर्विवाद में लेखक पात्र और पाठकों के बीच मे से निकल जाता है और पाठक को अवसर प्रदान करता है कि वह पात्र के मन में पैठे और उसमें मच रही उथल-पुथल को लेखक की नहीं, अपनी आँखों से देखे।[१४२] इस प्रणाली का प्रयोग पात्र के व्यक्त आचरण की उन प्रेरणाओं को पकड मे लाना होता है जो उसके चेतन मन की पकड से बाहर हो।[१४३]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के आविर्भाव से पहले हिन्दी उपन्यास-साहित्य मे कदाचित् ही कही पात्रो के अंतर्विवाद मिले। उनके पात्र एकान्त में बैठकर मनन न करते हो, यह बात नही। मनन और चिंतन तो उनके पात्र भी करते है, पर उपन्यासकार उनके निजी सचिव (प्राइवेट सेक्रेटरी) के रूप मे सदा उनके साथ रहता हुआ पात्र और पाठक के बीच मे अडा रहता है, मानो पात्र और पाठक मे सीधा सम्पर्क होने देने में वह अपनी मान-हानि समझता हो। पात्रो की मानसिक उथल-पुथल का चित्रण तो उन उपन्यासों में भी मिलता है, पर उनमे पाठक को ऐसा प्रतीत नही होता कि पात्रो के मन मे जो कुछ हो रहा है, उसे वह अपनी आँखों से देख रहा हो और पात्रो के साथ-साथ स्वय भी दु ख-सुख का अनुभव कर रहा है, प्रत्युत् उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उपन्यासकार उसे पात्रो के मन की रिपोर्ट दे रहा हो, मानो पाठको के मन में खुलने वाली खिड़की के सामने का स्थान लेखक ने ग्रहण कर रखा हो और पाठक उससे हटकर बैठा हो, और लेखक स्वय खिडकी मे से झाँककर पाठको के मन का आँखों देखा हाल बता रहा हो, पर पाठक की इच्छा होते हुए भी लेखक उसे झाँकने न दे रहा हो और पाठक को विवश होकर उसकी रिपोर्ट पर ही विश्वास करना पड रहा हो। पात्रो का बाह्य दृष्टितः (आब्जेक्टिवली) चित्रण करने वाले प्रेमचन्द प्रभृति उपन्यासकारो ने इसी रूढ़ प्रणाली का प्रयोग किया है, जो मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के अंतर्विवादो से बहुत भिन्न है।

मनोविश्लेषण (साइकों-ऐनेलिसिस)

फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि बाल्यावस्था के दु खद सघर्ष

१४१. Edel, 'The Psychological Novel', p. 80 :

"The internal monologue is that unheard and unspoken speech by which a character expresses his inmost thoughts, those lying nearest the unconscious, without regard to logical organisation—that is, in their original state—by means of direct sentences reduced to synthactic minimum, *and in such a way as to give the impression of reproducing the* thoughts just as they come into mind" (Dujardin).

१४२ Ibid, p 80 :

"The internal monologue like every monologue, is the speech of given character designed to introduce us directly into the internal life of this character, without the author's intervention by explanation or comments"

१४३. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 126.

जो बिना तुम्हें ही दमित (रिप्रेसेड) होकर अचेतन में धँस गए होते हैं, व्यक्ति के भाव, विचार और आचार को प्रभावित करते रहते हैं और उनमें आवेगज तनावों को जन्म देकर स्थिति के साथ उसका मानसिक सतुलन नहीं बैठने देते।[१४४] इन्हीं दुखद स्मृतियों तथा सघर्षों को, जो उसकी अधिकाश कठिनाइयों का कारण बनते हैं, पात्र के अचेतन से निकालकर चेतन में ले आना और उनके निराकरण में उसकी सहायता करना मनोविश्लेषण का चरमोद्देश्य है।[१४५] फ्रॉयड और उसके अनुयायियों का विश्वास है कि पात्र जब तक अपनी कठिनाइयों के अचेतन प्रेरकों को जानेगा नहीं, तब तक उनसे बच नहीं पाएगा। पात्र के अचेतन की परत पर परत खोलने के लिए फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषक कई प्रणालियों का प्रयोग करता है, जिनमें मुख्य हैं—मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन), बाधकता विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेन्स), सक्रमण-विश्लेषण (ऐनेलिसिस आव ट्रान्सफ़ेंस), और स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम ऐनेलिसिस)। मनोविश्लेषक की तरह उपन्यासकार भी इन प्रणालियों को अपनाता है, पर उसका उद्देश्य भिन्न होता है।[१४६] मनोविश्लेषक की तरह वह अपने पात्रों को स्वस्थ करने के लिए उन पर इन प्रणालियों का प्रयोग नहीं करता, न ही वह अपने पात्रों व पाठकों को कोई सलाह देता है, प्रत्युत् उसका उद्देश्य होता है—पात्र के अचेतन में व्याप्त सघर्ष को ध्वनित करके भिन्न-भिन्न स्थितियों में उनके भाव, विचार और आचार को प्रेरित करने वाले कारणों में एकरूपता लाना ताकि वे पाठकों की समझ में आ सकें।

मुक्त आसग (फ्री एसोसिएशन) प्रणाली—मुक्त आसग मे पात्र आराम से लेट जाता है और अपने मन को खुला छोड देता है कि वह कहीं जाए। तब उससे कहा जाता है कि उसके मन मे जो कुछ भी आ रहा है, उसे कहता चला जाए; मानों वह रेलगाडी की एक खिडकी में बैठा है और उसकी आँखो के सामने से जो कुछ भी गुजर रहा है, उसे वह अपने पीछे बैठे साथी को बता रहा है, कुछ भी छोडे बिना। मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि इस प्रकार व्यक्ति जब युक्तियुक्त विचार के बोझ से बच जाता है, उसके अचेतन में धँसी सामग्री चेतन में आने लगती है और इसी सामग्री में उसकी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों से सम्बन्धित गहरा आतरिक अर्थ रहता है। यह प्रणाली व्यक्ति को आरोपित अर्थ से मुक्त करा देती है ताकि वह गहरा अर्थ जिसका सम्बन्ध उसकी अतृप्त महत्वाकाक्षाओं से होता है, उभर आए।[१४७]

१४४. Ruch, 'Psychology and Life', p. 527-528.

१४५. Freud, 'New Introductory Lectures on Psycho-analaysis', 1933, p 112 :
"Psycho analysis aims primarily at the reclamation of the Id by the Ego"

१४६. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 130.

१४७. P. Schilder, Psycho-analysis, Man and Society', W. W. Norton, New York, 1951, p 7
"This method liberates the individual from the constraint of a superficial meaning so that a deeper meaning may come to surface, a meaning which is in relation to the unsatisfied needs and wishes of the individual's life"
Karen Horney, 'Self Analysis', p. 101.

मुक्त आसग मे पात्र का कर्तव्य होता है . १ अपने मन मे जो भी उठ रहा हो—विचार, इच्छा, द्वन्द्व और तज्जनित शारीरिक सवेदना आदि—उसे सचाई और स्पष्टता के साथ पूरा-पूरा बताते चलना, २. अपने अचेतन में काम कर रही प्रेरणाओं के प्रति जागरूक होना और ३. धीरे-धीरे उन अचेतन प्रतिन्यासों (एटिट्यूड) को बदलने के लिए जो उसे प्राय असतुलित कर देते है, अपने में योग्यता पैदा करना। मनोविश्लेषक का काम होता है १. देखना-सुनना (ऑब्जर्वेशन) २. समझना (अंडरस्टैंडिग) ३. व्याख्या करना (इन्टरप्रटेशन) ४. बाधकता के समय सहायता देना (हेल्प इन रेजिस्टेन्स) और मनुष्यता के नाते पात्र को अन्य साधारण सहायता देते रहना।[१४८] उपन्यास के पात्रो से यह आशा तो रखी जा सकती है कि वे पूरी सचाई और स्पष्टता के साथ, अपने मन में जो हो रहा है उसे बताते चले और अचेतन मे काम कर रही प्रेरणाओ के प्रति सजग रहकर उनका भी उल्लेख करते जाएँ, पर उनसे यह माँग नही की जा सकती कि वे अपने अचेतन प्रतिन्यासों को बदलने की चेष्टा करे। इसी प्रकार, उपन्यासो में मनोविश्लेपक का-सा काम करने वाला पात्र दूसरे पात्र द्वारा दिए गए ब्योरे को ध्यान से सुनता रहेगा, समझता रहेगा, उसके रुकने पर सौजन्यपूर्ण प्रश्नों द्वारा उसे बार-बार मुखरित करता रहेगा तथा उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए उसे अन्य साधारण सहायता भी देता रहेगा, पर वह व्याख्या द्वारा पात्र को समझाने नही बैठेगा। व्याख्या वह करेगा, पर मुक्त आसग की समाप्ति के बाद उस पात्र की अनुपस्थिति मे, क्योकि उसकी व्याख्या पात्र के लिए नही, पाठक के लिए होगी।

जैनेन्द्र के उपन्यास 'जयवर्धन' में मुक्त आसग प्रणाली का सांगोपांग प्रयोग हुआ है।

बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेंस)

यद्यपि पात्र के मुक्त आसंग के आरम्भ होने से पहले ही मनोविश्लेपक उसे समझा देता है कि मुक्त आसग के समय उसके मन मे जो कुछ आए, उसे पूरे का पूरा, किसी अश को छोडे या बदले बिना, कहते जाने मे उसका अपना ही हित निहित है, तो भी पात्र प्राय उन स्मृतियो या अनुभूतियो को जिनके वर्णन मे उसे व्यथा होती हो या लज्जा आती हो, या तो बिलकुल छोड जाता है या उनके वर्णन मे हिचकिचाता है और या उनका उल्लेख करने से एकदम इनकार कर देता है। अपने मुक्त आसग का वर्णन करता-करता पात्र जिस स्थल और विषय पर अचानक रुक जाता है और आगे खुलकर बताने में आनाकानी करने लगता है उन्हे मनोविश्लेपक बहुत महत्व देता है, क्योकि फ्रॉयड क अनुसार इन विषयों का उन पात्रो की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो के अचेतन कारणों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी स्थिति में मनोविश्लेपक का मुख्य कर्तव्य हो जाता है कि पात्र की बाधकता को तोडकर उन दुखद स्मृतियो इच्छाओ

१४८. Karen Horney, 'Self-Analysis Analysis Share in the Psycho analytical Process, p. 123 and also, p. 101.

और अनुभूतियों कोउसके चेतन मन में लाए, क्योंकि जब तक उसका चेतन मन उसकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप और उनके कारण को समझेगा नहीं, उन्हें हल करने में उसे सफलता नही प्राप्त हो सकती।

स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम-ऐनेलिसिस)

वस्तु-जगत के व्यक्तियो की भाँति उपन्यास जगत के पात्र भी सो लिया करते है, पर उनका सोना दिन भर की थकान दूर करने के लिए नही, औपन्यासिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होता है। इसीलिए, जब वे सोते हैं तो निर्बाध निद्रा का आनन्द नही ले पाते। रात भर वे अनेक प्रकार के स्वप्न देखते रहते हैं जिनके विश्लेषण द्वारा उपन्यासकार उनके चरित्र-विकास की टूटी कड़ियाँ जोडकर उसे पाठको के लिए सुबोध बना देता हे।

स्वप्न-संघटन (ड्रीम मैकेनिज्म)—फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास हे कि प्रत्येक स्वप्न का एक अर्थ होता है,[१४९] इसलिए, विश्लेषण द्वारा वे सिर-पैर के विचित्र से विचित्र स्वप्नो की भी युक्ति-युक्त व्याख्या की सकती है।[१५०] स्वप्न का अर्थ ही उसका कारण होता है।[१५१] इसलिए, स्वप्न का अर्थ जान लेने पर स्वप्न के कारणो का, जो पात्र के अचेतन में उथल-पुथल मचाकर उसे बेचैन किए रखते हैं, पता चल जाता है। इसी कारण फ्रॉयडवादी व्यक्ति के अचेतन को समझने में स्वप्न-विश्लेषण की उपादेयता पर बहुत जोर देते हैं।[१५२] उनका विश्वास है कि हमारे अचेतन संघर्ष के कारण जो जागृतावस्था में चेतन मन मे नहीं व्यक्त हो पाते, बहुधा हमारे स्वप्नों में अभिव्यक्ति पा जाया करने है। और यदि वे कारण इतने दु:खद या असामाजिक हो कि सुषुप्तावस्था में भी वे अपने मूल रूप में हमारी विवेक-बुद्धि को स्वीकार्य न हो, तो वे स्वप्न में रूप बदलकर आया करते है। उनके रूप बदलने की क्रिया को स्वप्न-संघटन (ड्रीम मैकेनिज्म) कहते हे।

फ्रॉयड ने मुख्य रूप से पाँच प्रकार के स्वप्न-सघटन माने हैं—१. संघनन (कन्डेन्सेशन), २. विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट), ३. नाटकीकरण (ड्रामेटाइजेशन), ४. प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन) तथा ५. सेकण्डरी एलेबोरेशन। जिस स्वप्न-संघटन में अनेक विचारों और व्यक्तियो से सम्बन्धित दमित भावनाएँ स्वप्न में इस प्रकार प्रकट हों कि वे सब मिलकर एक से ही सम्बन्धित प्रतीत हो, उसे 'कन्डेन्सेशन' कहते हैं।[१५३] जिस स्वप्न-सघटन में किसी व्यक्ति के प्रति जागृतावस्था की अनुभूतियाँ तथा सवेदनाएँ

---

१४९. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 15 and 150.

१५०. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 34.

१५१. Frink, 'Morbid Fears and Compulsions'', p. 10-22.

१५२. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 559

१५३. Freud, "Interpretation of Dreams", 'The Basic Writings of Sigmund Freud', trans. by Dr. A. A. Brill, Modern Liby., New York, 1938, p. 320.

उस व्यक्ति से हटकर किसी अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध हो जाएं, उसे 'डिस्प्लेसमेंट'[१५४] कहते है। स्वप्न से एकदम पहले की जागृतावस्था के भावो या विचारो का स्वप्न मे छाया-चित्रो के रूप में प्रकट होना, नाटकीकरण कहलाता है। जहाँ व्यक्तियों या घटनाओ से सम्बन्धित दुःखद या असामाजिक अनुभूतियाँ या सवेदनाएं अपने मूल रूप में प्रकट न होकर प्रतीको के सहारे रूप बदलकर प्रकट होती है, उस स्वप्न सघटन को 'प्रतीकीकरण' कहते है।[१५५] नाटकीकरण और प्रतीकीकरण स्वप्न-सघटन मे अन्तर यह है कि नाटकीकरण में प्रतीक और प्रतीकीकृत भाव का सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है, जबकि प्रतीकीकरण में उनका सम्बन्ध व्यापक (समष्टिगत) होता है।[१५६] जिस क्रिया के फलस्वरूप व्यक्ति स्वप्न से जागृतावस्था की ओर बढ़ने के साथ-साथ स्वप्न में देखी बातो में एक कृत्रिम क्रम लाता जाता है, उसे 'सेकण्डरी एलेबोरेशन' कहते है।[१५७]

उपन्यास म स्वप्न-विश्लेषण—इन स्वप्न-सघटनो के माध्यम से उपन्यासकार अपने पात्रो की अचेतन प्रेरणाओ को, जो उनके अजाने मे ही उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करके किसी भी स्थिति से उनका मानसिक सतुलन नही बैठने देती, प्रकाश में लाता है। उदाहरणार्थ, अज्ञेय के 'शेखर . एक जीवनी', पहला भाग के पृष्ठ १४२-१४३ पर का शेखर का स्वप्न ले। उस स्वप्न मे 'कन्डेन्सेशन' मैकेनिज्म से उसके गत जीवन के अनेक भाग, विचार और सवेदनाएँ तथा कई दृश्य मिलकर एकाकार हो गए हैं। प्रतीकीकरण द्वारा शेखर के जीवन की कटु और नीरस यथार्थता मरुस्थल के रूप में प्रकट हुई है और नाटकीकरण द्वारा उसको अह (एगो) ने ऊँट का रूप धारण किया जिस पर चढ़ कर वह उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। 'शेखर एक जीवनी' के पहले भाग के पृष्ठ १९५ पर शेखर का जो स्वप्न मिलता है, उसमें पहले दिन की शान्ति के प्रति शेखर की समस्त सवेदनाएँ विस्थापित होकर शारदा से गँठ जाती है और इस प्रकार उपन्यासकार यह दिखा कर कि शारदा को भुलाकर शान्ति के प्रति शेखर का आकृष्ट होना शेखर की विवेक-बुद्धि को स्वीकार्य न था, शेखर के अचेतन में सक्रिय उसकी यौन (सेक्स) प्रवृति तथा विवेक-बुद्धि (कान्शेस) के सघर्ष को व्यक्त करा देता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जहाज का पंछी' के पृष्ठ ४५०-४५१ पर नायक का लीला सम्बन्धी स्वप्न जिस रूप में उपलब्ध है, यह वही नही जो वास्तव में उसने देखा था। जागने पर तो वह स्वप्न उसको एकदम भूल गया था और "अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयत्नो (सेकण्डरी एलेबोरेशन) के बाद ही वह उस स्वप्न के आभास को सचेत मन पर लाने में सफल हुआ था।"

१५४. Ibid, p. 336.

१५५ Ibid, p. 370.

१५६. Dalbiez, 'The Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 105

१५७. Ibid p. 120-121.

निराधार प्रत्यक्षीकरण का विश्लेषण (हैल्युसीनेशन ऐनेलिसिस)

स्वप्न-विश्लेषण के अतिरिक्त उपन्यासकार कई बार पात्रो के निराधार प्रत्यक्षीकरण के विश्लेषण द्वारा भी अचेतन मे व्याप्त सघर्ष का आभास करा दिया करता है। 'हैल्यूसीनेशन' मे व्यक्ति उद्दीपन (स्टिमुलस) की अनुपस्थिति में भी उसे प्रत्यक्ष देख लेता है। मानसिक रोगग्रसित व्यक्तियो को साधारण परिस्थितियों में भी 'हैल्यूसीनेशन' हो जाता है।[१५८] स्वप्न की भान्ति 'हैल्यूसीनेशन' भी निरी मनोरचना होती है।[१५९] 'हैल्यूसीनेशन' और स्वप्न में अन्तर यह है कि स्वप्न मे निराधार प्रत्यक्षीकरण सुषुप्तावस्था में होता है और 'हैल्यूसीनेशन' में वह जागृतावस्था में ही हो जाता है।[१६०] 'हैल्यूसीनेशन' में अधिकतर दृष्टि तथा ध्वनि सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण ही पाया जाता है।[१६१] 'हैल्यूसीनेशन' का रोगी रोग की प्रारम्भिक अवस्था में तो उसे भ्रम कहकर टाल देता है, पर रोग के बढ़ जाने पर जब दिखाई देने वाली शकलें या सुनाई देने वाली आवाजें उस पर काबू पा लेती है तो वह उन्हें सत्य मान लेता है।[१६२]

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास 'कल्याणी' में नायिका के 'हैल्यूसीनेशन' द्वारा, जिसमें वह प्रतिदिन गुसलखाने में रोने और झगडने की आवाजें सुनती है और एक आदमी को वहाँ से निकलकर जाते देखती है,[१६३] उसके अचेतन में मच रही उथल-पुथल का परिचय कराया है।

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस)

मानसिक रोगों के इलाज में सम्मोह-प्रक्रिया का वास्तविक महत्त्व है, यद्यपि है वह सीमित ही। सम्मोहन द्वारा सम्मोहक पात्र को सम्मोह-निद्रा की अवस्था में ले आता है और फिर धीरे-धीरे उससे प्रश्न करता हुआ उसके गत जीवन की घटनाओं और तज्जनित अनुभूतियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेता है जो उसकी मनोवैज्ञानिक समस्याओं का मूल कारण रही हो। आरम्भ में तो फ्रॉयड भी इस बात से सहमत रहा कि सम्मोहन द्वारा व्यक्ति के अचेतन में दबी पड़ी अनुभूतियो को प्रकाश में लाया जा सकता है, पर बाद में इस क्रिया से उसे घृणा हो गई, क्योंकि इस क्रिया द्वारा प्राप्त फल अस्थायी होता है।[१६४] उसके सबसे बडे आश्चर्य का कारण यह था कि सम्मोहन-निद्रा से उठने पर पात्र को उसके बारे में उन भेदों का कुछ भी पता

---

१५८. शशिलता सिन्हा, 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', पुस्तक भण्डार, पटना, १९५५, पृष्ठ १५७।

१५९. Sinha, 'Indian Psychology : Perception', p 314.

१६०. Frank Padmore, 'Apparitions and Thought Transferance', p. 186.

१६१. शशिलता सिन्हा, 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', पृष्ठ १५७।

१६२. McDougall, 'An Outline of Psychology', p. 373.

१६३. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', हिन्दी-ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५३, पृष्ठ ७३-७५।

१६४ Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud, p. 208.

नही रहता जो उसने सम्मोह-निद्रा में व्यक्त की हो। इस प्रकार, सम्मोह-निद्रा में व्यक्त अनुभूतियाँ व्यक्ति के चेतन में नही आ पाती। फ्रायड का दृढ विश्वास था कि जब तक व्यक्ति अपने अचेतन में दमित ग्रन्थियो और उनके कारणों को चेतन मन में स्वीकार न कर ले उसकी मनोवैज्ञानिक समस्याएँ सुलझ नही सकती।[१६५]

सम्मोहन की प्रक्रिया—सम्मोहन-क्रिया कोई जादू नही। यह तो एक उच्च-सुझावपूर्ण अवस्था होती है, जिसमें जानकार सम्मोहक रजामन्द पात्र को ले आता है। सम्मोहन की कई प्रणालियाँ है, सिद्धान्त सब का एक ही है। सबसे पहले पात्र को बुद्धि-प्रयोग त्यागकर अपने आपको सम्मोहक की इच्छा पर छोड देना होता है, फिर सम्मोहक उसे धीरे-धीरे आदेश देने लगता है; जैसे, 'काउच पर लेट जाओ।' फिर वह पात्र को कुछ ऐसी बात बताता है जो पूर्णतया सत्य होती है। जैसे 'कमरा शान्त है, बत्तियाँ नीची है।' इस प्रकार पात्र का विश्वास प्राप्त कर लेने पर वह उसे कुछ ऐसी बात बताता है जो आशिक रूप मे ही सत्य होती है और फिर वह उसे ऐसे काम करने का आदेश देता है जो अधिक असाधारण नही होते। इस प्रकार, सम्मोहन की ऊँची अवस्था में पात्र को एकदम असत्य बात का भी विश्वास कराया जा सकता है और उससे वे काम करवाए जा सकते हैं जिनके बारे में साधारणत' वह सोच भी नही सकता और जिनको वह एकदम असम्भव समझता है। इस सारे समय में सम्मोहक एक ऐसी आवाज में बोलता रहता है जो पात्र को मोहित करके उसे पूर्णत: शिथिलावस्था में ले आती है।

उपन्यास में सम्मोह-विश्लेषण—सम्मोहन का सबसे बडा लाभ यह है कि इस प्रक्रिया द्वारा प्रत्यावर्तन (रिग्रेशन) को भी सम्भव बनाया जा सकता है। सम्मोहित व्यक्ति को विश्वास दिला दिया जाता है कि वह छोटी उमर का है और उसे यह बताने के लिए कहा जाता है कि वह क्या कर रहा है, उसके अनुभव क्या है और उसकी महत्वाकाक्षाएँ क्या है ? सम्मोह-निद्रा में व्यक्ति उन सब अनुभूतियों को स्पष्टतया याद कर लेता है जो वर्षों से उसके अचेतन में दबी पडी हो।[१६६] सम्मोहन के बारे में दो बातें उल्लेखनीय है। एक यह कि किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध सम्मोह-निद्रा में नही लाया जा सकता और दूसरे, सम्मोहित कर लेने पर भी उससे उसकी किसी मूल नैतिक धारणा के विरुद्ध कार्य नही कराया जा सकता।[१६७]

कई उपन्यासकारो ने भी अपने उपन्यासो में सम्मोह-विश्लेषण का प्रयोग किया है। अपने पात्रो की सम्मोह-निद्रा में वे उनके अचेतन में पडी ग्रन्थियों का उद्घाटन कराकर उनके चरित्र-विकास की टूटी कडियों को जोड लेते है। इलाचन्द्र

१६५. Ruch, 'Psychology and Life', p. 528
Karen Horney, 'Self-Analysis', p 136

१६६ Ruch, 'Psychology and Life', p. 518.

७. Dr. Trac 'How to Use H nosis', Arco, London, p. 8-9.

जोशी के उपन्यास 'जिप्सी' का नायक नृपेन्द्र इस कला में दक्ष है और वह समय-समय पर इसका प्रयोग नायिका पर करके उसकी अचेतन प्रेरणाओं को प्रकाश में लाता रहता है।

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनैलिसिस ऑव रिकोलेक्शन्स)

मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में बाल्यकाल के प्रथम पाँच वर्ष शेष समस्त जीवन से अधिक महत्त्व के ठहरते है। फ्रायड की धारणा है कि मनुष्य के बाद के जीवन की असगतियों और विकृतियो का मूल उसके बाल्य-काल की उन दुखद अनुभूतियों में होता है जो उस समय सुलझे बिना अचेतन में दमित (रिप्रेरड) हो जाती हैं।[१६८] व्यक्ति-मनोविज्ञान के प्रवर्त्तक एडलर का तो यहाँ तक विश्वास है कि चार-पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे का जीवन के प्रति एक बार जो दृष्टिकोण बन जाता है, जीवन भर वही बना रहता है और उस दृष्टिकोण द्वारा उत्पन्न असगतियों में ही व्यक्ति के वर्तमान और अतीत की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के कारण निहित रहते हैं।[१६६] इसीलिए, व्यक्ति की बाल्य-काल की घटनाओं और उनके प्रति उसके दृष्टिकोण को जानने के लिए उसकी बाल्य-काल की स्मृतियो का विश्लेपण आवश्यक हो जाता है।[१७०] यद्यपि फ्रायड बाल्य-काल की स्मृतियो के महत्व पर ही बल देता है, एडलर बाल्य-काल की पुरानी स्मृतियों तथा बाद की अपेक्षाकृत नई स्मृतियो में कोई अन्तर नही समझता।[१७१] उसका विश्वास है कि स्मृतियाँ नई हो या पुरानी जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को ही व्यक्त करती है।[१७२]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में पात्रों के अचेतन को उघाडने के लिए प्रत्यवलोकन विश्लेपण का खूब प्रयोग होता है। पात्रों की वर्तमान मनोवैज्ञानिक समस्याओं के अचेतन कारणो के पकड़ने के लिए उपन्यासकार उनकी स्मृतियों का वर्णन करने लगता है और फिर विश्लेपण द्वारा उनकी असगतियो की प्रेरक दुखद अनुभूतियों को व्यक्त करता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'प्रेत और छाया' के आरम्भ मे ही उसके नायक पारसनाथ को रात भर नीद नही आती और उसके गत जीवन की दुःखद घटनाएँ—उसके पिता का उसे जारज संतान घोपित करना और उसकी माँ को तग करना, एक पहाडी लडकी से उसका प्रेम हो जाना और बाद में उसे छोड भागना आदि—उसके स्मृति-पट पर उभरने लगती है। जैनेन्द्र के उपन्यास 'व्यतीत' का नायक जयंत अपने

१६८. Freud, 'New Introductory Lectures on Psycho analysis, W. W. Norton, New York, 1933, p. 201.

१६९. Adler, 'The Science of Living', Green Berg, New York, 1929, p. 118.

१७०. Freud, "Psychopathology of Everyday Life : Childhood and Concealing Memories", 'The Basic Writings of Sigmund Freud' : Brill, p 62.

१७१ Ansbacher, 'The Individual Psychology of Alfred Adler', p. 191—comments

१७२. Adler, 'Science of Living. p. 118.

जन्म-दिवस पर प्रत्यवलोकन द्वारा अपने गत जीवन का विश्लेषण करते करते एक पुस्तक लिख डालता है। अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' का नायक जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचकर प्रत्यवलोकन करने बैठ जाता है। चलचित्र के समान एक-एक करके अतीत की घटनाएँ उसके स्मृति-पट पर नाचने लगती है और वह अपने जीवन की सिद्धि की खोज में उनका विश्लेषण करता जाता है।

इस प्रकार, नायक के प्रत्यवलोकनो के विश्लेषण द्वारा उनके चरित्र के क्रमिक विकास को चित्रित करना कई मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की मुख्य टैक्नीक बन गई है।

पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)

व्यक्तित्व-अध्ययन के लिए पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली अन्य सभी प्रणालियों से अधिक उपयोगी समझी जाती है, क्योंकि अन्य प्रणालियाँ प्राय विश्लेषणात्मक होती हैं, जबकि यह सश्लेषणात्मक है। यदि इस प्रणाली का उचित प्रयोग किया जाए तो यह मनोविज्ञान और साहित्य दोनो की कसौटी पर पूरी उतर सकती है।[१७३] इस प्रणाली में मनोवैज्ञानिक अपने पात्र की वर्तमान मानसिक अवस्था और उसके कारणों को समझने के लिए उनके पूर्ववृत्त और उनकी विगत अनुभूतियो को एकत्रित करता है। इनके अतिरिक्त, वह पात्र पर किए गए अपने विभिन्न प्रयोगो का विवरण, मनोविश्लेषण द्वारा निकले निष्कर्ष तथा विविध प्रकार के आँकडो को भी उसमें सम्मिलित करता है। सफल पूर्ववृत्त में इन विषयों पर प्रमाणिक सामग्री का होना अत्यावश्यक है—१. पात्र की वर्तमान अवस्था, २. पात्र पर पडे पहले के प्रभावो और उनका विकास-क्रम तथा ३. उसकी भावी प्रवृत्तियो का अनुमान। किसी भी व्यक्ति को पूरी तरह समझने के लिए इन तीनो प्रकार की जानकारी का होना जरूरी है।

इस प्रणाली में कुछ-एक त्रुटियाँ भी हैं, जिनके कारण इस पर पूर्णतया निर्भर नही किया जा सकता। इसमें पहली कमी यह है कि पूर्ववृत्त इतने अधिक 'ऑब्जेक्टिव' होते है कि वे मनोवैज्ञानिक पात्र के अन्तर्मन की गहराइयो तक नही पहुँचा पाते।[१७४] दूसरे, यदि मान लें कि किसी एक में पात्र का गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, तो भी जिन साधनो से सामग्री एकत्रित की जाती है वे ही पूर्णतया विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। उदाहरणार्थ, विक्षिप्त या अर्द्धविक्षिप्त पात्रो के पूर्ववृत्त को जानने के लिए उनके मातापिता, दोस्तों-मित्रो तथा अन्य सम्बन्धियो द्वारा दिए गए ब्योरो पर ही विश्वास करना पडता है, जबकि हम जानते है कि इस प्रकार के विवरणो की सत्यता कितनी सदिग्ध होती है। वे लोग चाहे कितनी सचाई से ब्योरा दें, उनके अपने पूर्वग्रह उनमें प्रतिबिम्बित हुए बिना न रहेंगे।

उपन्यासकार इस प्रणाली का अच्छा उपयोग उठा सकता है। अपने पात्रो का स्रष्टा, अतः पूर्णज्ञाता, होने से वह उन त्रुटियो से बच सकता है जो मनोवैज्ञानिक

१७३. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation'' p. 394-395.

१७४. Stagner, 'Psychology of Personality, p. 55.

द्वारा सकलित सामग्री को सदिग्ध बना देती हैं। इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यास 'जहाज का पछी' मे इस प्रणाली का खूब प्रयोग किया है। इस उपन्यास का उत्तरार्द्ध पात्रो के पूर्ववृत्तो से भरा पडा है।

शब्द-सहस्मृति परीक्षण (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट)

शब्द-सहस्मृति-परीक्षणों में मनोवैज्ञानिक पात्र को एक शब्द-शृंखला सुनाता या पढाता है और उससे पूछता जाता है कि प्रत्येक शब्द पढ़ने या सुनने के बाद उसके मन में प्रतिक्रियारूप में कौनसा शब्द सबसे पहले उभरा। पात्र द्वारा बताए गए शब्द के विश्लेषण से वह उसकी मानसिक कठिनाइयो को पकडने का प्रयत्न करता है। अनेक बार अपराधियो की जाँच करने के लिए भी इस परीक्षण का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है।[१७६]

उपन्यासकार इस प्रणाली का प्रयोग कर सकता है, पर उपन्यास में वह औपन्यासिक सुविधा के अनुकूल रूपान्तरित होकर ही आती है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो में पात्रो के मन पर होने वाली विशेष शब्दो की प्रतिक्रिया के विश्लेषण द्वारा उनके अचेतन में व्याप्त सघर्ष को उघाडा गया है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ 'विवाह' शब्द से चौक उठता है। 'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र पर 'नीरू' शब्द जादू का असर करता है।

नाटकीय (ड्रामेटिक) चित्रण

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

कथानक और चरित्र-चित्रण के आधार पर किए गए उपन्यासो के वर्गीकरण की व्यर्थता दिखाते हुए हेनरी जेम्स अपने लेख 'द आर्ट ऑव फिक्शन' में लिखता है : चरित्र यदि घटनाओं का परिणाम नहीं तो और क्या है तथा घटना चरित्र की व्याख्या के अतिरिक्त और क्या है ?

वास्तव में, पात्र की परिस्थितियों और उसके चरित्र में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध होता है। कभी उसका चरित्र अनेक घटनाओं को उभारता है और कभी उसके जीवन में घटित होने वाली घटनाएँ उसके चरित्र को निखारती है। घटनाएँ मानव-चरित्र को प्रभावित ही नहीं करती, उसे उघाड़ने में ही सहायक सिद्ध होती है। सामान्य अवस्था में पात्र अपने जिस भेद को प्रकट होने से बचा लेता है, घटना की लपेट में आकर वह अपने आप प्रकट हो जाता है। इसलिए, उपन्यासकार अपने उपन्यास में घटनाओं का समावेश केवल कथानक को गति देने के लिए नहीं, पात्रों के चरित्र-

१७५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 38, and
Ruch, 'Psychology and Life', p. 555-557.

१७६. H. Crosland, 'The Psychological Methods of Word-Association and Reaction Time as Test of Deception', University of Oragon Publications' Psychol. series, 1929, 1 : No 1.

विकास तथा उसकी विविध अवस्थाओं के उद्घाटन के लिए भी करता है, और कई बार छोटी-छोटी घटनाओं के माध्यम से पात्रों की मनोस्थिति को इतनी स्पष्टता से अभिव्यक्त करा देता है कि कई पृष्ठों तक फैले मनोविश्लेषण और लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ भी इतनी स्पष्टता से नहीं बता पाती।

प्रेमचन्द के 'निर्मला' उपन्यास के आरम्भ में निर्मला के पिता की मृत्यु की एक ही घटना उसके समस्त जीवन-क्रम को बदल देती है। इस घटना के समावेश से उपन्यासकार निर्मला के चरित्र-विकास की दिशा ही मोड देता है। उनके उपन्यास 'गबन' में अकेली गबन वाली घटना नायक के जीवन में इतनी उथल-पुथल मचा देती है कि वह अपना मानसिक सतुलन खोकर घर से भाग निकलता है। प्रेमचन्द के उपन्यास इस प्रकार की असंख्य घटनाओं से भरे पडे है जिनके द्वारा उपन्यासकार ने पात्रों के चरित्र के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उद्घाटन किया है। जयशकर प्रसाद के 'ककाल' में विजय द्वारा महत के गला घोटने वाली घटना द्वारा विजय की तत्कालीन आवेगज मनोस्थिति का सुन्दर परिचय मिलता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण—घटनाओं का सम्बन्ध तो उपन्यास के कथानक तथा पात्र दोनो से होता है, पर उपन्यास में कथोपकथन का समावेश प्राय पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए ही होते हैं। पात्रों के सवादों में, यदि वे कृत्रिम न हों, उनकी चारित्रिक विशेषताएँ मुखरित हो उठती है। पूर्वरचित लम्बे-लम्बे भाषणों में तो भले ही वक्ता अपनी वक्तृता की ओट में अपनी चारित्रिक कमियों को छिपा जाए, पर सहज स्वभाव से हो रही बात-चीत में वे अनायास ही झलक पडती है।

कथोपकथन का उपन्यास में चाहे उतना अधिक महत्त्व न हो जितना नाटक में, फिर भी उपन्यास में उचित मात्रा में सवाद न होने से यह बोझल लगने लगता है। शायद ही ऐसा कोई उपन्यासकार मिलेगा जिसने अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण के लिए उनके कथोपकथनों को माध्यम न बनाया हो।

उद्धरण-शैली

मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि हमारा किसी गीत की अधूरी तान छेडना, किसी गद्य या पद्यो के अश को सुनाने या गाने लगना, यहाँ तक कि मुँह से सीटी बजाना या कुछ गुनगुनाना भी अकारण नही होता। हमारी इस प्रकार की क्रियाओ का भी एक अर्थ होता है, जिसे समझ लेने से उनके कारणों तक पहुँचा जा सकता है[१७७] जो हमारे चेतन मन में चाहे न आए हों। उपन्यासकार भी अपने पात्रो द्वारा उद्धृत दूसरो के गद्य या पद्य के माध्यम से उनके प्रेरक भीतरी कारणों को अभिव्यक्त कराया करता है।

उद्धरण शैली की एक विशेष उपयोगिता है। उद्धरणों के रूप में फूट निकलने वाले भाव पात्रों की उस समय की निजी भावनाओ के समसाम्य होते हुए भी उनके

अपने प्रतीत नहीं होते। इसलिए, जब कोई पात्र अपनी किन्ही भावनाओं को किसी दूसरे पात्र पर प्रकट करना चाहता हो, पर उनके अत्यन्त निजी तथा असामाजिक होने के कारण उन्हे उस पात्र पर व्यक्त करने से डरता हो कि न जाने वह उन्हे किस रूप मे ग्रहण करे, तो वह इन भावनाओं से मिलते-जुलते दूसरों के कथनो को उद्धृत करके पहले देख सकता है कि उनके प्रति उस पात्र की प्रतिक्रिया कैसी होती है। प्रेमी या प्रेमिका जब पहली बार एक-दूसरे के प्रति अपना प्रेम-ज्ञापन करते हैं तो वे दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाओ को शीघ्रातिशीघ्र व्यक्त करने की इच्छा रखते हुए भी ऐसा नही करते, क्योकि प्रेम-निवेदन करने से पहले वह यथासम्भव यह जान लेना चाहा करते हैं कि उनका यह निवेदन किस रूप में ग्रहण किया जाएगा। इस लिए जब तक उन्हे अपने प्रति दूसरों की भावनाओं का निश्चय न हो, वे दूसरो के उद्धरणों की आड मे बेखटके आत्माभिव्यक्ति कर सकते हैं।

अज्ञेय के उपन्यासो में हिन्दी, संस्कृत, अग्रेजी, बंगला, पजाबी आदि भाषाओं के गद्य-पद्यांश प्रचुर मात्रा में उद्धत मिलते हैं। इन उद्धरणो का अधिकाश प्रयोग ऐसी परिस्थितियो में हुआ है जहाँ पात्रो की स्पष्टोक्तियो में अश्लीलता या असामाजिकता की गध आ सकती थी। शेखर और शशि एक-दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाएँ उद्धरणों के रूप में ही अभिव्यक्त करते हैं। बहन-भाई होने से, दूसरों की आड लिये बिना, उनका काम चल नहीं सकता था। रेखा और भुवन को भी उद्धरणों के रूप में आत्म-ज्ञापन अधिक सुविधाजनक प्रतीत होता है।

डायरी द्वारा चरित्रचित्रण

कई मनुष्यों की आदत नियमित रूप से डायरी लिखने की होती है और कई कभी-कभी, जब झोंक में हो, डायरी लिखा करते हैं। इन डायरियों के अर्थ व्यक्तिगत नोटबुकों से लेकर स्वय-ज्ञापक आत्मकथा तक, कई रूप मिलते हे। डायरी चाहे कैसी हो, इससे व्यक्ति को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। मनोविश्लेषक के लिए डायरी बडी मूल्यवान सामग्री होती है। उपन्यासकार भी अपने पात्र के चरित्र-विकास की टूटी कड़ियाँ जोड़ने के लिए उसकी डायरी पाठकों के सामने खोल देता है। डायरी के माध्यम से उपन्यासकार पात्रों की ऐसी मानसिक समस्याओं का आभास करा देता है जो पात्रो को निरंतर बेचैन किए रखती हैं, पर जिन्हें वह किन्ही कारणों से दूसरो पर प्रकट नही कर पाता। ऐसे पात्र प्रायः अंतर्मुख होते है, जो चेष्टा करने पर भी दूसरो से घुल-मिल नहीं पाया करते।

जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'तितली' के नायक इन्द्रदेव की समस्त मनोव्यथा उसकी डायरी में उमड आती है। इस डायरी के अभाव में न तो कभी शैला ही उसकी मानसिक उथल-पुथल को समझ पाती और न पाठक ही उसके चरित्र-विकास की इस टूटी कडी को जोड पाता। इलाचन्द्र जोशी के 'निर्वासित' के धीराज की आत्महत्या के कारणो का भी डायरी से ही पता चलता है जिसके अभाव में उसकी आत्महत्या

एक पहेली बनी रहती। अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की रेखा की डायरी के माध्यम से ही भुवन यह जान सका था कि उन दोनो के यौन सम्बन्ध से उत्पन्न 'सर्जन वायर्निनिम्ट' को रेखा ने क्यो कच्चा गिरा दिया था। हिन्दी के उपन्यासो मे इस प्रकार के अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ उपन्यासकार ने डायरी के माध्यम से पात्रों के उन अंतर्द्वन्द्वों को व्यक्त कराया है, जो सामान्यतः कभी प्रकाश मे न आ पाते और जिन्हें जाने बिना पात्रों के चरित्र-विकास में सगति बैठाना कठिन हो जाता।

पत्रात्मक-शैली

कई बार उपन्यासकार को अपने पात्रो के चरित्र के किसी विशेष पक्ष को उद्घाटित करने के लिए पत्रात्मक शैली का सहारा लेना पड़ता है। पात्रो के स्वभाव का वह अंश जो अभी तक समाज की आँखों से ओझल रहा हो, किसी घनिष्ठ मित्र या सम्बन्धी को लिखे पत्र में सहसा अभिव्यक्ति पा जाता है, और उसमें पात्रो द्वारा स्वीकारोक्ति के रूप में उनकी अनेक परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओं का वर्णन कराके उपन्यासकार उनके चरित्र-विकास की अनेक उलझनों को सुलझाता हुआ उन्हें पाठको के लिए सुबोध बना देता है। जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'ककाल' के अंतिम चरण में किशोरी को लिखा चेतन का पत्र चेतन के चरित्र-विकास की अनेक टूटी कड़ियो को जोड देता है। उस पत्र के अभाव में वह पात्र पाठको के लिए पहेली बना रहता।

जब पात्र एक-दूसरे के पास हो और उनका आपस में मिलना-जुलना होता रहता हो तब तो उनका अन्तरग उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया में, उनकी पारस्परिक बात-चीत, अनुभावों आदि मे प्रतिबिम्बित होता रहता है, पर एक-दूसरे से दूर अलग जा पडने पर तो उनके पारस्परिक सम्बन्धो में होने वाला विकास-क्रम उनके पत्रो द्वारा ही व्यक्त होता है कि वे एक-दूसरे की ओर खिचते जाते हैं या दूर होते जाते है। इस प्रकार, पात्रों की परस्पर भेंटो के बीच जो एक अतराल पड जाता है, उसमें उन पात्रों के एक-दूसरे के प्रति बदलते रहने वाले दृष्टिकोण के लिए भी उपन्यासकार पत्रात्मक शैली का प्रयोग किया करता है। 'नदी के द्वीप' मे अज्ञेय ने इस शैली का भरसक प्रयोग किया है। 'नदी के द्वीप' के पात्र भिन्न-भिन्न नगरो में अलग-अगल रहते हैं। चार-छ महीने मे कभी कही एक-आध बार उनकी आपस मे भेंट हो पाती है। पर इसी बीच, एक-दूसरे के प्रति उनकी सदेवनाएँ उनके पत्रो में उमड पडती है और पत्रो द्वारा ही वे दूसरों को प्रभावित करते रहते है और उनसे प्रभावित होते रहते है।

इस प्रकार, उपन्यासो में पत्रात्मक शैली का प्रयोग पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए ही नही, चरित्र-विकास के लिए भी होता है।

दूसरा अध्याय

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि

(चरित्रचित्रण की दृष्टि से)

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि (चरित्रचित्रण की दृष्टि से)

(क) राजनीतिक परिस्थिति

अंग्रेजो के प्रति श्रद्धा-भाव
अंग्रेजी राज्य में अनास्था
नैतिक पतन
राष्ट्रीयता का उदय
इण्डियन नेशनल कांग्रेस
क्रान्ति की ओर

(ख) सामाजिक आधार

शिक्षित मध्यवर्ग का उदय
सुधारवादी आन्दोलन
ब्राह्म समाज
आर्य समाज
प्रार्थना समाज
रामकृष्ण मिशन
थियोसोफिकल सोसायटी
हिन्दी के साहित्यकार

(ग) साहित्यिक परम्परा

संस्कृत-साहित्य
पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य
हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार
मुन्शी इंशाअल्लाखाँ
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा
श्रीनिवासदास
अम्बिकादत्त व्यास
बालकृष्ण भट्ट
हिन्दी में अनूदित उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि

हिन्दी-कथा-साहित्य का जन्म खड़ीबोली के गद्य के विकास के साथ ही हुआ। यो भी कह सकते है कि कथा-साहित्य के विकास के साथ ही गद्य का स्वाभाविक रूप प्रकाश में आने लगा। वास्तव मे, आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आरम्भिक युग में कथा-साहित्य और गद्य का अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध रहा। उपन्यास का सर्वाधिक आकर्पण उसके पात्रो और उनके चरित्र के विकास मे होता है, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि के माध्यम से होती है और उनके लिए पद्य की अपेक्षा गद्य ही अधिक उपयुक्त रहता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो हिन्दी-उपन्यास खड़ीबोली के गद्य के विकास की प्रतीक्षा में था। गद्य का विकास होते ही उपन्यास की धारा अपने सम्पूर्ण प्राण वेग से उमड़ पड़ी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य के ही जन्मदाता नही थे, हिन्दी गद्य के युग-निर्माता भी थे। यद्यपि हिन्दी-उपन्यास की लोकप्रियता देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों से ही बढ़नी आरम्भ हुई थी, उसकी दृढ़ पृष्ठभूमि भारतेन्दु युग (सन् १८५०-१९००) के प्रथम चरण से ही तय्यार होने लग गई थी। इस पृष्ठभूमि को तय्यार करने में भारतेन्दु-युग के हिन्दी-साहित्य का ही योग नही था, प्रत्युत् उस युग की अनिश्चित राजनीतिक परिस्थितियो तथा उसके उत्तरार्द्ध में चले समाज-सुधार के विविध आन्दोलनो का भी उसमें विशेप हाथ रहा। इसलिए, पहले उस युग की राजनीतिक परिस्थिति और उसके सामाजिक आधार का परिचय करा देना आवश्यक होगा।

राजनीतिक परिस्थिति *

अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा-भाव

सन् १८५७ के विप्लव से पहले का अंग्रेजी राज्य कानून और व्यवस्था के राज्य की अपेक्षा जोर-जबरदस्ती का तथा अत्याचार और सैन्य-बल का राज्य अधिक था।[१] देश के कोने-कोने मे अंग्रेजी फौजें बिखरी रहती थी और आए, दिन उनका

---

१. Henry Dodwell, 'A Sketch of the History of India' (1858-1918); Longman's Green & Co, London, 1925, p. 246:
"Until the Mutiny the English Government in India had always been accompanied by a great show of force"

दमन-चक्र चलता रहता था। पर अंग्रेजो की इस दमन-नीति के विरुद्ध देशव्यापी विद्रोह के रूप मे जो भयकर प्रतिक्रिया हुई, उसने अ ग्रेजो की आँखे खोल दी और वे महसूस करने लगे कि भारत पर अपने राज्य को चिर-स्थायी बनाने के लिए उन्हें भारतीयो के शरीर को ही नहीं, हृदय को भी जीतना होगा। विप्लव के बाद सन् १८५८ मे नई सरकार की स्थापना हुई।[२] राज्य की बाग-डोर 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के हाथ से निकलकर महारानी विक्टोरिया के हाथ में चली गई। सत्ता संभालते ही महारानी ने घोषणा की . हम अपनी भारतीय प्रजा के प्रति भी अपने को उसी प्रकार कर्तव्यबद्ध समझते है जिस प्रकार अपनी अन्य प्रजाओं के प्रति, क्योंकि प्रजा की सुख-स्मृद्धि में ही हमारी शक्ति है।[3] इससे देश भर में सान्त्वना की एक लहर दौड़ गई। शताब्दियो से चली आ रही राजनीतिक उथल-पुथल और अनिश्चितता से तंग आई भारतीय जनता को चैन की साँस मिली। वैसे तो सन् १८१३ के 'चार्टर एक्ट' में भी अंग्रेजों ने भारतीयों को आश्वासन दिया था कि भारतीयो की सुख-सुविधा को बढ़ाना हमारा कर्तव्य है,[1] पर विक्टोरिया के राज में कनेडा को मिली स्वतन्त्रता और अन्य देशो की अ ग्रेजी प्रजाओं को मिले अधिकारो को देखते हुए भारतीयो की दृष्टि में विक्टोरिया की इस घोषणा का एक विशेष महत्व हो गया था। इन बातो ने मिलकर अंग्रेजो के प्रति, उनके शासन के प्रति तथा उनकी महारानी के प्रति लोगो में श्रद्धा और स्वामिभक्ति का भाव जगा दिया और अग्रेजी राज्य में सडक, रेल, तार, डाक, पुलिस, न्यायालय आदि की व्यवस्था से प्राप्त सुविधा और सुरक्षा के कारण अ ग्रेजो की मुक्त कंठ से प्रशसा होने लगी। साधारण

---

१. Thompson & Garrat, 'Rise and Fulfilment of the British Rule in India Macmillan, London, p. 466.

२. R. C. Majumder, 'An Advanced History of India', Macmillan, London, p 888.

"We hold ourselves bound to the natives of our Indian territories by the same obligations of duty which bind us to all our other subjects" (Queen's Proclamation of 1858).

P. Griffiths, 'The British Impact on India', Macdonald, London, 1952, p. 274 .

' " their (Indian Subjects) prosperity will be our strength, and their contentment our security, and in their gratitude our reward." (Queen's Proclamation of 1858),

४. Majumdor, 'An Advanced History of India', p. 888 :

"It is the duty of this country to promote the interest and happiness of the native inhabitants of the British dominions in India." (Charter Act of 1813).

अनपढ़ जनता ने ही नहीं, सिंधिया,[५] गोपालकृष्ण गोखले,[६] दादाभाई नौरोजी[७] जैसे देश के चोटी के नेताओं तक ने भी अंग्रेजों और उनके राज्य की प्रशंसा के पुल बाँध दिये। विक्टोरिया की घोषणा से लेकर सन् १८७५ में 'प्रिंस ऑव वेल्स' की राजकीय यात्रा तक का युग वह था जब चारों ओर अंग्रेजों की विरदावलियाँ गाई जा रही थीं। इसलिए, उस युग के हिन्दी-साहित्य में भी यदि अंग्रेजों की प्रशस्ति मिले तो आश्चर्य की बात नहीं।

अंग्रेजी राज्य में अनास्था

यह स्थिति अधिक देर तक न बनी रह सकी। भोली भारतीय जनता यह आशा लगाए बैठी थी कि सदियों की अराजकता को मिटाने वाला अंग्रेजी शासन उनके लिए सुख-सुविधा के सभी उपकरण जुटाएगा, पर उसकी यह आशा पूरी न हुई। अंग्रेजों द्वारा दिए गए आश्वासन थोथे सिद्ध हुए। भारतीय जनता के प्रति उन्होंने जो लम्बे-चौड़े वायदे किए थे, वे धरे के धरे रह गए[८]। उल्टे, आर्थिक रूप से जनता को अतिरिक्त बोझ सहना पड़ा। विद्रोह को दबाने के लिए अंग्रेजों का जो खर्चा हुआ था उससे भारत सरकार का दिवाला निकल गया। अराजकता के चार वर्षों में सरकार को ३ करोड़ ६० लाख रुपए का घाटा पड़ा, जो उस समय की उसकी एक वर्ष की आय के बराबर था।[९] इस घाटे से मद्रास सरकार तो इतनी घबरा गई थी कि उसने केन्द्र को लिखा कि यह स्थिति तो स्वयं विद्रोह की स्थिति से भी अधिक

५. Dodwell, 'A Sketch History of India', p 247-248
"Your prestige fills men's minds to an extent which, to men who know how things were carried on scarce fifty years ago, seems beyond belief I never put myself on a mail cart, unattended and perhaps unknown without, appreciating the strength of your rule." (Scindia)

६. P. Griffiths, 'The British Impact on India', p 232 :
"The blessings of peace, the establishment of law and order, the introduction of Western education and the freedom of speech and appreciation of liberal institutions which have followed in its wake—all these are things which stand to the credit of your rule" (G K Gokhale).

७ Ibid, p 232-33 :
"Law and order are its (of the British rule) first blessings Security of life and property is a recognised right of the people The native now learns and enjoys what justice between man and man means and that law, instead of despot's will, is above all" (Dadabhai Naorojiin his paper read at the East India Association in 1867).

८ Majumdar, 'An Advanced History of India' p 889 :
'All means were taken of breaking to the heart the words of promise they had uttered to the ear." (Lord Lytton I, the Governor-General in his confidential despath).

९. Thompson & Garrat, 'Rise and Fulfilment of British Rule in India', Macmillan, London, p 472,

मार्मिक है।[१०] इस घाटे को पूरा करने के लिए सरकार ने कई प्रकार की योजनाएँ बनाई पर उन सब का आशय यही था कि सरकार जनता पर खर्च कम करे और उसके सामने माँग अधिक की रखे। फलतः जनता पर अनेक प्रकार के टैक्स लगे पर बदले में उन्हें जो आराम मिला वह न के बराबर था। लगान के बढ़ने से खेती की व्यवस्था बिगड़ गई।[११] अंग्रेजी उद्योगों की होड़ में भारत के ग्रामीण उद्योग समाप्त होने लगे या बलपूर्वक समाप्त किए जाने लगे। देश मे चारो ओर निराशा का वातावरण छा गया।

नैतिक पतन—सबसे बड़ी बात यह थी कि लाख चेष्टा करने पर भी भारतवासी सन्' ५७ के विप्लव को भूल नही पाए थे। वास्तव में, अंग्रेजो के स्मृति-पट पर उस विद्रोह का चित्र ज्यों-ज्यो धुँधला पडता गया, त्यों-त्यो उसके सम्बन्ध में भारतीयो की स्मृति स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई और उनके हृदय का घाव हरा होता गया। दो बाते जो लोगों को सबसे अधिक सालती थी, उनमें पहली यह थी कि इस सग्राम के वीर सेनानी अपनी आरम्भिक विजयो को चिर-स्थायी न बना सके थे और दूसरी यह कि अंग्रेज़ों ने इस विद्रोह को अत्यन्त निर्ममता से दबाया था। इसी बीच क्लाइव और हैस्टिंग्ज की लूट-खसूट और जोर-जबरदस्ती की कहानियाँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं। विद्रोह की रोमाचकारी घटनाओं का विवरण भी गाँव-गाँव में पहुँच गया था। उनमें शहीद होने वाले अमर वीरो की घर-घर पूजा होने लग गई थी।[१२] अंग्रेज़ों पर से लोगो का विश्वास उठ गया था। वे अंग्रेजो से तग थे पर भीतर ही भीतर कुढकर रह जाते थे। नौकरशाही के आगे किसी की एक नही चलती थी।[१३] पिछली घटनाओ को सोचकर खुल्लमखुल्ला विद्रोह करने की हिम्मत किसी में होती नही थी। यह भारत के नैतिक पतन का काल था। चारो ओर भयकर उदासी और आतक का राज्य था। ऐसी स्थिति में साधारण जनता का जीवन और जगत की समस्याओ

---

१०. Ibid, p. 472

" ..According to our belief this is a more serious crisis than the Mutiny itself."

११. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 281 :

"Toil, toil, toil, hunger, hunger, hunger, sickness, suffering, sorrow; these alas! alas! are the keynotes of their short and sad existence," (A. O, Hume in his letter to Sir Aukland Colvin, Governor of the United Provinces).

१२. Thompson & Garrat, 'Rise and Fulfilment of British Rule in India', p. 461.

१३. Griffiths, 'The British Impact on India', p.

"The European local officers scattered over the country at great distances from one another and having large districts to attend to far beyond their powers of supervision, depend to a great degree on their subordinates ... The necessory result of this system is that Government is that of first impressions." (From a petition of the British Indian Association to the Britsh Parliament)

से पलायन के प्रयत्न में साहित्य से तिलस्म और जासूसी के लोकरंजक उपन्यासों की माँग करना अस्वाभाविक नहीं था ।

राष्ट्रीयता का उदय

इस प्रकार, विप्लव और उसे दबाने में अंग्रेजों द्वारा किया गया अत्याचार भारतीयों और अंग्रेजों के दिलों में जो विलगाव उत्पन्न कर गया था वह महारानी विक्टोरिया का राज हो जाने पर भी न हट सका। हटना तो दूर वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। हुकूमत का नाम भर बदलने से भला क्या होता?[१४] कम्पनी का राज्य हो या विक्टोरिया का, था तो अंग्रेजों का राज्य ही। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी सरकार ने—विशेषकर विक्टोरिया सरकार ने—अराजकता का अन्त किया, अपनी भारतीय प्रजा को इतनी सुरक्षा प्रदान की जो उसे सदियों से किसी स्वदेशी राजा से प्राप्त न हुई थी और उसकी कानूनी व्यवस्था ने उसे आतरिक दमन से भी इतना बचाए रखा कि किसी देशी रियासत में भी वह सम्भव नहीं था। भारतीयों को यह तो सब मिला, पर इसका उन्हें अत्यधिक मूल्य चुकाना पड़ा। उन्हें अपनी स्वतन्त्रता का, अपने राष्ट्रीय चरित्र का और उस सब-कुछ का जो किसी जाति को सम्मानित बनाता है त्याग करना पड़ा।[१५] देश में जब तक अज्ञानान्धकार छाया रहा और लोग एक-दूसरे से कटे-कटे रहे तब तक तो वे अंग्रेजों के अत्याचार सहकर भी उनकी प्रशसा करते रहे, पर ज्यों-ज्यों रेल, डाक तार, आदि की व्यवस्था से दूर-दूर के लोग एक-दूसरे के निकट आने लगे, देश के कोने-कोने में अंग्रेजों के विरुद्ध आग सुलगने लगी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से लोगों में अपनी दुर्दशा के प्रति जागरूकता बढ़ी और अपनी अवस्था के सुधार की लालसा जगी। लार्ड मैकॉले की शिक्षा-नीति के परिणामस्वरूप देश-भर में एक से भावों और विचारों का प्रचार हुआ तथा विभिन्न प्रान्तों, जातियों और धर्मों के लोगों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया की समानता दिखाई देने लगी। अंग्रेजी सब शिक्षितों की सामान्य भाषा बन गई

१४. Russel, 'My Diary in India', ii, p. 259:
"The mutinies have produced too much hatred and ill-feeling between the two races to render any more change of name of the rulers as a remedy for the evils which affect India many years must elapse ere *the evil passions excited by these disturbances expire, 'perhaps confidence will never be restored'* "

१५. Griffiths, 'The British Impact on India', p 231-232.
"The strength of the British Government enables it to put down every rebellion, to repel every foreign invasion, and to give its subjects a degree of protection which those of no Native Power enjoy Its laws and institutions also afford them security from domestic oppression unknown in Native States, but these advantages are dearly bought They are purchased by the sacrifice of independence, of national character, and of whatever renders a people respectable." (Munro)

और देशोद्धार बना सब का नारा। इस प्रकार, अंग्रेजों की अपनी नीति से ही भारत में राष्ट्रीयता का उदय हुआ।

इसी बीच भारतीय प्रेस भी काफी शक्ति पकड़ चुका था। लॉर्ड रिपन द्वारा प्रेस पर पाबन्दियाँ हटा लेने से भारतीय प्रेस को खूब प्रोत्साहन मिला और वह खुलकर अंग्रेजो के विरुद्ध आग उगलने लगा।[१६] अंग्रेजों की प्रेस सम्बन्धी नीति उनके अपने लिये ही विघातक सिद्ध[१७] हुई। देश में तो राष्ट्रीयता की लहर दौड़ ही रही थी, उधर विलायत से लौटे दादाभाई नॉरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेताओं ने जनता के सामने योरोपीय देशो के निवासियो को सहज-प्राप्त स्वतन्त्रता और अधिकारो का चित्र खीचकर उनकी महत्वाकाक्षाओ को भडकाया और साथ ही उनके बढ़ते हुए जोश को काम में लाने के लिये सगठन-कार्य आरम्भ किया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के तूफानी दौरो ने सोये देश को जगा दिया।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस

इसी बीच सन् १८८३ में इण्डियन सिविल सर्विस के रिटायर्ड अंग्रेज ए० ओ० ह्यूम ने देश के हितार्थ सगठित होने के लिए कलकत्ता के स्नातको के नाम एक मर्मभेदी अपील[१८] जारी की। ऐसी अपील व्यर्थ कैसे जा सकती थी? देश के अनेक प्रान्तो से चोटी के नेता ह्यूम के साथ इस पुनीत काम में जुट गए। सन् १८८४ में 'इण्डियन नेशनल यूनियन' की स्थापना हुई जिसने सन् १८८५ में 'इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस' का रूप धारण कर लिया। ह्यूम का मूल उद्देश्य कांग्रेस को सामाजिक संस्था का रूप देने का था, पर लार्ड डफरिन ने इस बात पर जोर दिया कि

१६. Sir George Campbell, 'Memoirs of my Indian Career', II, p. 314 :

१७. Dodwell, 'A Sketch of the History of India', p. 255 :

"A free press and the dominion of strangers are things which are quite incompatible and cannot long exist together; for what is the duty of a free press? It is to deliver the country from a foreign yoke." (Munro)

१८. Griffiths, 'The British Impact on India', p. 279 ,

"Whether in the individual or the nation, all vital progress must spring from within, and it is to you, her most cultured and enlightened minds, her most favoured sons, that your country must look for the initiative In vain may aliens, like myself, love India and her children .... but they lack the essential nationality, and the real work must ever be done by the people of the country themselves . As I said before, you are the salt of the land. And if amongst even you, the elite, fifty men cannot be found with sufficient power of self-sacrifice, sufficient love for and pride in their country, sufficient genuine and unselfish heartfelt patriotism to take the initiative, and, if needs be, devote the rest of their lives to the cause - then there is no hope for India."

इस संस्था को राजनीतिक विषयों पर भी विचार करना चाहिए।[१९] कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों का स्वर अंग्रेजों के प्रतिभक्ति और श्रद्धा का ही था। यह बात उसके अधिवेशनों के सभापतियों के भाषणों[२०] से स्पष्ट हो जाती है। सरकार की ओर से भी इसे पूरा-पूरा प्रोत्साहन मिलता रहा।

परन्तु ज्यों-ज्यों काँग्रेस में सरकार और उसकी नीति की आलोचना बढ़ती गई, उसके प्रति सरकार का रुख भी बदलता गया। उस समय काँग्रेस के विचार प्रस्तावों के रूप में प्रकट होते थे जो सरकार को विचारार्थ भेज दिए जाते थे। अपने इन प्रस्तावों द्वारा काँग्रेस ने सरकार का ध्यान देश की बढ़ती हुई गरीबी की ओर दिलाया था और उससे जाँच की माँग की थी। उसने 'आर्म्स एक्ट', आबकारी कर और नमक कर आदि की भी कड़ी आलोचना की थी। सुधारों के सम्बन्ध में वह प्रतिनिधि कौंसलों द्वारा स्वायत्त शासन के विकास, इण्डिया कौंसल की समाप्ति, सामान्य और प्राविधिक शिक्षा का प्रचार, सैनिक खर्चे की कमी, भारतीयों के लिए आई. सी. एस. के समान उच्च सरकारी पदों आदि की माँगें सरकार के सामने रखती रही थी। इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक काँग्रेस का मुख्य काम रहा सरकारी नीति की आलोचना और सुधारों की माँग। यद्यपि धीरे-धीरे उसमें लोकमान्य तिलक की विचार-धारा के लोगों का ज़ोर बढ़ रहा था, फिर भी उसके सदस्य अपनी माँगों को प्रतिवर्ष शान्तिपूर्वक दोहरा कर ही सन्तुष्ट हो जाते थे। अंग्रेज़ी न्याय में उनका विश्वास अभी तक बाक़ी था।

क्रान्ति की ओर

काँग्रेस के प्रति सरकार का रवैया उदासीनता का था। काँग्रेस द्वारा बार-बार प्रस्ताव पास करके भेजने पर भी उसके कान पर जूँ तक न रेंगती थी। सरकार का कहना था कि कांग्रेस थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों की ही संस्था है। इसलिये, उसे समस्त भारतीयों की ओर से कोई दावा करने या माँग पेश करने का अधिकार नहीं। फलतः उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते काँग्रेस के कई सदस्यों का अंग्रेजों की न्यायपरता पर से विश्वास उठने लगा और धीरे-धीरे एक ऐसे दल का उदय होने लगा जिसका दृढ़ विश्वास था कि कोरे भाषणों के बल पर अंग्रेजों से कुछ नहीं मिल सकेगा, उनके विरुद्ध ठोस कार्रवाई करनी होगी। इस दल के नेता लोकमान्य बालगंगाधर तिलक

---

१९. Majumdar, 'An Advanced History of India', p. 892 ·

" . .it would be a public benefit, if there existed some responsible organisation through which the Government might be kept informed regarding the best Indian public opinion' .

२०. Griffiths : 'The British Impact on India', p. 280-81 ·

"She, Great Britain, had given them order, she had given the railways, and above all, she had given them the inestimable blessings of Western education. But a great deal still remains to be done" (From the President's address at the inaugural meeting on 28th December, 1885).

थे। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व और उग्र-विचार धारा से देशव्यापी क्रान्तिकारी आन्दोलनो को प्रश्रय मिला। बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक में कर्जन द्वारा बग-विच्छेद किये जाने पर जो देशव्यापी क्रान्ति मची थी उसका नेतृत्व भी इन्होने ही किया था। अग्रेजो को चेतावनी देते हुए अपने पत्र 'केसरी' में इन्होने बार बार लिखा कि जब सरकार की दमन-नीति असह्य हो उठती है, तभी बम फटने लगते हैं।

सक्षेप में, भारतेन्दु युग (सन् १८५०-१९००) तक की राजनीतिक परिस्थिति यही थी, जिससे तत्कालीन हिन्दी-साहित्य अछूता न रह सका था, क्योकि उस युग के हिन्दी-लेखक साहित्यकार ही नही, राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी थे।

सामाजिक आधार

सन् १८५७ के विप्लव से पहले भारतीय समाज में मुख्य रूप से दो ही वर्ग थे—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। मध्य वर्ग यदि था तो नाम मात्र को। उच्च वर्ग था राजा-महाराजाओ, नवाबो और उनके बड़े-बडे जागीरदारों का जिनका न कोई धर्म था, न ईमान। उनका कोई धर्म और ईमान कहा जा सकता है तो वह था जीवन और जगत के प्रति अत्यधिक उदासीनता और आमोद-प्रमोद में आत्म-विस्मृति। सुख-सुविधा के सब साधनो से सम्पन्न होने के कारण यह वर्ग इतना आत्म-निर्भर हो गया था कि वह समाज-व्यवस्था और उसके विधि-निषेधो की पूर्ण उपेक्षा करके भी जीता रह सकता था, क्योंकि सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने पर उन्हे दण्ड देने की शक्ति समाज में नही थी। समाज के दण्ड विधान की पहुँच से वह वर्ग बाहर था। इसके एकदम विपरीत दशा थी शोषण की चक्की में शताब्दियो से पिसते चले आ रहे निम्न वर्ग की, जिसके लिए आमोद-प्रमोद वर्जित थे, सुख-सुविधाएँ निषिद्ध थीं। उसके लिये तो अपना अस्तित्व बनाये रखना भी एक कठिन कार्य था। दिन-रात खून-पसीना एक करके भी उन लोगो को दो जून रोटी को तरसना पडता था। निर्धनता ही उनकी समस्या नही थी। यह भोली-भाली जनता घोर अज्ञानान्धकार में मार्ग खो चुकी थी। सब धर्म-मर्यादाओं को पालना, लोक-लाज निभाना, समाज-व्यवस्था को बनाये रखना आदि सब कुछ का बोझ उन्हीं के सिर पर था। देवी-देवताओ का कोप, नौकरशाही का अत्याचार, समाज का दण्ड-विधान सब-कुछ इनके लिये ही था। इन सब के भय से उनका दम निकला रहता था। अज्ञान और अन्ध परम्पराओं से संवेष्टित यह वर्ग कुरीतियो और कुप्रथाओं के बन्धनो से जकडा हुआ था और उन पर घोर रूढ़िवादी कूपमण्डूक लोगो का आतक छाया हुआ था।

२१. Tilak, 'Kesari', of 12th May and 9th June, 1908 ('The Cambridge History of India', vol. VI, 1932, p. 556):
"Bombs explode when the repressive action of Government becomes unbearable"

शिक्षित मध्य वर्ग का उदय—

विप्लव के बीच और उसके पश्चात् अंग्रेजों का जो दमनचक्र चला उसने उच्च वर्ग की कमर तोड़ दी। अंग्रेजी राज्य में प्राप्त रेल, डाक, तार आदि की सुविधाओं, लॉर्ड मेकॉले की शिक्षा-नीति, अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव तथा पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क के फलस्वरूप देश भर में एक ऐसे मध्य वर्ग का उदय होना आरम्भ हुआ जिसके सदस्यों में प्रान्त, जाति और धर्म की विभिन्नता होते हुए भी भावों और विचारों की, महत्त्वाकांक्षाओं और आदर्शों की, समानता दिखाई देने लगी। लाहौर से लेकर मद्रास तक और कलकत्ता से लेकर बम्बई तक के सभी छोटे-बड़े नगरों में इस वर्ग के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगी। जब तक यह नव-शिक्षित वर्ग अंग्रेजी शिक्षा द्वारा प्रचारित नए-नए विचारों और आदर्शों के समझने और आत्मसात् करने में लीन रहा, इसके सदस्यों की धारणाओं और मान्यताओं में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। पर ज्यों-ज्यों सैद्धान्तिक पठन-पाठन का स्थान जीवन के व्यावहारिक पक्ष ने लेना आरम्भ किया यह वर्ग तीन भागों में बँटने लगा।[२२] कुछ लोगों की धारणा थी कि देश और जाति का हित अंग्रेजों की छत्रछाया में ही अपने उत्कर्ष और उद्धार के उपाय ढूँढने में है। अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में ये लोग इतने भरमा गये थे कि पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के अंधानुकरण में ही इन्हें अपना और देश का हित दिखाई देता था। हिन्दुओं में राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' और मुसलमानों में सर सैयद अहमदखां इस विचारधारा के लोगों में अगुआ थे। इन लोगों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में कुछ पढ़े-लिखे लोग अंध-परम्पराओं को मान्यता देने की ओर प्रवृत्त हुए और अज्ञान के अंधकार में पल रही भोली-भाली अनपढ़ जनता के नेता बन बैठे। इससे रूढ़िवाद को बल मिला।

सुधारवादी आन्दोलन

नवोदित मध्य वर्ग में इन दोनों अतिवादी प्रवृत्तियों की व्यर्थता और इनमें निहित राष्ट्रीय और सामाजिक व्यवस्था का अहित देखकर एक तीसरी प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा। ये लोग न तो चमकीली पश्चिमी सभ्यता के अंधानुगामी थे और न ही भारतीय संस्कृति और धार्मिकता की विकृतियों के उपासक थे। हिन्दी के साहित्यकारों का सम्बन्ध इसी वर्ग से था। इनके निकट कोई बात केवल इसलिए घृणास्पद न थी कि वह पश्चिमी है और न इसीलिए श्रद्धास्पद कि वह भारतीय है। विकृत भारतीय समाज और संस्कृति की न्यूनताओं और पाश्चात्य संस्कृति और विचारों की विशि-

२२. Dodwell, 'India'—Part II (1858-1936), Arrowsmith Bristol, p. 189

Majumdar, 'An Advanced History of India', p. 877 :

"*Some were lured by the Western ideas to follow an extremely radical policy, and this naturally provoked a reaction which sought to strengthen the forces of orthodoxy. Between these two extremes were moderate reformers.*"

ष्टताओं पर इनकी विशेष दृष्टि रहती थी। देशव्यापी सुधारवादी आन्दोलनों को प्रेरित करने का श्रेय इन्ही लोगो को है। उन लोगों ने महसूस किया कि धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों और अंध-परम्पराओं ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता के यथार्थ रूप को इतना प्रच्छन्न कर दिया है कि उसकी विकृतियो को ही भारतीयता समझ देश के नव-शिक्षित लोग उससे विमुख होकर पश्चिमी सभ्यता की ओर खिचे चले जाते हैं। इसलिए, उन लोगो का ध्यान प्राचीन भारतीय संस्कृति की पुनर्व्याख्या, वेदों, उपनिषदो और दर्शन-शास्त्रो के अध्ययन और प्रचार तथा भारत के गौरवमय अतीत की भूली बातो के प्रकाशन की ओर गया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द इस सास्कृतिक पुनरुत्थान के अग्रदूत बने। इन्होंने धार्मिक विकृतियो तथा सामाजिक कुरीतियों पर निर्मम प्रहार किये, धर्म के नाम पर प्रचलित पाखण्ड का खण्डन और समाज के थोथे दम्भ का विस्फोट किया, भारतीय सस्कृति और समाज के यथार्थ रूप का उद्घाटन किया और उसके विकृत रूप को सुधारने की माँग बड़े जोर से व्यक्त की। देश भर में सुधारवादी संस्थाओं का जाल बिछ गया। इन संस्थाओ ने समाज-सुधार का काम तो किया ही, साथ ही ऐसे त्यागी, नि:स्वार्थी और लगन वाले कार्यकर्ता तैयार किये जो बाद के राष्ट्रीय आन्दोलनो की बागडोर सँभाल सके।

उस समय की संस्थाओ में से, जिन्होने समाज-सुधार का कार्य मुख्य रूप से अपनाया, ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसायटी तथा रामकृष्ण मिशन के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि उत्तर भारत में, विशेषत: हिन्दी भाषा-भाषी जनता में, मुख्य रूप से ब्राह्म समाज तथा आर्य समाज का प्रचार ही व्यापक रहा और बाद में अनेक स्थानो पर आर्यसमाज ने ब्राह्म समाज को भी आत्मसात् कर लिया था, तो भी शिक्षित वर्ग पर पड़ी अन्य सुधारवादी नेताओ के व्यक्तित्व की छाप की उपेक्षा नही की जा सकती। इसलिए, समाज-सुधार के कार्य में इन संस्थाओं के योगदान का संक्षिप्त परिचय कराना असंगत न होगा।

ब्राह्मसमाज

सन् १८२८ में राजा राममोहन राय ने ऐसे लोगो को संगठित करने की दृष्टि से जो विविध देवी-देवताओं को न पूज कर एक ही ईश्वर की आराधना में विश्वास रखते हों और जो मूर्ति-पूजा के विरोधी हों, ब्राह्म सभा की स्थापना की। बाद में यह सभा ब्राह्मसमाज के रूप में विकसित हुई। राजा राममोहन राय की विदेश यात्रा और वहाँ उनकी मृत्यु के पश्चात् इस सस्था को धक्का लगा और इसकी प्रगति रुकी रही जब तक कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने इसमें पुन: प्राण-प्रतिष्ठा न की। देवेन्द्रनाथ के प्रयत्नो से इस सस्था को अक्षयकुमार दत्त तथा केशवचन्द्र सेन जैसे त्यागी और उत्साही युवको का सहयोग मिला और धार्मिक क्षेत्र में ही नही, सामाजिक क्षेत्र में भी इस सस्था ने सुधारो की धूम मचा दी। सन् १८६५ के अन्त

तक इस समाज की नौ्वन शाखाएँ बंगाल में, दो पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में, एक पंजाब में और एक मद्रास में खुल चुकी थी।

बाद में सामाजिक सुधारों के विषय में महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन में मतभेद हो गया। केशवचन्द्र सुधारों के सम्बन्ध में अधिक प्रगतिवादी थे। उनका आग्रह था कि अंतर्जातीय विवाह और विधवा-विवाह खुल्लम-खुल्ला होने चाहिएँ। फलतः केशवचन्द्र के नेतृत्व में 'भारतीय ब्राह्मसमाज' की स्थापना हुई। वह युग सुधारों का था। सुधारों के विषय में जो भी कोई अग्रगामी होता था, जनता उसी की ओर आकृष्ट होती। इस नई संस्था को लोगों का समर्थन प्राप्त हुआ और पहले ब्राह्म समाज को लोग भूल गए। नए समाज ने सुधारों का एक सुनिश्चित कार्यक्रम बनाया और बड़ी लगन से उसके अनुसार काम करना आरम्भ कर दिया। इस समाज के प्रयत्नों से सन् १८७२ का एक्ट-३ बना, जिसने बाल-विवाह और बहु-विवाह प्रथा को अवैध घोषित कर दिया तथा विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया।

बाद में, इस समाज में भी व्यक्ति-पूजा आ जाने से फूट पड़ गई। सन् १८७८ में केशवचन्द्र द्वारा अपनी कन्या का चौदह वर्ष की अवस्था में ही कूच-बिहार के राजा से विवाह कर देने पर मतभेद ज़ोर पकड़ गया और विरोधी दल ने 'साधारण ब्राह्म-समाज' नाम से एक अलग संस्था बना ली। केशवचन्द्र के समाज की भी वही अवस्था हुई जो देवेन्द्रनाथ के समाज की हुई थी। 'साधारण ब्राह्मसमाज' ने राष्ट्रीय भावना और समाज-सुधारों का खूब प्रचार किया। समाज में स्त्रियों की स्थिति को सुधारने में इसे विशेष सफलता मिली। पर्दा-प्रथा का अन्त, बाल-विवाह निषेध, विधवा-विवाह का प्रोत्साहन और स्त्री-शिक्षा का प्रचार—इस समाज के मुख्य विषय रहे।

आर्यसमाज

सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना हुई। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३) इस युग की महान् विभूति थे।[२३] स्वामीजी भारतीय समाज की समस्त विकृतियों को हटाकर उसे वैदिक धर्म के अनुसार ढालना चाहते थे। 'वेदों की ओर लौट चलो' उनका मुख्य नारा था। उनका दृढ़ विश्वास था कि "अज्ञानी भारत का अज्ञानान्धकार—जिसके कारण वे इतने गिर गए है और फिर भी इधर से इतने असावधान है—एक दिन दूर हो जायगा जब कि वेदों का सच्चा ज्ञान देश भर में फैलकर अपना प्रकाश फैलाएगा और सभ्यता का सूर्य अपनी चमक दिखाएगा।"[२४] इस लिए, उन्होंने वैदिक युग के पश्चात् भारतीय धर्म और

२३. कोहेनूर, लाहौर, २८ जुलाई, १८७७.

"इतिहास के देखने से स्पष्ट है कि पिछले २५०० वर्षों के समय में स्वामी शंकराचार्य के पश्चात् कोई ऐसा श्रेष्ठ नेता और ऋषिवर न उत्पन्न हुआ था जो सन्मार्ग बताता।"

२४. प० गोपालराव हरि देशमुख के नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती का ६ जून, १८७७ का पत्र :

समाज में युग गाई कुरीतियों और अन्य परम्पराओं तथा सब प्रकार की विकृतियों पर निर्भय होकर निर्मम प्रहार किए और देशवासियो के सामने प्राचीन भारतीय सस्कृति का वह शुद्ध और निर्मल रूप रखा जिस पर वे गर्व कर सकते थे।[२५] 'सत्यार्थ-प्रकाश', 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' और अन्य कई ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने अपने विचारो और मान्यताओ का प्रकाशन किया।

अपने युग के अन्य सुधारको से स्वामीजी की यह विशेषता रही कि उन्होने अपने उपदेश गिने-चुने, पढे-लिखे लोगों तक सीमित नही रखे। देश के कोने-कोने में घूम कर, छोटे-बडे, सुपढ़-अनपढ़, राजा-रक सब प्रकार के जनसमुदाय से अपने भाषणो द्वारा उन्होने सीधा सम्पर्क स्थापित किया और जगह-जगह आर्यसमाजो की स्थापना की। जीवन भर वह दलितोद्धार, स्त्री-शिक्षा-प्रचार और बाल-विवाह निषेध, विधवा-विवाह, धर्म और समाज के नाम पर प्रचलित पाखण्डों के भण्डा-फोड, मूर्ति-पूजा के खण्डन, वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना में लगे रहे। जिस बात को उन्होने सत्य समझा, उसका निर्भय होकर प्रकाशन किया और जो बात उन्हे असत्य प्रतीत हुई, उसकी उन्होंने धज्जियाँ उडा दी। पर राग-द्वेष की भावना से वे किसी के मण्डन व खण्डन मे प्रवृत्त नही हुए। मोहनलाल पड्या के प्रश्न के उत्तर में उन्होने एक बार कहा भी था : "एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य की प्राप्ति ही भारत की पूर्णोन्नति के साधक है। कडुए उपदेशो से जाति को जगा कर, कुरीतियों और कुनीतियों को नष्ट करना ही मेरे खण्डन का उद्देश्य है। मै जाति के हित के लिए अनेक कष्ट, गालियाँ, विष-पान आदि तक सह लेता[२६] हूँ।" उनके जीवन-वृत्त[२७] से पता चलता है कि उस युग के सभी महान् सुधारक, ब्राह्मसमाज के देवेन्द्रनाथ ठाकुर, प्रार्थना-समाज के महादेव गोविन्द रानाडे, थियोसोफिकल सोसायटी के कर्नल ऑल्काट और मैडम बलावात्सकी आदि से उसका सम्पर्क रहता था और वे सब इनके ओजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित थे।[२८] अपने युग पर ही नही, आने वाले युग पर भी स्वामीजी का और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का प्रभाव व्यापक रहा। महात्मा गाधी के शब्दों मे "महर्षि दयानन्द हिन्दुस्थान के आधुनिक ऋषियो में, सुधारकों मे और श्रेष्ठ पुरुषो में एक थे। उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्थान पर

---

२५. Sir P. Griffiths, 'The British Impact on India', p 252-53 :
"He fought for social justice, and he presented his . . .countrymen with a form of Hinduism of which they could be proud."

२६. हरिश्चन्द्र विद्यालकार, 'महर्षि दयानन्द सरस्वती', पृष्ठ ३५७.

२७. वही, पृष्ठ १५३, १७७, १७८ (देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन), पृष्ठ ३१२ (कर्नल ऑल्काट), पृष्ठ ३५३ (जस्टिस रानाडे)

२८. Majumdar, 'An Advanced History of India', p. 883 :
"Dayananda undoubtedly proved a dynamic force in Hindu society. His appeal to the masses, which was attended to with splended success, was an eye-opener to all reformers ; social, religious and political."

बहुत अधिक पड़ा।"[२६] स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज का काम उनके सुयोग्य शिष्यों द्वारा, जिनमें ला० हंसराज, प० गुरुदत्त, ला० लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द विशेष उल्लेखनीय है, जारी रहा और उनके अनथक परिश्रम से समाज का समस्त देश मे—विशेषत पंजाब और उत्तर प्रदेश में खूब प्रचार हुआ।

धार्मिक, सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में आर्यसमाज की सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। हिन्दी-साहित्य पर भी प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से आर्यसमाज का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। "सुधारवादी सनातनधर्मियों के हाथ मे बागडोर होते हुए भी हिन्दी-साहित्य आर्यसमाज से प्रभावित हुए बिना न रह सका। उसने साहित्यिकों को तरह-तरह के विषय सुझाए।"[३०]

प्रार्थना समाज

ब्राह्म समाज की विचारधारा धीरे-धीरे बंगाल के बाहर भी फैल गई, पर इसका जितना अधिक प्रचार महाराष्ट्र में हुआ, उतना अन्य किसी प्रान्त में नही। वहाँ प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य 'ब्राह्म समाज' की तरह धर्म और समाज में घुस आई विकृतियों का निराकरण था। पर बाद मे इस सस्था की समस्त शक्ति समाज-सुधार में ही लगती रही। विविध जातियों और धर्मों के लोगों का परस्पर खान-पान और विवाह-शादी, विधवा-विवाह, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति का सुधार और अछूतोद्धार आदि विषयों की ओर इस सस्था का विशेष ध्यान रहा। इस सस्था को जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे जैसे मेधावी पुरुषों का सहयोग प्राप्त हुआ, जिनके प्रयत्नों से इसे काफी सफलता हुई। समाज-सुधार के विषय मे रानाडे का अनुभव बड़ा विशाल था और विचार बहुत सुलझे हुए थे। उनकी धारणा थी कि 'सुधारक को समूचे व्यक्ति को लेना होगा, न कि उसके किसी एक पक्ष को लेकर सुधारों की माँग करनी होगी।[३१] इसलिए, सच्चे सुधारक का काम समाज पर शताब्दियों से पड़े सस्कारों को धो डालने का प्रयत्न नही—ऐसा कर सकना असम्भव है—उनके परिमार्जन की ओर प्रवृत्त होना होगा।[३२] रानाडे के निकट धर्म और समाज-सुधार दो पृथक् काम नही, एक-दूसरे के पूरक थे।

रामकृष्ण मिशन

उन्नीसवी शताब्दी को 'रामकृष्ण मिशन' के रूप में पूर्व और पश्चिम का अपूर्व

२६ हरिश्चन्द्र, 'महर्षि दयानन्द सरस्वती', परिशिष्ट पृष्ठ, १.

३०. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, ''भारतेन्दु-कालीन साहित्य'', 'सम्मेलन पत्रिका'—पृष्ठ ७४ :

३१. Majumdar, 'An Advanced History of India' p 882 :
"The reformer must attempt to deal with the whole man and not to carry out reforms on one side only." (Ranade)

३२. Ibid, p. 882 :
"The true reformer has not to write on a clean slate. His work is more often to complete the half written sentence" (Ranade)

समन्वय देखने को मिला। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, जिनके नाम पर मिशन की स्थापना हुई, कलकत्ता के निकट एक मन्दिर के साधारण पुजारी थे। वह सब धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे। ईश्वर भक्ति में वह इतने लीन रहते थे कि उनका जीवन एकान्त का जीवन रहा। आस-पास के कुछ एक ग्रामो और नगरों के आगे उन की ख्याति नही फैली थी।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के नवयुवक स्नातक नरेन्द्रनाथ दत्त, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द (सन् १८६३--१९०२) के नाम से विख्यात हुए, के रूप में परमहंस को एक योग्य शिष्य मिला और भारत को मिला एक सच्चा सपूत। स्वामी विवेकानन्द के पास अगाध ज्ञान था, अध्यात्म-शक्ति थी और था ओजस्वी व्यक्तित्व। सन् १८९३ में उन्होंने शिकागो में हुई 'पार्लमेंट ऑव रिलिजन्स' में भाग लिया और वहाँ अपने विद्वत्तापूर्ण भाषणो द्वारा पश्चिम वालो के हृदय पर भारतीय धर्म और संस्कृति की छाप बैठा दी। इससे उनकी प्रसिद्धि विश्व भर में फैल गई। अमेरिका में रामकृष्ण मिशन के कई केन्द्र खुले। स्वदेश लौटकर उन्होने भारतमें ही स्थान-स्थान पर मिशन की शाखाएँ खोली। पढ़ी-लिखी जनता में मिशन का खूब प्रचार हुआ। सरल उपासना-पद्धति के अतिरिक्त, मिशन के जल्दी फैल जाने का कारण एक यह भी था कि इसने तत्कालीन अन्य संस्थाओ की भाँति खण्डन-मण्डन की नीति को नही अपनाया, भाषणो और साहित्य-प्रकाशन द्वारा केवल अपनी ही विचारधारा का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त मानव-सेवा के कार्य को भी मिशन ने निस्संकोच भाव से अपनाया तथा स्कूल और अस्पताल खोले।

मिशन की सबसे बड़ी देन है, भारतीय समाज-व्यवस्था और संस्कृति के प्रति देशवासियों में सम्मान की भावना का संचार। विदेशो में स्वामी विवेकानन्द के भाषणो की धूम मचने से भारत के प्राचीन धर्म और संस्कृति की जो प्रशसा होने लगी थी, उसने भारत के युवको में अपूर्व आत्म-विश्वास फूँक दिया। वास्तव में, स्वामी विवेकानन्द पहले हिन्दू थे जिन्होने विदेशो में भारत की प्राचीन संस्कृति की विजय-पताका फहराई।[३३]

थियोसोफिकल सोसायटी

इस सोसायटी के प्रवर्त्तक मैडम ब्लावात्स की और कर्नल ऑल्काट थे। सबसे पहले उन्होंने अमेरिका में इस सोसायटी की स्थापना की। सन् १८८६ में उन्होने भारत आकर मद्रास में उसकी एक शाखा खोली। भारत में इस सोसायटी का प्रचार इतना इस सस्था के सिद्धान्तो के कारण नहीं हुआ, जितना उसकी प्रमुख कार्यकर्त्री

---

३३. Ibid, p. 886.

"He (Swami Vivekananda) was the first Hindu whose personality won demonstrative recognition abroad for India's ancient civilisation and for her new-born claim to nationhood." (Sir Valentine Chirol)

एनी बेसेण्ट के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण हुआ। इस सोसायटी का विशेष ध्यान हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान की ओर ही रहा। उसका विश्वास था कि प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार से ही देशवासियों में अपने गौरवमय अतीत के प्रति गर्व और अपने भविष्य की उज्ज्वलता में आस्था उत्पन्न होगी।[३४]

हिन्दी के साहित्यकार

नवोदित मध्य वर्ग की जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख हम पहले कर आए हैं, उन में हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों का सम्बन्ध न पाश्चात्य सभ्यता के अंध-भक्तों से था और न ही भारतीय रूढ़िवादियों के पुजारियों से। उनका सम्बन्ध उन मध्यवर्ती सुधारवादियों से था जो धर्म और समाज के नाम पर चल रही पाखण्डपूर्ण कुरीतियों और अंध-परम्पराओं पर निर्मम आघात कर रहे थे और प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील थे। वेदों, उपनिषदों और दर्शनों में विश्वास, सामाजिक कुरीतियों और विकृतियों की घोर निन्दा, पश्चिमी सभ्यता की अच्छी बातों की प्रशंसा और बुरी बातों की निन्दा, शासकों के अत्याचार के प्रति रोष और शहीद वीरों की पूजा आदि अनेक प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु युग के हिन्दी-साहित्यकारों में न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान थीं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके युग के अधिकांश साहित्य महारथी—राधाकृष्णदास, श्रीनिवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि—कोरे साहित्यिक ही नहीं राज-नीतिक कार्य-कर्ता, समाज-सुधारक और धर्मोपदेशक भी थे।

साहित्यिक परम्परा

हिन्दी-उपन्यास के शारीरिक गठन को, उसके रूप-विधान को, हम चाहे पश्चिमी साहित्य की देन मान लें, पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि इसके भीतर विराजने वाली आत्मा भारतीय ही है। इसलिए, यह कहना कि प्राचीन भारतीय साहित्य-परम्परा से हिन्दी-उपन्यास का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं,[३५] उस विशाल परम्परा के प्रति कृतघ्न बनना होगा। हिन्दी के अधिकांश प्रारम्भिक उपन्यासों का सुख में समाप्त होना, उनके कथानक का जीवन के किसी आदर्श को आधार मानकर चलना, उनके नायक-नायिका का सद्वृत्ति वाले होना और उस आदर्श के पीछे अपना तन-मन-धन तिल-तिल करके जलाते रहना, उपन्यास भर में

३४. Ibid, p 886

"The Indian work is, first of all, the revival, strengthening, and uplifting of the ancient religions. This has brought with it a new self-respect, a pride in the past, a belief in the future ." (Mrs, Annie Besant)

३५. नलिनविलोचन शर्मा, "हिन्दी-उपन्यास", 'आलोचना : इतिहास विशेषांक', अक्टूबर, १९५२।

सत् और असत् पात्रो मे सघर्ष चलना, पर अन्त में असत् पात्रों का दम्भस्फोट होना और सत् पात्रो का विजय पाना—आदि प्रवृत्तियाँ हिन्दी-उपन्यास में कही समुद्र-पार से नही आई थी, अपने देश की प्राचीन परम्परा से ही उसे ये मिली थी।

सस्कृत-साहित्य

सस्कृत में आख्यायिका-साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है। ऋग्वेद तक में भी आख्यायिका के सभी तत्व विद्यमान हैं। उसमें कथावस्तु है, पात्र है और हैं उनके सजीव कथोपकथन, जिनमें उनका चरित्र प्रस्फुटित हो पडा है। यम-यमी संवाद पुरुरवा-उर्वशी सवाद आदि इसके प्रमाण है। ब्राह्मण ग्रन्थो में— विशेषत. ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण में—और उपनिषदों में भी कथाएँ मिलती है, जैसे, सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा तथा याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी और नचिकेता आदि की कथाएँ। रामायण और महाभारत तो कथा-साहित्य का वृहद रूप लेकर अवतरित हुए थे। उन वीर-गाथाओ में भारतीय सस्कृति का जो रूप व्यक्त हुआ वह शताब्दियो तक साहित्यकारो और उनके साहित्य को प्रेरित और प्रभावित करता रहा और आज भी मुग्ध कर रहा है। मानव-मन के भय की भावना ने विभिन्न पौराणिक कथाओं को जन्म दिया। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो के व्यवस्थित होने पर बृहत्कथा, कथासरित सागर, हितोपदेश, पचतत्र, वैतालपंचविशति आदि अनेक नीति-कथाओ का आविर्भाव हुआ। बुद्ध-मत और जैन-मत के अभ्युदय के साथ इन मतो के प्रचार की दृष्टि से जातक कथाएँ और जैन गाथाएँ रची गईं। निश्चय ही, हिन्दी-उपन्यास इस लम्बी आख्यायिका-परम्परा के प्रभाव से वचित न रह सका होगा, जबकि यह एक निर्विवाद सत्य है कि हिन्दी के लगभग सभी प्रारम्भिक उपन्यासकार संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो पर सस्कृत की विशुद्ध साहित्यिक आख्यायिकाओ—दडी का 'दशकुमार चरित',सुबन्धु की 'वासवदत्ता,' बाणभट्ट की 'कादम्बरी,' आदि—का प्रभाव भी कम नही पड़ा होगा। कादम्बरी के कथासयोजन, आत्मविस्मृकारी वातावरण, प्रभावोत्पादक सवादो और आदर्शोन्मुख यथार्थ की हिन्दी ही नही, अन्य भारतीय भाषाओ पर भी बडी गहरी छाप पडी। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मराठी में उपन्यास के अर्थ में 'कादम्बरी' शब्द ही प्रचलित हो गया है।

पूर्ववर्ती हिन्दी-साहित्य

इस सम्बन्ध में, संस्कृत-साहित्य के अतिरिक्त हिन्दी में उपन्यास के उदय होने से पहले के कथा-साहित्य की भी, चाहे वह पद्य में ही हो, उपेक्षा नही की जा सकती। इतिहास और कल्पना के अद्भुत योग से निर्मित वीरगाथा-कालीन रासो सो, वीसलदेव रासो, आल्हा-ऊदल आदि की—तथा सूफी-

कवियो के प्रेमाख्यानको को—मृगावती, मधुमालती, पद्मावत आदि को—केवल इसलिये भूल जाना कि वे पद्यात्मक रचनाएँ है, उपन्यास को उसके उद्गम-स्रोत से काट कर अलग से देखने के समान होगा। हमे यह नही भूलना चाहिये कि इन रचनाओ का पद्यात्मक होना तो उस युग की मॉग के कारण था। चन्द्रवरदाई या जायसी आज के युग में हुए होते तो अपने नायक-नायिका के जीवन-वृत्त के लिए वे पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक उपयुक्त पाते।

सूफी कवियो के प्रेमाख्यानको के निकट तो अधिकाश हिन्दी-उपन्यास ठहरेगे। यौवन की उमग में दो धडकते दिलो का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण, परस्पर मिलन के लिए उनकी आकुलता, उनके बीच में धर्म और समाज के विधि-निषेधो का व्यवधान, प्रेम की मादक सुरा पीकर ससार की किसी भी शक्ति से टक्कर लेने का उनका सकल्प आदि विशिष्टताएँ इन दोनो में समान रूप से मिलेगी। वास्तव मे यदि हम रूप-विधान के चक्कर में न पडकर नायक-नायिका के चरित्र-विकास की दृष्टि से देखें तो हिन्दी-उपन्यास को अग्रेजी उपन्यासो की अपेक्षा भारतीय आख्यानको के अधिक निकट पायेगे—वे आख्यानक संस्कृत के हो या हिन्दी उपन्यासो के उदय से पूर्व के।[८]

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकार

अब तक हमारा अभिप्राय इस बात पर बल देना था कि हिन्दी-उपन्यास का ढॉचा भले ही अग्रेजी उपन्यास या उसकी बगला कलम की देन हो, पर उसमे निवास करने वाली आत्मा भारतीय ही थी। इसलिए, बाहरी ढॉचे के भ्रम मे पडकर उसे नितान्त अभारतीय घोषित कर देना हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारो को उस श्रेय से वचित करना होगा, जिसके वे पूर्णरूप से अधिकारी ठहरते है। यह उन उपन्यासकारो की महानता ही तो थी कि अग्रेजी और बगला उपन्यासों से प्रभावित होने पर भी उन्होने उनका अन्धानुकरण नही किया और अनेक प्रलोभनो के होते हुए भी वे अपनी साहित्यिक परम्परा से कटकर एक दम अलग नही जा पडे।

यद्यपि सस्कृत की वैताल-पचविशति, सिहासन-द्वात्रिंशिका, पचतन्त्र, हितोपदेश आदि रचनाओ के आधार पर हिन्दी मे भी "किस्सा तोता-मैना", वैताल पचीसी, सिहासन-बत्तीसी आदि अनेक बडी कथाएँ लिखी गई थी, फिर भी हिन्दी मे साहित्यिक कथाओ का आरम्भ मुन्शी इशा अल्लाखॉ की 'रानी केतकी की कहानी' जिसका दूसरा नाम "उदयभानु चरित" है, से ही माना जाना चाहिए। इसकी रचना सन् १८१० के आस-पास हुई थी। बाद के हिन्दी-उपन्यास ने अपना ढाचा चाहे बदल लिया हो, पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि यह और इसी प्रकार की अन्य रचनाएँ प्राचीन साहित्य-परम्परा और आधुनिक हिन्दी-उपन्यास में एक मजबूत कडी का काम करती है। इसलिए, हिन्दी-उपन्यास-

साहित्य की पृष्ठभूमि का विवेचन करते हुए इनकी और इनके रचयिताओं की उपेक्षा नही की जा सकती।

मुन्शी इंशा अल्लाखाँ—

जब अँग्रेज हिन्दी का प्रचार कराने में लगे हुए थे, इशा अल्लाखाँ ने भी पाण्डित्य-प्रदर्शन की धुन में 'रानी केतकी की कहानी' की रचना का एक प्रयोग कर डाला। इस को लिखते समय उनका प्रयत्न यह रहा कि "हिन्दी छुट और किसी बोली की पुट न मिले और हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।"[३६] यद्यपि स्वय लेखक ने इसे कहानी घोषित किया है, आकार की दृष्टि से यह आज के लघु उपन्यास के बराबर ठहरती है।

इसके कथानक के गठन में तथा पात्रो के चरित्रचित्रण पर भी सूफी प्रेमाख्यानकों का प्रभावविशेष रूप से लक्षित होता है। वही 'पद्‌मावत' वाली प्रेम की लगन, हृदय की तडप, प्रेमी को पाने की उत्कट अभिलाषा इसमें भी विद्यमान है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह भारतीय साहित्य से अधिक दूर नही। सत् पात्रों और असत् पात्रो में सघर्ष, सत् पात्रो का जीवन भर कष्ट सहते रहना, अन्त में असत् पात्रों की पराजय और सत् पात्रो को फल की प्राप्ति—पात्रो के चरित्र का यही परम्परागत स्वरूप इस रचना में भी मिलता है।

इस रचना का लक्ष्य चरित्र-चित्रण न होते हुए भी लेखक का इसे 'उदेभान-चरित' नाम देना यह बताता है कि वह नायक के चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नही, प्रत्युत् उसके चरित्र के किसी विशेष रूप को उभारना चाहता है। उदेभान और रानी केतकी में परस्पर प्रेम हो जाता है। दोनो एक दूसरे को जी-जान से चाहने लगते है। नायिका के माता-पिता बीच में बाधा बनकर आते है। तभी नायक अपने एक पत्र में नायिका को सलाह देता है कि किसी और देश भाग चले। इसके उत्तर मे नायिका जो लिख भेजती है, उसमें उसका अपना चरित्र प्रतिबिम्बित मिलता है।

> "पर बात यह भाग चलने की अच्छी नही। इसमें एक बाप-दादे को चिट लग जाती है, और जब तक माँ-बाप, जैसा कुछ होता चला आता है, उसी डौल से, बेटे-बेटी को किसी पर पटक न मारे और सिर से किसी के चेपक न दें, तब तक एक जीव तो क्या, जो करोड़ जी जाते रहे, तो कोई बात हमें रुचती नही।"[३७]

---

३६. इंशा अल्ला खाँ, 'रानी केतकी की कहानी', परिमल प्रकाशन प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९५२, पृष्ठ २०।

३७. इशा अल्ला खाँ, 'रानी केतकी की कहानी', पृष्ठ २८।

पर उसी नायिका को जब यह सूचना मिलती है कि उसके पिता ने उसके प्रेमी को हिरन बना दिया है और अब वह वनों की खाक छान रहा है, तो वह समस्त लोक-लाज भूल, माता-पिता की इच्छा-अनिच्छा की चिन्ता छोड़, प्रेमी की तलाश में अकेली घर से निकल पडती है। इस प्रकार, हिन्दी के इस प्रारम्भिक कहानी नामक उपन्यास' में भी एक विकसनशीला नायिका के दर्शन हो जाते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा—

हिन्दी-उपन्यास ने अग्रेजी ढाँचा तो पहले-पहल भारतेन्दु-युग में ही अपनाया था। उस समय के अधिकाश उपन्यासों का ढाँचा हिन्दी में सीधे, अग्रेजी से नही आया था, प्रत्युत् बगला के उपन्यासों की देखा-देखी ही हिन्दी-उपन्यास ने अपना रूप बदल लिया था। 'भारतेन्दु' के अनुरोध से पहले 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का और बाद में 'राधा रानी', 'स्वर्णलता', 'चन्द्रप्रभा', 'पूर्ण प्रकाश' का हिन्दी में अनुवाद हुआ। भारतेन्दु ने स्वय भी एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था। 'एक कहानी कुछ आप बीती, कुछ जग बीती' शीर्षक से उसके कुछ अश 'कवि-वचन-सुधा' में निकले भी थे। बाद में, उपन्यास के उत्थान की ओर वह विशेष रूप से प्रवृत्त हुए थे, पर उनकी यह आकाक्षा बीच में ही रह गई। इस सम्बन्ध मे, 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के एक अक मे छपी यह विज्ञप्ति उल्लेखनीय है :

नाटकोपन्यास पाक्षिक पुस्तिका—

> "हिन्दी भाषा में नाटक और उपन्यास का पूर्ण रूप से अभाव है। विशेष करके अग्रेजी और बंग भाषा के अनुसार उत्तम नाटक आज तक बहुत ही कम प्रकाशित हुए है। और उपन्यासों के तो अभी तादृश स्वाद से भी हमारे देश बान्धवगण वचित है। इस हेतु ऐसा विचार किया है कि एक मासिक पुस्तिका २० पृष्ठ की हिन्दी-भाषा की पूर्वोक्त नाम की प्रचलित हो और उसमें केवल उपन्यास और नाटक रहे।"३८

यहाँ भारतेन्दु के समकालीन पंडित श्रद्धाराम फिल्लौरी का नाम भी उल्लेखनीय है। फिल्लौरीजी अपने समय के सच्चे हिन्दी-हितैषी और लोक-प्रिय लेखक थे। 'आत्म-चिकित्सा', 'तत्वदीपक', 'धर्मशिक्षा', 'उपदेश-सग्रह', 'शतोपदेश' आदि हिन्दी में अनेक धार्मिक ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त उन्होने स० १९३४ में 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा था। कहते है, उस समय उस उपन्यास की बडी प्रशसा हुई थी।

भारतेन्दु-युग के अन्य साहित्यिक जो उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुए, उनमें लाला श्रीनिवास दास, पडित अम्बिकादत्त व्यास, और पडित बालकृष्ण भट्ट के नाम

३८. 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', नवम्बर १८७८ ई०

विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसलिए, यहाँ इन उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

श्रीनिवासदास—

अंग्रेजी ढंग पर प्रथम मौलिक हिन्दी-उपन्यास लिखने का श्रेय लाला श्रीनिवासदास ही को है। इस उपन्यास का अंग्रेजी ढाचा हिन्दी में बगला के माध्यम से नही, सीधा अंग्रेजी में आया था। लालाजी अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे। अंग्रेजी उपन्यासो तक उनकी सीधी पहुँच थी। तब तक का हिन्दी-कथा-साहित्य प्रेमी-प्रेमिका की एक-दूसरे के प्रति लगन, उनके हृदयो की धड़कन, प्रिया से मिलने की व्याकुलता आदि की संकीर्ण परिधि में उलझा हुआ था। उसे जीवन की यथार्थताओं की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय उनके उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' को है। वह स्वयं भी अपने उपन्यास की इस विशिष्टता के प्रति सचेत थे—"अपनी भाषा में अब तक जो पुस्तकें लिखी गई है, उनमें अकसर नायक-नायिका वगैरा का हाल ठेठ सें सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है—जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ, साहूकार का लडका था। उसके मन में इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला······ऐसा सिलसिला इसमें कुछ नही मालूम होता············अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी।"[३९] अपने इन शब्दों में उपन्यासकार मानो चरित्र-चित्रण की प्राचीन शैली के प्रति भी असंतोष प्रकट कर रहा हो और साथ ही, नई प्रणाली चलाने का दावा कर रहा हो। उसका यह दावा एक सीमा तक ठीक ही रहा, क्योकि इसके बाद लिखे जाने वाले उपन्यासो में परीक्षा-गुरु के द्वारा निर्दिष्ट पथ का ही अनुकरण किया गया।

इस उपन्यास का नायक सेठ मदनमोहन है जो अपने चापलूस मित्रो के चक्कर में फँसकर दिखावे का जीवन व्यतीत करने लगता है और गले तक ऋण मे डूब जाता है। उसका एक सज्जन मित्र बृजकिशोर इसका उद्धार करता हे और विपत्ति काल की उसकी परीक्षा ही उसका वास्तविक गुरु बनती है। व्यापारी क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव होने के कारण उपन्यासकार वातावरण की सफल सृष्टि कर सका है और पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी स्वाभाविकता ला सका है। लेखक द्वारा बीच-बीच में पाठको के सामने सीधे प्रकट होकर उपदेशात्मक भाषण झाडना अवश्य खटकने लगता है, पर यह तो उस युग की प्रवृत्ति थी जिससे वह कैसे बच सकता था। इस प्रकार की त्रुटियाँ होने पर भी प्रथम मौलिक हिन्दी-उपन्यास के नाते यह रचना चिर स्मरणीय रहेगी।

---

३९. श्रीनिवासदास : 'परीक्षा गुरु', भूमिका।

म्बिकादत्त व्यास

इस युग में जबकि उपन्यास-लेखन के अनेक प्रयोग हो रहे थे, पंडित म्बिकादत्त व्यास ने भी 'आश्चर्य वृत्तान्त' की रचना कर डाली। जैसा कि इसके नाम ही स्पष्ट है, यह निरी मनगढत रचना है जिसमें जीवन की यथार्थताओं की अपेक्षा द्भुत और अलौकिक की ओर अधिक झुकाव है। जिस प्रकार 'परीक्षा-गुरु', स्सहाय हिन्दू' आदि रचनाओ में बाद के सामाजिक उपन्यासों के तत्त्व बीज रूप मिलते है, उसी प्रकार इस उपन्यास में देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म, ऐयारी और द के साहसिक उपन्यासो का पूर्व रूप देखने को मिल जाता है। उदाहरण के लिए सके निम्नलिखित अश देखिए—

(क) "इसको अँगूठी मे दवाकर डण्डा झटकारने से एक गोली निकल पडती है और उस गोली मे ऐसी-ऐसी औषधिया पडी है और लिपी है कि कोई जन्तु क्यो न हो, उसके रोम से सम्बन्ध होते ही बिजली उत्पन्न होती है और धडाके से वह गोली छूट जाती है।"[३६]

(ख) "घूम के फाटक की ओर हम लोगो ने देखा तो साहब का अनुभव ठीक पाया। फाटक के समीप एक भारी तोप, कल पर चढी भरी रखी थी और उसमे ऐसे यन्त्र लगे थे कि फाटक खुलते ही वह आप ही छूट पडे और सामने के सहस्रों मनुष्यो की राख की ढेरी लगा दे।"[४०]

मुख्य रूप से कुतूहलोद्दीपक होते हुए भी यह रचना चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नही कही जा सकती। चाहे परिस्थिति के आतक से पाठक को मुक्त करने के उद्देश्य से हास्य की पुट देने के लिए ही इसमे बगाली महाशय का समावेश किया गया हो, पर उसका व्यग्यचित्र बडा सुन्दर बन पाया है। अग्रेजी साहब का चरित्र भी उसके कथोपकथन और क्रिया-प्रतिक्रिया मे प्रतिबिम्बित हो उठा है, चाहे ऐसा अनायास ही हुआ हो। उसकी आकृति और वेश-भूषा का वर्णन भी बडा प्रभावोत्पादक हुआ है

"हम लोगो ने साहब को देखा कि उनकी लम्बी उजली दाढी फरफरा रही है, उजला कुरता और पायजामा पहरे है। ......मेरी समझ में साहब लगभग पैसठ बरस के होगे, पर ऊँचा शरीर, दृढ़ अग और अग की स्फूर्ति ऐसी थी कि बाल छोड सर्वांग में यौवन झलकता था।[४१]

पात्रो के आकृति, वेशभूषा-वर्णन की यही शैली अपने परिष्कृत रूप मे हिन्दी के परवर्ती उपन्यासो में मिलती है।

४० (क) अम्बिकादत्त व्यास, 'आश्चर्य वृतान्त', व्यास पुस्तकालय, काशी, १६४६, पृष्ठ ३१।
४० (ख) वही, पृष्ठ ३७।
४१. अम्बिकादत्त व्यास, 'आश्चर्य वृत्तान्त', पृष्ठ २६।

पंडित बालकृष्ण भट्ट

पंडित बालकृष्ण भट्ट अपने समय के उच्च कोटि के विद्वान् थे। इनका रहन-सहन आडम्बरहीन था। सनातन धर्म के पक्के अनुयायी होते हुए भी वे कभी अन्ध-परम्परा के पक्षपाती नही रहे। इन्होने 'सौ अजान, एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नाम से दो उपन्यास लिखे। ये दोनों छोटे-छोटे उपन्यास हैं, जिनकी रचना कुछ-एक नैतिक सिद्धान्तो को पाठको की समझ में बैठाने के उद्देश्य से हुई।

'सौ अजान, एक सुजान' को ही ले। इसमें हीराचन्द नामक एक सेठ के दो पुत्रो की कहानी है जो कुछ-एक चापलूस और अजान मित्रो की कुसगति में पड़कर अपना सब कुछ गँवा देते है और जेल तक भोगते है। अन्त में चन्दू नामक एक सुजान मित्र द्वारा उनका उद्धार होता है। इस उपान्यास का उद्देश्य है अपने पाठकों को यह शिक्षा देना कि धर्मानुकूल आचरण करने वाले सुख-समृद्धि को प्राप्त होते हैं और धर्म-विरुद्ध आचरण करने वाले अत में दु खी होते है। उपन्यास के अन्त में भट्ट जी स्वयं भी लिखते हैं।

> "अन्त को हम अपने पढने वालो को सूचित करते है कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हो, तो हमारे इस उपन्यास को पढ़, आशा करते हे, सुजान बनें। इस किस्से के अजानो को सुजान करने को चन्दू था, और आप को हमारा यह उपन्यास होगा।"[४२]

(उपन्यास के विषय-प्रसार तथा आकार की दृष्टि से इसके पात्रो की संख्या अधिक लगती है। सेठ हीराचन्द, शिरोमणि मित्र, चन्द्रशेखर (चन्दू), ऋद्धिनाथ, निधिनाथ, बसंता, रमादेवी, नन्ददास (नन्दू), रघुनन्दन, हकीम साहब, हुमा बेगम, बुद्धदास, लडको का बुड्ढा चाचा, मिट्ठूमल, कोतवाल दारोगा, फहमुआ (कोतवाल का नौकर), तकी अली (कांस्टेबल), पचानन, जज, कुल मिला कर २० के लगभग पात्र हैं और उपन्यास का आकार है १२३ पृष्ठ। परिणामस्वरूप पात्रो के चरित्र का सम्यक विकास नहीं हो पाया। दोनो बाबू, चन्दू-नन्दू, पचानन, रमादेवी के सिवा अन्य पात्र महत्त्वविहीन हैं, उनके चरित्र-चित्रण में उलझकर लेखक मुख्य पात्रो के चरित्र को भी ठीक ढंग से विकसित नहीं कर पाया है।)

लेखक ने पात्रों का चरित्र इतिहास शैली में ही चित्रित किया है। उनके अच्छे या बुरे काम करने की रिपोर्ट भी हमे लेखक के शब्दों में ही मिलती है। कथोपकन बहुत कम करवाये गए है, यहा तक कि उपन्यास के नायको (दोनों बाबू) में से केवल ऋद्धिनाथ ही बोलता है और वह भी सारे उपन्यास से केवल एक बार जो तीन-चार वाक्यों तक ही सीमित है।[४३]

---

४२. बालकृष्ण भट्ट, 'सौ अजान एक सुजान', गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ, ११वां संस्करण, स० २००६, पृष्ठ १२३।

४३. वही, पृष्ठ ६५।

इसमें दो प्रकार के पात्र है—अच्छे और बुरे। अच्छे पात्र धर्मानुकूल आचरण करते है और बुरे धर्म-विरुद्ध चलते है। दोनो में सघर्ष होता है। पहले बुरा की जीत होती है पर अत मे बुरो को उनकी करनी का फल जेल मिलती है और अच्छो को सुख और शान्ति। लेखक की सहानुभूति सदा अच्छो के साथ रही है और बुरो के प्रति उसकी घृणा व्यक्त होती रहती है। लेखक पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया पर टीका-टिप्पणी भी साथ-साथ करता जाता है।

नये पात्रो का परिचय लेखक बडे स्वाभाविक ढग से करता है, पर वह परिचय इतना पूर्ण होता है कि एक बार उनके बारे मे सब कुछ जान लेने के बाद फिर उनके चरित्र के विकास में पाठक की विशेष उत्सुकता नही रहती। पात्रो का परिचय कराते समय उनके गुणावगुणो के वर्णन के साथ-साथ लेखक उनका 'रूप-रग' तथा समाज मे उनका स्थान भी बता देता है।

अनूदित उपन्यास

उपर्युक्त मौलिक उपन्यासों के अतिरिक्त, हिन्दी-उपन्यास को आधुनिक रूप देने और उसे उत्तरोत्तर विकसित करते रहने में अन्य भाषाओ के हिन्दी मे अनूदित उपन्यासो का भी विशेष हाथ रहा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रयत्नों से उस समय के साहित्यिकों का ध्यान अन्य भाषाओ के अच्छे-अच्छे उपन्यासो को हिन्दी में रूपान्तरित करने की ओर जा चुका था। बगला के कई अच्छे उपन्यासों के हिन्दी-रूपान्तर तो उनके जीवन-काल में ही प्रकाश में आ चुके थे। बाबू गदाधरसिंह ने 'बग-विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी' का, बाबू राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'मरता क्या न करता', आदि का, पडित प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधा रानी', 'युगलाँगु-रीय' का और पडित राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जाविन्नी', 'मृण्मयी' का हिन्दी अनुवाद करके निकाल दिया था।[४४]

इसके बाद तो हिन्दी में अनुवादो की एक बाढ़-सी आ गई। यद्यपि इनमें अधिकाश अनुवादको का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था जैसा अनुवादक के लिए आवश्यक होता है, तो भी जिस उद्देश्य को लेकर ये अनुवाद किए गए थे, उस की पूर्ति अच्छी तरह हो गई थी। इनसे हिन्दी के लेखको का अन्य भाषाओ के नए ढग के ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासो से परिचय हो गया और उन्हे स्वतन्त्र उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली और इसके लिए योग्यता भी प्राप्त हुई। इस युग में हुए अन्य कुछ अनुवादो और अनुवादको के नाम इस प्रकार है।[४५]—

बाबू रामकृष्ण वर्मा 'ठगवृत्तान्त-माला' (स० १९४६)
'पुलिस-वृत्तान्त-माला' (स० १९४७)

४४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००३, पृष्ठ ४५५।

४५. वही, पृष्ठ ४६७।

	'अकबर' (सं० १९४९), 'अगलावृत्तान्त-माला' (सं० १९५१)
	'चितौर चातकी' (सं० १९५२)
बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री	'इला' (सं० १९५२), 'प्रमीला' (स० १९५३)
बाबू गोपालराम गहमरी	'चतुर चंचला' (स० १९५०), 'भानमती' (स० १९५१)
	'नए बाबू (सं० १९५१), 'वडा भाई" (सं० १९५७)
	'देवरानी-जेठानी' (सं० १९५८),
	'दो बहिन' (सं० १९५९), 'तीन पतोहू' (सं० १९६१) आदि।
मुन्शी उदितनारायण :	'दीप-निर्वाण'

इस प्रकार, उस युग में वंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चडीचरण सेन, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, चारुचन्द्र आदि बगला के उच्च कोटि के उपन्यासकारो के लगभग सभी अच्छे-अच्छे उपन्यास हिन्दी में रूपान्तरित हो चुके थे। बगला के अतिरिक्त गुजराती और मराठी के भी कुछ उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। हिन्दी-उपन्यास की परम्परा प्रतिष्ठित करने के लिए यह आवश्यक ही था कि अन्य भाषाओं के उच्च कोटि के उपन्यास हिन्दी में उपलब्ध होते। इन अनुवादों ने इस आवश्यकता को पूरा किया।

उस युग के मौलिक उपन्यासों की औपन्यासिकता और अनूदित उपन्यासों की भाषा और शैली आज चाहे कितनी ही नगण्य प्रतीत हो, पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उस युग के मौलिक और अनूदित उपन्यासों ने मिलकर आधुनिक हिन्दी-उपन्यास को एक दृढ पृष्ठभूमि प्रदान की जिसके बल पर वह बडे उत्साह और आत्मविश्वास के साथ अपने विकास की अगली अवस्थाएँ पार कर सका।

तीसरा अध्याय

अनायास चरित्रचित्रण

'अकबर' (सं० १९४९), 'अगलावृत्तान्त-माला' (सं० १९५१)
'चितौर चातकी' (सं० १९५२)

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री 'इला' (सं० १९५२), 'प्रमीला' (सं० १९५३)

बाबू गोपालराम गहमरी 'चतुर चचला' (सं० १९५०), 'भानमती' (सं० १९५१)
'नए बाबू (सं० १९५१), 'बडा भाई'' (सं० १९५७)
'देवरानी-जेठानी' (सं० १९५८),
'दो बहिन' (सं० १९५९), 'तीन पतोहू' (सं० १९६१) आदि।

मुन्शी उदितनारायण : 'दीप-निर्वाण'

इस प्रकार, उस युग में बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चंडी चरण सेन, शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, चारुचन्द्र आदि बगला के उच्च कोटि के उपन्यास-कारों के लगभग सभी अच्छे-अच्छे उपन्यास हिन्दी में रूपान्तरित हो चुके थे। बगला के अतिरिक्त गुजराती और मराठी के भी कुछ उपन्यासो का हिन्दी में अनुवाद हुआ। हिन्दी-उपन्यास की परम्परा प्रतिष्ठित करने के लिए यह आवश्यक ही था कि अन्य भाषाओं के उच्च कोटि के उपन्यास हिन्दी में उपलब्ध होते। इन अनुवादों ने इस आवश्यकता को पूरा किया।

उस युग के मौलिक उपन्यासों की औपन्यासिकता और अनूदित उपन्यासो की भाषा और शैली आज चाहे कितनी ही नगण्य प्रतीत हो, पर इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि उस युग के मौलिक और अनूदित उपन्यासों ने मिलकर आधुनिक हिन्दी-उपन्यास को एक दृढ पृष्ठभूमि प्रदान की जिसके बल पर वह बडे उत्साह और आत्मविश्वास के साथ अपने विकास की अगली अवस्थाएँ पार कर सका।

तीसरा अध्याय

अनायास चरित्रचित्रण

अनायास चरित्रचित्रण

प्रस्तावना

उपन्यास में सत्य, प्रियं और हितं—जैसा कि उसके अंग्रेजी नाम 'नावेल' से भी ध्वनित होता है, साहित्य में उपन्यास एक नए साहित्य-प्रकार के रूप में आया। उसका जन्म कविता और नाटक के पश्चात् हुआ। मानव-जीवन के उत्तरोत्तर जटिल होते जाने से उसकी समस्याएँ कविता और नाटक में न समा सकीं और मनुष्य की अनुभूतिधारा सब प्रकार के बाँध तोडकर, कविता और नाटक की शास्त्रीय सीमाओं का उल्लंघन करके, अपने प्रकृति रूप में बह निकली। अनुभूति की इस प्रकृत अभिव्यक्ति को उपन्यास की सज्ञा मिली। उपन्यास ने कल्पना की ऊँची उडान न भर कर मानव-जीवन की यथार्थताओं को अपना विषय बनाया और अपनी विशालता में धीरे-धीरे मानव-विकास के तीनों क्षेत्रों—भावात्मक, बौद्धिक और वैज्ञानिक—को समा लिया। दर्शन और विज्ञान को उनकी सीमाओं से निकालकर साहित्य के अनुरूप ढालने में उपन्यास ने जो कार्य किया वह अभूतपूर्व था। उससे मानव को आशा बँध गई कि वह उपन्यास में अपनी अनुभूति को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त होते देख सकेगा।

श्रीमद्भागवद्गीता में 'वाङ्मय' तप के अन्तर्गत की गई परिभाषा के अनुसार साहित्य के तीन प्रधान तत्व ठहरते हैं—सत्यं, प्रियं और हित।[1] सत्यं, शिव और सुन्दर क्रमशः सत्यं, हितं और प्रिय के ही दूसरे नाम है। साहित्य के सभी गुण इन तीनों तत्वों के अन्तर्गत हैं। साहित्य में स्वाभाविकता लाने वाला तत्व सत्य है। लोकरक्षण की प्रवृत्ति उसका हित (शिवं) तत्व है। जिन विशेषताओं के कारण साहित्य अपने पाठकों का मनोरंजन करके उन्हें अपने में उलझाए रखता है, वे उसके प्रियं (सुन्दर) तत्व के अन्तर्गत है। साहित्य की प्रत्येक कृति में ये तीनों तत्व विद्यमान रहते हैं, पर वे सदा साम्यावस्था में नहीं रहते। किसी में 'सुन्दर' प्रधानता ग्रहण कर लेता है, किसी में 'शिव' मुख्य हो जाता है और किसी में 'सत्यं' मुख्य रूप

१. श्रीमद्भगवद्गीता, १७। १५ :

"अनुद्वेगकरं वाक्य सत्यं प्रिय हितंच यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयतप उच्यते॥"

से अवस्थित हो जाता है। पर सफल साहित्य-कृति वही हो पाती है, जिसमें इन तीनों तत्वों का समन्वय हुआ हो।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में लोकरंजन की प्रवृत्ति मुख्य—हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो में 'सुन्दर' तत्व का प्राधान्य रहा। उस समय साहित्य से, विशेषत उपन्यास से, समाज की पहली माँग लोकरजन की थी। उस युग के पाठको को वही उपन्यास प्रिय लगते थे जो उनके मन और इन्द्रियो को प्रसन्न करके उन्हे आत्म-विस्मृत कर दें। मनुष्य का मन और इन्द्रियाँ उन वस्तुओ में जल्दी से उलझती है जिनके प्रति उसे विस्मय हो और जो उसके भीतर वैचित्र्य का भाव जागृत करे। इसीलिए, हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो में अनोखी घटनाओ तथा विचित्र पात्रों की भरमार रही। उस युग के उपन्यासो में नाना प्रकार की विस्मयोत्पादक घटनाओ का चमत्कारपूर्ण वर्णन करके पाठकों के हृदय में कुतूहल जागृत करते हुए उन्हे मुग्ध करने की चेष्टा की जाती थी। घटनाओं के घटाटोप के पीछे जो एक रहस्यमयता छिपी रहती थी, उसका धीरे-धीरे उद्घाटन करके पाठक के औत्सुक्य को निरन्तर बढ़ाते रहने वाले उस युग के उपन्यास अत्यन्त रोचक और लोक-प्रिय बन गए थे।

उस युग मे, हिन्दी-उपन्यासो से और कोई आशा नही की जाती थी। परिणामस्वरूप, लोकरजन उपन्यास का एकमात्र लक्ष्य बन गया था। उस समय का पाठक उपन्यास से यह आशा नही करता था कि वह उसे एक जीवन-दर्शन देकर उसका पथ-प्रदर्शन करे, क्योकि वह जानता था कि जीवन-दर्शन के लिए उसे उपन्यास की ओर नही, धर्म-ग्रन्थो की ओर प्रवृत्त होना होगा। उपन्यास को तो वह केवल इसलिए पढता था कि कुछ समय के लिए यथार्थ जीवन की कटुताओ को भूल सके और अपने आपको मुक्त पछी के समान विचरता हुआ पाए। पाठको की इस माँग की पूर्ति में लिखे गए उपन्यासों में से देवकीनन्दन खत्री के तिलस्म और ऐय्यारी के उपन्यास तथा गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उपन्यासों का ढेर लगा देने वाले उस युग के तीसरे प्रसिद्ध उपन्यासकार पडित किशोरीलाल गोस्वामी के अधिकाश उपन्यास, वासनाओ के रूप-रंग लिए होने पर भी, इन दोनों उपन्यासकारो की रचनाओं के समकक्ष नहीं माने जा सकते। उनके उपन्यास नितान्त समाज निरपेक्ष नहीं थे। उनमें समाज के कुछ-एक सजीव चित्र और पात्रों का थोड़ा-बहुत चरित्र-चित्रण भी मिल जाता है। तभी तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति आलोचक देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों को तो साहित्य की कोटि में ही नही रखते, पर इन्हें साहित्य की दृष्टि से पहला उपन्यासकार मानते हैं।[२] इसलिए, गोस्वामीजी के उपन्यासो में हुआ चरित्र-चित्रण अनायास नहीं, सोद्देश्य चरित्र-चित्रण की कोटि में आएगा।

---

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००३, पृष्ठ ४९९-५०० ।

तिलस्म-ऐय्यारी और जासूसी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण—देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यास चरित्र-चित्रण के उद्देश्य से तो नहीं लिखे थे, पर एक बार उपन्यास लिखना आरम्भ करके भला कोई उपन्यासकार चरित्र-चित्रण की समस्या से बच पाया है। खत्री जी के पात्रो का चरित्र-चित्रण भी उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके कथोपकथनो आदि में उपन्यासकार के जाने या अजाने फूट पडता है। तत्कालीन समाज के चरित्र सम्बन्धी मूल्य उनके उपन्यास में अपने अविकृत रूप मे मिलते है। धर्म और न्याय पर चलने वाले 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्तासतति' के राजा वीरेन्द्र सिंह और उनके पुत्र इन्द्रजीत सिंह तथा आनन्द सिंह जीवन भर अपने नीच और स्वार्थी शत्रुओं की कूटनीति में उलझे रहते है और नाना प्रकार के कष्ट भोगते रहते हैं। पर अन्त मे उनके अधर्मी शत्रुओं की पोल खुल जाती है और उन्हें उनके कुकर्मों का फल मिलता है। उपन्यास में स्थान-स्थान पर खत्री जी का इस प्रकार लिखते रहना कि आदर्शमय जीवन वाला, न्याय और धर्म की रक्षा करने वाला सदा अन्त में विजयी हो कर सुख पाता है और अन्त मे उसके असत् पात्रों का विजयी होना इस ओर स्पष्ट सकेत है कि उपन्यासकार सत् और असत् पात्रो के भेद को भूल नहीं पाया है और उनका चरित्र अनायास ही उनके कृत्यो में अभिव्यक्ति पा सका है। इसी प्रकार गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यासो का जासूस अपराधी को पकडने के लिए दिन-रात एक कर देता है। इसी धुन मे वह अपना सब सुख भूल जाता है। उसकी यह त्याग-भावना उसकी चतुराई और सच्चरित्रता की ही परिचायिका है। इन उपन्यासों के अन्त में अपराधी का पकडे जाना और फाँसी पाकर अपनी करनी का फल भोगना भी उन पात्रो के भयकर चरित्र को पाठको के सामने ला खडा करता है, उपन्यासकार ने भले ही इसके लिए कोई चेतन आयास न किया हो।

देवकीनन्दन खत्री
परिचयात्मक विवेचन

देवकीनन्दन खत्री हिन्दी के पहले उपन्यासकार है, जिनके पाठको ने, चाहे वे किसी वर्ग के हो, उनके उपन्यासों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। उनके उपन्यासो को लिखे आज लगभग सत्तर वर्ष होने को है और इस बीच हिन्दी-उपन्यास अपने विकास की अनेक अवस्थाएँ पार करके अत्याधुनिक मनोवैज्ञानिक रूप धारण कर चुका है, फिर भी खत्रीजी के उपन्यासो के पाठको और प्रशसको की सख्या में कोई कमी नही आई। उनके उपन्यासों ने केवल पाठक ही नही, उपन्यासकार भी पैदा किए है। हिन्दी के अनेक उपन्यासकारो पर इस रूप में उनका भारी ऋण है, इस ऋण को स्वीकार करने में भले ही आज कई उपन्यासकार सकोच करते रहे हो। गुरुदत्त ने खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' से मिली प्रेरणा को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है "मैने सर्वप्रथम 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास देवकीनन्दन खत्री द्वारा लिखित पढ़ा था। उस समय मै स्कूल की पाँचवी श्रेणी में पढता था। 'चन्द्रकान्ता' मुझ को बहुत ही रसमय लगी थी। वास्तव में लेखक बनने की इच्छा मेरे मन में तब से उगी थी।"[3] हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी भी 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सतति' से प्राप्त रस को भूल नही पाते[4]। उनका कहना है कि आधुनिक उपन्यासों को तो मैने केवल पढ़ने के लिए पढा है।

आलोचकों द्वारा उपेक्षा—यह आश्चर्य और खेद का विषय है कि खत्रीजी को जितना अधिक मान उनके पाठको ने दिया, उनके प्रति उतना ही अधिक उपेक्षा का भाव हिन्दी के आलोचको ने दिखाया। हिन्दी-उपन्यास के इस विशाल भवन को दृढ नीव प्रदान करने वाले इस साहित्य-महारथी और उसकी रचनाएँ अब तक आलोचको से उचित मान नही पा सकी है। आलोचक सदा इनके साथ ऐसा व्यवहार करते रहे हैं जो समाज से बहिष्कृत लोगो के प्रति होता रहा। साहित्य के इतिहासो में तिलस्मी और ऐय्यारी के उपन्यासो का उल्लेख हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों का, उनके

---

३. गुरुदत्त : "उपन्यास कैसे लिखे गए", 'साहित्य संदेश : आधुनिक उपन्यास-अक', जुलाई-अगस्त, १९५६, पृष्ठ ८०।

अनगढ रूप तथा अपरिपक्वता का, परिचय कराने के लिए किया जाता है, मानो हिन्दी-उपन्यास के विकास में इससे अधिक उनका कोई महत्त्व न हो। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी कि जितने पाठक खत्रीजी ने उत्पन्न किए उतने किसी और ग्रन्थकार ने नही और यह भी कि 'चन्द्रकान्ता' पढने के लिए ही न जाने कितने उर्दू-जीवी लोगो ने हिन्दी सीखी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उनके प्रति श्रद्धाँजलि अर्पित करने की बजाय उनकी रचनाओं को साहित्य मानने तक से इन्कार कर देते हैं : "ये (उपन्यास) वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से है, जिनमें जीवन के विविध पक्षो के चित्रण का कोई प्रयत्न नही, इससे ये साहित्य-कोटि में नही आते[५]।'

ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपन्यासों की रचना मे निहित लेखक के दृष्टि-कोण को समझने का प्रयत्न किए विना, अपने पूर्वग्रहो के आधार पर ही आलोचक उनकी रचनाओ का मूल्यॉकान करते रहे है। इन उपन्यासो की रचना धर्म-प्रचार या समाज-सुधार की भावना से नही हुई थी। उस समय के पाठको की हिन्दी-उपन्यास से यह माँग थी भी नही। वे तो मनोरजन के लिए, कुछ समय के लिए यथार्थ-जीवन की कटुताओ को भुलाने के लिए, उपन्यास पढना चाहते थे। उनकी माँग की पूर्ति मे ही इन उपन्यासो की रचना हुई थी। खत्रीजी ने स्वय भी इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा हे . "जिस प्रकार पचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थ बालको की शिक्षा के लिए लिखे गए, उसी प्रकार यह पाठकों के मनोविनोद के लिए[६]।" उपन्यास और लोक-रक्षण की भावनाओ को परस्पर-विरोधी तो खत्रीजी भी नही मानते थे, पर उनका आग्रह यह था कि उनका युग 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सतति' के-से हल्के-फुल्के लोकरजक उपन्यासो का ही था, न कि गम्भीर विषय की भारी-भरकम रचनाओ का। अपने आलोचको के प्रति उन्होने लिखा भी है "एक समय था कि लोग सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पच्चीसी आदि कहानियो को विश्राम-काल मे रुचि से पढते थे, फिर चहारदरवेश और अलिफलैला के किस्सो का समय आया, अब इस ढग के उपन्यासो का समय है। अब भी वह समय दूर है जब लोग बिना किसी प्रकार की न्यूनाधिकता के ऐतिहासिक पुस्तको को रुचि से पढ़ेंगे[७]।" अपने पाठको के मनोरजन की धुन में यह उपन्यासकार भले ही धार्मिक नेता या समाज-सुधारक के रूप मे अपने पाठकों के सामने न आया हो, पर इतने से ही यह समझ लेना कि ये उपन्यास समाज के लिए अनुपयोगी है, इनके प्रति अन्याय करना होगा। इनके लेखक के अपने शब्दो में, इनका "सबसे ज्यादा फायदा तो यह है कि ऐसी किताबो को पढने वाला जल्दी किसी के धोखे में नही पडेगा[८]।" इन उपन्यासो में वर्णित घटनाओ की सभाव्यता

---

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, स २००६, पृष्ठ ४६६।

६. देवकीनन्दन खत्री : 'चन्द्रकान्ता सतति', चौबीसवाँ हिस्सा, लहरी बुकडिपो, बनारस, गुटका बीसवाँ संस्करण, १९५७ ई०, पृष्ठ ८५।

७. देवकीनन्दन खत्री : 'चन्द्रकान्ता संतति', पृष्ठ ८६।

८. देवकीनन्दन खत्री, 'चन्द्रकान्ता'—भूमिका, लहरी बुकडिपो, बनारस, १९५६ ई०, पृष्ठ २।

के सम्बन्ध मे चाहे मतभेद हो, पर इस बारे में दो मत नही हो सकते कि इन उपन्यासो मे शायद ही कोई ऐसा स्थल मिलेगा, जहाँ खत्रीजी ने समाज-व्यवस्था और उसके विधि-निषेधों के विरुद्ध लेखनी उठाई हो।

पुनर्मूल्यन की आवश्यकता—क्योकि खत्रीजी ने अपने उपन्यासों में लम्बे-लम्बे उपदेशात्मक भाषण नही दिए, इसी से यह समझ लेना कि उनके उपन्यासो में जीवन के लिए उपयोगी तत्वो का अभाव है, सत्य के प्रति आँखे मूँद लेना होगा। इनके उपन्यासों को जीवन और जगत के लिए अनुपयोगी कहकर उन्हें साहित्य तक की कोटि से निकाल लेने वालो से पूछा जा सकता है कि क्या 'चन्द्रकान्ता' के ऐय्यार तेजसिह और जीतसिह के-से नि स्वार्थी स्वामी-भक्तों के आदर्श चरित्र से, जो अपने स्वामी के हित-साधन में सिर-धड की बाज़ी लगा देते हैं, पाठकों को कोई प्रेरणा नही मिलती; क्या क्रूरसिह जैसे समाज के अनिष्टकारी अपराधियो को पकड कर दण्डित करने में उनकी तत्परता, शरीर और बुद्धि की अथक दौड, कूटनीतिज्ञता पाठको को प्रेरित नही करती कि वे भी उनकी तरह समाज के विघातक तत्व को ठिकाने लगाने के लिए कमर कस ले ? क्या ऐय्यारी द्वारा प्राप्त विजय अहिंसात्मक विजय से किसी भी प्रकार कम महत्व की कही जा सकती है ? हाँ, यदि उनकी कूट-नीतिज्ञता तथा बेहद चालाकी से शिकायत है तो सोचना होगा कि विशाखदत्त के नाटक 'मुद्रा राक्षस' में इस प्रकार की चालो की कौनसी कमी है। उसे तो साहित्य की कोटि से निकालने की किसी आलोचक को नही सूझी। इसी प्रकार के कई-एक प्रश्न है जिनसे कोई भी आलोचक, हिन्दी-उपन्यास में देवकीनन्दन खत्री का स्थान निर्धारित करते समय, बच नही सकता। यही नही, इन प्रश्नो का सही-सही उत्तर खोजे बिना वह यह समझ नही सकता कि आलोचको की निपट उपेक्षा ही नही, घोर विरोध के होते हुए भी देवकीनन्दन खत्री के पाठको ने उनके आलोचको की सम्मति क्यों नही मानी और क्यों उनके उपन्यास अपना रास्ता स्वयं बनाते रहे और बनाते रहेंगे।

देवकीनन्दन खत्री के पात्र—हिन्दी-उपन्यास में वर्ग प्रतिनिधि पात्रो के चित्रण की आवश्यकता महसूस करते हुए प्रेमचन्द ने एक बार अपने एक पत्र में लिखा था : "किसी ने अभी तक समाज के किसी विशेष ढंग का विशेष रूप से अध्ययन नही किया। उग्र ने किया मगर बहक गए। मैने कृषक वर्ग को लिया, मगर अभी कितने ही ऐसे समाज पडे है, जिन पर रोशनी की जरूरत है।[६] कहना न होगा कि प्रेमचन्द के इस पत्र से ४०-४५ वर्ष पहले ही देवकीनन्दन खत्री ने वर्ग प्रतिनिधि पात्रो के चित्रण की आवश्यकता महसूस कर ली थी। उनके 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति' नामक उपन्यासो में मध्ययुगीन राजदरबारों में काम करने वाले ऐय्यार लोगों का जितना विशद चित्रण हुआ है उतना किसी अन्य वर्ग का—प्रेमचन्द के उपन्यासो में कृषक वर्ग के चित्रण को छोडकर—हिन्दी उपन्यास में अन्यत्र शायद ही

---

६. पं० प्रेमचन्द, बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे अपने ३ जून, १९३० के पत्र में।

मिले। स० १८९४ में 'चन्द्रकान्ता' के प्रथम संस्करण की भूमिका मे उन्होंने लिखा भी है "आज हिन्दी के बहुत से उपन्यास हुए है, जिनमें कई तरह की बातें तो राजनीति भी लिखी गई हैं, राजदबार के तरीके वो सामान भी जाहिर किए गए है, मगर राजदरबारो में ऐय्यार (चालक) भी नौकर हुआ करते थे जो कि हरफनमौला याने सूरत बदलना, बहुत सी दवाओं का जानना, गाना-बजाना, दौडना, शस्त्र चलाना जासूसो का काम देना, वगैरह बहुत सी बातें जाना करते थे—इन ऐय्यारो का बयान हिन्दी किताबो में अभी तक नही गुजरा। अगर हिन्दी पढने वाले भी इस मजे को देख ले तो कई बातो का फायदा हो[10]। जब राजा-महाराजाओं मे अनबन हो जाती थी तो ये लोग अपनी चालाकी के बल पर ही, रक्त की एक भी बूँद गिराए बिना, एक भी सैनिक की जान गँवाए बिना, झगडा समाप्त करा देते थे। उस युग मे इन लोगों का बडा मान होता था। इन्ही ऐय्यारों का आदर्श-जीवन खत्रीजी के उपन्यासों में चित्रित हुआ है।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यासो की रचना मुख्यत: पात्रो के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से चाहे न की हो पर उनके उपन्यासो को पढने पर उनके पात्रो का जो स्वरूप पाठको की आँखो के सामने खिच जाता है उसे देखते हुए यह नही कहा जा सकता है कि चरित्र-चित्रण के प्रति वे उदासीन थे। वास्तव में, उनके उपन्यासो के कई ऐय्यार उनके पाठको के मन पर अपनी अमिट छाप छोड जाते हैं। अब हम यह देखेगे किस प्रकार ये पात्र धीरे-धीरे पाठको की कल्पना मे साकार होते जाते हैं—लेखक ने इस ओर कोई विशेष प्रयास किया हो या न किया हो।

पात्रों के नाम

खत्री जी के पात्रो के नामों से ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं का पता चल जाता है, मानो पात्रो के नामों द्वारा उपन्यासकार उनके स्वभाव के गुणावगुणो को व्यक्त कर रहा हो। उनके उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' के राजकुमार वीरेन्द्रसिंह को 'अपनी ताकत का भरोसा'[11] है, यह बात उसके नाम से ही व्यक्त हो जाती है। नायिका 'चन्द्रकान्ता' भी सौन्दर्य में चन्द्रकान्ति से कम नही। उसकी ऐय्यारा सखी चपला अपने नाम के अनुरूप ही 'चालाकी के फन में बड़ी तेज'[12] और 'चचल आवभावों वाली' है। तेजसिंह और उसके पिता जीतसिंह के नामो से भी उनके कृत्य ध्वनित हो जाते है। तेजसिह बडा चालाक और फुर्तीला है। वास्तव मे वीरेन्द्रसिंह की विजय सिद्ध बाबा के वेश मे जीतसिंह के कारण ही सम्भव हो सकी थी।[13]

१०. देवकीनन्दन खत्री : 'चन्द्रकान्ता'—भूमिका, पृ० १।
११. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पहला बयान, पृ० ३।
१२. वही, तीसरा बयान, पृ० ५।
१३. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', चौथा हिस्सा, २२वा बयान, पृ० ९०।

क्रूरसिह के नाम से ही पता चल जाता है कि यह खल नायक होगा। उसके पिता मन्त्री कुपथसिह के नाम से भी सकेत मिल जाता है कि वह अपने राजा को सदा गलत रास्ते पर ही डालता होगा।[१४] क्रूरसिह इतना क्रूर है कि अपने पिता के मन्त्री पद को सम्भालने की इच्छा से उसे विप दिलाकर मरवा डालता है।[१५] इसी प्रकार 'चन्द्रकान्तासंतति' के खलनायक भूतनाथ और मायारानी की दुश्चरित्रता भी उनके नामों से ध्वनित हो जाती है।

पात्रो के नामों द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन की प्रणाली बडी पुरानी है। इस प्रणाली की सार्थकता या उपयोगिता के बारे में चाहे दो मत हो, इससे इन्कार नही किया जा सकता कि इस प्रणाली का प्रयोग करने वाला उपन्यासकार अपने पात्रो के चरित्र-चित्रण के प्रति उदासीन नही हो सकता।

पात्रों का प्रथम परिचय

खत्री जी के उपन्यासो का आरम्भ बडे नाटकीय ढंग से होता है। उपन्यास का पर्दा उठते हीं उसका आरम्भ होते ही—पाठक पात्रों को उपन्यास के रग-मच पर कार्य-व्यस्त पाता है। अपने समकालीन उपन्यासकारो की भॉति, परिचय कराने भर के लिए पात्रो को रगमच पर ले आने की प्रवृत्ति उनमें दृष्टिगोचर नहीं होती। पात्रो का परिचय देते समय भी वह उनकी आकृति, वेशभूषा के व्योरेवार नख-शिख वर्णन मे नही उलझते, बल्कि एक-दो वाक्यो में ही उनका संक्षिप्त परिचय देकर उन्हे अपने क्रिया-कलापो द्वारा पाठको पर धीरे-धीरे खुलने देते हैं।

'चन्द्रकान्ता' उपन्यास खुलते ही पाठक दो व्यक्तियो, वीरेन्द्रसिह और तेजसिह, को पत्थर की चट्टान पर बैठे परस्पर बातचीत में मग्न पाता हैं। वीरेन्द्रसिह का परिचय कराते हुए उपन्यासकार इतना ही लिखता है. 'वीरेन्द्रसिंह की उम्र इक्कीस या बाईस वर्ष ही होगी। यह नौगढ़ के राजा सुरेन्द्रसिह का इकलौता लडका है।'[१६] तेजसिह का परिचय थोड़ा विस्तार से मिलता है, शायद इसलिए कि वह उपन्यास का मुख्य पात्र है—"तेजसिंह राजा सुरेन्द्रसिह के दीवान जीतसिह का प्यारा लड़का और कुंअर वीरेन्द्रसिह का दिली दोस्त, बडा चालाक, फुर्तीला, कमर मे सिर्फ खजर, बाये बगल में बटुआ लटकाए, हाथ मे एक कमद लिए, बडी तेजी के साथ चारो तरफ देखता और इनसे बाते करता जाता है।"[१७] उपन्यास के खल नायक क्रूरसिह का उपन्यास में प्रवेश करा देने पर भी उपन्यासकार अपनी ओर से उसका परिचय नही देता। अपने साथियों स उसका

१४ वही, पहला हिस्सा, तीसरा बयान, पृ० ६।

१५. वही, सातवा बयान, पृ० २८।

१६. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पहला बयान, पृ० १।

१७. वही, पहला बयान, पृ० १।

कथोपकथन आरम्भ होने से पहले पाठकों को उसका जो कुछ भी थोड़ा-बहुत परिचय मिलता है, वह उसके नाम से तथा वीरेन्द्रसिंह और तेजसिंह मे हुई बातचीत से भी मिलता है। बाद मे शायद उपन्यासकार को स्वयं यह कमी महसूस हुई थी, फिर भी क्रूरसिंह के नाम पर चिन्ह लगाकर वह पाद-टिप्पणी के रूप में उसका और उसके साथियो का केवल इतना ही परिचय देता है: "उसकी उम्र कोई २१ या २२ वर्ष की थी और उसके ऐय्यार भी हमसिन ही थे।"[१८]

इस प्रकार हम देखते है कि देवकीनन्दन खत्री अपने पात्रो का प्रथम परिचय कराते समय प्रत्यक्ष प्रणाली (डाइरेक्ट मैथड) से काम न लेकर नाटकीय प्रणाली (इनडाइरेक्ट या ड्रामेटिक मैथड) को ही अपनाते है और अपनी ओर से उनके चारित्रिक गुणावगुणो का उल्लेख करके पाठकों को उनके प्रति पूर्वग्रहवान नहीं बनाते। जैसे कि हम आगे देखेंगे, प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही नहीं, परिपक्व उपन्यासो तक मे भी यह बात खटकती रहती है कि पात्रों के क्रिया-कलापो का वर्णन करने से पहले ही वह उनके गुणावगुणों के प्रति अपनी श्रद्धा या घृणा व्यक्त करके पाठको पर अपनी रुचि का आरोप करने लगते है। खत्री के उपन्यासो मे इस प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित नही होती। अपनी ओर से किसी पात्र का चारित्रिक परिचय वह तभी देते है जब अपने कई एक क्रिया-कलापों द्वारा वह पात्र पाठको पर खुल चुका होता है। ऐसी स्थिति मे पात्र के चरित्र पर उपन्यासकार की टिप्पणी खटकती नही, क्योंकि उपन्यासकार पात्र की जिन विशिष्टताओं का उल्लेख करता है, वे उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया में पहले ही व्यक्त हो चुकी होती है।

ऐय्यारा चपला को ही ले। 'चन्द्रकान्ता' के पृष्ठ ५ पर पहली बार उसका परिचय कराते हुए खत्री जी इतना ही लिखते हैं: 'चपला चालाकी के फन में बड़ी तेज है और चन्द्रकान्ता की प्यारी सखी है।'[१९] पर कई विकट परिस्थितियो में उसका साहस, वीरता और चतुरतापूर्ण प्रतिक्रियाएँ दिखा चुकने के बाद उपन्यास के पृष्ठ ६७ पर वह उसकी चारित्रिक विशिष्टताओं के सम्बन्ध में थोड़ा खुलकर लिखते है: "चपला कोई साधारण औरत न थी। खूबसूरती और नजाकत के सिवाय उसमें ताकत भी थी। दो-चार आदमियो से लड जाना या उनको गिरफ्तार कर लेना उसके लिए एक अदना काम था। शस्त्र-विद्या को पूरे तौर से जानती थी, ऐय्यारी के फन के अलावा और भी कई गुण उसमें थे—रंग उसका गोरा, बदन हर जगह से सुडौल, नाजुक हाथ-पाँव की तरफ खयाल करने से यही ज़ाहिर होता था कि इसे एक फूल से भी मारना खून करना है।"[२०] यहाँ चपला की इतनी प्रशंसा

---

१८. वही, पहला हिस्सा, पृ० ३।

१९. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ५।

२०. वही, पृ० ६७-६८।

पढकर पाठक चौंकता नही, क्योंकि उसके इन गुणों से वह पहले ही परिचित हो चुका होता है।

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

पात्रो की आकृति और वेशभूषा का वर्णन खत्री के उपन्यासों में बडी प्रचुरता से हुआ है। एक ही पात्र विभिन्न परिस्थितियो में विविध प्रकार की वेशभूषा और रंगरूप मे मिलता है। उनके ऐय्यार पात्रो के सम्बन्ध मे यह कभी नही कहा जा सकता कि वे कब, कहाँ और किस रूप में मिले। अपने कार्य की सिद्धि के लिए इन पात्रो को आए दिन अपना रूप बदलना पडता है। आकृति और वेश-भूषा ही नही, अपने असली चेहरे तक को भी बदलकर उस नकली नकली रूप का आरोप करना पड़ता है। इनके विविध रूपो का वर्णन इनके चरित्रोद्घाटन के लिए नही, बल्कि इनके असली रूप को छिपाने के लिए हुआ है। इसलिए, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस प्रकार के वर्णनो का कोई महत्त्व नही।

हाँ, जहाँ पात्र अपने वास्तविक रूप में प्रगट होते है, यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम हैं, वहाँ उनकी आकृति और वेशभूषा में उनके चरित्र का भी थोडा-बहुत अग प्रतिबिम्बित मिल जाता है। उदाहरणार्थ, घोड़े पर चढ़े हुए कुँवर वीरेन्द्रसिह की एक झाँकी देखिए

> "सिर पर फौलादी टोपी जिसमें एक हुमा के पर की लॉबी कलंगी लगी हुई थी, बदन में वेदाकीमती लिवास के ऊपर फौलादी जर्र पहने हुए थे, गोरा रग, बडी- बडी आँखें, गालो पर सुर्खी छा रही थी। बड़े-बडे पन्नो के दानो का कण्ठा और भुज-बल भी पन्ने का ही था, जिसकी चमक चेहरे पर पड़कर खूबसूरती को दूना कर रही थी—ताकत, जवाँमर्दी, दिलेरी और रोआब इनके चेहरे ही से झलकता था, दोस्तो के बीच मुहब्बत और दुश्मनो के दिल में खौफ पैदा होता था।"[२१]

वीरेन्द्रसिह की छवि का यह वर्णन काफी लम्बा हो गया है, पर ऐसा इसलिए हुआ है कि उपन्यासकार चन्द्रकान्ता की माँ के हृदय में उसके प्रति आकर्पण उत्पन्न कराकर उससे कहलवाना चाहता है कि 'अगर चन्द्रकान्ता के लायक वर है तो वीरेन्द्र सिह।'[२२]

घटनाओ द्वारा चरित्र-चित्रण

खत्रीजी के उपन्यास घटना-प्रधान उपन्यास हैं पर कोई उपन्यास घटना प्रधान होने से ही पात्रो के चरित्र-चित्रण से वचित रह जाएगा यह आवश्यक नही। उपन्यास की घटनाएँ उसके पात्रो के साथ ही तो घटित होगी, उन घटनाओ के प्रति व्यक्त होने वाली पात्रो की प्रतिक्रियाओं में उनका चरित्र भी अपने आप प्रतिविम्बित हो उठेगा।

२१. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ९२।
२२. वही, पहला हिस्सा, पृ० ९२।

खत्री के उपन्यासो मे घटनाओ का समावेश कथानक को गति देने के लिए ही नही, पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए भी हुआ है। वास्तव मे, इन उपन्यासो को पढने के बाद पात्रो के चरित्र का जो स्वरूप पाठको के कल्पना-चक्षुओ के सामने नाच उठता है, उसे व्यक्त करने का अधिकाश श्रेय उनमें वर्णित घटनाओ को ही है। उपन्यासकार अपने पात्रो को, विशेषकर ऐय्यार पात्रों को एक के बाद एक अधिकाधिक विकट परिस्थियों में डालता रहता है, उनके जीवन में अधिकाधिक भयकर घटनाएँ घटित करता जाता है, जो उनके मार्ग को कण्टकाकीर्ण करती रहती है। उनके आदर्श ऐय्यारो का विकट से विकट परिस्थिति में भी तनिक न घबराना और अत्यन्त धैर्य और वीरता के साथ उसका सामना करके अपना रास्ता आप बनाना, उसके चरित्र की दृढ़ता को व्यक्त करता है। इसके विपरीत उनके खल पात्रो का अपने अनुकूल परिस्थिति पाकर व्यर्थ में अकड़ने लगना और किसी भयंकर स्थिति में पड जाने पर हिम्मत हारकर भाग्य को या अपने साथियों को गालियाँ देने लगना और अपने शत्रुओ से नाक रगडकर तथा गिडगिडाकर क्षमा-याचना करना उनके चरित्र की हीनता को उद्घाटित करता है।

सजीव शब्द-चित्र—कोई आदर्श पात्र कितनी भयकर घटना मे अपना धैर्य और साहस बनाए रहता है और खल पात्र कितनी जल्दी प्रलोभन में आ जाता है और कितनी जल्दी भय से थर-थर काँपने लगता है, यह दिखाने के लिए उपन्यासकार को घटना का इतना सजीव वर्णन करना होता है कि पाठको को ऐसा प्रतीत होने लगे कि वे सारी घटना अपनी आँखो से देख रहे है, न कि उपन्यास में से पढ़ रहे है। इस कला मे देवकीनन्दन खत्री सिद्धहस्त है। उनके शब्द-चित्र इतने सजीव होते है, उनके स्थित्यकन मे इतनी मूर्तिमत्ता होती है कि पाठको को पता ही नही रहता कि वे उपन्यास पढ़ रहे है। उस समय तो उन्हे ऐसा प्रतीत होता है कि वे पात्र के साथ एक भयकर तहखाने में फँसे हुए हैं और अपनी आँखो से घटित उस रोमाचकारी घटना को देख रहे है और जिनके साथ वे घटनाएँ घटित होती है, उनकी प्रतिक्रिया के भी साक्षी है। खत्रीजी के उपन्यासो की सफलता में उनकी वर्णन-शक्ति का बडा योग है। आश्चर्य होता है कि हिन्दी-उपन्यास के शैशवकाल के इस उपन्यासकार की रचना-शक्ति पर। इसके पास न कोई ईट है, न पत्थर, न चूना है न गारा, न हथौडा है, न फावडा। केवल शब्दो के सहारे वह गगनचुम्बी रगमहल और पाताल तक धँसी गारे, हीरे-जवाहरातो से जगमगाते खज़ाने और मीलो लम्बी घुप-अँधेरी गुफाएँ रच डालता है।

पाठको को इस प्रकार घटना सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी दे चुकने के बाद उपन्यासकार जब उनकी प्रतिक्रियायों का वर्णन करता है, तो पाठकों पर उनका चरित्र अपने-आप व्यक्त हो उठता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण

पात्रो की परस्पर बातचीत में, यदि वह कृत्रिम न हो और सहज स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुई हो, पात्रों का चरित्र प्रतिबिम्बित हो उठता है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासो में पात्रो के सवादो की, उनके कथोपकथनों की, कमी नही पर वे सब कथोपकथन पात्रो के चरित्र को चित्रित नही करते, उनमें अधिकाश कथोपकथन तो ऐसे हैं, जिनका समावेश कथानक को गति देने के लिए है, और शेप में से बहुत ऐसे हैं जो पात्रो की सहज-स्वाभाविक बातचीत से बहुत दूर जा पडते है तथा जिनका समावेश पात्रों के चरित्र के प्रकाशन के लिए नही, अपितु उनके वास्तविक और स्वाभाविक रूप को छिपाने के लिए, दूसरो को धोखा देने के लिए, किया गया है। उदाहरणार्थ, ये कथोपकथन देखिये :

> "चपला ने चम्पा से पूछा, "सखी, मैने जो तुझ से कहा था सो तैंने किया ?" चम्पा बोली, "नही मै तो भूल गई।" तब चपला ने कहा, "भला वह बात तो याद है या वह भी भूल गई ?
>
> चम्पा बोली, "वह बात तो याद है।"
>
> तब फिर चपला ने कहा, भला दोहरा कै मुझ से कह तो सही, तब मैं जानूँ कि तुझे याद है।[२३]"

इसी प्रकार का एक और कथोपकथन देखिए

> "तेजसिंह को देख चपला बोली, "क्यों केतकी, जिस काम के लिए मैंने तुझ को भेजा था, क्या वह काम तू कर आई जो चुप-चाप आकर बैठ रही है।"
>
> **नकली केतकी**—"हाँ, काम करने तो गई ही थी, मगर रास्ते में एक तमाशा देख तुमसे कुछ कहने को लौट आई।"
>
> **चपला**—"ऐसा। अच्छा तैंने क्या देखा, कह ?"
>
> **नकली केतकी**—"सभी को हटा दो तो तुम्हारे और राजकुमारी के सामने यह बात कह सुनाऊँ।"[२४]

इस प्रकार के व्यर्थ के कथोपकथनो को निकाल देने पर भी खत्रीजी के उपन्यासो में अनेक ऐसे कथोपकथन रह जाते है जो पात्रो का चरित्र प्रकाश में लाने में सहायक सिद्ध होते हैं। 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास के आरम्भ में ही तेजसिंह और वीरेन्द्रसिंह की परस्पर बातचीत देखिए, इसमें दोनो के चरित्र की झाँकी मिल जाती है :

> "तेजसिंह—"जब मै अपने दुश्मनों की चालाकी और कार्रवाई देखकर लौटूँ तब आपके चलने के बारे में राय दूँ। कही ऐसा न हो कि बिना समझे-बूझे काम करके हम लोग वहाँ ही गिरफ्तार हो जाएँ।"

---

२३. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ७।
२४. वही, पहला हिस्सा, पृ० १२।

वीरेन्द्र—"जो मुनासिब समझो करो, मुझको तो सिर्फ अपनी ताकत का भरोसा है, लेकिन तुम को अपनी ताकत और ऐय्यारी दोनों का।"

तेजसिंह—"मुझे यह भी पता चला है कि हाल ही में क्रूरसिंह के दोनो ऐय्यार यहाँ आकर पुन हमारे महाराज का दर्शन कर गए है। न मालूम किस चालाकी से आए थे ? अफसोस उस वक्त मै यहाँ न था।

वीरेन्द्र—"मुश्किल तो यह है कि तुम क्रूरसिंह के दोनो ऐय्यारों को फसाया चाहते हो और वे लोग तुम्हारी गिरफ्तारी की फिक्र में है, परमेश्वर ही कुशल करे। खैर अब तुम जाओ और जिस तरह बने चन्द्रकान्ता से मेरी मुलाकात का बन्दोवस्त करो।[२५]"

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

जब पात्रो की परस्पर बातचीत के दौरान में किसी ऐसे पात्र की चर्चा छिड जाती है जो उस समय वहाँ उपस्थित नही होता, तो उसकी निन्दा मे कहे गए वाक्य चाहे विश्वसनीय न प्रतीत हों, पर उसकी प्रशसा मे कहे गए वाक्यों की सचाई में कोई सन्देह नही रहता। खत्रीजी के उपन्यासो मे ऐसे कथोपकथनों की कमी नही, जहा किसी पात्र की अनुपस्थिति में अन्य पात्र उसकी प्रशसा करते है। 'चन्द्रकान्ता' के महाराजा जयसिह भरे दरबार मे तेजसिह की चर्चा छिड जाने पर कहते हे 'तेज-सिंह की चाल-चलन, बातचीत, इल्म और चालाकी पर जब खयाल करता हूँ, तबीयत उमड आती है। बडा ही लायक लडका है, उसके चेहरे पर कभी उदासी तो देखी नही।[२६] इसी प्रकार 'चन्द्रकान्ता सतति' मे मायारानी से बातचीत के दौरान में राजा गोपालसिंह की प्रशसा करते हुए बाबा कहते है · 'बेशक ये हमारे मालिक राजा गोपालसिंह हैं, जिनकी नेकियो ने लोगों को अपना तावेदार बना लिया था, जिनकी बुद्धिमानी और मिलनसारी प्रसिद्ध थी।[२७]"

जब किसी पात्र की उपस्थिति में, उसके मुँह पर ही कोई अन्य पात्र उसकी निन्दा करने लगता है और उस पात्र से जवाब नही बन पाता, तब उस निन्दा को निपट झूठ नही कहा जा सकता। खत्री के खल पात्रों के मुह पर जब कोई पात्र उनके कुकृत्यो की निन्दा करने लग जाता है तब उनकी चरित्रहीनता में कोई सन्देह नही रहता। 'चन्द्रकान्ता संतति' की मायारानी के मुँह पर उसकी निन्दा करते हुए बाबा कहते है : "बाबा, ओह, ये तो राजा गोपालसिंह है, जिन्हे मरे कई वर्ष हो गए। नही, नही मरा हुआ आदमी लौटकर नही आता''''''ओह, इनके बारे में हमें धोखा दिया।'[२८]

---

२५. खत्री, 'चन्द्रकान्ता', पहला हिस्सा, पृ० ३।
२६. वही, पृ० ६६।
२७. 'चन्द्रकान्ता संतति', ६वां हिस्सा, पृ० ७६-७७।
२८. खत्री, 'चन्द्रकान्ता सतति', ६वा हिस्सा, लहरी बुकडिपो, काशी, १६वां सस्करण, १६५१, पृ० ७६-७७

गोपालराम गहमरी

परिचयात्मक विवेचन

देवकीनन्दन खत्री के पश्चात् हिन्दी-उपन्यासो को दृढ़ नीव प्रदान करने वाले उस युग के दूसरे महारथी थे जासूसी उपन्यासो के लेखक गोपालराम गहमरी। हिन्दी में जासूसी कहानियों और उपन्यासो का आरम्भ गहमरी जी ने किया और उनके अपने जीवन के साथ हिन्दी का जासूसी-साहित्य समाप्त भी हो गया। उन्होने कुल मिलाकर दो सौ के लगभग जासूसी कहानियाँ और उपन्यास लिखे।[२९] हिन्दी-जनता में उन उपन्यासो की खूब माँग रही। जासूसी उपन्यासो की रचना करते समय उन्होने अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासो के ढाँचे को तो जरूर अपनाया, पर कोरे रूप विधान को देखकर यह समझ लेना कि उनके उपन्यास पूर्णरूप से अंग्रेज़ी साहित्य की देन हैं और अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासो के भारतीय संस्करण है,[३०] गहमरीजी के प्रति अन्याय करना होगा। जो लोग अंग्रेजी के जासूसी उपन्यासकार कानन डॉयल की 'शरलॉक होम्स सीरीज़' से परिचित हैं, उन्हे गहमरीजी के उपन्यासो की मौलिकता को पहचानने में देर न लगेगी। इसके अतिरिक्त, 'जासूस' नाम की एक पत्रिका भी वह चालीस वर्ष तक बडी लगन से निकालते रहे। यह पत्रिका बड़ी लोकप्रिय रही। प्रेमचन्द के उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करने तक हिन्दी-उपन्यास के प्रति पाठकों का आकर्षण बनाए रखने वाले उपन्यासकारों में गहमरीजी का स्थान अक्षुण्ण रहेगा।

आलोचकों की उदासीनता—पर खेद है, देवकीनन्दन खत्री की तरह गहमरीजी भी आलोचकों की कृपा दृष्टि से वंचित रहे। हिन्दी में जासूसी-उपन्यासो का ढेर लगा देने वाले, अस्सी वर्ष की अवस्था तक हिन्दी की अनथक सेवा करने वाले, साहित्यकार का भी आलोचकगण उचित आदर नही कर सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनके अनुदित उपन्यासों का ही उल्लेख करके रह जाते है; उस युग के मौलिक

---

२९. कृष्णदेवप्रसाद गौड़, 'स्वर्गीय गोपालराम गहमरी', 'साप्ताहिक संसार', ७ जुलाई, १९४६।

३०. यज्ञदत्त शर्मा, 'हिन्दी के उपन्यासकार', भारती (भाषा) भवन, दिल्ली, १९५१, पृ० ६। शिवनारायण श्रीवास्तव, 'हिन्दी-उपन्यास', पृ० ७४।

उपन्यासकारों में इनकी गिनती तक नहीं करते।[31] अन्य आलोचक उनका उल्लेख करते हुए केवल इतना ही लिख पाते हे कि उनके उपन्यसो और 'जासूस' नामक पत्र से 'उपन्यास पठन-पाठन को प्रोत्साहन मिला',[32] 'जनता को उपन्यास पढने का और भी चस्का लग गया',[33] इससे अधिक मानों उनके उपन्यासों की कोई उपयोगिता ही न हो। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो इनके उपन्यासो को तनिक भी महत्व नहीं दिया गया। यह तो माना कि देवकीनन्दन खत्री की तरह, उपन्यास-रचना में गहमरीजी का मुख्य उद्देश्य लोकरजन का था, पर यह कहना कि 'चरित्र-चित्रण की ओर इनके उपन्यासो में भी ध्यान नहीं दिया गया',[34] वास्तविकता के प्रति आँखे मूँद लेना होगा।

आदर्श जासूसों का चित्रण—गहमरीजी के उपन्यासों के पाठक इस बात को भली प्रकार से जानते है कि उनके उपन्यासों में जासूसों की खूब प्रशसा हुई है। उनके जासूस अपराधियों को उनके कुकृत्यों के लिए उचित दण्ड दिलाने के उद्देश्य के निःस्वार्थभाव से उनकी खोज मे लगते है। उनकी समस्त-खोजों के पीछे जो भावना काम करती है, उसका उल्लेख उनके 'ठन-ठन गोपाल' नामक उपन्यास में बड़े स्पष्ट रूप में मिलता है . 'तुम लोग अपने ही घर को घर समझते हो, इस कारण अपने घर में पकडे चोर अपराधी को मार पीटने मे खुश होते हो। और हम लोग सब प्रजा को अपना घर समझते हैं और सर्वसाधारण के अपराधी पर हम लोगो को भी वैसा ही गुस्सा होता है।[35] ये जासूस लोग अपराधी को पकडना अपना परम कर्तव्य समझते है और अपने बुद्धिबल और इच्छाशक्ति के आधार पर ही बडे से बडा जोखम लेने के लिए तैयार रहते हैं। लोकहित भावना मे रत ऐसे ही जासूसों का आदर्श चरित्र गहमरीजी के उपन्यासो में चित्रित हुआ है। गहमरीजी की दृष्टि में 'उपन्यास लिखना और जासूसी में काम करना दोनो ही लोकोपकार के लिए है।'[36] ये जासूस ही उनके उपन्यासो के नायक हैं और उनके नाम पर गहमरीजी के बहुत से उपन्यासो के नाम पडे हैं। उनके उपन्यास 'ठन-ठन गोपाल' को ही ले। ठनठन गोपाल इस उपन्यास के नायक का नाम है। वह एक आदर्श जासूस है, जिसमें बुद्धि और साहस का अपूर्व मेल है। अपराधी को पकड़ने के लिए वह अपनी जान पर खेल जाता है और अनतः अपने प्रयत्नो में सफल भी हो जाता है। तिलस्म और ऐय्यारी वाले उपन्यासों की अपेक्षा जासूसी के उपन्यासो के नायको की क्रिया-प्रतिक्रिया में उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति की अधिक गुजाइश रहती है, क्योंकि जासूसी उपन्यासो

३१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ४९७-५०१।
३२. यज्ञदत्त, 'हिन्दी के उपन्यासकार', पृ० ९।
३३. श्रीवास्तव, 'हिन्दी-उपन्यास', पृ० ७५।
३४. यज्ञदत्त, 'हिन्दी के उपन्यासकार', पृ० ९।
३५. गोपालराम गहमरी, 'ठनठन गोपाल', किताब महल, इलाहाबाद, १९४६ ई०, पृ० ६७-६८।
३६ वही, पृ० ८६।

के नायकों के पास जादू की बाँसुरी या अलादीन का चिराग तो होता नहीं कि उसकी सहायता से वे जो चाहे कर लें। उन्हें तो मनुष्य की सीमित शक्ति से ही अपना काम करना होता है और विकट से विकट परिस्थिति में भी अपनी बुद्धि, बल और धैर्य का परिचय देना होता है। इस दृष्टि से गहमरीजी के पात्र देवकीनन्दन खत्रीजी के पात्रों की अपेक्षा हमारे जीवन के अधिक निकट ठहरते हैं और उनका चरित्रचित्रण भी खत्री जी के चरित्र-चित्रण से एक कदम आगे है।

पात्रों का चरित्रचित्रण

यद्यपि पात्रों का चरित्रचित्रण गहमरीजी के उपन्यासों में भी मुख्य रूप से न होकर आनुषंगिक रूप से ही हुआ है, तो भी देवकीनन्दन खत्री की अपेक्षा इनकी प्रवृत्ति इस ओर अधिक रही। अपने पात्रों के रूप में उन्होंने जिस वर्ग को चुना था, उसके प्रति न्याय करने के लिए भी इन्हें उनके अपेक्षाकृत स्वाभाविक चरित्रचित्रण की आवश्यकता थी। उन्हें अपने उपन्यासों के चोर-उचक्के, डाकुओं को तो चालाक और साहसिक बनाना ही था, पर जासूसों को उनसे भी अधिक चतुर और साहसी बनाने की आवश्यकता थी और साथ ही जरूरत थी उन्हें अपराधियों से पीडितों के प्रति संवेदनशील बनाने के लिए अधिक मानव बनाने की ताकि वे धन-इनाम आदि के प्रलोभन के अतिरिक्त सच्ची लोकहित-भावना से भी कर्तव्यरत रहते। अपने कर्तव्य को अच्छी तरह निभाने के लिए इन जासूसों को केवल अपनी शक्ति और सामर्थ्य को नहीं तौलना होता था, प्रत्युत् अपने प्रतिद्वन्द्वी अपराधी के बल-विक्रम, साधन-सम्पन्नता और चारित्रिक गुणावगुणों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करनी होती थी। इसलिए जासूसों की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा उनके चरित्र का ही उद्घाटन नहीं होता, उनके प्रतिद्वन्द्वी अपराधियों की कलई भी खुलती जाती है। यद्यपि पाठकों की उत्सुकता को अन्त तक बनाए रखने के लिए यह सब उद्घाटन होता बेहद धीरे-धीरे है, तो भी उपन्यास समाप्त कर चुकने के बाद पाठक के हृदय-पटल पर प्रत्येक मुख्य पात्र का चरित्र एक स्पष्ट छाप छोड़ जाता है।

आगे हम देखेंगे कि गहमरीजी के औपन्यासिक पात्रों का चरित्र किस प्रकार पाठकों पर धीरे-धीरे व्यक्त होता रहता है।

अध्यायों के शीर्षक

गहमरीजी के उपन्यासों के अधिकांश अध्यायों के शीर्षकों से ही पता चल जाता है कि उस अध्याय में कौनसा पात्र मुख्य रूप से भाग लेगा और उसके चरित्र की कौनसी विशिष्टता प्रकाश में आएगी। यदि कोई व्यक्ति उनका उपन्यास पूरा न पढ़कर अध्यायों के शीर्षकों को ही पढ़ ले तो भी उसे उपन्यास के प्रमुख पात्रों के नाम और उनके एक-दो मुख्य गुणावगुणों का परिचय मिल जाएगा। 'ठनठन (नायक का नाम) की बुद्धि', 'गबरघाँख रोटी वाला', 'माता की ममता', 'रेशमी का पता',

'रेशमी की गुप्त बाते', 'घर घूमन' (नाम), 'बेला मसाफिन', 'नदुरी की बहादुरी', 'दुरदिन' (नाम) और सती', 'रामलाल' आदि शीर्षक गहमरीजी के उपन्यासों के परिच्छेदों के हे, जिनके आधार पर पाठक पात्रो की चारित्रिक विशिष्टताओं तथा उनके जीवन में आने वाले व्यक्तियो और मोडो के सम्बन्ध मे अनुमान लगा सकता है।

पात्रों के नाम

गहमरीजी के अधिकाश औपन्यासिक पात्रो के नाम स्वाभाविक चाहे न प्रतीत हों, उन पात्रो की किसी, मुख्य अथवा गौण, विशिष्टता को अवश्य व्यजित कर देते है, जैसे : ठनठनगोपाल, घरघूमन, दुर्दिन, नदुरी, सती आदि। जासूस 'ठनठन गोपाल' अपनी जान की बाजी लगाता हे, लखपति और करोड़पतियो के अपराधियो को पकडने के लिए, पर स्वय बेचारा ठनठन गोपाल ही है। घरघूमन को गुप्तचर के नाते घर-घर घूमना पडता है। दुर्दिन अपनी चाल से बाप-दादे की कमाई खोकर अपना ही दुर्दिन नही लाता, अपितु अपने मित्र तेलुराम का भी दुर्दिन ले आता है। नदुरी दासी का कद छोटा है। सती अपनी जान बचाकर आश्रय देने वाले तेलुराम के प्रति भी समर्पित नही होती और उसके लाख चेष्टा करने पर भी अपना सतीत्व बचाए रखती है।

पात्रों का प्रथम परिचय

हिन्दी के अन्य प्रारम्भिक उपन्यासकारो की भान्ति गहमरीजी अपने पात्रो का हाथ पकडकर उन्हे पाठको के सामने नही लाते और न ही अपनी ओर से पाठको को उनका परिचय देने लगते है। उनके उपन्यासो मे पात्रो का प्रथम परिचय नाटकीय ढंग से मिलता है। उपन्यास आरम्भ होते ही पाठक को पात्र कार्यव्यस्त मिलते है और अपने क्रिया-कलापो से ही वे उन पर खुलते है।

उनके अनुपस्थित या गायब हुए-हुए पात्रो का प्रथम परिचय भी हमें उपन्यास-कार के शब्दो में नही मिलता। अन्य पात्रो के कथोपकथनो से ही हम उनके बारे में कुछ जान पाते हैं। जाँच-पड़ताल के दौरान मे जब जासूस या कोई और पुलिस-अफसर अन्य पात्रो से अनुपस्थित या भगोड़े पात्र के बारे मे पूछ-ताछ करता है तब पाठक भी कुछ-कुछ जान पाता है। पर बहुधा होता यह है कि जासूस केवल एक ही पात्र से पूछकर सतुष्ट नही होता। एक ही पात्र के चरित्र के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने के लिए वह तीन-चार व्यक्तियो से पूछ-ताछ करता है और उन व्यक्तियों के बयानो में कई बार इतना अन्तर होता है कि पाठक बेचारा उन पात्रो के बारे मे प्राप्त प्रथम परिचय से उनके सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित मत नहीं बना पाता। जासूसी उपन्यासकार का अपना प्रयत्न भी यही होता है कि जब तक पूरी सामग्री प्रकाश में न आ जाए तब तक पाठक उसके किसी पात्र के चरित्र के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से न कह सके। पूरी सामग्री प्रकाश में तब आती है जब उपन्यास समाप्ति

पर पहुँच जाता है। उपन्यास का नायक जासूस, जिससे पाठक सायुज्य स्थापित करता है, भी तो अपने किसी अपराधी के बारे में अंतिम और निश्चित रूप से नही कह पाता। निश्चित हो जाने पर तो उसकी खोज समाप्त हो जाती है। इस अनिश्चित सदेहावस्था को निश्चित जानकारी में बदलने के लिए ही उसकी सारी दौडधूप और खोज होती है।

'ठनठनगोपाल' की रेशमी के चरित्र के सम्बन्ध में जासूस जो प्रारम्भिक जाँच करता है, उसमें दीवान सुन्दरलाल बताता है कि वह 'चाल-चलन की बडी[३७] पाक है, पर नटुरी दासी का कहना है कि 'ओको एकाध दिन बाहर रात के देखे रही' [३८]। इसी प्रकार, हरदेवी के सम्बन्ध में इन्द्र दासी का यह कहना है कि 'हमारी हरदेवी तो ठीक जैसे गगाजल पवित्र होता है, टटका जैसा अनसूँघा फूल जो महादेव की पिंडी पर चढता है।'[३९] पर उसके कमरे का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद जासूस यह सोचने लगता है कि उसका लुप्त होना शायद उसकी अपनी इच्छा से प्रेम के चक्कर में हुआ हो, यद्यपि निश्चित रूप से वह यह बात नही मानता। इसलिए, हरदेवी के चरित्र के बारे में पात्र को भी निश्चित रूप से कोई जानकारी प्राप्त नही होती।

इस प्रकार जासूसी उपन्यासो मे यद्यपि पात्रों के प्रथम परिचय की सामग्री प्रचुर मात्रा में बिखरी रहती है, पाठक उपन्यास के नायक जासूस के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नही कह पाता। जासूस के सम्बन्ध में अवश्य उसकी धारणा बनने लगती है कि वह चतुर और समझदार व्यक्ति है। उपन्यासकार भी यही चाहता है कि जासूस के प्रति पाठक के मन में इस प्रकार के भाव उठें। तभी तो पाठक उसकी अगली कार्रवाई की उत्सुकता से प्रतीक्षा करेगा।

आकृति-वेशभूषा-चित्रण

जासूसी उपन्यासो के जिन पात्रों के चारित्रिक गुणावगुणों के जानने के लिए पाठक उत्सुक होता है, वे वही पात्र होते है, जो मुख्य घटना को घटित करके स्वयं लुप्त हो गये होते है। जब कभी ये पात्र प्रकट में आते भी हैं, तो अपना रूप बदल कर। ऐसी स्थिति में उनकी वेश-भूषा के आधार पर उनके चरित्र के सम्बन्ध में अनुमान लगाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शेष रहा जासूस और उसके साथी। उनके भी स्वाभाविक आकार-प्रकार तथा वेश-भूषा के चित्रण की ओर उपन्यासकार ध्यान नहीं देता, क्योंकि आए दिन इन लोगों को वेश बदलकर अपराधियों का पीछा करना पडता है। कभी ये लोग साधारण पथिक के रूप में मिलते हैं और कभी साधु के वेश में। उनके उस बदले हुए वेश में उनके स्वभाव को ढूँढने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

---

३७. गहमरी, 'ठनठनगोपाल', पृ० १३।
३८. वही, पृ० २६।
३९. वही, पृ० ३०।

इसलिए, जासूसी उपन्यासो में आकृति और वेश-भूषा के वर्णनो की प्रचुरता होते हुए भी चरित्रचित्रण की दृष्टि से उनका कोई विशेष मूल्य नही रहता ।

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

अन्य जासूसी उपन्यासो की भाँति गहमरीजी के उपन्यास भी घटनाओं से भरे पडे है । इसमें सन्देह नही कि उनके अधिकाश उपन्यासो में अधिक बल कथानक पर है, और उनकी घटनाएँ कथानक को गति देने के लिए है । फिर भी उपन्यासकार के जाने या अजाने उन घटनाओ के माध्यम से पात्रो के चरित्र का भी किसी अश में उद्घाटन हो जाता है । इन उपन्यासो के अतिरिक्त कुछ एक उपन्यास ऐसे भी मिल जाएँगे, जिनमें पात्रो के चरित्र-चित्रण की अवहेलना नहीं हुई, जिनमें घटनाएँ केवल कथानक को ही गति नही देती, पात्रों का चरित्रोद्घाटन भी करती है ।

उनके उपन्यास 'ठनठन गोपाल' को ही लें । हरदेवी के अचानक गायब हो जाने की मुख्य घटना उपन्यास के नायक जासूस को प्रकाश में लाती है और हरदेवी को खोज निकालना बन जाता है उसके इस औपन्यासिक जीवन का लक्ष्य । अपने लक्ष्य की पूर्ति में वह सिर-धड की बाजी लगा देता है । उसके मार्ग मे जितनी अधिक विकट बाधाएँ आती है और भयकर घटनाएँ घटित होती है, उनमे उतनी ही अधिक उसके चरित्रकी दृढ़ता और साहस का परिचय मिलता है । भूत वाली घटना से उसके साहस का पता चलता है । हरदेई की खोज मे अपराधी रामलाल का पीछा करता हुआ जासूस और उसका साथी रात काटने के लिए एक दूकान के बरामदे में सो गए । आधी रात के समय एक आहट ने उसे जगा दिया । उठा तो भीतर आँगन में 'एक आबनूस-सा काला आदमी निकल आया । कोई गज सवा गज लम्बा होगा लेकिन कपाल बडा भारी है । बाल बडे लम्बे है । नाक भी बडी ऊँची और लम्बी है आँखें भी बड़ी जैसे भैंस की होती है ।'[४०] इस भूत को देखकर वह घबडाया नहीं, बल्कि उसे चुप-चाप एकटक देखता रहा । घबराए हुए साथी को देखकर वह कहता है : "भूत है तो बडा मजा होगा । इसी से हरदेवी का पता लगा लेंगे ।" [४१] उसके इस साहस को देखकर उसका साथी ठीक ही कहता है, "लेकिन धन्य है आपका कलेजा । दूसरा होता तो बाप-दादा करके भाग गया होता ।"

इसी प्रकार जासूस के असीम धैर्य का पता उस रात वाली घटना से चलता है जब वह और उसका साथी जंगल मे भागते-भागते चारों ओर से शत्रुओ से घिर जाते है । तब उसके हाथ का पिस्तौल आग छोडने लगता है । थोडी ही देर में दो आदमी कराहकर गिर पड़ते हैं और उनके साथी उन्हे उठाकर भाग लेते हैं । गहमरीजी के उपन्यासो में इस प्रकार की अनेक घटनाएँ मिलेगी जिनमें व्यक्त होने

---

४०. गहमरी, 'ठनठनगोपाल', पृ० ५५ ।
४१ वही, पृ० ५५ ।

वाली पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ प्रकट हो जाती है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण—

गहमरीजी के उपन्यासो में कथोपकथनो की कमी नही, पर ऐसे कथोपकथनो की अपेक्षाकृत कमी अवश्य है जो उनमें भाग लेने वाले पात्रो को व्यक्त करते हों। उनके उपन्यासो मे अधिकांश कथोपकथन ऐसे है, जिनका समावेश कथानक को गति देने के लिए हुआ है। शेष कुछ ऐसे है, जिनमें व्यक्त पात्रो के चरित्र की विश्वसनीयता संदिग्ध रहती है, क्योकि उनके सम्बन्ध में यह निश्चित नही हो पाता कि उनमें कृत्रिमता कितनी है और स्वाभाविकता कितनी।

इस प्रकार के व्यर्थ भरती वाले कथोपकथनो को छोड दे तो भी गहमरी जी के उपन्यासो मे काफी कथोपकथन ऐसे मिल जायँगे जिनमें किसी एक पात्र के चरित्र का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित हो जाता है। उदाहरणार्थ, उनके उपन्यास 'ठनठन-गोपाल' का यह कथोपकथन देखें, जिसमें दासी रेशमी की ओजस्विता, चरित्र की दृढता और स्वामी-भक्ति प्रस्फुटित हो उठती है। शत्रु उसे उसकी मालकिन के घर से उडा लाया है और अब मालकिन के विरुद्ध गवाही देने के लिए उसे बाध्य कर रहा है। रेशमी के उत्तर में उसकी निर्भीकता देखिए :

> "रामलाल—तुमको अदालत मे कहना होगा कि यही असल हरदेवी है।"
> अकडकर रेशमी बोली—'नही, यह तो हमसे नही होगा।"
> अब तो रामलाल गर्म होकर कहने लगे—"अच्छा नहीं होगा तो न सही। लेकिन तेरे भैया को गिरफ्तार कर देंगे।"
> अब तो रेशमी फूलकर बोली—"आप को यही उचित भी है—आप उसको गिरफ्तार नही कर देंगे तो आपके पाप की नाव कैसे लदेगी ?"
> रामलाल—"देख, रेशमी नहीं मानेगी तो और विपत्ति में पडेगी।"
> रेशमी—"वह तो जानी हुई बात है।"
> रामलाल ने उठकर सीटी बजाई। इसी समय दो लठैत आ पहुँचे। उन्होने रेशमी का हाथ पकडा।
> रामलाल ने फिर कहा—"अब भी नही बिगडा है रेशमी। तुम गरीब की लडकी हो। मेरी बात को मानकर जिन्दगी भर को सुखी हो सकती हो।"
> रेशमी के ओठो पर ताने की हँसी दिखाई दी
> "भगवान् ने बडी दया करके मुझे गरीब की बेटी बनाया है रुपया रहने पर आपकी ही तरह न सब फद फरेब करना होता।"
> रामलाल के इशारे से उन लोगो ने रेशमी का मुँह बन्द करके बाँध दिया, जिससे कुछ बोल न सके[२४]।"

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी—

अनेक बार जब दो पात्रों की बातचीत में किसी अन्य पात्र की चर्चा छिड़ जाती है तो कई बार उस तीसरे अनुपस्थित पात्र के चरित्र के सम्बन्ध में निष्पक्ष सम्मति मिल जाया करती है। गहमरीजी के उपन्यासों मे ऐसे बहुत से कथोपकथन मिल जायँगे, जहाँ किसी एक पात्र का चरित्र अन्य पात्रो की टीका-टिप्पणी द्वारा प्रकाश में आया हो। उनके उपन्यास 'ठनठनगोपाल' में भी ऐसे अनेक स्थल है जहाँ पात्र जासूस नायक के बुद्धि-बल की, उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति मे प्रशसा करते है। प्रथम भेंट पर ही दीवान कुँवरि कहती है—"नाम तो सुना है बेटा। बडे-बूढे सबसे सुनती हूँ। तुम पाताल फोड़कर अपराधी को निकालते हो[४३]। अपनी पत्नी को आपबीती सुनाता हुआ नायक अपने साथी के बारे मे यो कहता है : "हम तो समझते थे कि हम ही उपकार करते है। लेकिन हमारे काम की मर्यादा उतनी नही जितनी धरधूमन के ऊँचे दिल और उदार विचार की थी जो हमारे लिए अपनी जान देने को तैयार था······जगत में ऐसे मित्र दुर्लभ ही नहीं, इस जमाने म अप्राप्य है।"[४४]

पात्रों के पत्र

गहमरीजी के उपन्यासो मे पत्रो के पात्र भी भारी सख्या मे मिल जाएँगे पर उन सब पत्रों के लेखक पात्रो के चरित्र का कोई अश प्रकाश मे आया हो, यह बात नही। उनमें कई पत्र तो जाली मिलेगे, जासूस को—और पाठको को भी—धोखा देकर चक्कर में डालने के लिए। अनेक पत्र ऐसे भी मिलेंगे, जो केवल कथानक को गति देने के लिए या कथा की टूटी कड़ियो को मिलाने के लिए होते है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ऐसे पत्रो का कोई मूल्य नही ठहरता।

फिर भी कभी-कभी कोई एक पत्र ऐसा जरूर मिल जाता है, जो कृत्रिम न हो और जिससे एक या अनेक पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पडे। उदाहरणार्थ, 'ठनठन-गोपाल' के तेलू राम का पत्र देखिए जो उसने विष खाकर आत्महत्या करने से पहले लिखा था। यहाँ उसके कुछ अश ही उद्धृत किए जाते है—

> "इस दुनिया में आकर मैने देख लिया कि कोई किसी का नहीं है। यह सती, सती नही पिशाचनी है। नही तो मुझे इतना कष्ट क्यो देती। तुम कह सकते हो कि यह सती है, इस पर मेरी पाप की नजर है, मै महापापी हूँ, लेकिन जब मै ब्याह करने पर राजी था, तब मै पापी कैसे हो सकता हूँ।"

तेलूराम के इस पत्र में मृत्यु से पहले की उसकी मनोस्थिति की ही झाँकी नहीं मिलती, सती के प्रति उसकी भावना का भी परिचय मिलता है।

---

४३. वही, पृ० २६।

४४. गहमरी, 'ठनठनगोपाल', पृ० १६८।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण

कहते हे कि किसी की निजी वस्तुग्रों को देखकर उसकी रुचि-ग्ररुचि के सम्बन्ध मे काफी कुछ जाना जा सकता है। जासूसों की सबसे बडी कठिनाई यह होती हे कि जिनके बारे मे उन्हे जानकारी प्राप्त करनी होती है, वे उनकी पहुँच से परे होते हैं ग्रौर उनकी वस्तुग्रो—विशेषकर उनके निजी कमरे के सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण के ग्राधार पर ही उन्हे ग्रनुमान लगाना पड़ता है। पात्र के कमरे में पडी वस्तुग्रों ग्रौर रखने के ढग ग्रादि के ग्राधार पर वह उनके चरित्र के बारे में ग्रनुमान लगाता है ग्रौर जहाँ डाका पडा हो, कत्ल या चोरी हुई हो, उस स्थान को ध्यान से देखकर ही वे लोग स्थिति का बहुत-कुछ ग्रनुमान ग्रक्ल की दौड से ही लगा लिया करते है। इस तरह की स्थितियाँ गहमरीजी के उपन्यासों में प्रचुरता से मिलती हैं। जासूस ठनठनगोपाल, हरदेवी ग्रौर उसकी माँ के कमरों को देखकर ही स्थिति का काफी-कुछ ग्रनुमान लगा लेता है।

चौथा अध्याय

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

प्रस्तावना

अपनी लोकरंजन शक्ति के कारण उपन्यास साहित्य के सभी अंगों पर छा गया। उसके पाठको की सख्या में आशातीत वृद्धि हो गई। पाठको की सख्या-वृद्धि के साथ-साथ उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ता गया। यह मांग उत्तरोत्तर जोर पकडती गई कि उपन्यास वैचित्र्यपूर्ण अस्वाभाविक घटनाओं का मोह त्यागकर मानव-जीवन और उसकी समस्याओं को उनके प्रकृत रूप में पाठको के सामने रखे। उपन्यास से यह आशा की जाने लगी कि वह कोरे लोकरंजन में न उलझा रहकर लोकरक्षण की ओर भी प्रवृत्त हो और केवल 'सुन्दर' ही नही 'शिव' भी बने, केवल 'प्रिय' ही नही 'हितकर' भी बने। समाज की दृष्टि में उपन्यास हितकर तभी हो सकता था यदि वह समाज-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सहायक बनता। इसके लिए आवश्यक था कि समाज-व्यवस्था में, उसके द्वारा स्वीकृत आचार-व्यवहार में तथा उसके विधि-निषेधों में उपन्यास की पूर्ण आस्था होती और वह उन का प्रचार करता। इस मांग की पूर्ति में जिन उपन्यासो की रचना हुई, उनमें कोरी कौतूहलोद्दीपक घटनाओं का स्थान जीवन और जगत् की नाना समस्याओं ने ले लिया। उपन्यास की अभिरुचि अब मानव-जीवन की यथार्थताओं के उद्‌घाटन में बढने लगी और धीरे-धीरे वह अपने परिवेश के प्रति मानव के दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास का चित्रण करने लगा।

उपन्यास में व्यक्ति और समाज

व्यक्ति का समाज को आत्म-समर्पण

परिस्थितियो के प्रति उस युग के मानव का दृष्टिकोण सहज स्वीकारिता का था। प्रबल धार्मिक संस्कारों ने उसे भाग्यवादी बना दिया था। उसका दृढ विश्वास था कि अच्छा या बुरा, सुख या दु.ख, जो कुछ भी उसे मिल रहा है, वह उसके अपने कर्मों का फल है। इसके अतिरिक्त उस समय समाज के बन्धन इतने कड़े थे कि वह कभी स्वप्न में भी उनसे

इसीलिए, उस युग के उपन्यासों में जिन नायक-नायिकाओं की सृष्टि हुई, उनका सस्थावाद में पूर्ण विश्वास था। वे समाज को पूर्ण आत्मसमर्पण कर देते है, मानो उनका अपना कोई व्यक्तित्व हो ही नही। धर्मग्रन्थों और नीतिशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट आदर्श जीवन व्यतीत करना मानो उनका एकमात्र लक्ष्य हो। उन उपन्यासों में दो प्रकार के पात्र मिलते हैं, एक सत् पात्र और दूसरे असत् पात्र। सत् पात्र वे जो नाना प्रकार के कष्ट उठाकर भी समाज के विधि-निषेधों का पालन करते हैं। असत् पात्र वे जो स्वार्थ के लिए समाज की रीति-नीति का उल्लघन करते है। इन दोनो में खूब संघर्ष होता है और अन्त में असत् पात्रों को उनके कुकर्मों का दड मिलता है, कभी समाज की ओर से और कभी किसी दैवी शक्ति से; और अच्छे पात्रों को उस फल की प्राप्ति होती है, जिसके लिए वे जीवन भर कष्ट सहते रहते है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उपन्यासकार की अपनी सहानुभूति सदा सत् पात्रों के प्रति ही रही है। श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु', बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान और एक सुजान' और प्रेमचन्द के आरम्भिक उपन्यास इसी कोटि के है।

व्यक्ति का समाज से संघर्ष

सुधारों की माँग—विज्ञान के प्रसार ने जब प्रत्येक वस्तु के साथ 'क्यों' लगाकर मनुष्य को उसके निदान की ओर प्रवृत्त किया तो वह समाज की प्रत्येक प्रथा तथा उसके प्रत्येक विधि-निषेध के वैज्ञानिक कारणों को जानने के लिए अधीर हो उठा। उसने एक-एक करके सब रीति-रिवाजों को बुद्धि की कसौटी पर कसा, यद्यपि उसकी उस कसौटी में पूर्वग्रह की मात्रा ही अधिक थी। उसने महसूस किया कि यद्यपि समाज की अधिकाश प्रथाएँ मानव और समाज के हित के लिए बनाई गई थी, तो भी परिस्थितियों के बदल जाने से कई प्रथाओं में सुधार की आवश्यकता है। इसलिए, उस युग के उपन्यासों में जहाँ एक ओर समाज-सम्मत आचरण करने वालों के आदर्श जीवन का चित्रण मिलता है, वहाँ दूसरी ओर विकृत संस्कारों और कुप्रथाओं के कारण होने वाले अनर्थो का वर्णन करके सुधारों की माँग भी बड़े जोर से व्यक्त की गई है। तत्कालीन उपन्यासो के नायक-नायिकाएँ भी सच्चरित्र, त्यागवान तथा कष्ट-सहिष्णु थे। कई उपन्यासों में ऐसे नायक-नायिकाओं के जीवनव्यापी कष्टो का चित्रण भी हुआ जो समाज के विकृत सस्कार और कुप्रथाओं का शिकार हुए थे। प्रेमचन्द के प्रतिज्ञा, सेवासदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन में सुधारों की माँग बड़े जोर से व्यक्त की गई है।

पाखण्ड का भण्डा-फोड़—समाज ने व्यक्ति के आगे जो आदर्श जीवन रखा था उसके पालन में जितने धैर्य, संयम और त्याग की आवश्यकता थी, उसका ह्रास हो चुका था। फलतः वह उस आदर्श जीवन का पालन करने में असमर्थ था, पर

वह अपनी असमर्थता को स्वीकार करके हार कैसे मान लेता। इसलिए, अब वह दिखावे का जीवन व्यतीत करने लगा। उसके यथार्थ रूप और सामाजिक रूप में उत्तरोत्तर अन्तर पड़ता गया। उस युग के उपन्यासों मे पाखण्डी पात्रों की सृष्टि होने लगी जो धर्म या समाज के नाम पर निरीह लोगो पर अत्याचार करते थे। उपन्यास-भर में लेखक उनके पाखण्ड को उघाड़ता रहता है और अन्त में उन्हे उनकी काली करतूतों के लिए दण्ड दिलाता है। जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' और प्रेमचन्द का 'गोदान' समाज के पाखण्डपूर्ण जीवन पर करारी चोट करते है।

समाज के बहिष्कृत वर्ग के प्रति सहानुभूति—कुछ उपन्यास ऐसे भी लिखे गए जिनमें समाज के बहिष्कृत वर्गों—चोर, डाकू, वेश्या इत्यादि—के पतन की कहानी मिलती है और उनके पतन का एकमात्र कारण समाज को ठहराया गया है। स्थल-स्थल पर ऐसे पात्रों के प्रति पाठक की सहानुभूति को उभाड़ने का प्रयत्न किया गया और समाज पर जी खोलकर कीचड़ उछाला गया। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' और चतुरसेन शास्त्री के आरम्भिक उपन्यास इसी प्रकार के है। इन उपन्यासों में उपन्यासकार का ध्यान चरित्रचित्रण की ओर इतना नही रहा है, जितना वातावरण-सृष्टि की ओर।

अतीत की सुखद स्मृति—इस युग मे एक और प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई। वह थी समाज की विषमताओं से, युग की उलझी हुई समस्याओं से, पलायन की। लोगों को वर्तमान के झंझटो से दूर सुन्दर अतीत में ले जाने के लिए ऐतिहासिक रोमांस लिखे गये। इन उपन्यासों से कोई नवीन ऐतिहासिक खोज प्रकाश मे आई हो, यह बात नही। इनका लक्ष्य तो प्राचीन युग के प्रति औत्सुक्य का भाव उत्पन्न करके उन्हे उसमें उलझाए रखना था। वैसे कही-कही आनुषंगिक रूप में इन रोमांसों में उपन्यासकार के अपने युग की समस्याओं का चित्रण भी मिल जाता है। वृन्दावनलाल वर्मा के गढ़ कुंडार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी, सोना, मृगनयनी आदि ऐतिहासिक उपन्यास इसी प्रकार के है। इनमें उपन्यासकार ऐतिहासिक पात्रों के देश-काल और परिस्थिति-चित्रण के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व-चित्रण की ओर भी विशेष रूप से प्रवृत्त रहा है।

पुरातन मूल्यों में अनास्था—समाज-व्यवस्था से मनुष्य असंतुष्ट तो पहले ही था, पर विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ समाज की विषमताओं के प्रति, उसकी भेद-भाव तथा ऊँच-नीच की नीति के प्रति, मानव की जागरूकता बढ़ने लगी। कई बार उसके मन में आया भी कि वह उस समाज के प्रति विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दे, पर शताब्दियो से पड़े संस्कार उसकी हिम्मत न बँधने देते थे। डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की खोजों ने उसे चौंका दिया। समाज के प्रति उसकी धारणाओं में रूपान्तर घटित होने लगा, जिसका समाज के साथ उसके सम्बन्धों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। यह जानकर उसे बड़ा धक्का लगा कि समाज द्वारा किए गए अच्छे और बुरे एवं पाप और पुण्य के वर्गीकरण में सचाई की अपेक्षा स्वार्थ

और पूर्वग्रह की मात्रा अधिक है। उसने देखा, जो एक के लिए अच्छा है वह दूसरे के लिए बुरा सिद्ध हो रहा है; जिसे एक पाप कहता है, दूसरा उसे पुण्य की संज्ञा देता है। इसलिए उसे अच्छे-बुरे तथा पाप-पुण्य के भेद को फिर से परखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलस्वरूप पुरातन मूल्यों के प्रति अस्वीकारिता का भाव ज़ोर पकड़ने लगा और साथ ही नए प्रतिमानों की खोज के लिए व्याकुलता बढ़ी। हिन्दी-उपन्यासों में भगवतीचरण वर्मा का उपन्यास 'चित्रलेखा' इस प्रकार के उपन्यासों का अग्रदूत बना।

आर्थिक शोषण के प्रति विद्रोह—ज्यों-ज्यों समाज में विघटन के सूत्र फैलने लगे, त्यों-त्यों उसने अपने आदर्श जीवन की स्वार्गिकता के यशोगान पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रतिक्रिया भी उतने ही वेग से प्रारम्भ हुई। उपन्यास-साहित्य में सर्वत्र बूर्जवा समाज के शोषित वर्गों का रोमांचकारी चित्रण होने लगा और साथ ही शोषक वर्ग के हथकण्डों का भण्डाफोड भी बड़ी निर्ममता से हुआ। इस प्रकार के उपन्यासों में यशपाल के पार्टी कामरेड, देशद्रोही, मनुष्य के रूप आदि उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास में बहिरंग (आब्जेक्टिव) चरित्रचित्रण

इस प्रकार, एक लम्बे युग तक उपन्यास का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा और वह अपने परिपार्श्व के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास को चित्रित करता रहा। समाज-व्यवस्था में मनुष्य की आस्था किसी दैवी शक्ति के भय से रही हो अथवा वह शुद्ध समाज-कल्याण की भावना से प्रेरित हुई हो; समाज के रीति-रिवाजों तथा विधि-निषेधों को उसने यथावत् स्वीकार कर लिया हो या समयानुसार उनके परिवर्तन की माँग उठाई हो; समाज से उसका संघर्ष किसी सिद्धान्त पर हुआ हो अथवा स्वार्थ-साधन की दृष्टि से, अपने को समाज से निरपेक्ष समझने की प्रवृत्ति उस युग के मानव में दृष्टिगोचर नहीं होती। दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था को बदलने की, रूढ़ विचारधाराओं, अन्धविश्वासपूर्ण रीति-रिवाजों, व्यर्थ के विधि-निषेधों और पुरातन मूल्यों में समयानुसार परिवर्तन ले आने की उस युग के मानव ने आवश्यकता तो महसूस की और उसके लिए वह स्वयं हानि उठाकर सामाजिक शक्तियों से टक्कर भी लेता रहा, पर वह अपने को समाज का एक अभिन्न अंग समझता रहा था और यह कभी सोच भी न पाया था कि समाज से अलग उसका कोई निजी अस्तित्व है। वास्तव में, अपने समाज अथवा वर्ग से अलग उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास ही न हो पाया था और वह अपने समाज या वर्ग के चरित्र को अपना ही चरित्र समझता था।

व्यक्ति-चरित्र का अभाव

वस्तुजगत् के उन व्यक्तियों को लेकर हिन्दी-उपन्यासों में जिन पात्रों की

सृष्टि हुई, वे उनके अनुरूप ही अपने समाज या वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में आए। उनके समाज या वर्ग के गुणावगुण ही उनके चारित्रिक गुणावगुण बने। उस युग के उपन्यासो में उन पात्रों का वही रूप चित्रित हुआ जो उनके समाज के सामने व्यक्त था, उनके चरित्र का वही अश व्यक्त हुआ जो उस समय के समाज को सहजोपलब्ध था। मनुष्य के सामाजिक रूप के अतिरिक्त उसके किसी अन्य व्यक्तिगत रूप को सामाजिक मान्यता न देने की तत्कालीन प्रवृत्ति के अनुरूप उस युग के उपन्यासो में पात्रो का सामाजिक रूप ही अभिव्यक्ति पा सका और उसी रूप के यथार्थ चित्रण की ओर तत्कालीन उपन्यासकारो की समस्त शक्ति लगती रही। मनुष्य के व्यक्ति रूप को ही सब कुछ समझ लेने की प्रवृत्ति उस युग के उपन्यासों में बुरी तरह से घर कर गई थी।

हम पहले ही कह आए है कि मानव-चरित्र एक हिमनग (आईस बर्ग) के समान है। हिमनग का केवल नवमाश पानी के ऊपर दिखाई देता है और शेष ८/९ भाग जलमग्न रहता है। इसी प्रकार मनुष्य की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओ से, विविध यत्नज या अयत्नज चेष्टाओ में, उसके चरित्र का अल्पाश ही अभिव्यक्ति पा सका करता है और शेष कई गुना बडा अश उसके अन्त करण में अव्यक्त रहकर उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित किया करता है। युग की प्रवृत्ति के अनुरूप उस समय के उपन्यासकारो की रुचि हिमनग रूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले व्यक्त अश में ही रही। बहुत से उपन्यासकारो ने तो मनुष्य के उस व्यक्त चरित्र को ही समूचा चरित्र समझकर उसके अव्यक्ताश के प्रति उदासीनता का भाव अपना लिया था और वे अपने औपन्यासिक पात्रो की आकृति, वेश-भूषा, उनके आस-पास की परिस्थिति, उस परिस्थिति मे व्यक्त होने वाले उनके अनुभाव तथा क्रिया-प्रतिक्रिया आदि के चित्रण में ही उन पात्रो के चरित्र-चित्रण की इतिश्री समझ लेते थे।

कुछ एक उपन्यासकारो ने हिमनग-रूपी मानव-चरित्र के जलमग्न अव्यक्त अंश के अस्तित्व को स्वीकार तो किया था पर उसके स्वरूप की कल्पना मनमाने रूप में कर ली थी। इसलिए, अपने पात्रो की परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओ में सगति बैठाने के लिए जब भी वे अव्यक्ताश की ओर प्रवृत्त हुए और उसका जो रूप उन्होने चित्रित किया वह बहुधा मनोवैज्ञानिक सत्याशो से दूर जा पडा। वे भी अपने पात्रो के उसी रूप को चित्रित कर सके थे, जिस रूप में दूसरे उन्हे मानते है। पात्रो के बाह्याभ्यान्तरिक यथार्थ रूप को चित्रित कर सकना तो दूर रहा, उस युग के उपन्यास यह भी न बता सके कि पात्रों की अपनी दृष्टि में उनका कौन सा रूप यथार्थ था। उस युग का उपन्यासकार अपने पात्रो को 'वे' के रूप में चित्रित करता रहा था। उनके 'मै' रूप से वह लगभग अनभिज्ञ ही रहा।)

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

इसलिए उस युग के उपन्यासों में उनके पात्रो का समूचा चरित्र न चित्रित हो सका और वे उसके सहजोपलब्ध व्यक्त अश को लेकर ही सन्तुष्ट हो गए। वास्तव में, अपने पात्रों का सच्चे अर्थों में चरित्रचित्रण करना उस युग के उपन्यासकारों का लक्ष्य भी नही था। चरित्रचित्रण उनके उपन्यासों का साध्य नही था। कोरे चरित्रचित्रण की दृष्टि से ये उपन्यास लिखे भी नही गए थे। चरित्रचित्रण तो उनके उपन्यासो में साधन ही रहा—तत्कालीन समाज और उसकी परिस्थितियों, दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विभिन्न विषमताओ और अन्य विविध समस्याओ को उनके यथार्थ रूप में चित्रित करके अपने अनुभव के आधार पर समाधान उपस्थित करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए। क्योंकि समाज का चित्रण उसके मानव सदस्यों और उनके जीवन को लिए बिना हो नही सकता, इसलिए, उन उपन्यासकारों को प्रसगवश मानव-चरित्र का उद्घाटन करना पडा। वास्तव में उनका लक्ष्यतो अपनी परिस्थितियों के प्रति, समाज के प्रति, जीवन और जगत् के प्रति मानव के दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास का चित्रण करना था। इसलिए, उस युग के उपन्यासकारो से यह आशा रखना कि वे 'चरित्रचित्रण' के सच्चे अर्थों में अपने पात्रो का चरित्र चित्रण करते उनके प्रति अन्याय करना होगा।

अब हम सोद्देश्य चरित्रचित्रण करने वाले प्रतिनिधि उपन्यासकारो—प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद', भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल—के उपन्यासो में हुए चरित्रचित्रण के स्वरूप का निरूपण करेंगे।

प्रेमचन्द

परिचयात्मक विवेचन

प्रेमचन्द साहित्य को 'जीवन की आलोचना'[1] मानते थे। साहित्य से उनकी माँग थी कि वह 'जीवन की आलोचना और व्याख्या करे'[2]। उपन्यास के प्रति भी उनका यही दृष्टिकोण रहा। उपन्यास की सफलता वह उसकी मनोरंजकता भर में नही समझते थे, प्रत्युत् उसमे आशा करते थे कि वह 'मानव-चरित्र पर प्रकाश डाले और उसके रहस्यो को खोलता हुआ मानव-जीवन को मगलमय बनाने में योग दे'[3] उसे समाप्त करने के बाद पाठक अपने अन्दर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठें।[4] प्रेमचन्द मानव-जीवन को मानव-समाज से पृथक् करके नही देखते थे, अपितु मानव-समाज की सतत गतिशील चचल धारा में से ही मानव-जीवन को पकड़ने का प्रयत्न करते थे। इसलिए, उन्होंने अपने उपन्यासों का उपयोग सामाजिक उद्देश्य और सामाजिक आलोचना के लिए किया था[5]।

समाज से मानव का सामजस्य स्थापित करने के लिए प्रेमचन्द ने एक कुशल जर्राह के समान पहले मानव और उसके युग की प्रवृत्तियो की चीर-फाड करके स्वस्थ और अस्वस्थ प्रवृत्तियो को अलग-अलग किया[6] और फिर अपनी समस्त शक्ति अस्वस्थ प्रवृत्तियो के, जो उस युग और समाज के लिए समस्या बनी हुई थी,

---

१-२. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ६।
 ३. वही पृष्ठ ३८।
 ४. वही पृष्ठ ५६।
 ५. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृष्ठ २२।
 ६. 'हंस', दिसम्बर १९३३ में प्रेमचन्द की एक टिप्पणी :—
 "मानव हृदय आदि से ही 'सु' और 'कु' का रंग-स्थल रहा है और साहित्य की सृष्टि ही इसलिए हुई कि संसार में जो 'सु' या 'सुन्दर' है, और इसलिए कल्याणकर है, इसके प्रति मनुष्य में प्रेम उत्पन्न हो और 'कु' या 'असुन्दर', इसलिए असत्य, वस्तुओं से घृणा। साहित्य और कला का यही मुख्य उद्देश्य है।"

वास्तविक स्वरूप को समझने और अपने उपन्यासों के माध्यम से दूसरो को समझाने में लगा दी[७]। इसी दृष्टि से उन्होने अपने उपन्यासो के कथानक रचे और उनके लिए पात्र चुने[८]। अपने उपन्यासों में उन्होने अनेक प्रकार की समस्याओ को उठाया, जिनके चित्रण के लिए उन्हे आवश्यकता पड़ी—१. स्वार्थ-साधन में दूसरो के लिए समस्याएँ खडी करके उन्हे उत्तरोत्तर गम्भीर बनाते रहने वाले शोषक पात्रो की, २. उन समस्याओ की चक्की में निरन्तर पिसते रहने वाले शोषित पात्रों की, और ३. पिसने वालो के प्रति सहानुभूति रखने वाले अथवा उनकी उलझनो को सुलझाने का प्रयत्न करते रहने वाले सुधारक पात्रों की।

शोषित नारी का चित्रण

प्रेमचन्द सूक्ष्मदर्शी थे। वह गृहस्थ और समाज की समस्याओं को पहचानते थे। सामाजिक समस्याओं का उनका निदान सदा ठीक रहा, चिकित्सा में चाहे वह सफल न हुए हो। उन्होंने देखा कि नारी जो समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई अर्थात् परिवार की नीव है, जिस पर गृहस्थ और समाज के समस्त सदाचार टिके हुए है, उसे कहीं भी उसका उचित स्थान नही दिया जा रहा। उस पर दुनिया भर के कर्तव्यों का बोझ लाद दिया जाता है, पर अधिकार उसे एक भी नही मिलता। वह सबका पोषण करती है—अपना सर्वस्व न्यौछावर करके भी—पर उससे पोषित होकर भी सब उसका शोषण करने पर तुले रहते हैं। व्यक्तिगत रूप में स्वयं शोषित रहने के कारण प्रेमचन्द को शोषित की सच्ची पहचान[९] हो

---

७. प्रेमचन्द का २६ दिसम्बर, १९३४ का एक पत्र, डा० इन्द्रनाथ मदान के नाम, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' में प्रकाशित :

"(८) हमारा उद्देश्य जनमत तैयार करना है, इसलिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूँ। (५) मैंने अपने विचारों के व्यक्तिकरण का साधन बनाने के लिए उपन्यास को ही तरजीह दी है।"

८. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृ० ५५ :—

"प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेषरूप से सामाजिक समस्या से रहता है। उनका उद्देश्य एक सामाजिक समस्या के आस-पास पात्रों का जमघट खड़ा करना है।"

९. प्रेमचन्द का ७ सितम्बर, १९३५ का एक पत्र, डा० इन्द्रनाथ मदान के नाम, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' में प्रकाशित'।

"(६) जीवन मेरे लिए अनवरत कार्य रहा है। मैं काम करने में आनन्द पाता हूँ। कभी कभी निराशा के ऐसे क्षण आते है जबकि आर्थिक कष्ट का अनुभव होता है ..... आर्थिक दृष्टि से मैं असफल रहा, व्यापार करना नहीं जानता।"

गई थी। शोषितो के प्रति उनका हृदय पसीज उठता था[१०]। इसीलिए अपने उपन्यासो में वह बार-बार चिर-शोषित नारी के विविध रूपो का चित्रण करके उनके साथ हो रहे अन्याय के प्रति पाठकों को जागरूक बनाने और उन्हें यह चेतावनी देने का अवसर ढूँढ लेते है कि परिवार और समाज में नारी को उसका उचित स्थान देने में ही मानव जीवन का मगल निहित है[११]।

इसलिये प्रेमचन्द के उपन्यासो में स्त्री-पात्रो के लगभग सभी रूप शोषित वर्ग के है। और तो और, कन्या-रूप में भी यह शोषित होने से नही बच पाई। माता-पिता स्वार्थवश या समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विवशताओ मे उसके अनमेल विवाह द्वारा उसका मार्ग कंटकाकीर्ण बना देते है। मनोरमा के विवाह के लिये उसका पिता प्रलोभनवश, उसकी इच्छा की चिन्ता किये बिना, राजा विशालसिंह से वचनबद्ध हो गया। इसी धनलोलुपता के कारण विरजन का विवाह कमलाचरण से हुआ था और सुमन, निर्मला, सोना, रूपा का अनमेल विवाह उनके माता-पिता में दहेज देने की सामर्थ्य न होने के कारण हुआ। शोषित पत्नी के रूप में विरजन, प्रेमा, सुमित्रा, सुमन, सुधा, इन्दु, सुभागी, जालपा, मनोरमा, सुखदा, अहल्या, धनिया आदि का चित्रण हुआ। प्रेमिका के रूप में भी नारी कम नही पिसी। विरजन, माधवी, प्रेमा, गायत्री, सोफिया, मनोरमा, जौहरा, मिस मालती आदि की मूक या व्यक्त विरह-वेदना से यह स्पष्ट हो जाता है। विधवा को तो समाज मनुष्य समझता ही नही, मनुष्य के असख्य सहज अधिकारो तक से उसे बलपूर्वक वचित कर दिया जाता है। उसके सतीत्व पर कामी लोग गीधो के समान टूट पडते है। विरजन, पूर्णा, गायत्री, विलासी रुक्मिणी सुधा, रतन सब किसी न किसी रूप मे घोर यातनाएँ सहती है। वेश्या के रूप में भोली, सुमन और जौहरा पीडित है, तो रखैल के रूप में लौंगी, झुनिया, सिलिया पिसी जा रही है। विमाता के रूप मे निर्मला असख्य मानसिक कष्ट सहती हुई घुल-घुलकर मर जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विमाता का प्राय शोषक रूप ही देखने को मिलता है, पर प्रेमचन्द को विमाता का भी शोषित रूप ही चित्रित करना अभीष्ट था।

तत्पश्चात् सामाजिक व्यवस्था द्वारा उत्पन्न नारी की असहाय-निरुपाय अवस्था का अनुचित लाभ उठाकर स्वार्थ साधने वाले शोषक पात्रो का समावेश हुआ। कोई पति बनकर उसका शोषण करता है, कोई प्रेमी बनकर। पति बनकर उसे

---

१०. सन् १९३६ में प्रथम अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अध्यक्ष-पद से प्रेमचन्द द्वारा दिया गया भाषण :

"जो दलित है, पीडित हैं, वंचित है—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका (साहित्यकार का) फर्ज है। उसकी अदालत समाज है, इसी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है।"

११ डा० रामविलास शर्मा, 'प्रेमचन्द और उनका युग', पृ० ३० तथा ३१।

पीसने वालो में कमलाचरण, कमलाप्रसाद, दाननाथ, गजाधर, ज्ञानशंकर, मुंशी तोताराम, राजा महेन्द्रप्रताप, भैरों, राजा विशालसिंह, मि० खन्ना इत्यादि प्रमुख हैं। प्रेमी बनकर चूसने वालों में प्रताप, अमृतराय, सदन, विनय, चक्रधर, रमानाथ, अमरकान्त, सलीम आदि के नाम उल्लेखनीय है। ज्ञानशंकर जैसे कामुक व्यक्ति अपनी बडी साली गायत्री की रूपसुधा का पान करने के लिये सब नाच नाचने और नचाने के लिये तैयार रहते हैं, उन्हे इस बात पर भी दया नही आती कि वह बेचारी विधवा है। स्वार्थवश अथवा किसी विवशता में उसका अनमेल विवाह करने वाले माता-पिता की भी कमी नही, जैसे विरजन की माँ, कृष्णचन्द्र, निर्मला की माँ, हरिसेवक सिंह, होरी इत्यादि। उसे रखैल बनाकर अपनी तुष्टि करने वाले पंडित दातादीन, हरिसेवक आदि भी प्रेमचन्द की दृष्टि से नही बच पाये। नारी का किसी भी रूप में शोषण करने वाले सभी व्यक्तियों का उनके उपन्यासो में समावेश हुआ। समाज में सौतेले पुत्र प्राय. शोषित के रूप में पाये जाते है, पर यहाँ वे भी शोषक के रूप में ही लिये गये है। इतना ही नही, अपने स्वार्थ के लिये नारी का शोषण करने वाली नारियाँ भी प्रेमचन्द की दृष्टि से नही बच पाईं। सुमन की मामी और सदन की माँ रुक्मिणी तथा रानी जाह्नवी का व्यवहार क्रमश: सुमन, शान्ता, निर्मला तथा सोफिया के प्रति कम कठोर नही रहा।

शोषित नारी के प्रति सहानुभूति रखने वाले अथवा उसकी उलझनें सुलझाने का प्रयत्न करने वालों के रूप में अमृतराय, विट्ठलदास, स्वामी गजानन्द, पद्मसिंह आदि आते है। प्रेमचन्द के पात्रों का यह वर्ग कोई ठोस काम नही कर पाता। या तो इस वर्ग के पात्रो की शोषित नारियों के प्रति सहानुभूति वाणी तक ही सीमित रहती है और यदि वे सक्रिय रूप में प्रयत्नशील होते भी है तो उनके प्रयास व्यक्तिगत ही रह जाते हैं।

शोषित किसान का चित्रण

घर-गृहस्थ तथा समाज की प्रमुख समस्याओ को ले चुकने के बाद प्रेमचन्द देशव्यापी समस्याओ की ओर झुके। उन्होंने देखा कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की सुख-समृद्धि की नीव उसके गाँव हैं, भारत की नारी की भाँति भारत के गाँव भी उसकी संस्कृति को उसके अविकृत रूप में सुरक्षित रखे हुए है, उनके गाढे पसीने की कमाई पर समस्त देश पलता है, पर उनकी दशा दिनों-दिन बिगड़ रही है। गाँवों की दयनीय व शोचनीय अवस्था के प्रति प्रेमचन्द का हृदय द्रवित हो उठा—विशेषतया कृपक वर्ग की दशा के प्रति जो बाहर और भीतर दोनो तरफ से पिस रहा था। इस शोषित वर्ग की मूक वेदना का चित्रण करके उसके प्रति देशव्यापी सहानुभूति जगाने के लिये प्रेमचन्द ने उपन्यास को अपना माध्यम बनाया। इस सम्बन्ध में उनके सफल उपन्यास प्रेमाश्रम, रंगभूमि तथा गोदान उल्लेखनीय हैं। मनोहर, बलराज, बिलासी,

सूरदास, भैरो, बजरंगी, होरी, धनिया, गोबर आदि की अवतारणा इसी चिर-शोषित तथा चिरोपेक्षित वर्ग के चित्रण के लिये हुई। इन पात्रो को केन्द्र बनाकर उन्होने गाँव की सभी समस्याओ को पकड़ा और उनका वास्तविक स्वरूप और निदान उपस्थित किया है।

अपने विलासी जीवन को सुखमय बनाने के लिये भोले-भाले ग्रामीणों के सामने असख्य आर्थिक और सामाजिक उलझनें खडी करके उनकी विवशता से अनुचित लाभ उठाने वाले एवं उन पर अकथनीय अत्याचार करने वाले क्रूर शोषकों के रूप में ज्ञानशकर, राय कमलानन्द, रानी गायत्री, जॉन सेवक, राजा महेन्द्रप्रताप, रायसाहब अमरपाल सिह, मि० खन्ना और उन अत्याचारो के पोषक साथियों-सहायकों, गौस और ताहिर जैसे कारिन्दों, गिरधर जैसे चपरासियों, क्लार्क तथा दयाशकर जैसे सरकारी अधिकारियो, डा० इर्फान तथा डा० प्रियनाथ जैसे वकीलों-डाक्टरों—की जरूरत पडी। गाँव वालो को अपनी अज्ञानता, धर्म-भीरुता, पारस्परिक ईर्ष्या तथा स्वार्थ-भावना द्वारा उत्पन्न समस्याओं के चित्रण के लिये सुक्खु चौधरी, दुखरन भगत, भैरो, सुभागी, मिठुआ, हीरा, दमडी वंसोह, भोला, नोहरा, झुनिया, सिलिया इत्यादि को स्थान मिला। इसके अतिरिक्त, इन समस्याओ के प्रति अपने विचार प्रकट करने तथा उन पर टीका-टिप्पणी करने के लिए इन शोषितो के प्रति सहानुभूति रखने वाले पात्रो की आवश्यकता पडी। कादिर खाँ, प्रेमशंकर, ज्वालासिह, राजा भरतसिह, डा० मेहता आदि का समावेश इसी उद्देश्य से हुआ।

व्यापक चयन-परिधि

अपने युग की प्रवृत्तियों और पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्याओं के चित्रण के लिए प्रेमचन्द ने जब जैसी आवश्यकता पडी वैसे पात्रो का चयन किया। उनका ध्यान मूलत: शोषित वर्ग पर केन्द्रित होने पर भी उनके पात्र-चयन का घेरा इतना व्यापक रहा कि सुपुत्र और कुपुत्र, रखैल और प्रेमिका, वेश्या और पतिव्रता, विधवा और सधवा, माता और विमाता से लेकर किसान और जमीदार, मजदूर और मिल मालिक, क्लर्क और अफसर, चाण्डाल और पण्डित, वकील, डाक्टर-प्रोफेसर तक नित्य-प्रति के सम्पर्क में आने वाले सब प्रकार के लोग उनके उपन्यासो में मिल जाते है। पर उन सबको लेखक की सहानुभूति मिली हो या उन सबका चरित्रचित्रण उसने एक-सी तन्मयता से किया हो, यह बात नही। अपने घेरे मे तो वह सबको ले आए, पर हृदय से वह केवल निम्न मध्य वर्ग तथा कृषक वर्ग के साथ ही रह सके, क्योंकि यही दो वर्ग सबसे अधिक शोषित होने के कारण उनकी सहानुभूति को खींच सके थे। विविध प्रकार के पात्रो पर लेखनी उठाने पर भी उनकी प्रतिभा पूरे निखार

में तभी आती है, जब वह निम्न मध्य वर्ग तथा कृषक वर्ग का चित्रण करते हैं।[१२]

जालपा, मनोरमा, विलासी, सोफिया, सलोनी, मुन्नी, लौंगी, धनिया तथा पुरुष पात्र मनोहर, बलराज, सूरदास, चक्रधर, रमानाथ, देवीदीन, अमरकान्त, होरी इत्यादि जो हमारे हृदय-पटल पर अपनी अमिट छाप छोड जाते है, वे निम्न-मध्य-वर्ग तथा कृषक वर्ग के ही प्रतिनिधि हैं।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

वस्तु-जगत् में बहुधा व्यक्ति के नाम और उसके चरित्र में कोई साम्य नही मिलता, पर उपन्यास जगत् में ऐसे अनेक पात्र मिल जायेगे, जिनके नाम उनके चरित्रानुकूल हो। अपने पात्रों का स्रष्टा होने से उपन्यासकार उनकी नस-नस से परिचित होता है और उनके भावी चरित्र-विकास के सम्बन्ध में सब कुछ जाना करता है।[१३] इसलिए, अपने पात्रो का नाम रखते समय उसके सामने उनका चरित्र आ जाता है और उसे उनके नाम में चरितार्थ करने का उपन्यासकार का मोह हो जाता है। उपन्यासकार इस प्रकार के मोह से जितना बच सके उतना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा उसके पात्रो के नामो में अस्वाभाविकता आ सकती है। प्रेमचन्द भी अनेक बार अपने पात्रो के नामो को सार्थक बनाने का तथा उनके नामो द्वारा ही उनके किसी विशेष गुणावगुण को व्यक्त करने का मोह नहीं छोड़ सके हैं।[१४] परिणाम-स्वरूप, उनके कई पात्रो के नाम सहज-स्वाभाविक न बनकर प्रतीकात्मक अथवा व्यंग्यात्मक हो उठे है।

पात्र के गुणानुरूप नाम

ऐसे वे नाम है जो पात्र के चरित्र के किसी विशेष गुणावगुण को व्यक्त करते है, जैसे, सुवामा, प्रेमशंकर, ज्ञानशंकर, बलराज, निर्मला, मनोरमा, राजा विशालसिंह,

१२. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृष्ठ ४।

"प्रेमचन्द का व्यक्तित्व तब सबसे अधिक विकसित होता है, जब वे निम्न मध्यवर्ग और कृषक वर्ग का चित्रण करते हे।"

१३. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 55.

"...And—most important—we can know more abou him (character) than we can know about any of our fellow creatures, because his creator and narrator are one."

...ल कोठारी, 'प्रेमचन्द के पात्र', प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर १६५४, पृष्ठ २१७ में इस विशेषता ...ो गुण माना गया है :

"अपने हिन्दी साहित्य में तो ले देकर ये ही एक मात्र ऐसे पुरोहित है जिनके पात्रों के नाम-करण में कुछ तथ्य, सार्थकता और सगति का आभास मिलता है। ......व्यक्तित्व और नाम की अभिन्नता ही पात्र के अस्तित्व को साभिप्राय और सार्थक बनाती है।" पर उपर्युक्त कारणों से इस धारणा से हमारा मतभेद है।

झगड़ूसाहू इत्यादि । इन पात्रों के नामों से ही इनका चरित्र व्यक्त हो जाता है। ऐसा संयोगवश हुआ हो, यह नहीं। इनके स्रष्टा ने जान-बूझकर इनके चरित्र की किसी एक उभरी हुई विशेषता के आधार पर इनका नामकरण किया है, यह बात इन पात्रों के जीवन-दर्शन से स्पष्ट हो जाती है। 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर की यह दृढ़ धारणा है कि 'हमें अब संगठन की, परस्पर प्रेम व्यवहार की और सामाजिक अन्याय के मिटाने की आवश्यकता है'।[१५] ज्ञानशंकर स्वयं जानता है कि वह 'भावों का आराधक नहीं, विचार का उपासक' है।[१६] उनके पात्र बलराज का 'शरीर खूब गठीला हृष्ट-पुष्ट था, छाती चौड़ी और भरी हुई थी। आँखों से तेज झलकता था।'[१७] 'वरदान' के नायक प्रताप की माँ, सुवामा ने 'वही किया जो ऐसे सन्तोषपूर्ण और उदार हृदय मनुष्य की स्त्री को करना उचित था'।[१८] अपने सौतेले पुत्र मंसाराम के प्रति निर्मला के सम्बन्धों की निर्मलता दिखाते हुए लेखक उससे कहलवाता है—'मेरे मन में पाप का लेश भी न था। अगर एक क्षण के लिए भी मैंने उसकी ओर किसी और भाव से देखा हो तो मेरी आँखें फूट जाएँ'।[१९] इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द ने पात्रों के नामों द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन का प्रयत्न किया है, जिससे पात्रों के नामों में कुछ अस्वाभाविकता आ गई है। वस्तुजगत् के लोगों के नाम और चरित्र में साम्य बहुत कम होता है, और होता भी है तो केवल संयोगवश—इस विषय में कोई भी सांसारिक प्रयत्न फलीभूत नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त पात्र के जीवन की एक-दो घटनाओं से उसके नाम और चरित्र में साम्य देखकर उसके भावी विकास के प्रति पाठक की उत्सुकता मंद पड़ जाती है, क्योंकि पात्र के नाम से उसके चरित्र का रुझान आवश्यकता से पहले ही प्रकट हो जाता है।

व्यंग्यात्मक पात्र

प्रेमचन्द के पात्रों के व्यंग्यात्मक नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो ऐसे हैं जो पात्रों के चरित्र की किसी विशेषता के एकांगी विकास पर व्यंग कसने के लिये रखे गए नाम, जैसे—श्रद्धा, विद्या आदि। प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा की धर्म में इतनी अंधश्रद्धा है कि 'वह अपने पुत्रों से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से, हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा का सहन करना उसके लिए

१५. प्रेमचन्द, प्रेमाश्रम, पृष्ठ १२१।
१६. वही, पृष्ठ ४३।
१७. वही, पृष्ठ ११।
१८. प्रेमचन्द, 'वरदान', पृष्ठ ११।
१९. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृष्ठ १२८।

असम्भव था।[२०]' इसी प्रकार, ज्ञानशंकर की पत्नी विद्या 'विद्यावती' तो थी पर उस में वह चतुराई नही थी, जिससे ज्ञानशंकर को काबू में रख सकती। 'उसे पति की सकीर्णता पर खेद तो होता था लेकिन कुछ और कहते डरती थी कि उनकी दुष्कामना कही और भी दृढ न हो जाए।[२१]'

दूसरी प्रकार के व्यंग्यत्मक नाम हैं—पात्र के किसी विशेष अवगुण पर व्यंग कसने के लिए—उसके बिल्कुल उलट गुण के बोधक नाम—जैसे, जॉन सेवक, डा० प्रियनाथ, दयानाथ इत्यादि। रगभूमि का उद्योगपति पात्र जॉन सेवक सिगरेट का कारखाना तो खोलता है धन कमाने के लिए, पर प्रकट ऐसा करता है कि मानो इस प्रकार वह गॉव वालों की सच्ची सेवा कर रहा है · "इस सिगरेट के कारखाने से कम से कम एक हजार आदमियो के जीवन की समस्या हल हो जाएगी और उनके सिर से खेती का बोझ टल जाएगा। जितनी जमीन एक आदमी अच्छी तरह जोत सकता है, उसमें घर भर का लगा रहना व्यर्थ है। मेरा कारखाना ऐसे बेकारो को रोटी कमाने का अवसर देगा।"[२२] दयानाथ नाम है 'गबन' के नायक रामनाथ के पिता का जो पुत्र के भाग जाने पर पुत्रवधू जालपा से सहानुभूति की बजाय निर्दयता-पूर्ण व्यवहार करता है।[२३] इसी प्रकार प्रियनाथ हैं 'प्रेमाश्रम' के वह डा० महोदय जिन्हे मार डालने के लिये जनता ने घेर लिया था और जो प्रेमशंकर की सामयिक सहायता से ही बच सके थे। अनुमान लगाया जा सकता है कि वह कितने प्रिय रहे होगे।

एक नाम के एकाधिक पात्र

ससार में भी कई बार एक नाम के एकाधिक व्यक्ति मिल जाते हैं, पर नाम साम्य होने से ही उनमें चरित्रसाम्य नही हो जाता। यदि किन्ही दो व्यक्तियो के नाम और चरित्र में कभी साम्य मिल भी जाय तो उसे सयोग ही माना जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यास-जगत् में भी कई बार एक नाम के एकाधिक पात्र मिल जाते है। जाह्नवी नाम के दो स्त्री पात्र—'रंगभूमि' के विनय की माँ तथा 'सेवासदन' की नायिका सुमन की मामी। इसी प्रकार, निर्मला नाम के दो स्त्री पात्र हैं—'निर्मला' उपन्यास की नायिका तथा 'कायाकल्प' के चक्रधर की माँ। इन पात्रो में नाम-साम्य तो है पर चरित्र-साम्य नही। कमला नाम के भी दो पुरुष पात्र मिलते हैं—'वरदान' की नायिका विरजन का पति तथा 'प्रतिज्ञा' में सुमित्रा का पति, और चरित्र भी आपस में मिलता-जुलना है। इनका नाम साम्य कुछ खटकता है, विशेषतया जबकि इन उपन्यासो के लेखन-काल में कोई अधिक अन्तर नही।

२०. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२४।
२१. वही पृष्ठ ३०।
२२. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ५१।
२३. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ १५०।

स्वाभाविक नामकरण

प्रेमचन्द ने जहाँ नामों को सार्थक बनाने का मोह छोड़कर पात्र के प्रदेश, काल, जाति तथा वर्ग को ध्यान में रखकर उसका नामकरण किया है, वहाँ उनके नाम अत्यन्त स्वाभाविक बन पाये है। प्रेमचन्द के अधिकतर पात्रों के नाम उनके प्रदेश, काल, जाति और वर्ग के अनुसार ही है और वे हमारी स्मृति मे बने रहते है। इनमें ग्रामीण पात्रो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भैरों, जगधर, दुखरन भगत, बिसेसर साह, गूदड़, नोखेराम, अलगू, वेचन, हल्कू, घीसू, भोला, गोबर, होरी, हीरा, झुनिया, सिलिया, धनिया, नोहरी, रूपा, सोना, मुन्नी, सलोनी इत्यादि नाम अत्यन्त स्वाभाविक बन पाये है, कदाचित् इसलिए भी कि इनके नामकरण के पीछे लेखक का कोरा शब्द-ज्ञान नही, प्रत्युत् ग्रामीण-जीवन से उसकी एकात्मीयता है।

पात्रों का प्रथम परिचय

प्रेमचन्द का विचार था कि "किसी चरित्र की रूपरेखा करते समय हुलिया-नवीसी की जरूरत नही। दो-चार वाक्यो में मुख्य-मुख्य बातें कह देना चाहिये।'[२४] अपने पात्रो से पाठकों की प्रथम भेंट के समय उनका परिचय कराते हुए उन्होने प्रायः इसी शैली को निभाया है—पात्र की आकृति तथा वेश-भूषा के सक्षिप्त वर्णन के बाद दो-चार वाक्यो में उसके चरित्र की कुछ-एक उभरी हुई विशेषतायें बता देना, यह तो परिचय का एक ढग हुआ जिसमे दो व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति की सहायता से एक-दूसरे से परिचित होते है। पर परिचय का यही एक प्रकार तो नही। कोई तीसरा व्यक्ति परिचय कराये, यह न सदा आवश्यक होता है और न सम्भव ही। लोग अपने प्रयत्न से अथवा अचानक भी एक दूसरे से परिचय प्राप्त कर लेते है। पात्रो के प्रथम परिचय को स्वाभाविक और कुतूहलोद्दीपक बनाने के लिए उपन्यासो में परिचय के अनेक प्रकारो का प्रयोग किया जाता है। प्रेमचन्द ने भी 'प्रतिज्ञा'[२५] में पूर्णा से, 'गबन' मे देवीदीन[२६] इत्यादि से प्रथम परिचय कराते समय औत्सुक्यवर्द्धक शैलियों का प्रयोग किया है। पर अन्य शैलियों को उन्होंने छुआ भर है। पात्रो का प्रथम परिचय कराने की उनकी प्रमुख शैली औपचारिक ही रही है, जिसका प्रयोग प्रायः किसी सभा के मच पर से किसी को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए या किसी भाषण से पूर्व उसका परिचय कराते समय या किन्ही दो अपरिचित व्यक्तियो का आपस में परिचय कराते समय

---

२४. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४८।
२५. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ १५।
२६. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ १२६।

या एक व्यक्ति से अनेक का अथवा अनेक व्यक्तियों से एक का परिचय कराते समय किया जाता है।

औपचारिक परिचय

प्रेमचन्द अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में पात्रो का परिचय कराते समय भाषण शैली से काम लेते हुए प्रतीत होते हैं, मानो लेखक अपने पात्र के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ मंच पर से बोल रहा हो। 'वरदान' के नायक प्रताप के पिता मुंशी शालिग्राम का परिचय इसी प्रकार का है : 'यद्यपि प्रकट में वे सामान्य संसारी मनुष्यों की भाँति संसार के क्लेशों से क्लेशित और सुखो से हर्षित दृष्टिगोचर होते थे, तथापि उनका मन सर्वदा उस महान् और आनन्दपूर्ण शान्ति का सुख भोग करता था जिस पर दुःख के झोंकों और सुख की थपकियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है'[२७]। प्रतिज्ञा के नायक अमृतराय का प्रथम बार चारित्रिक परिचय कराते हुए प्रेमचन्द कहते है : 'अमृतराय सिद्धान्तवादी आदमी थे—बड़े ही संयमशील, कोई काम नियम विरुद्ध न करते। जीवन का सद्व्यय कैसे हो, इसका उन्हे सदैव ध्यान रहता था। धुन के पक्के आदमी थे। एक बार कोई निश्चय करके उसे पूरा किये बिना न छोड़ते'[२८]।

कई बार प्रेमचन्द एक ही पैराग्राफ में तथा अपनी औपचारिक शैली मे एक साथ चार-पाँच पात्रों का परिचय करा देते हैं, मानो वे पात्र पंक्ति बाँधे खड़े हो और लेखक एक-एक करके पाठक से उनका परिचय करा रहा हो, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी 'टीम' के खिलाड़ी पंक्तिबद्ध खड़े हो और कैप्टेन एक-एक करके उनका परिचय किसी नेता से करा रहा हो। 'रंगभूमि' में, लेखक समूचे सेवक परिवार का परिचय एक ही पैराग्राफ में करा देता है : 'जॉन सेवक दुहरे बदन के गोरे चिट्टे आदमी थे ...... आकृति से ग़रूर और आत्म-विश्वास झलकता था'। 'मिसेज सेवक के चेहरे पर झुर्रियाँ पड गई थी, और उससे हृदय की संकीर्णता टपकती थी'......'प्रभु सेवक की मसें भीग रही थीं। छरेरा डील, इकहरा बदन, चेहरे पर गम्भीरता और विचार का गहरा रंग नजर आता था'। 'मिस सोफिया बड़ी-बड़ी रसीली आँखों वाली लज्जाशील स्त्री थी। ....रूप अति सौम्य, मानो लज्जा और विनय मूर्तिमान हो गए हों'[२९]। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह की रानियो का परिचय भी इसी प्रकार कराया गया है[३०]।

---

२७. प्रेमचन्द, 'वरदान', पृष्ठ ६।
२८. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ ६।
२९. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ६।

ऐसे स्थलों पर प्रतीत होता है कि एक साथ कई पात्रों का परिचय कराकर लेखक मानो बेगार टाल रहा हो। पर एक साथ इतने पात्रों का सँभालना पाठक के लिए कठिन हो जाता है। कथानक तथा चरित्र के भावी विकास को भली प्रकार से समझने के लिए उसे पात्र से प्रथम भेंट या परिचय तक को भी भूलना नहीं होता और इस प्रकार के स्थल उसके मस्तिष्क पर जोर डालते है। इसके अतिरिक्त पात्रों को उनका परिचय कराने के लिए उपन्यास के रंगमंच पर ले आना और फिर काफी समय तक, जब तक कि उपन्यास में उनकी जरूरत न पडे, उन्हें निश्चेष्ट पड़े रहने देना कहाँ तक उचित होगा, यह भी तो विचारणीय हो सकता है। उपन्यास में पात्रों का परिचय तब तक नहीं कराना चाहिए जब तक कि उनके करने के लिए कोई आवश्यक काम न हो। आवश्यकता से पहले उनके दर्शन कराना भी उपन्यास में शैथिल्य का कारण बन सकता है।

पक्षपातपूर्ण प्रथम परिचय

पात्रों के सम्बन्ध में प्रत्येक उपन्यासकार की अपनी धारणाएँ बनी होती हैं। किसी पात्र से उसे अनुराग होता है और किसी से विराग। कोई उसकी सहानुभूति पा लेता है और कोई उसकी घृणा का पात्र बन जाता है, पर प्रथम परिचय में ही उसके प्रति अपनी सहानुभूति या घृणा को व्यक्त करके पाठकों पर अपने पूर्वाग्रह को लादना और उसे अपने अनुभव की सत्यता पर विश्वास करने के लिए बाध्य करना, कहा तक उचित होगा? अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाए बिना पात्र को उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं द्वारा धीरे-धीरे पाठकों पर प्रकट होने देना क्या अधिक उचित न होगा?[३१]

प्रेमचन्द की यह विशेषता रही है कि उनके पात्रों के प्रथम परिचय में ही उनके प्रति लेखक के पूर्वाग्रह व्यक्त हो उठते हैं। प्रेमाश्रम में गिरधर चपरासी का परिचय कराते समय वह स्पष्ट रूप से उसके प्रति अपनी घृणा व्यक्त कर देते है: "गिरधर महाराज आते हुए दिखाई दिए। लम्बा डील था, भरा हुआ बदन, तनी हुई छाती…… यह महाशय जमींदार के चपरासी थे।" यहाँ तक तो ठीक है, पर उनकी किसी क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण किए बिना यह उसकी चारित्रिक विशेषता का वर्णन करने लग जाते है: "जबान से सबके दोस्त, दिल से सबके दुश्मन थे।[३२] जमींदार के सामने जमींदार की-सी कहते थे और असामियों के सामने असामियों की-

---

३१. Walter Allen, 'Writers on Writing', Phoenix House, London, p. 190:
"A character is *interesting as it comes out, and by the process* and duration of that emergence, just as a procession is effective by the way it unrolls, turning to a mere mob if all of it passes at once."
(Henry James in 'The Spoils of Poynton')

३२ प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ ६।

सी।'[३३] इसी प्रकार, प्रतिज्ञा के नायक अमृतराय के प्रथम चारित्रिक परिचय में ही उनके प्रति लेखक की श्रद्धा व्यक्त हो जाती है. 'अमृतराय सिद्धान्तवादी आदमी थे, बड़े ही सयमशील? ...... धुन के पक्के आदमी थे।'[३४] अमृतराय धुन का पक्का था या कच्चा यह तो उपन्यास पढ़ चुकने पर ही पता चलता, पर लेखक पहले से ही आग्रह करने लग जाता है कि उसे धुन का पक्का मान लिया जाए।

परस्पर विरोधी वर्णन

पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित और अन्तिम रूप में कह देने से उनके भावी विकास के प्रति पाठकों की उत्सुकता तो मंद पड़ ही जाती है, इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि यदि पात्र का विकास उपन्यास की भविष्य-वाणी के अनुसार न हुआ तो लेखक को अपनी मूल धारणा बदलनी पड़ जाए और पात्र के विकास में पूर्वापर सम्बन्ध शिथिल हो जाए। "रंगभूमि" में राजा महेन्द्र कुमार का परिचय कराते समय प्रेमचन्द ने उसके प्रति अपनी यह धारणा बड़े जोरदार शब्दों में प्रकट की थी कि "रईसों की विलास-लोलुपता और सम्मान-प्रेम का उनके स्वभाव में लेश भी न था।[३५] पर यह पात्र मुँहजोर निकला और उसका विकास लेखक की इस धारणा के अनुसार न हो पाया। बाद में लेखक को विवश होकर मानना पड़ा कि "उनमें यदि कोई कमजोरी थी तो यह कि वह सम्मान-लोलुप मनुष्य थे, और ऐसे अन्य मनुष्यों की भाँति वह बहुधा औचित्य की दृष्टि से नहीं, ख्याति-लाभ की दृष्टि से अपने आचरण का निश्चय करते थे।"[३६]

प्रथम परिचय वर्गरूप में, व्यक्ति-रूप में नहीं

प्रेमचन्द की सहानुभूति अथवा घृणा समूची जाति अथवा वर्ग के प्रति रही है। वे किसी व्यक्ति को उसके जातीय व वर्गीय गुणावगुणों का अपवाद नहीं मानते थे, समाज या वर्ग से अलग व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। 'रंगभूमि' के सूरदास का वर्गरूप में परिचय उनकी इस प्रवृत्ति की पराकाष्ठा है: "उन्हीं में एक गरीब और अन्धा चमार रहता है, जिसे लोग सूरदास कहते हैं। भारत में अन्धे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है न काम की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम है और भीख माँगना बना-बनाया काम। उनके गुण और स्वभाव जगत् प्रसिद्ध है—गाने बजाने में विशेष रुचि, हृदय में विशेष अनुराग, अध्यात्म और भक्ति

३३. प्रेमचद, 'कर्मभूमि', पृष्ठ १४-१५ पर लाला समरकान्त का प्रथम परिचय भी इसी प्रकार का है।

३४. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ ६।

३५. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ७३।

३६. वही, पृष्ठ १७८।

में विशेष प्रेम उनके स्वाभाविक लक्षण है। बाह्य दृष्टि बन्द और अन्तर्दृष्टि खुली हुई।'[३७] सूरदास को बलपूर्वक अन्धे भिखमगो के वर्ग में घसीटकर प्रेमचन्द ने उसके प्रति अन्याय किया है। कहना न होगा कि सूरदास साधारण भिखमगो से बहुत ऊँचे एक भिखारी संत के रूप में विकसित होता है। वह भिखारी होते हुए भी अपने वर्ग का अपवाद ठहरता है।

प्रभावोत्पादक प्रथम परिचय

जहाँ-जहाँ प्रेमचन्द ने अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाये बिना, तटस्थ रहकर सहज स्वाभाविक ढंग से, पात्रो का प्रवेश कराके उन्हे अपने आप पाठकों पर खुलने दिया है वहाँ प्रथम परिचय प्रभावोत्पादक बन पडा है। उनके उपन्यासों मे ऐसे स्थलो की कमी नही। प्रतिज्ञा में पूर्णा का प्रथम परिचय बडे सुन्दर ढंग से हुआ है। 'इतने में एक युवती ने आँगन में कदम रखा मगर कमलाप्रसाद को देखते ही ड्योढी मे ठिठक गई। देवकी ने कमला से कहा—'तुम जरा कमरे में चले जाओ, पूर्णा ड्योढी में खडी है।'[३८] इस प्रकार, कमलाप्रसाद को और पाठक को भी पूर्णा के प्रथम दर्शन होते है। यहाँ लेखक ने जिस कुशलता से उसका नाम बताया है और उसकी लज्जाशीलता की ओर संकेत किया है, बडा स्वाभाविक और रोचक रहा है। इसके पश्चात् लेखक उसके आकार-प्रकार का संक्षिप्त वर्णन करता है और चरित्र की एक-आध विशेषता बताता है जो उसकी प्रथम प्रतिक्रिया में ही व्यक्त हो गई होती है। 'पूर्णा को देखते ही प्रेमा दौडकर उसके गले लिपट गई। पड़ौस में एक पण्डित बसन्त कुमार रहते थे। किसी दफतर में क्लर्क थे। पूर्णा उन्ही की स्त्री थी, बहुत ही सुन्दर, बहुत ही सुशील।'[३९]

प्रेमाश्रम में मनोहर के पुत्र बलराज का प्रथम परिचय भी बडा सजीव रहा है। लेखक के कुछ कहे बिना ही पाठक उसके चरित्र के बारे मे बहुत कुछ प्रथम भेंट मे ही समझ जाता है। 'इतने में मनोहर का पुत्र बलराज कोठरी में जाकर खडा हो गया। उसका शरीर बड़ा गठीला हृष्ट-पुष्ट था मनोहर और गिरधर महाराज में हुई बातों की खबर उसे लग गई थी। बोला, 'किसी का दिया खाते हैं या किसी के घर माँगने जाते है? अपना तो एक पैसा नही छोड़ते तो हम क्यों धौस सहे? न हुआ मैं, नही तो दिखा देता गिरधर महाराज को। तुमने अच्छा जवाब दिया दादा। सारा गाँव घी दे, न दे, हम तो घी न देंगे'।[४०] यहाँ लेखक ने अपनी ओर से पात्र की केवल आकृति और वेशभूषा का चित्रण किया है और

---

३७. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ५।
३८. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ १५।
३९. वही, पृष्ठ १५।
४० प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ ११।

उसकी चारित्रिक विशेषताओं के बारे में स्वयं कुछ न कहकर घी वाली घटना के प्रति उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन कर दिया है जिसमें पात्र का स्वभाव प्रतिबिम्बित हो उठता है। हमारे सामने वह निर्भीक तथा शोषण के प्रति जागरूक, नवयुवक किसान के रूप में साकार हो जाता है।

'गबन' में देवीदीन का प्रथम परिचय और भी सजीव रहा है। घर से भागकर रेलगाडी में बिना टिकट के यात्रा करने पर रमानाथ जब पकडा गया और सोचने लगा : 'गाड़ी से कूद पड़ूँ', तो सहसा एक बूढे आदमी ने जो उसके पास ही बैठा था, पूछा—'कलकत्ते में कहाँ जाओगे बाबूजी ?' रमा ने समझा, यह गँवार मुझे बना रहा है, झुँझलाकर बोला—'तुमसे मतलब, मैं कहीं जाऊँगा।' बूढ़े ने इस उपेक्षा पर तनिक भी ध्यान न दिया, बोला—'मैं भी वहीं चलूँगा। हमारा-तुम्हारा साथ हो जायेगा।' फिर धीरे से बोला—'किराए के रुपए मुझसे ले लो, वहाँ दे देना।' जब रमा ने उसकी ओर ध्यान से देखा : 'कोई ६०-७० साल का बूढ़ा घुला हुआ आदमी था। मांस तो क्या हड्डियाँ तक गल गयी थी। सिर के बाल मुड़े हुए थे।'[४१] यहाँ एक विशेष परिस्थिति में देवीदीन से प्रथम भेंट होती है। उसकी आकृति और वेशभूषा के अतिरिक्त शेष सब कुछ अभी रहस्य ही है पर उसके व्यवहार में उसकी प्रकृति स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो उठी है। लेखक अपनी ओर से कहकर केवल घटना का वर्णन करता प्रतीत होता है इसी में पात्र देवीदीन को उदारता का परिचय मिल जाता है और उसके बारे में और जानकारी प्राप्त करने की पाठक के मन में उत्सुकता जागृत हो जाती है।

वर्णनात्मक शैली

प्रथम भेंट में ही किसी व्यक्ति के बारे में सब कुछ नहीं जाना जा सकता।[४२] सब कुछ जान पाना तो दूर, जो कुछ थोडी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है, उस पर भी पूर्णतया विश्वास नही किया जा सकता।[४३] प्रथम परिचय के समय एक तो चरित्र सम्बन्धी सभी विशेषताओ को प्रकट होने का अवसर ही नही मिलता और जिन कुछ एक को प्रकट होने का अवसर मिलता है वे भी अनेक कारणो से दबी पडी रहती हैं या अधूरी ही व्यक्त हो पाती है। दूसरे, कई बार प्रथम भेंट के समय व्यक्ति स्वयं भी किसी विशेष प्रयोजन से अपने नैसर्गिक आचरण को छिपाकर

४१. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ १३६।

४२. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 500 :

"In the brief period of first meeting, there is little chance for the judge to ascertain which traits are central and which are incidental in the personality Some features are hidden entirely, especially those that are asocial."

४३. Murphy, 'General Psychology', Harper, New York, p. 474.

कृत्रिम शिष्टाचार मे लगा रहता है। इसलिए प्रथम भेंट हमारे हृदय पर जो छाप छोड जाती है, उसकी सत्यता को परखने की आवश्यकता बनी रहती है और उसके लिए जीवन की विविध परिस्थितियों में व्यक्ति की शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक प्रतिक्रियाओ का सूक्ष्म अध्ययन करना होता है।[४४]

प्रेमचन्द अपने पात्रो का प्रथम परिचय देकर निश्चिन्त नही हो जाते, प्रत्युत् उन्हें अनेक स्थितियो में डालकर उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओ, भाव-भगियो-आँख, नाक, कान, मुँह, सिर, हाथ, पाँव इत्यादि की विभिन्न मुद्राओं तथा उनके चलने-फिरने, उठने-बैठने, हँसने-खेलने, खाने-पहनने की निजी विचित्रताओं के इतने सजीव शब्द-चित्र उपस्थित करते है कि पात्र पाठको की कल्पनाओ में साकार होकर नाच उठता है।[४५]

स्थित्यंकन

स्थितिचित्रण में प्रेमचन्द बड़े सिद्धहस्त है। पात्र दिखाई भी नही देता कि वह उस स्थिति का चित्रण करने लग जाते हैं जिसमें उसे डालना होता है। वातावरण का निर्माण करते हुए वह पात्र के परिवेश का चित्रण इतनी सूक्ष्मता से करते है कि छोटी से छोटी बात पर भी उनका ध्यान गये बिना नही रहता। "प्रेमाश्रम" में वह प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा को ऐसी स्थिति में डाल देते है कि वह पति तथा धर्मपरायणता दोनों में से एक को अपनाने के लिए बाध्य हो जाती है और पति की अपेक्षा धर्म को प्राथमिकता देती है, धर्म के प्रति अपने अधविश्वास के कारण।[४६] विदेश से लौटकर प्रेमशकर की श्रद्धा से प्रथम भेंट पृष्ठ १२६ पर होती है, पर उससे चार पृष्ठ पहले से प्रेमचन्द इस परिस्थिति के लिए भूमिका बाँधने लग जाते है : 'श्रद्धा वहाँ स्वागत करने के लिए न थी। प्रेमशकर को उसकी इस प्रेम-शून्यता पर बड़ा दु ख हुआ। श्रद्धा से प्रेम उनके लौटने का मुख्य कारण था। उसकी याद उन्हे तडपाया करती थी।[४७] प्रेमशकर भूल गये थे कि समुद्र में जाते ही हिन्दू धर्म घुल जाता है'[४८] अगले पन्ने पर स्थिति को स्पष्ट और गम्भीर बनाते हुए वह लिखते हैं : वह (श्रद्धा) अपने प्राणों से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती

४४. Ros, Stagner, 'Psychology of Personality', McGraw Hill, New York, 1948, p 33.

४५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146 :
"Whatever is individual and characteristic in their physical aspect in general, whatever is of importance in their expression or demeanour at any critical moment, must be so indicated as to stand out clearly in the reader's mind."

४६. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२६।

४७. प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२२।

४८. वही, पृष्ठ १२३।

थी किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा का सहन करना, उसके लिए असम्भव था।"[४९] चार पृष्ठो तक स्थिति-चित्रण को फैला चुकने के बाद वह प्रेमशंकर और श्रद्धा को एक-दूसरे के आमने-सामने लाते हैं।

इसी प्रकार "प्रतिज्ञा" में विधवा होने के पश्चात् जब पूर्णा अपना घर छोड़कर प्रेमा के पिता के घर आश्रिता के रूप में जाती है और उसे जिस स्थिति का सामना करना पड़ता है उसके चित्रण में इतनी मूर्तिमत्ता है कि पाठकों को प्रतीत होने लगता है कि वे अपनी आँखो से सब कुछ देख रहे हो। 'प्रेमा से गले मिलकर भी उसका चित्त प्रसन्न न हुआ। तब वह सखी भाव से आती थी, आज वह आश्रिता बनकर आई थी। तब उसका आना साधारण बात थी, उसका विशेष आदर-सम्मान न होता था, लोग उसका स्वागत करने को न दौड़ते थे। आज उसके आते ही देवकी भण्डारे का द्वार खुला छोड़कर निकल आई। सुमित्रा अपने बाल गुँथवा रही थी। अनगुँथी चोटी पर आँचल डालकर भागी, महरियाँ अपने-अपने काम छोड़कर निकल आईं। कमलाप्रसाद तो पहले ही आँगन में खड़े थे। लाला बदरीप्रसाद संध्या करने जा रहे थे, उसे स्थगित करके आँगन में आ पहुँचे।'[५०]

अनुभाव-चित्रण

किसी स्थिति (सिचुएशन) में पड़ते ही पात्र की प्रतिक्रिया प्रकट नहीं हो जाया करती। उसकी प्रतिक्रिया स्थिति विशेष पर इतना निर्भर नही करती, जितना इस बात पर कि पात्र उसे किस रूप में ग्रहण करता है।[५१] ज्यो-ज्यो स्थिति गम्भीर होती जाती है, त्यों-त्यों पात्र की मनोस्थिति में भी अन्तर आता जाता है और जब तक उसके मनोवेग प्रतिक्रिया के रूप में नही उमड़ पड़ते, उसकी मनोदशा में होने वाला क्षण-प्रतिक्षण का परिवर्तन उनकी विभिन्न मुद्राओ और भाव-भंगियों द्वारा प्रकट होता रहता है।[५२] स्थिति में पड जाने के पश्चात् और प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले पात्र के अंग-प्रत्यंगों में जो सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, उनमें

---

४९. वही, पृष्ठ १२४।

५०. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ २९।

५१. Ruch, 'Psychology and Life', p 160:

"If two people find themselves in the same external situation, one may react one way and the other a different way, because of their past experiences with the situation."

५२. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 230:

"The organism is a psycho physiological unit, and happenings at the level of gesture and expressive movements may be expected to reflect inner patterns of perceptions and feelings. This hypothesis is confirmed by studies of handwriting, drawing, voice, motor coordination and nervous movements."

पात्रो का तत्कालीन मानसिक संघर्ष प्रतिबिम्बित होता रहता है। इसलिए इस बीच की स्थिति का वर्णन भी उतना ही आवश्यक होता है जितना स्थिति और उसके प्रति पात्र की प्रतिक्रिया का चित्रण।[५३]

गोदान में अनुभाव-चित्रण

पात्रों की पारस्परिक बातचीत के समय तो प्रेमचन्द उनकी भाव-भंगी का सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण करते जाते है और उनकी विभिन्न मुद्राओ का वर्णन करते जाते है, जिसका बडा सुन्दर उदाहरण गोदान के आरम्भ में ही रायसाहब को मिलने के लिए घर से चलते समय होरी की धनिया से व्यग्यपूर्ण बातचीत है। पति को जाते देख धनिया जब रस पानी कर लेने को कहती है तो होरी 'अपने झुर्रियों से भरे हुए माथे को सिकोड कर'[५४] उत्तर देता है, और जब वह चारों पोशाक उसके सामने ला पटकती है तो सालियों-सलहजो के बारे में व्यंग्य करते समय उसके 'गहरे साँवले पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुता झलक पडती है।'[५५] इसी प्रकार रूपा का अपनी बडी बहन सोना को 'उँगली मटकाकर चिढाना'[५६], बूढ़े पडित दातादीन का 'घनी सफेद भौहों के नीचे छिपी हुई आँखो मे जवानी की उमग भर पोपले मुख से गाय को प्रशसना',[५७] झीगुरी सिह का कभी 'सहानुभूति का रग मुँह पर पोत कर'[५८] और 'कभी फूले हुए गालो में धँसी हुई आँखे निकालकर',[५९] बातचीत करना, रायसाहब का खन्ना से 'मूँछों में मुस्कराहट लपेटकर' बाते करना,[६०] इत्यादि अनेक स्थल उद्धृत किये जा सकते है जहाँ प्रेमचन्द ने बातचीत के समय पात्रो की मुख-मुद्राओं का सुन्दर चित्रण किया है।

आरम्भिक उपन्यासों में अनुभाव-चित्रण की कमी

प्रेमचन्द के कई आरम्भिक उपन्यासो में मार्मिक स्थितियो में जहाँ पाठक प्रेमचन्द से आशा रख सकता है कि वह पात्रो की प्रतिक्रिया प्रकट होने से पहले की

---

५३. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation,' p. 486 :
"The influence of passing emotion or mood, however, does require special mention, for under certain circumstances depression, fatigue or elation may be so marked that it dominates the motor region and completely obscures the normal course of movement."

५४. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृ० १।

५५. वही, पृष्ठ ३।

५६. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २४।

५७. वही, पृष्ठ ५९।

५८. वही, पृष्ठ २१०।

५९. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २१०।

६०. वही, पृष्ठ २३६।

उनकी भ्रू-भंगिमा के चित्रण द्वारा उनके तात्कालिक मानसिक संघर्ष का दिग्दर्शन कराए वहाँ उसे निराश होना पड़ता है। क्योंकि लेखक अनमने भाव से बीच की स्थिति का वर्णन एक-दो वाक्यों में करके प्रतिक्रिया के चित्रण की ओर लपक पड़ता है। जैसे 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर तथा श्रद्धा की पूर्व उद्धृत भेंट वाली स्थिति में प्रेमचन्द श्रद्धा का तो थोड़ा-बहुत चित्रण कर भी देते हैं पर प्रेमशंकर के बारे में इतना ही लिखकर कि "वह सन्नाटे में आ गए। कदाचित् आकाश सामने से लुप्त हो जाता तो भी उन्हे इतना विस्मय न होता,"[६१] उन्हे जीने से उतार देते हैं। यह विचारणीय हो सकता है कि क्या श्रद्धा के इस व्यवहार के प्रति प्रेमशंकर को केवल विस्मय ही हुआ होगा, मानसिक कष्ट नहीं ? अपनी चिरसंचित आशाओं को मिट्टी में मिलते देख उसे जो अपरिमित दुःख हुआ होगा उसे व्यक्त करने के लिये प्रेमचन्द के ये शब्द अपर्याप्त प्रतीत होते है। इसी प्रकार 'प्रतिज्ञा' में बदरीप्रसाद के घर आश्रय के लिए आई पूर्णा की तब की मनोस्थिति का वर्णन करने के बाद प्रेमचन्द यह बताकर ही रह जाते हैं कि यह समारोह देखकर पूर्णा का हृदय विदीर्ण हुआ जाता था।[६२] जितनी रुचि से वह उसके परिवेश का चित्रण करते हैं और उसके लिए जितना स्थान घेरते है, उससे एक चौथाई स्थान भी उस पात्र के मानसिक संघर्ष को उसकी भ्रू-भंगिमा द्वारा व्यक्त करने में नहीं घेरते, जिसके चित्रण के लिए उन्होने उस स्थिति का निर्माण किया था।

प्रतिक्रिया-चित्रण

पात्रो की स्थिति का विस्तारसहित सूक्ष्म वर्णन करने के पश्चात् प्रेमचन्द उनकी प्रतिक्रिया के चित्रण की ओर लपक पड़ते हैं। कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि परिस्थिति के अंकन के पश्चात् लेखक ने बटन दबा दिया हो और तड़ित वेग से पात्रों की प्रतिक्रिया प्रकट हो गई हो। 'कायाकल्प' में किसानों के आन्दोलन में पुलिस से हुई मुठभेड़ में चक्रधर की प्रतिक्रिया इसी प्रकार प्रकट हुई प्रतीत होती है : 'इतना सुनना था कि चक्रधर बाज की तरह दारोगा जी पर झपटे। कैदियों पर कुन्दो की मार शुरू हो गई थी······एकाएक चक्रधर ठिठक गए। ध्यान आ गया—स्थिति और भयंकर हो जायगी।'[६३] प्रतिक्रिया तक पहुँचने से पहले प्रेमचन्द आवश्यकता से अधिक विस्तार से वर्णन करते है, पर उनका प्रतिक्रिया-चित्रण आवश्यकता से बहुत संक्षिप्त होता है। पात्रों की प्रतिक्रिया के अंकन में वह अधिक देर नहीं उलझे रहते, क्योंकि उसके पश्चात् उन्हे अपनी रुचि का काम करना होता है और वह है—टीका-टिप्पणी द्वारा निष्कर्ष निकालकर पाठकों के सामने रखना।

---

६१. प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२६।
६२. प्रेमचन्द 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ २६।
६३. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृष्ठ १६०।

उपन्यासकार की ओर से टीका-टिप्पणी

उपन्यास रचना में प्रेमचन्द का मूलोद्देश्य चरित्रचित्रण न था।[६४] उनका लक्ष्य अपने युग और समाज की समस्याओं का उनके वास्तविक स्वरूप में उद्घाटन करना और अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर उनका समाधान उपस्थित करना था।[६५] इस ध्येय की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने उपन्यासों को माध्यम बनाया, उन समस्याओं के चित्रण के लिए परिस्थितियों का निर्माण किया, उनके लिए पात्रों की सृष्टि की,[६६] आवश्यकतानुसार उनकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को व्यक्त किया और यह सब कुछ कर चुकने के बाद, निष्कर्ष निकालते हुए अपने उन विचारों को प्रकट किया जिनके प्रचार के लिए उन्होंने उपन्यासों की रचना की थी। इसलिए, वह यदि टीका-टिप्पणी द्वारा निष्कर्ष निकालने के लिए अधीर रहे तो आश्चर्य की बात नहीं।

'रंगभूमि' में रानी जाह्नवी की कठोरता से संतप्त और विनय की उदासीनता से खिन्न सोफिया की अवस्था का चित्रण करते हुए प्रेमचन्द अभी इतना ही कह पाए थे कि 'सोफिया चारपाई पर लेट गई। मानो थक गई'[६७] कि उसकी स्थिति पर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने लग गए : 'सफलता में अत्यन्त सजीवता होती है, असफलता में असह्य अशक्ति,'[६८] इत्यादि। इस प्रकार एक वाक्य में उसकी हालत बताकर अगली ८ पंक्तियों में उस पर टीका-टिप्पणी करते हैं। इस निराशावस्था में जब उसकी माँ उसे क्लार्क से विवाह कराने के लिए लेने आती है तो सोफिया को यह सोचकर कि परमात्मा ने उसकी माँ के हृदय में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया है, बड़ी सान्त्वना मिलती है। उस समय भी माँ और बेटी के मिलन का केवल एक वाक्य में—'वह दौड़कर माता के गले से लिपट गई'[६९]—वर्णन करके माता की गोद की महिमा-गान करते-करते अगली १५ पंक्तियाँ भर देते हैं। ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ पाठक हृदय थामकर पात्र की छटपटाहट देखने और उसका विलाप सुनने

६४. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'प्रेमचन्द', पृष्ठ १२ :

"प्रेमचन्द जी पात्रों का निर्माण करने में जितने कुशल हैं, इतने उनका निर्वाह करने में नहीं। कई पात्रों को बीच ही में अकाल मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है।"

६५. Indranath Madan, 'Prem Chand An Interpretation', p 121-22 ·

"Prem Chand portrays characters, not character He has created several characters, but hardly a character His fundamental aim is not characterization, but essentially reformation. His intention is centered in a moral or social problem, not in the subtleties and contradictions of psychology."

६६. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृ० ५५।

"प्रेमचन्द का सम्बन्ध विशेष रूप से सामाजिक समस्या से रहता है। उनका उद्देश्य एक सामाजिक समस्या के आस-पास पात्रों का जमाट खड़ा करना है।"

६७-६८ प्रेमचन्द, रंगभूमि, पृष्ठ १६६।

६९. वही, पृ० १७२।

के लिए तैयार हो जाता है। पर लेखक उसकी चिन्ता किये बिना उपदेश देने में उलझ जाता है। जब सोफिया अपनी माँ के साथ फिटन पर बैठकर घर के लिए चली, उसकी उस समय की अवस्था के बारे में इतना कहकर कि फिटन सडक पर तेजी से दौडी चली जाती थी, और सोफिया बैठी रो रही थी[७०] प्रेमचन्द उसके साथ अपनी एक टिप्पणी जोड देते है: उसकी दशा उस बालक की-सी थी, जो रोटी खाता हुआ मिठाई वाले की आवाज सुनकर उसके पीछे दौड़े, ठोकर खाकर गिर पडे, पैसा हाथ से निकल जाए और वह रोता हुआ घर लौट आए।[७१]

वास्तव में, प्रेमचन्द के वर्णनो में समस्या-चित्रण और टीका-टिप्पणी के रूप में उनके अपने विचारो के प्रकटीकरण को ही अधिक स्थान मिला है।

विश्लेषणात्मक प्रणाली

किसी मनुष्य की काल विशेष की परिस्थिति को, उस परिस्थिति के प्रति उस की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया को, उसके समूचे व्यक्त व्यवहार को जान लेने पर भी यह दावा नही किया जा सकता कि हम उसे पूर्णरूपेण समझ गए,[७२] क्योकि मनुष्य का जो रूप दूसरो पर प्रकट होता है, वही तो उसका वास्तविक रूप नही होता। उससे अधिक महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय उसका वह रूप होता है, जो जाने या अनजाने अभिव्यक्त होने से बच रहा हो। मनुष्य के व्यक्त आकार-प्रकार, आचार-विचार आदि में उसके चरित्र का अंश ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। शेष का तो उसकी व्यक्त चेष्टाओं में आभास तक नही मिलता।[७३] मानव-चरित्र हिमनग (आइसबर्ग) के समान है जो केवल १/९ ही व्यक्त रहता है और शेष पानी के भीतर छिपा रहता है। मनुष्य के उस अव्यक्त चरित्र को जाने बिना, जो उसके समूचे व्यक्त रूप का प्रेरक होता है, मनुष्य को पूरी तरह समझ सकना सम्भव नही।[७४] इसीलिए प्रेमचन्द अपने पात्रों की परिस्थिति विशेष का विस्तारपूर्वक वर्णन कर चुकने पर उनकी व्यक्त क्रियाओ-प्रतिक्रियाओं, उनके हाव-भाव आदि के चित्रण में ही उलझे नहीं रहते, प्रत्युत् उनके मानसिक संघर्ष को, अपने परिवेश के प्रति निरंतर विकसित होते रहने वाले उनके दृष्टिकोण तथा उनके प्रकट व्यवहार की अन्त.प्रेरणाओं (इन्टर्नल मोटिव्स) को प्रकाश में लाते रहते हैं।

---

७०. वही, पृ० १७७।

७१. वही, पृ० १७७।

७२. Ruch, 'Psychology and Life', Scott, Foresman, New York, Third edn., p. 122.

७३. H A Murray, 'Explorations in Personality', Oxford University Press, New York, 1938, p 244

७४. Ruch, 'Psychology and Life' p., 122.

अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण (मोटिवेशन)

कोई क्या कहता है या करता है, यह इतना महत्त्व नही रखता जितना यह कि वैसा कहने या करने से उसका अभिप्राय क्या है।[७५] किसी के व्यवहार को देखते ही हमारा पहला प्रश्न यह होता है कि उसका वह व्यवहार स्वाभाविक है या किसी विशेष अभिप्राय से प्रेरित। हमारी यह जिज्ञासा और भी प्रखर हो जाती है जब हम किसी को उसके पूर्व-विदित स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करते देखते है।[७६] हमें पता होता है कि उसकी व्यक्त प्रतिक्रिया के आधार पर उसके उस आचरण का मूल्यांकन भ्रामक होगा, इसलिए हमें उसकी मूल प्रेरणा तक पहुँचना होता है। उस के उस व्यवहार के बारे में अपनी निश्चित धारणा बनाने से पहले उसके पीछे काम करने वाली[७७] अन्त प्रेरणा (मोटिव)[७८] को जानना होता है कि ये अच्छी थी या बुरी, अर्थात् उसकी नीयत अच्छी थी या बुरी।

परस्पर विरोधी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में एक-सूत्रता

प्रेमचन्द इस तथ्य को भली प्रकार समझते थे। इसलिए अपने पात्रों का चित्रांकन करते समय वह उनके बाह्य आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार तक ही सीमित न रहते हुए उनके मन मे पैठकर उसमें होने वाली हलचलों, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो में चल रहे द्वन्द्वो, उसके व्यक्त व्यवहार को स्वरूप देने वाली प्रेरणाओं और उसकी अव्यक्त चेष्टाओ का भी चित्रण करते चलते थे। जीवन के विविध मोडो में उनके पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओ में भले ही अनेकरूपता और असम्बद्धता दिखाई दे, पर विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्त होने वाले उनके विविध प्रकार के

---

७५. Ibid p. 122
"When we do not know why some one behaves as he does today, we are not able to predict what he will do tomorrow, and so we will not have any successful way of dealing with him when tomorrow comes."

७६ R M Maciver, 'Society', Macmillan & Co Lodon, 1950, p. 35
"We are always seeking to discover the overt behaviour of our fellows. Particularly when some one we know acts in an unexpected manner, we hunt for the explanatory motive."

७७. Ibid, p. 35:
"Motives, then are the effective incitements to action that lies behind our acts, behind the show of things"

७८. Boas, 'Enjoyment of Literature', p 223
"Motives are the reasons which impel characters to act as they do."

प्रेरक कारणों में अवश्य एकसूत्रता मिलेगी।[७६] गहने ही स्त्री की सम्पत्ति होते हैं। पति की और किसी सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं होता। उन्ही का उसे बल और गौरव होता है।[८०] जब पति बूढा हो और पुत्र सौतेले तथा आवारा हो, तब तो उनके लिए गहनों का मूल्य और भी बढ जाना चाहिए। पर आधी रात के समय जब निर्मला का सौतेला पुत्र जियाराम उसके जीवन भर की सचित पूँजी, गहनो का बक्स, चुराकर ले जाता है और वह उसे लेटे-लेटे देखती रहती है, न तो उठकर उसे रोकती है और न शोर ही मचाती है[८१] तो पाठक को उसके इस व्यवहार पर बडा आश्चर्य होता है। वह यह नही समझ पाता कि अपने प्रति इस अत्याचार को निर्मला चुपचाप क्यो सह लेती है। निर्मला की इस प्रतिक्रिया के प्रेरक भाव को प्रकाश में लाकर प्रेमचन्द उसके इस व्यवहार में सगति ला देते है। निर्मला चुप इसलिए नहीं रही कि उसे जियाराम की हितचिता थी या गहनो से उसे प्यार नही था, प्रत्युत् उसने अपनी निदा के डर से शोर नही मचाया कि लोग कहेगे कि विमाता होने के कारण वह अपने सौतेले पुत्रो को बदनाम करके घर से निकलवाना चाहती है। बाद में जियाराम के प्रति उसका यह कथन भी उसके इसी भाव की पुष्टि करता है। 'मुझ मे सारी बुराइयाँ ही बुराइयाँ है, तुम्हारा कसूर नही, विमाता का नाम ही बुरा होता है, अपनी माँ विष भी खिलाये तो वह अमृत है, मै अमृत भी पिलाऊँ तो विष हो जायगा।'[८२] अपनी सौतेली संतान के प्रति, निर्मला की यह धारणा ही उसके व्यवहार को स्वरूप प्रदान कर रही थी।

अव्यक्त प्रेरणाओं का चित्रण

प्रेमचन्द के उपन्यास इस प्रकार के उदाहरणों से भरे पड़े है, जहाँ उन्होंने अन्त.प्रेरणाओं के चित्रण द्वारा अपने पात्रो के चरित्र के उस अंश को भी व्यक्त कर दिया है, जिसका उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ में आभास तक नही मिलता और जिसे जाने बिना उनके चरित्र का उचित मूल्यांकन सम्भव नही हो पाता। 'रंगभूमि' के नायक सूरदास पर जब भैरो ने मुकदमा चलाया तो जगधर बडी मेहनत और

---

७६. H E. Haines, 'Living with Books', Columbia University Press, New York, 1950, p. 526:

"It is not consistency of action that makes a novel true to human nature and human experience, but consistency of motive and character. Human beings are consistently inconsistent in thought, word and deed but these inconsistencies arise from temperamental qualities, from circumstantial or psychological causes and are logically related to motives and events,"

८०. प्रेमचन्द, 'निर्मला' पृ० १६३।

८१. प्रेमचद, 'निर्मला', पृ० १७१।

८२. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० ३६३।

लगन से भैरो के गवाह तोडने मे जुट गया, यद्यपि इससे पहले सूरदास से जगधर का प्रेम कभी व्यक्त नही हुआ था। जगधर का यह व्यवहार पाठक को विचित्र लगने लगता है और उसकी स्वाभाविकता पर उसका विश्वास नही जमता जब तक कि उपन्यासकार उसे यह नही बताता कि जगधर की सूरदास से इतनी भक्ति न थी जितनी भैरो से ईर्ष्या। भैरो यदि किसी सत्कर्म मे भी उसकी सहायता मागता, तो भी वह इतनी ही तत्परता से उसकी उपेक्षा करता।[83] प्रेमाश्रम का खलनायक ज्ञानशकर एक बार अपनी ससुराल केवल इसीलिए अधिक दिन ठहर गया कि उसकी पत्नी विद्या ने उसके साथ शीघ्र लौटने से इनकार कर दिया था। पाठक को उसके इस व्यवहार पर आश्चर्य होता है, क्योंकि उसका-सा स्वार्थी जीव इस प्रकार पत्नी पर जान देना क्या जाने। पर उसके वहा ठहरने का वास्तविक कारण, जिसे अन्त करण में भी व्यक्त करने का उसे साहस न होता था, जान लेने पर उसका व्यवहारसगत प्रतीत होने लगता है—गायत्री के कोमल भाव और मृदुल रस-मयी वार्ता का उसके चित पर आकर्षण होने लगा था।[84]

इस प्रकार, प्रेमचन्द पात्रो की अव्यक्त प्रेरणाओ के चित्रण द्वारा अपने पात्रो के परस्पर विरोधी व्यवहार में भी सगति बैठा देते है।

आवेगज (इमोशनल) आचरण का चित्रण

आवेगज मनोस्थिति में कोई व्यक्ति क्या कर डालेगा, यह अनुमान लगा सकना बडा कठिन होता है।[85] आवेश में मनुष्य अपना मानसिक सतुलन खो बैठता है और अस्वाभाविक तथा असाधारण प्रतिक्रियाएँ करने लग जाता है।[86] उस समय उसे न तो वस्तुस्थिति का ध्यान रहता है और न ही उस स्थिति विशेष के प्रति व्यक्त हो रहे अपने व्यवहार से उत्पन्न हानि-लाभ की चिन्ता रहती है। किसी अन्य समय में साधारण प्रतीत होने वाला वातावरण उस समय उस पर असाधारण चोट करने लगता है और उसकी समस्त मानसिक प्रक्रिया मे एक विचित्र खलबली-सी मच जाती है और अपने पर संयम न रख सकने के कारण उसमे अपूर्व उत्साह और बल-विक्रम का संचार हो जाता है। जो काम, अच्छे हो या बुरे, सामान्यावस्था मे उसकी सामर्थ्य से बाहर प्रतीत होते है, आवेश की मनोस्थिति मे वह उन्हे सहज

८३. वही, पृ० १७५।

८४. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ७७।

८५. Ruch, 'Psychology and Life', p 160

"Mere knowledge of the external situation confronting an individual does not always permit accurate prediction of what emotional response he will make."

८६. Ibid, p. 166

"Under the impetus of emotion, men and animals are able to perform feats that would be impossible for them under normal conditions."

में ही कर डालता है।[८७] इस प्रकार, आवेशपूर्ण स्थिति में मनुष्य की उन्नति और अवनति दोनों के बीज छिपे रहते है।[८८]

आवेगज आचरण की उपादेयता : उपन्यास में

वस्तु जगत के व्यक्तियों की भाँति औपन्यासिक पात्र भी आवेश में आकर बहुत कुछ कर बैठते है, अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ पात्रो का ऐसा करना सप्रयोजन होता है। कुशल उपन्यासकार कुछ भी निरुद्देश्य नही करता और फिर प्रेमचन्द जैसा उपन्यासकार, जो उपन्यासो की रचना ही सामाजिक उद्देश्य[८९] से करता हो, ऐसा क्यों करेगा ? अपने पात्रों की उत्तेजना का प्रेमचन्द भरपूर लाभ उठाते हैं—कथानक को गति देने में, पात्रो के चरित्र को विकास की ओर ले जाने, उनके अप्रत्यक्ष गुणावगुणों के प्रकाशन, अन्य पात्रों का दम्भ-स्फोट करने और पात्रो की आत्महत्या कराकर कथानक को समेटने में।

(क) चरित्र-विकास के लिए

अपने पात्रो की आवेगज मनोस्थिति मे प्रेमचन्द उनसे ऐसी क्रिया-प्रतिक्रियायें कराते है जो उन्हे जीवन के नए मोड पर ला खडा करती है और उनके मार्ग को कटकाकीर्ण बनाकर उन्हें पग-पग पर जीवन की यथार्थताओ से सघर्ष करने के लिए विवश कर देती है। उस संघर्ष में वे जितना धैर्य दिखाते हैं उतना ही उनके चरित्र में निखार आता जाता है। 'प्रतिज्ञा' का नायक अमृतराय रामनाथ के भाषण से उत्तेजित होकर उसकी चुनौती को स्वीकार कर लेता है और 'युवक मडल के ताज की रक्षा करता हुआ' 'वैधव्य के भँवर में पड़ी हुई अबलाओ के साथ अपने कर्त्तव्य के पालन'[९०] का व्रत ले लेता है। उसकी यह प्रतिज्ञा उसके तथा प्रेमा के मीठे स्वप्नो पर पानी फेर देती है और उन्हें जीवन की कठोर वास्तविकता से ला टकराती है। आवेश में आकर गजाधर ने सुमन को घर से निकाल दिया और वह मानिनी भी घर से निकल पडी[९१], आहत सिहनी की तरह गरजती हुई—'क्या तुम्ही मेरे अन्नदाता हो ? जहाँ मजदूरी करूँगी, वही पेट पाल लूँगी।' यदि सुमन घर से न

---

८७. Ibid, p. 166 :
"Even when very intense, emotions can either help or hinder us in various ways"

८८. Murray, 'Explorations in Personality', p. 89 :
"The objective manifestation (of emotion) is a compound of antonomic disturbances ('antonomos'), affective actones and the intensification or disorganisation of affective behaviour (motor and verbal)."

८९. मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना', पृ० २२।

९०. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृ० ४

९१. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० ४८।

निकाली जाती अथवा न निकलती तो हमें उसका वह रूप कदाचित् ही मिलता जो 'सेवा-सदन' में उपलब्ध है। गजाधर और सुमन अलग-अलग हुए कि दोना के जीवन ने नई दिशायें पकड़ी और उनके चरित्र का विकास हुआ।

इसी प्रकार, निर्मला के पिता की मृत्यु ने निर्मला के जीवन की रूपरेखा ही बदल डाली और उसे ऐसी परिस्थितियों मे डाल दिया जिनमे वह घुल-घुलकर मर गई। यह सब निर्मला की माता कल्याणी के आवेशपूर्ण[६२] व्यवहार के कारण ही हुआ था। लेखक ने आगे चलकर यह बात और भी स्पष्ट कर दी है—"आप चाहे तो कल्याणी की उस घोर मानसिक यातना का अनुमान कर सकते है जो उसे इस विचार से हो रही थी कि मै ही अपने प्राणाधार की घातिका हूँ।[६३] रंगभूमि की नायिका सोफिया आवेश में भरकर आग की लपटों मे से एक युवक को बचा लाती है। वह युवक विनय था जिसके सम्पर्क मे आते ही उसके जीवन का नक्शा बदल जाता है और उन दोनों का प्रेमी-प्रेमिका के रूप में विकास होने लगता है।[६४] अछूतों के मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन मे गोलियाँ चलती देखकर कर्मभूमि की नायिका सुखदा का 'खून खौल उठा'[६५] और वह आवेशपूर्ण मनोस्थिति में बाहर कूद पड़ी। इस एक घटना ने सुखदा को कुछ से कुछ बना दिया, उसे स्वार्थ-साधन की सकीर्णता से निकालकर परहित-चिंतन की व्यापक भूमि पर ला खड़ा किया। उसके इस शुभ विकास का श्रेय उसकी किसी चारित्रिक विशेषता को नही। वह स्वयं प्रो० शान्ति-कुमार के आगे स्वीकार करती है . "जैसे किसी को क्रोध आ जाता है, उसी तरह मुझे वह आवेश आ गया। वह भी क्रोध के सिवा और कुछ न था।"[६६]

प्रेमचन्द के उपन्यासों से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है जहाँ वह पात्रों की आवेशपूर्ण मनोस्थिति का प्रयोग उनके चरित्र को विकसित करने के लिए करते है।

(ख) अव्यक्त गुणावगुणों के प्रकाशन के लिए

मनुष्य के कई स्वाभाविक गुणावगुण उपयुक्त व अनुकूल वातावरण के अभाव मे या राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक भय अथवा प्रलोभन के कारण अव्यक्त ही रह जाते है।[६७] परन्तु आवेश की मनोस्थिति मे जब वह अपना सतुलन खो बैठता है और उसका चेतन मन उसके अवचेतन मन को दबाए रखने में असमर्थ

६२. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ६—१० ।
६३. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० १५ ।
६४ प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० ३८-४३ ।
६५. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० ११७ ।
६६. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० १३५ ।
६७. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 500.

हो जाता है तो अवचेतन मन में दबे हुए भाव वस्तुस्थिति की चिंता छोड, सब प्रकार के भय-प्रलोभन की उपेक्षा कर, अपने वास्तविक रूप में फूट पडते हैं।[९८]

प्रेमचन्द ने पात्रो की इस प्रकार की मनोस्थिति का सदुपयोग किया है और उनके हृदय की परतो को खोलने का प्रयास किया है। सिपाहियो द्वारा पकडे गये अपने पुत्र बलराज को देखकर 'प्रेमाश्रम' का मनोहर दोनों कांस्टेबलों को धक्का देकर बोला—'छोड दो, नही तो अच्छा न होगा'।[९९] यहाँ हिताहित की पूर्णाविहेलना करके मनोहर का पुत्र-स्नेह उसके चेतन हृदय के अंकुश को उठाकर उमड पडा। सामान्य मनोस्थिति मे सिपाहियो का आतक उसकी घिग्घी बाँधे रखता। इसी प्रकार अपनी छोटी बहन विद्या के पति को हथियाने के अपराध पर गायत्री की अन्तरात्मा उसे निरन्तर कोसती रहती थी, पर विद्या के प्रति उसकी सहानुभूति कभी प्रकट नही हुई। परन्तु विद्या को मृत्यु-शय्या पर पड़ी देखकर एक दिन गायत्री का भगिनी-स्नेह उसके चेतन मन के सभी बाँधो को तोडकर बह निकला और वह सिर झुका कर चीख-चीखकर रोने लगी।[१००] गायत्री की-सी नारी का भगिनी-स्नेह आवेश में ही प्रकट हो सकता था। इसलिए, लेखक को उसे इस प्रकार की मनोस्थिति में लाना पडा।

'कायाकल्प' का नायक चक्रधर आदर्श नेता था, जिसने सिद्धान्तप्रियता की झोंक में कण्टकाकीर्ण मार्ग को स्वेच्छा से अपनाया था फिर भी आवेशपूर्ण मनोस्थिति मे उसने धन्ना के भाई को अकारण इतनी मार लगाई कि वह उसके बाद मर गया, पर स्वस्थ न हो सका। बाद में चक्रधर को स्वयं अपने कुकृत्य पर ग्लानि[१०१] और आश्चर्य हुआ था। आवेशपूर्ण अवस्था में उसके अव्यक्त अवगुण को प्रकट करके प्रेमचन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि पद पाकर सबको मद हो जाता है।[१०२]

प्रेमचन्द के उपन्यास इस प्रकार के असख्य स्थलो से भरे पड़े है, जहाँ उन्होने पात्रों की आवेशपूर्ण स्थिति में उनके अप्रत्यक्ष गुणावगुणो का चित्रण करके उन्हें 'सु' और 'कु' के मिश्रित पुतले, गुणदोषयुक्त मानव, के रूप में उपस्थित किया।

---

९८. Ruch, 'Psychology and Life', p. 163 :

"... 'Many painful emotions experienced during childhood are very early repressed from consciousness but continue to influence behaviour and adjustment all through life."

९९. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ९९।

१००. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ३३९।

१०१. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', ३२६।

"आज उन्हें अनुभव हुआ रियासत की बू कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनमें समाती जाती है। कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता, चरित्र और सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है।"

१०२. वही, पृ० ३२४।

(ग) अन्य पात्रों के दम्भस्फोट के लिए

वस्तुजीवन में हम प्राय. आपस में एक-दूसरे के ऐसे रहस्यों को जानते होते है, जिनके खुल जाने से अनर्थ हो जाए। उन भेदो को प्रकट करने का विचार करते ही हम अपने हानि-लाभ की बात सोचकर ऐसा करने से रह जाते है। पर जब कभी हम उत्तेजित होकर अपना सतुलन खो चुकते है तो हमे अपने हिताहित की चिन्ता नही रहती और हम परिणाम की चिन्ता छोड उन रहस्यो का उद्घाटन कर देते है। प्रेमचन्दजी भली प्रकार से जानते थे कि शोषण की चक्की मे पिसते चले जाने वाले लोग शोषकों से अनभिज्ञ नही, उनमे शोषकों का भण्डा फोड़ने की शक्ति भी है, पर ऐसा करने में अपनी भलाई कम और हानि अधिक देखकर वे रक्त के घूँट पीकर रह जाते है।[१०३] वे जानते है कि "जब दूसरे के पाँवो तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवो के सहलाने में ही कुशल है।"[१०४] पर यह कैसे हो सकता था कि प्रेमचन्द शोषको की कलई खोलने से रुक जाते। इसलिए उन्होने यदाकदा शोषित पात्रों को आवेश की मनोस्थिति मे लाकर, उन्हे कुछ समय के लिये एकदम निडर बनाकर, उनसे शोषको का दम्भस्फोट करवाया है।

'गोदान' में जब होरी की गाय को विष देने की पडताल करने पुलिस गाँव में आई और होरी गाँव के मुखियो की सलाह से ऋण लेकर दरोगा की पूजा करने चला तो धनिया ने आवेश में एक झटके के साथ अँगोछा उससे छीन लिया, गाँठ कच्ची होने के कारण खुल गई और सारे रुपये ठनाठन जमीन पर गिर पड़े, और धनिया नागिन की भाँति फुँकार कर उठी "ये रुपये कहाँ लिये जा रहा है, बता··· ···घर के प्राणी रातदिन मरें और दाने-दाने को तरसें, लत्ता भी पहनने को मयस्सर न हो और अजुरी भर रुपये लेकर चला है इज्जत बचाने। ऐसी बडी है तेरी इज्जत।" धनिया की ऐसी आवेशभरी हुँकार को सुनकर दारोगा का मुँह जरा-सा निकल आया पर वह इतनी जल्दी हार मानने वाला न था, खिसियाकर बोला. "मुझे ऐसा मालूम होता है कि इस शैतान की खाला ने हीरा को फँसाने के लिये खुद गाय को जहर दे दिया।" धनिया ने हाथ मटकाकर उसे निर्भीकतापूर्वक उत्तर दिया· "तुम्हारी तहकीकात में यदि यही निकलता हो, तो यही लिखो। पहना दो मेरे हाथ में हथकडियाँ। देख लिया तुम्हारा न्याय और तुम्हारी अक्कल की दौड़। गरीबों का गला काटना दूसरी बात है; दूध का दूध और पानी का पानी करना दूसरी बात है।[१०५] वह केवल दारोगा पर ही चोट करके न रह गयी, उसने नेताओं को भी करारी ठोकर लगाई, जब वे रुपये उठा रहे थे : "हम बाकी चुकाने के पच्चीस रुपये

---

१०३. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ६६ : "हमारा सिर जमींदारों के पैरों तले रहता है, ऐसे देवता को खुश रखने में ही हमारी भलाई है।"
१०४. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृ० २।
१०५. वही, पृ० १८६।

माँगते थे किसी ने न दिए। आज अजुरी भर रुपये ठनाठन निकाल दिए। सब जानती हूँ। बाँट-बखरा होने वाला था, सभी के मुँह मीठे होते। ये हत्यारे गाँव के मुखिया हैं, गरीबों का खून चूसने वाले।"[१०६] धनिया एक बार उत्तेजित तो हो गई कि उसने अगली-पिछली सारी कसर निकाल ली। आवेश में उसने वह कर दिखाया जिसका सामान्य स्थिति में विचार करके भी वह काँप उठती।

'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा सदा अपने पति की दबैल रही थी, पर जोश में आकर वह पति के क्रोध की चिंता छोड भरी सभा में घुसकर मच पर से सबको फटकार देती हुई हुल्लडबाजी पर काबू पा लेती है और पति की ओर सकेत करके गरज उठती है : "यदि किसी ने इस सभा में विघ्न डालने का प्रयत्न किया तो उसके इस काम को हेय समझती हूँ।"[१०७] सामान्य स्थिति में वह यह सोच भी नही सकती थी कि उसमे इतना साहस है। चक्रधर का पिता वज्रधर भी रियासत के रेजिडेंट मि० जिम के प्रति अपना आक्रोश आवेश में ही प्रकट कर सका था : "मि० जिम, मैं तुम्हे आदमी समझता था, परन्तु तुम पत्थर निकले। मैंने जितनी तुम्हारी खुशामद की, यदि ईश्वर की करता तो मोक्ष पाजाता।"[१०८] अपने होश में वह मि० जिम को कभी ऐसी डाँट नही सुना सकता था।

(घ) पात्रों से आत्महत्या कराकर कथानक को समेटने के लिए

प्रेमचन्द के उपन्यास आत्महत्याओं से भरे पडे है। आश्चर्य होता है कि अपनी समस्त रचनाओं में अहिंसा के सिद्धान्त का समर्थन करने वाला लेखक बिना किसी प्रकार के संकोच के, अपने उपन्यास के कथानक को सपेटने भर के लिए निरपराधी पात्रों का गला घोंट देता है।

प्रेमचन्द के किसी पात्र का जब विकास रुक जाता है और वह कथानक के या किसी अन्य पात्र के विकास में बाधक होने लगता है और लेखक की समझ में नही आता है कि उसका क्या किया जाए तो उससे पीछा छुड़ाने के लिए वह उससे आत्महत्या करा देता है। ऐसा करवाने के लिए लेखक उसे धीरे-धीरे ऐसी मनोस्थिति में ले आता है कि वह अपनी जीवन-व्यापी पराजयों तथा असफलताओ के लिए किसी अन्य को दोषी न ठहराकर अपने को ही उत्तरदायी मानने लगे। इस प्रकार अपने प्रति ग्लानि का भाव उसमें इतना भर जाता है कि वह अपने आपको संसार पर व्यर्थ का बोझ समझने लगता है और किसी समय आवेश की तरंग में, निराशा के गहनतम क्षण में, अपने जीवन का अन्त कर लेता है।

---

१०६. प्रेमचन्द, 'गोदान' पृ० १८६।
१०७ प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृ० ८८।
१०८. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृ० १६१।

सेवासदन मे, सुमन का पिता कृष्णचन्द्र जब तक अपनी बदनामी का मूल कारण सुमन को ही समझता रहा, तब तक वह आत्महत्या की नहीं, बल्कि सुमन को मार डालने की बात सोचता रहा, पर ज्यों ही उसका दृष्टिकोण बदला और वह अपने को ही सब कुछ के लिए दोषी ठहराने लगा, वह उत्तरोत्तर आत्म-ग्लानि मे भरता गया और आत्महत्या के रूप में प्रायश्चित्त करने के लिए तैयार होता गया।[१०९] गजाधर के प्रति उसके अन्तिम शब्द विचारणीय है—"मैं अब बहुत दिन न जीऊँगा। और कभी अभागिनी सुमन से तुम्हारी भेंट हो जाए तो कह देना कि मैंने उसे क्षमा किया। उसने जो कुछ किया उसका दोष मुझ पर है, आज से दो दिन पहले तक मैं उसकी हत्या करने पर तुला हुआ था, पर ईश्वर ने मुझे इस पाप से बचा लिया।"[११०] गंगा में डूब मरने से पहले ज्ञानशंकर की मनोस्थिति भी इसी प्रकार की हो जाती है। वह कहता है ' 'मायाशंकर का कसूर नहीं, प्रेमशंकर का दोष नहीं, यह सब मेरे प्रारब्ध की कूट लीला है। मैं समझता था, मैं स्वयं अपना विधाता हूँ ' ·····पर अब मालूम हुआ, मैं इसके हाथों का खिलौना था।'[१११]

अन्तर्मन का चित्रण

वस्तु-जगत के व्यक्तियों की भाँति उपन्यास के पात्रों के मन में भी अनेक ऐसी ग्रन्थियाँ पड़ी होती है, जिन्हे खोले बिना उनके वास्तविक स्वरूप को नही पहचाना जा सकता। उनमें से कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें वे समझते या पहचानते तो होते है, पर उनके अनैतिक, असामाजिक या किसी अन्य रूप में लज्जास्पद होने के कारण उनका उल्लेख नही कर पाते और उन्हे हृदय मे छिपाए सदा मानसिक यातना भोगते रहते है। इसके अतिरिक्त उनकी अनेक मानसिक उलझनें ऐसी भी होती हैं, जिनके अस्तित्व को तो वे महसूस करते है पर उनके वास्तविक स्वरूप को जान सकना उनकी सामर्थ्य से बाहर होता है। मनोवैज्ञानिक की तरह उपन्यासकार भी अपने पात्रो की चारित्रिक गुत्थियों को प्रकाश मे लाने का प्रयत्न करता है।

---

१०९ Murray, 'Explorations in Personality' p. 586-587

"When an individual experiences frustration, in so far as he does not allocate responsibility for the unhappy occurrence in an objective way · ·· he may react with emotions of guilt and remorse and tend to condemn himself as the blameworthy object"

Ruch, 'Psychology and Life', p 483-484.

"At times, the process of displacement has the extreme result of causing aggression to be turned against the self, instead of against substitutes in the environment. This is particularly evident in suicide."

११०. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० २२७।

१११. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ३६७।

अचेतन प्रेरणाओं का चित्रण

अपने पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए प्रेमचन्द भी विभिन्न मनोस्थितियों में अपने पात्रों में उठ रही विचारो की तरंगों, उनकी परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो द्वारा उत्पन्न अत:सघर्ष, उनकी गुप्त इच्छाओं तथा महत्वाकाक्षाओं, उनके भाव-जगत् के सुख-स्वप्नो आदि का चित्रण करते हुए या पात्रो से करवाते हुए उनके हृदय में पैठते जाते हैं और यदा-कदा उनके बाल्यकाल की ऐसी घटनाओं का उल्लेख भी कर देते हैं, जिन्होने उनके हृदय-पटल पर एक स्थायी छाप लगा दी हो—ऐसी छाप जो उनके चरित्र-विकास मे विशेष रूप से योग देती रही हो। पात्रों का मनश्चित्रण करते समय प्रेमचन्द कभी तो सर्वज्ञ बनकर उनके मन में हो रहे उतार-चढ़ाव का परिचय कराने लग जाते हैं, मानो वह उनके हृदय-क्षेत्र में आसन जमाकर वहाँ का आँखो देखा हाल अपने पाठको के लिए 'रिले' कर रहे हों, और कभी स्वयं पाठको और पात्रों के बीच में से हटकर उन्हे अपने आप अपनी मनोव्यथा कहने देते है—स्वगत कथनो के रूप में। असह्य मनोवेदना के कारण कोई पात्र सो नहीं पाता और आधी रात के समय खाट पर लेटे-लेटे अपने मन की लगाम ढीली छोड देता है, विगत जीवन की उसकी याद ताजा हो उठती है और वह अपने आप से बातें करता हुआ किसी उधेड़-बुन में लग जाता है, जिसमें उसकी तात्कालिक उत्तेजनाओं के कारणों की चर्चा रहती है। पर इस शैली में प्रेमचन्द अधिक नहीं रमते। बहुधा वह इन दोनो शैलियो को मिला देते है। इसमें भी पात्रो से कम कहलाना और स्वयं अधिक कहना उन्हें विशेष रुचिकर है। पात्रों की मनोदशा पर टीका-टिप्पणी किए बिना एक कदम भी आगे बढ सकना उनके लिए कठिन है। पात्रों की मनोदशा का मनमाना अर्थ लगाने की छूट वह पाठकों को नही देते।

दाम्पत्य जीवन की असफलता का विश्लेषण

यद्यपि आजकल के 'मनोवैज्ञानिक' कहे जाने वाले उपन्यासो की तरह प्रेमचन्द के उपन्यासों का लक्ष्य मनोविज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या करना नही था, तो भी वह अपने पात्रों की अनेक असगत प्रतीत होने वाली व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं की तह में गोता लगाकर उनके अव्यक्त प्रेरकों (लेटेंट मोटिव) को ढूँढने का प्रयत्न करते हैं। अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द जब शोषित नारी की समस्याओं को उठाते है तो उनके दाम्पत्य जीवन की असफलता का मूल कारण अनमेल विवाह को ठहराते है। सुमन, निर्मला, मनोरमा, जालपा आदि उनकी सभी प्रमुख नायिकाओं की उलझनों का आरम्भ उनके अनमेल विवाह से ही होता है। वह उन्हे भारतीय आदर्श महिलाओं के मार्ग पर चलाते हुए उनमें पातिव्रत्य धर्म के प्रति निष्ठा कूट-कूटकर भर देते है और जब कभी भी उनकी प्रेम-भावना और कर्तव्य-भावना में द्वन्द्व होता है, पति के प्रति उनकी कर्तव्य-भावना की ही विजय होती है।

अपनी परिस्थितियों से समझौता करने के लिए इतना सचेष्ट होने पर भी यदि वे दाम्पत्य जीवन में सफल नहीं हो पाती तो क्यों ?

निर्मला—निर्मला को ही लें। माना कि दहेज-प्रथा के कारण उसका विवाह अधेड़ उमर के एक विधुर मुंशी तोताराम से हो गया, पर जब वह परिस्थिति की यथार्थता को बिना किसी प्रकार की आनाकानी के स्वीकार कर लेती है—सुमन की भाँति विद्रोह नहीं करती—और पति के प्रति अपने कर्तव्य को समझते हुए उसे प्रसन्न करने की चेष्टा करती है और तोताराम भी चाहता है कि वह उस पर रीझे, तो कोई व्यक्त कारण नहीं दिखाई देता कि वह गृहस्थ-जीवन को सुखी बनाने में असफल रहे। पर होता ठीक इसके उलट है। भरसक चेष्टा करने पर भी वह अपने पति से प्रेम नहीं कर पाती और अपनी सौत के पुत्र मन्साराम से बचने की लाख कोशिश करने पर भी उसकी ओर खिची चली जाती है। भला ऐसा क्यों ? इसका उत्तर ढूँढने के लिए प्रेमचन्द को उसके अवचेतन मन की परतें खोलनी पड़ी। उन्होंने बताया कि अपने अनजाने में ही निर्मला वह कर बैठती है, जिसकी उसने स्वप्न में भी कल्पना न की थी। पति की अनुपस्थिति में वह प्रतिदिन निश्चय करती कि वह उससे प्रेम करेगी पर उसको देखते ही वह संकोच से दब जाती है। क्योंकि अब तक ऐसा ही एक आदमी उसका पिता था, जिसके सामने वह सिर झुकाकर देह चुराकर निकलती थी। अब उसकी अवस्था का एक व्यक्ति उसका पति था। वह उसे प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु[११२] समझती है। उसको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी। पर उसकी अनुपस्थिति में "निर्मला जब वस्त्राभूषणों" से अलंकृत होकर आइने के सामने खड़ी होती और उसमें अपने सौंदर्य की सुषमापूर्ण आभा देखती तो उसका हृदय एक सतृष्ण कामना से तड़प उठता था। उस वक्त उसके हृदय में एक ज्वाला-सी उठती। मन में आता इस घर में आग लगा दूँ। अपनी माता पर क्रोध आता, तोताराम पर क्रोध आता[११३]।

यहाँ निर्मला के रूप में प्रेमचन्द ने ऐसी मनोदशा का चित्र खींच दिया, जिन्हें मानसिक नपुंसक (साइकिक इम्पोटेंट) कहते हैं। ऐसी मनोस्थिति में व्यक्ति अपने पति अथवा पत्नी को पिता अथवा माता के रूप में देखने लगता है और पूर्वसंस्कारवश उनसे यौन-सम्बन्ध निषिद्ध मानते हुए उनसे दूर भागता है। ऐसे लोगों का दाम्पत्य-जीवन कभी सुखी नहीं हो सकता। इस प्रकार के पुरुष व स्त्री, जिनकी सेक्स भावना घर पर तृप्त नहीं होती वेश्या या पर-पुरुष से यौन-सम्बन्ध गाँठने की ओर प्रवृत्त

११२. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ३६।
११३. वही, पृ० ४०।

होते है, क्योंकि उन्हें वे माता-पिता की कोटि से बाहर मानते हे।[११४] निर्मला के मन्साराम की ओर सहसा खिच जाने का कारण भी कदाचित् यही था। पूर्व-सस्कारो के कारण वह तोताराम से तो भागती रही पर उसकी अतृप्त सेक्स भावना ने अपनी तृप्ति के लिए मन्साराम को, जो उसकी अपनी उमर का था, पर उसका अपना नही सौत का लडका था, ढूँढ निकाला। मन्साराम के प्रति अपने मन को दूषित भावना से दूर रखने की भरसक कोशिश करने पर भी उसे अपने पास देखकर उसका हृदय फूला नहीं समाता था।[११५]

सुमन—दाम्पत्य जीवन में सुमन की असफलता का कारण भी प्रेमचन्द ने उसके अवचेतन मन मे सञ्चित बाल्यकाल के संस्कारों में ढूँढा है। सुमन लाड़-प्यार में पली थी। उसके उदार पिता ने उसकी सुख-सुविधाओ का विशेष ध्यान रखा था। इसलिए, पिता के प्रति उसका लगाव भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया था। पितृ-स्नेह से वचित होने पर यह स्वाभाविक ही था कि वह अपने पति से उसी प्रकार के स्नेह और उदारता की आशा करती। उसका विवाह हुआ गजाधर से, जिसे पत्नी की अपेक्षा रुपये से अधिक प्यार था और जो स्वभाव से ही कृपण था। सुमन का अवचेतन मन अपनी तृप्ति के लिए गजाधर मे वही गुण ढूँढने लगा जिनके कारण उसका पिता उसे अपनी ओर आकृष्ट किए हुए था,[११६] पर वहाँ उसे एक भी ऐसा गुण न मिला। इसलिए, उसके चरित्र-विकास में पहली ग्रन्थि तो वही से पड गई। गजाधर की कृपणता से उसे विशेष चिढ़ हो गई थी[११७]। फिर भी सुमन उससे समझौता करने की कोशिश करती रही। पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि उसकी इस पतिनिष्ठा का उसके पति के निकट कोई मूल्य नही, बल्कि वह दब्बू समझ कर उसको और दबाने में अपनी बडाई समझता है, तो उसकी विद्रोह-भावना जाग

---

११४. Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis', p. 100 ·

"This parent image is the cause of many causes of impotence—called psychic impotence—because in the wife the husband's Unconscious senses a member of the mother-sister class, with whom on account of the incest barrier, it is impossible to experience the consummation of the sex act. For the same reason, it is the cause of frigid wives And impotence, and frigidity in themselves are recognised as furtile breeding grounds for marital disharmony."

११५ प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० १२८।

११६. Fielding, 'Self Mastery through Psycho-analysis', p. 95-96 :

"In every human male, from the moments of its earliest impressions, there begins to form a mental image of one woman—usually the mother, or her substitute—who is closely concerned with the task of nourishing and catering to the wants of the infant. The female child is similarly influenced by the father images—which may involve brother, grandfather or other male relatives."

११७. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० २१।

उठी। वेश्या भोली से अपनी अवस्था की तुलना करने पर तो मानो उनकी आँखें खुल गईं। उसने देखा उसके पति और उसके समाज की दृष्टि में पतिव्रता स्त्री की अपेक्षा वेश्या का मूल्य अधिक है। पर यह क्यों? स्वतन्त्र मनन द्वारा इस प्रश्न का उत्तर वह इस प्रकार पाती है "वह (वेश्या) स्वाधीन है, मेरे पैरों में बेड़ियाँ है। उसकी दुकान खुलती है, इसलिए गाहकों की भीड़ है। मेरी दुकान बन्द है, इसलिए कोई खड़ा नहीं होता। वह कुत्तों के भौंकने की परवाह नहीं करती, मैं लोकनिन्दा से डरती हूँ।"[११८] मनुष्य सदा उसी प्रकार का व्यवहार करने की ओर प्रवृत्त होता है, जो स्पष्ट रूप में उसे अधिक से अधिक पुरस्कृत करा दे। पर जिस समाज में सदाचार तो किसी गिनती में न लाया जाये और दुराचार पुरस्कृत किया जाए, वहाँ दुराचारियों को ही बढ़ावा मिलेगा।[११९] सुमन ने जब यह देखा कि पतिव्रता नारी के त्याग और तपस्या की महत्ता का गान करने वाला समाज उसकी पूर्ण अवहेलना करता है, और उल्टे कुलटाओं को सम्मान देता है, तो उसका दिल खट्टा हो गया। यहीं से उस में उच्छृंखलता का बीजारोपण हुआ।

इस प्रकार प्रेमचन्द यह स्पष्ट कर देते है कि निर्मला, सुमन आदि नायिकाओं के दाम्पत्य जीवन की असफलता के कारण उनकी विवाहित जीवन की परिस्थितियों में ही नहीं, बाल्यावस्था में उनके मन पर पड़े संस्कारों में भी निहित थे। संस्कार ग्रहण करने की दृष्टि से बाल्यकाल के प्रथम पाँच वर्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।[१२०] इस अवसर पर बालक के मन पर जो संस्कार एक बार पड़ जाते है, वे बड़े होकर चेतन मन द्वारा भले ही भुला दिये जायँ, पर अवचेतन मन पर उनके इतने गहरे अंक जमे रहते है कि उनके अनजाने में ही वे उसके चरित्र को दिशा-विशेष की ओर विकसित करते रहते हैं।[१२१]

किशोरावस्था का चित्रण

शैशव का अन्तिम चरण और यौवन का प्रथम चरण—किशोरावस्था—किसी

११८. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृ० ४२।

११९. Ruch, 'Psychology and Life', p. 593 ·

"People behave in ways that give them the greatest apparent rewards. If the conditions surrounding the growing child reward delinquent behaviour and frustrate legally accepted behaviour, delinquency will result."

१२०. Fielding, Self-Mastery through Psycho-analysis', p. 20:

"The first five years of our lives, for instance, are the most furtile in receiving impressions and gaining new experience. It is by far the most *impressionable period of life.*"

१२१. Ibid p, 20:

"... *psycho-analysis* has shown that the very impressions which we have forgotten, leave behind the deepest traces in our mental life and

भी युवक वा युवती के जीवन मे एक मार्मिक काल होता है, क्योंकि इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते वे लोग पूर्णरूपेण पुरुष वा स्त्री बन चुके होते हैं और दूसरे सेक्स के प्रति उनकी 'सेक्स' भावना अनायास ही जाग उठी होती है। एक ओर दूसरे सेक्स के प्रति आकर्षण की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है और दूसरी ओर उन पर समाज-व्यवस्था तथा नैतिक भावना का अकुश रहता है। इन दोनो पवृत्तियो में खूब सघर्ष होता है। एक उन्हे पाशविक तृष्णाओ की पूर्ति की ओर ले जाना चाहती है तो दूसरी उनके विरोध पर बल देती है। परिणामतः उनके हृदय में एक तूफान-सा मचा रहता है। लज्जावश या लोकनिन्दा के भय से उनकी भावनाएँ उनके हृदय के किसी कोने में छिपी पलती रहती हैं, पर ज्योंही उन्हें अपने प्रेम का उपयुक्त पात्र मिल जाता है और उन्हे विश्वास हो जाता है कि उनका प्रेम तिरस्कृत नही होगा, उनके प्यार की चिर-संचित स्रोतस्विनी लोकमर्यादा के समस्त बाँधो को तोडकर उमड़ पड़ती है।[१२२]

यद्यपि प्रेमचन्द का लक्ष्य रूमानी जीवन का चित्रण नही था, तो भी वह किशोरावस्था प्राप्त नायक-नायिकाओं की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक चित्रण करते है। विनय और सोफिया जैसे संयमी युवक-युवती को ही लें। दोनों के हृदय में समान रूप से आग लगी हुई है, पर कुछ तो संकोचवश, कुछ लोकनिन्दा के भय से और कुछ इस डर से कि कही उतावली में वे एक-दूसरे की दृष्टि में गिर न जायँ, उनके भाव उनके होठों तक आकर रुक जाते हैं : "जब विनय और सोफिया दोनों ही को विदित होने लगा कि प्रेम को, जब वह स्त्री और पुरुष में हो, वासना से निर्लिप्त रखना उतना आसान नहीं, जितना कि उन्होने समझा था··· दोनों एक-दूसरे की ओर दबी आँख से देख लेते थे, पर संकोचवश कोई बातचीत करने में अग्रसर न होता था। दोनों ही लज्जाशील थे पर दोनों ही मौन भाषा का आशय समझते थे"।[१२३]

कई बार युवक-युवतियाँ एक-दूसरे को समझने में भूल भी कर जाते है—जिस पात्र की ओर उनका प्रेम अनायास ही उमड पड़ता है, वह या तो पहले से ही किसी दूसरे की ओर प्रवृत्त होता है या इस पात्र की ओर प्रवृत्त नही हो पाता। कायाकल्प की नायिका मनोरमा चक्रधर को अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी जब यह पाती है कि उसके प्रेम को यथोचित आदर नही मिला और उसका प्रेम-पात्र किसी दूसरी ओर उलझा हुआ है, तब उसे बहुत दुःख होता है, पर वह करे क्या ; प्रेम की दिशा मोड सकना

१२२. Landis, 'Adolescence and Youth', McGraw Hill, New York, 1952, p. 251.
"As one has experience in love-making, he learns to release his emotions fully only in situations where he is sure they will be returned. With increasing age and experience, complete release of emotions to another is always accompanied by caution lest one be hurt by the lack of reciprocation of the emotional experience,"

१२३. प्रेमचन्द 'रंगभूमि', पृ० १०४।

उसकी सामर्थ्य से बाहर है। वह मन में कहती है "मैंने अपने मन के भाव उससे अधिक प्रकट कर दिए, जितना मेरे लिए उचित था। मैंने बेशर्मी तक की, पर तुमने मुझे न समझा या समझने की चेष्टा ही न की। अब तो भाग्य मुझे उसी ओर लिए जा रहा है जिधर मेरी चिता बनी हुई है।" [१२४] इन पंक्तियों से मनोरमा की मनोव्यथा का अनुमान लगाया जा सकता है। चक्रधर से प्रेम के प्रतिदान का कोई स्पष्ट संकेत न पाने पर कदाचित् निराशावस्था में ही उसने राजा विशालसिंह से विवाह करने की स्वीकृति दे दी थी।

युवक और युवतियाँ एक दूसरे पर किन्हीं अगाध प्रेरणाओं के कारण ही मुग्ध हो जाते हों, यह बात नहीं। वे एक दूसरे पर लट्टू इसलिये भी होते हैं कि वे एक दूसरे की प्रधान मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरा करते हैं या कम से कम ऐसा करते प्रतीत होते हैं।[१२५] विनय और सोफिया को ही लें। विनय पर उसकी माँ का कठोर नियंत्रण रहा। उसे वह माँ की नाराजगी के डर से भले ही सहता रहा हो,[१२६] वास्तव में, वह उससे दूर भागने के प्रयत्न में रहा।[१२७] इसलिए उसे ऐसी लड़की की आवश्यकता थी जो उसकी माता की-सी कठोर न होकर विनीत होती, जिसे देखकर उसे अपनी माँ की याद न आती।[१२८] सोफिया से उसे ये गुण मिल गए और वह सोफिया पर उत्तरोत्तर मुग्ध होता गया।[१२९] सोफिया भी अपनी माँ के कठोर

---

१२४ प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० २१८।

१२५. Hepner,'Psychology Applied to Life and Work', Prentice Hall, New York, 1950, p. 261 ·

"One of the first discoveries about marriage on the part of the psychological investigation is the fact that a boy and girl do not fall in love as a result of deep unfathomable forces They fall into love with each other because each answers, or appears to answer, some of the dominant psychological needs of the other."

१२६ प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ३१७।

"विनय सोचता है : उससे मेरे चित्त की अवस्था छिपी नहीं है। वह उस अन्तर्द्वन्द्व को जानती है मेरे हृदय में जो इतना भीषण रूप धारण किये हुए है। एक ओर प्रेम और श्रद्धा है तो दूसरी ओर अपनी प्रतिज्ञा और कर्त्तव्य; माता की अप्रसन्नता का भय और लोकनिन्दा और लज्जा।"

१२७ वही, पृष्ठ २६६ · 'विनय को अपनी माता की कठोरता प्रिय न थी।'

१२८ Hepner, 'Psychology Applied to Life and Work', p, 261

"Some persons react to an early environmental influence by antagonism towards it This is particularly evident in the case of a mother's domination of her son One son may rebel against his mother's over-attentiveness . and want a mate who reminds him very little of his own mother."

१२९. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ३३६।

"विनय इन्द्रदत्त से कहता है · सोफी के लिए मैं सब कुछ कर सकता हूं। मेरा आत्म-सम्मान मेरी बुद्धि, मेरा पौरुष, मेरा धर्म सब कुछ प्रेम के हवन-कुण्ड में स्वाहा हो गया है।"

व्यवहार से व्यथित थी, वह अब तक स्नेह से वंचित और उपेक्षिता ही रही थी, पर विनय का ध्यान अपनी ओर खिंचता देख उसकी इस भावना की तृप्ति होती गयी और वह उत्तरोत्तर उस पर मुग्ध होती गयी[१३०] और इसके निकट पहुँचती गई। दूर से तो वह विनय की केवल अच्छाइयों को ही देख पाई थी, पर ज्यों-ज्यों वह उसके निकट पहुँचती गई, विनय पर से उसका विश्वास उठता गया,[१३१] यहाँ तक कि बाद में उसे विश्वास हो गया कि विनय से उसका दाम्पत्य जीवन सुखी न बन सकेगा[१३२] और इच्छा होने पर भी वह उसके साथ विवाह के जीवन में बँधने से कतराती रही।

ये मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रेमचन्द ने जान-बूझकर रखे हों या उनके व्यापक, गहरे अनुभव के आधार पर उनका समावेश अनायास ही हो गया हो, पर कहना न होगा कि इनके समावेश से पात्रों के प्रेम-विकास की स्वाभाविकता बढ़ गई है। इसी प्रकार मनोरमा द्वारा अपना सर्वस्व अर्पित किया जाने पर भी कायाकल्प का चक्रधर अपनी माता के साथ एकात्मीकरण (आइडेन्टीफिकेशन) के कारण उसे पूर्णरूपेण स्वीकार न कर सका और जीवन भर वह अहिल्या, जिसमें उसे अपनी माता के बहुत से गुण घर-गृहस्थी में लीनता आदि मिल गए थे, तथा मनोरमा के बीच ही भटकता रहा; इनमें से वह न तो किसी को पूरी तरह छोड़ सका और न ही किसी को पूरी तरह अपना सका।

अन्तर्द्वन्द्व

प्रेमचन्द के औपन्यासिक पात्रों के जीवन में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जो किसी भी मनुष्य के मन में घोर संघर्ष को जन्म दे सकती हैं, पर उनमें उतना तीव्र अन्तर्द्वन्द्व नहीं छिड़ता जितने की उस परिस्थिति में आशा की जा सकती थी।[१३३] उनके पात्रों को बहुधा स्वार्थपरता और परार्थचिंता, उदारता और संकीर्णता, कर्त्तव्य-परायणता और कामनापूर्ति आदि परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में से एक को अपनाना पड़ता है, पर एक तो उनमें आत्मविश्वास की भावना और निर्णय करने की शक्ति इतनी प्रबल है और दूसरे पाप-पुण्य, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदि के

---

१३०. वही, पृष्ठ ४२७।

"जब विनय अपनी माता के कठोर पत्र से घबराया हुआ होता है, तब सोफी उसे समझाते हुए कहती है : मैं उनसे (रानी जाह्नवी से) तुम्हारी प्राण-भिक्षा माँगूँगी, फिर तुम्हें माँग लूँगी।

१३१. Hepner, 'Psychology Applied to Life and Work', p. 270.

१३२. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृष्ठ ५१३।

१३३. रामरतन भटनागर, 'कलाकार प्रेमचन्द', यूनीवर्सल प्रेस, इलाहाबाद, पृष्ठ ३५० :

"इसमें सन्देह नहीं कि दुर्बल चरित्रों को अपनी रचनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए भी प्रेमचन्द सबल चरित्रों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए हैं और उन्होंने उनके निर्माण में अपनी प्रतिभा का सारा बल लगा दिया है।"

सम्बन्ध में उनकी मान्यताएँ इतनी सुलझी हुई है कि उन्हे किसी भी परिस्थिति मे, वह कितनी ही गम्भीर क्यों न हो, अपना पथ निश्चित करने मे देर नहीं लगती। वह पथ-श्लाघ्य हो या निंद्य, यह दूसरी बात है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति, समाज, जीवन और उनके तत्त्वों के मूल्य इतने सुस्पष्ट है कि उनके चेतन मन मे न तो सन्देह और शंका के लिए कोई स्थान रहता है और न ही तज्जनित संघर्ष के लिए। इसलिए उनके चेतन मन मे द्वन्द्व नही उठता। उठता भी है तो अधिक देर नही रहता और वे अपने लिए मार्ग निश्चित कर लेते है, भले ही उनके अवचेतन मनके किसी कोने मे गहरे बैठे हुए संस्कार उन्हे निर्णीत पथ से बिल्कुल विरोधी दिशा मे ले जायें। प्रेमचन्द का प्रयत्न सदा यह रहा है कि उनके चरित्र पोजिटिव हों।[१३४]

अन्तर्द्वन्द्व का अभाव

मानसिक व्यग्रता के पर्याप्त कारण विद्यमान होने पर भी पात्रों के मन में द्वन्द्व न उठना और उठना भी तो नाममात्र, कई बार उन्हे अस्वाभाविक-सा बना देता है। 'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा जब अपने प्रेमी अमृतराय के, जिस पर वह जी-जान से लट्टू है, विधवा से विवाह करने का निश्चय कर लेने पर उसके मित्र प्रो० दाननाथ से विवाह करने के लिए बाध्य हो जाती है, तो जीवन की ऐसी विकट समस्या भी उसे व्यग्र नही कर सकी। उसके मन मे द्वन्द्व नहीं छिड़ता कि वह क्या करे, अपितु झट अपना मार्ग निश्चित कर लेती है कि वह प्रो० दाननाथ से जिसे वह प्रेम नही करती, विवाह कर लेगी क्योंकि उसका प्रेम उसके कर्त्तव्य के अधीन है।[१३५] विवाह के पश्चात् भी अनेक ऐसी परिस्थितियाँ आईं कि कोई और स्त्री होती तो घुल-घुलकर मर जाती, पर प्रेमा विचलित तक नही होती। एक बार जब उसके प्रेमी तथा पति की प्रतिद्वन्द्विता अपनी चरम-सीमा को छू जाती है, तब वह थोड़ी देर के लिए विचलित अवश्य होती है, पर शीघ्र ही वह इस निश्चय पर पहुँच जाती है कि 'प्रेम पति के लिए है, पर भक्ति सदा अमृतराय (प्रेमी) के साथ रहेगी।'[१३६]

'सेवासदन' की नायिका सुमन के जीवन मे जितने उत्थान-पतन आए उतने कदाचित ही प्रेमचन्द की किसी अन्य नायिका के जीवन मे आये होगे, पर वह गम्भीर से गम्भीर परिस्थिति में भी नही घबराती। यहाँ तक कि पति द्वारा घर से निकाली जाने पर भी उसके मन मे किसी प्रकार का संघर्ष नही छिड़ता, बल्कि वह अपने पति को अकड़कर उत्तर देती है : "हाँ, यो कहो कि मुझे रखना नहीं चाहते। मेरे सिर पाप क्यों लगाते हो ? क्या तुम्ही मेरे अन्नदाता हो, जहाँ मजदूरी करूँगी वही पेट

---

१३४ प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४१।
१३५. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ ३८।
१३६. वही, पृ० ८२।

पाल लूँगी ।[१३७] घर से चलते-चलते भी वह इसी प्रकार सोचती है : "वह अब मेरा मुँह भी नही देखना चाहते, तो फिर उन्हे क्यों मुँह दिखाऊँ ? क्या संसार में सब स्त्रियों के पति होते हैं ?"[१३८] बाद में वह वेश्या बनी और हटी, पर न तो वेश्या-वृत्ति स्वीकार करते समय उसमें कोई अन्तर्द्वन्द्व उठा और न ही उसे छोडते समय। वह अजीब धातु की बनी हुई नारी थी। जीवन के विभिन्न और सम्भावित मोड़ ग्रहण करते समय उसके मन में संघर्ष उठाकर और दो परस्पर विरोधी मार्गों में से एक को चुनने मे उसकी घबराहट तथा आत्म-गौरव और लोक-लाज की उसकी भावनाओं में द्वन्द्व, दिखाकर लेखक उसे अधिक मानवी बना सकता था, पर ऐसा हुआ नहीं;[१३९] बिना किसी हिचकिचाहट के उसका निर्णय आत्मगौरव के पक्ष मे ही होता रहा।

इसी प्रकार 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशकर की पत्नी श्रद्धा केवल धर्मभीरुता के कारण विदेश से लौटे अपने पति का मुख नही देखना चाहती। एक क्षण के लिए भी उसकी पति-भक्ति तथा धर्म-भावना मे संघर्ष नही उठा, क्योंकि उसका निश्चय तो पहले से ही किया-कराया रखा था कि 'वह अपने प्राणो से, अपने प्राणप्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोक-निन्दा का सहन करना, उसके लिए असम्भव था।'[१४०]

प्रेमचन्द की समस्त शोषित नायिकाओ में निर्मला का स्थान सर्वोच्च है पर वह भी जीवन की प्रत्येक परिस्थिति से समझौता कर लेने का ऐसा सिद्धान्त बना लेती है कि उसमें मानसिक संघर्ष उठने का कोई अवसर ही नहीं आता "जो होना था, हो चुका। अधर्म करके अपना परलोक क्यो बिगाडती। पूर्व-जन्म में न जाने कौन से ऐसे कर्म किये थे जिसका यह प्रायश्चि करना पडा।"[१४१] यद्यपि उसका अवचेतन मन उसे अनजाने में ही मन्साराम की ओर ले जाता रहा, चेतन मन में उसने सदा पति के प्रति अपने कर्त्तव्य को ही प्राथमिकता दी थी।

गबन के नायक रमानाथ को लें। जालपा के सम्मुख अपनी अमीरी की डीगें मारते तथा बहानेसाजी करते समय, रुपये का गबन करते समय, घर से भागते समय कभी तो उसके मन में द्वन्द छिडना चाहिए था, पर नही प्रत्येक परिस्थिति में उसका मार्ग पहले से ही निश्चित हुआ पड़ा था। वह बिना किसी मानसिक संघर्ष

---

१३७. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृष्ठ ४८।

१३८. वही, पृष्ठ ४६।

१३९. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना' : पृष्ठ ४८।

"(परिवर्तन की प्रत्येक स्थिति में) प्रेमचन्द ने उसके (सुमन के) हृदय के द्वन्द्व और उसके मस्तिष्क की हलचल का चित्रण नही किया है। ऐसा इसलिए भी हुआ है कि वे चरित्रचित्रण से अधिक सामाजिक समस्याओं में अभिरुचि रखते थे।"

१४०. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ १२४।

१४१. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृष्ठ २०५।

के आगे बढ़ता गया। पहली बार उसमें अन्तर्द्वन्द्व तब छिड़ा जब कि वह पैरोल पर छूटकर सैर करने के लिए गया था और रास्ते मे उसने जालपा को फटी-पुरानी तथा मैली-कुचैली धोती पहने सिर पर मटका उठाए देखा था। उसमे भी उसकी चिन्ता ही अधिक व्यक्त हुई है और अन्तर्द्वन्द्व कम।[१४२]

इस प्रकार, प्रेमचन्द के पात्र कुछ सिद्धान्तो को अपना लेते है और जीवन भर उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलते रहते है। यह उनके विकसिततम उपन्यासों के नायकोतक के बारे में भी कहा जा सकता है। गोदान का नायक होरी उपन्यास के आरम्भ में ही सिद्धान्तत यह मान लेता है कि जब दूसरो के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है तो उन पाँवो को सहलाने मे ही कुशल है,[१४३] और जीवन भर उसके अनुसार ही चलता रहता है। ऐसी स्थिति मे उसमे अन्तर्द्वन्द्व छिड़ने का प्रश्न ही नही उठता।

चरित्रचित्रण की नाटकीय प्रणाली

अपने पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए प्रेमचन्द प्रत्यक्ष प्रणाली को तो अपनाते ही है, साथ ही साथ नाटकीय प्रणाली द्वारा भी उनके चरित्र के अनेक रूपो को प्रकाश में लाते जाते है। ऐसा करते हुए वह अपनी ओर से वर्णन, विश्लेषण या टीका-टिप्पणी आदि कुछ न करके स्वय बीच मे से निकल जाते है और पात्रो के चारित्रिक गुणावगुणो को उनके जीवन की विविध घटनाओ, उनके कथोपकथनो, अन्य पात्रो पर पड़े उनके प्रभावो और उसके आधार पर की गयी उनकी टीका-टिप्पणी के रूप में उनके चारित्रिक गुणावगुणों को व्यक्त होने देते है। डा० इन्द्रनाथ मदान को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने यह बात स्पष्ट भी की है "मै कथानक का सगठन इस प्रकार करता हूँ कि उसके द्वारा मानवीय चरित्र के सुन्दर और स्वस्थ अगों की अभिव्यजना हो सके। यह प्रक्रिया बड़ी उलझी हुई होती है। उसमे मुझे कभी किसी व्यक्ति से प्रेरणा मिलती है, कभी किसी घटना से, कभी किसी स्वप्न से"।[१४४]

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

उपन्यास-रचना में प्रेमचन्द का मूलोद्देश्य चरित्रचित्रण तो था नही, पर फिर भी अपने लक्ष्य, अर्थात् समाज का यथार्थ चित्रण, की पूर्ति के लिए उन्हे सबल पात्रों की आवश्यकता पड़ी। उन सबल पात्रो के समूचे जीवन को केन्द्र बनाकर उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं का निर्माण किया, जिनसे उनका चरित्रोद्घाटन भी होता जाए

---

१४२. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ ३०३।

१४३. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ २।

१४४. डा० मदान, 'प्रेमचन्द : एक विवेचना',।

और साथ-साथ समाज के विविध रूपों का चित्रण भी होता चले। उनके उपन्यास अनेक ऐसी घटनाओ से भरे पडे है जिनका समावेश उन्होने अपने पात्रों के चरित्र प्रकाशन के लिए किया है। अनेक घटनाएँ तो पात्रो के चारित्रिक गुणों को इस स्वाभाविकता से व्यक्त करती है कि शायद बडे से बडे वर्णन, मनोविश्लेषणात्मक चित्रण तथा कथोपकथन भी उनकी उतनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति न कर पाते। उन्होने घटनाओ का प्रयोग पात्रो के चरित्र को विकास की ओर ले जाने के लिए, उनके विभिन्न चारित्रिक गुणो के प्रकाशन के लिए तथा उनकी तात्क्षणिक मनोस्थिति की ओर सकेत करने के लिए किया है।

नाटकीय प्रणाली को अपनाने पर भी प्रेमचन्द ने अपनी विशेषता बनाए रखी है। पाठको को उन घटनाओं का मनमाना अर्थ लगाने की स्वतन्त्रता वह नही देते। इसलिए चरित्र उद्घाटन करने वाली प्रत्येक घटना का वर्णन करने के बाद निष्कर्ष निकालते हुए यह भी स्पष्ट कर देते है कि घटना-विशेष का उल्लेख उन्होने किस उद्देश्य से किया है।

(क) चरित्र-विकास के लिए

उपन्यास के आरम्भ में ही प्रेमचन्द अपने प्रमुख पात्र—नायक-नायिका के जीवन में कुछ-एक घटनाएँ घटित करके उन्हे इस मोड पर ले आते है जहाँ से उनके चरित्र का विकास उस दिशा में किया जा सके जो लेखक को अभीष्ट हो। एक-दो घटनाएँ ही पात्र का उस मूल समस्या से साक्षात्कार करा देती हैं जो उत्तरोत्तर जटिल होती हुई ऐसी परिस्थितियो को जन्म देती जाती है, जिनमें वे जीवन भर उलझे रहते हैं। 'प्रतिज्ञा' के आरम्भ में ही पूर्णा के पति वसन्तकुमार की मृत्यु कराकर, उन्हे जल समाधि देकर, उसे विधवा बना देते हैं। विधवा होने पर वह कमलाचरण के पिता की आश्रिता होकर उनके घर में आ जाती है और तभी से वह उनके परिवार के लिए और अपने लिए भी एक समस्या बन जाती है—ऐसी समस्या जो उपन्यास के अन्त तक नही सुलझ पाती। 'सेवासदन' की नायिका सुमन का चरित्र-विकास जिस दिशा में मिलता है, वह केवल एक घटना के कारण सम्भव हुआ था—उसके पिता का कैद होना। उसका पिता दरोगा कृष्णचन्द्र घूँसखोरी के अभियोग मे न पकडा गया होता तो न उसका गजाधर जैसे व्यक्ति से अनमेल विवाह होता और न ही उसे दाम्पत्य जीवन का परित्याग करके वेश्या-वृत्ति को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता। इस एक घटना से लेखक ने उसके चरित्र-विकास को अभीष्ट दिशा दे दी है।

इसी प्रकार यदि निर्मला का पिता न मरता तो दहेज न दे सकने के कारण उसका विवाह विधुर मुंशी तोताराम से न होता और न ही वह विमाता के रूप मे हमारे सामने आती। निर्मला के पिता की मृत्यु की घटना द्वारा ही लेखक उसे ऐसी

अतृप्त पत्नी और विमाता के

रूप मे विकसित करती रहती है। 'रगभूमि' में भी देखिए ! सोफिया माँ से लड़कर घर से बाहर निकल भागी थी। कौन जानता था कि वह कहाँ जाएगी, पर अचानक आग की दुर्घटना में विनय नामक एक युवक को बचाने के बाद वह उस परिवार के सम्पर्क में आ गई और वही से विनय और सोफिया का विकास प्रेमी-प्रेमिका के रूप में होने लगा। 'कर्मभूमि' की नायिका सुखदा के चरित्र का विकास भी मदिर वाली घटना के कारण हुआ था। आवेश में आकर एक बार जो वह अछूत सत्याग्रहियो पर लाठियाँ पडती देखकर उस आन्दोलन में कूद पडी कि समाज-सेवा उसके जीवन का मुख्य अग बन गया जिसके लिए पहले वह अपने पति को कोसा करती थी।

(ख) चरित्र के विविध रूपों के प्रकाशन के लिए

कई बार प्रेमचन्द छोटी-छोटी घटनाओ के समावेश से ही पात्रो के विभिन्न चारित्रिक गुणो का चित्रण बडे प्रभावपूर्ण ढग से कर देते है। वह पात्रो को किसी परिस्थिति विशेष में डाल देते है और उस समस्त परिस्थिति का और उसके प्रति पात्र की प्रतिक्रिया का इस ढग से वर्णन करते है कि घटना के साथ-साथ पात्र के चरित्र का एक नवीन रूप भी उद्घाटित हो जाता है।

'निर्मला' उपन्यास में साँप वाली छोटी सी घटना बडी सुन्दरता से तोताराम की पोल खोल देती है। निर्मला को प्रभावित करके अपनी ओर खींचने के लिए तोताराम उसे अपनी बहादुरी की अनेक गप्पें सुनाता रहता था। पर एक दिन अचानक उनके घर में कही से साँप निकल आया। साँप का नाम सुनते ही तोताराम के होश उड गए। वह पकडो-मारो का शोर तो मचाता रहा पर स्वय बाहर निकलकर नही आया। आया तो तब जब मन्साराम साँप को एक ही वार मे समाप्त करके उसे हाकी पर लटकाए चला आ रहा था। इस एक ही घटना से तोताराम की कायरता और मन्साराम की वीरता व्यक्त हो जाती है और साथ ही उन दोनों के चरित्र की तुलना भी हो जाती है।

'सेवासदन' में सुमन द्वारा पद्मसिह को स्वर्ण कगन लौटाने की घटना का वर्णन करके लेखक पाठको पर उसके चरित्र की पवित्रता की धाक बैठा देता है कि वेश्या-वृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी उसने वेश्याओ के हथकण्डो को नही अपनाया था। 'कायाकल्प' मे चक्रधर द्वारा धन्नासिह के भाई की पिटाई वाली घटना के समावेश से लेखक उसके चरित्र-विकास मे आए एक नए मोड की ओर पाठको का ध्यान दिला देता है। इस घटना ने चक्रधर तक को यह मानने के लिए बाध्य कर दिया कि धन और पद के घमण्ड ने उसकी भी मति भ्रष्ट कर दी थी।

गोदान में भी दमडी बंसोह की और हीरा के घर की तलाशी वाली घटनाओ द्वारा लेखक होरी के स्वभाव के दो विभिन्न रूपो का दिग्दर्शन करा देता है। वही होरी जो बाँसों के सौदे में कुछ-एक पैसो के लिए अपने भाई हीरा से धोखा करना चाहता था, उसके घर छोड़कर चले जाने पर बिना किसी इच्छा से उसकी खेती का

सारा काम ही नहीं करता, प्रत्युत् जब पुलिस उसकी तलाशी लेने आती है तो आबरू बचाने के लिए रुपए उधार लेकर थानेदार को घूँस तक देने के लिए तैयार हो जाता है।[८]

(ग) तात्कालिक मनोस्थिति के चित्रण के लिए

प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में यत्र-तत्र घटनाओं का समावेश अपने पात्रों की तात्क्षणिक मनोस्थिति के चित्रण के लिए भी करते रहते हैं। वेश्यावृत्ति छोड़ते समय सुमन ने अपने ग्राहकों में से एक की दाढ़ी जला दी, एक के मुँह पर रोगन पेंट कर दिया। इस घटना के उल्लेख द्वारा प्रेमचन्द ने उसकी उस समय की मनोस्थिति का बड़ा सजीव चित्रण किया है। उसमें वेश्यालय के वातावरण तथा वहाँ के व्यक्तियों —ग्राहकों के प्रति सुमन का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। 'प्रेमाश्रम' में अपने पुत्र बलराज को पकड़े हुए देखकर मनोहर द्वारा सिपाहियों को धक्का दे देने की घटना से मनोहर की तत्कालीन आवेशपूर्ण मनोदशा का उद्घाटन हो जाता है। 'गबन' में रामनाथ के भाग जाने वाली घटना में उसकी कायरता तथा पलायन-वृत्ति मुखरित हो उठी है। 'वरदान' में कमलाचरण द्वारा अपने सारे पतंग फाड़ देने तथा कबूतरों को उड़ा देने वाली घटना में विरजन की दृष्टि में अपने को ऊँचा उठाने की उसकी प्रवृत्ति अपने यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित हो उठती है।

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

पात्रों के कथोपकथन के सम्बन्ध में प्रेमचन्द का यह सिद्धान्त रहा है कि 'वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वाक्य जो किसी चरित्र के मुँह से निकले उसे पात्र के मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिए।' इसलिए पात्रों की प्रत्येक वार्तालाप द्वारा उन्होंने यदि उनके चरित्र के किसी न किसी अंग या रूप के चित्रण की चेष्टा की हो और इस प्रयत्न में उनके पात्रों के कथोपकथन कभी स्वाभाविकता से अधिक लम्बे हो गए हों और उनमें से भाषण या उपदेश की गंध भी आने लगी हो तो आश्चर्य की बात नहीं। उनके उपन्यासों में कई सवाद तो ऐसे हैं कि उनमें भाग लेने वाले प्रत्येक पात्र के चरित्र के किसी न किसी अंग का उद्घाटन तो हो ही जाता है, साथ ही उन सब के चरित्रों का तुलनात्मक परिचय भी मिल जाता है। प्रेमचन्द बहुधा किसी पात्र के किसी विशेष गुणावगुण के प्रकाशन के लिए ही सवाद की रचना करते हैं, मानो अन्य पात्र उसे बातों में उलझाकर या उकसाकर किसी समस्या के बारे में उसका दृष्टिकोण या किसी विशेष परिस्थिति में उसकी प्रतिक्रिया को जानने के प्रयत्न में हों।

सवादात्मक शैली से प्रेमचन्द ने एक और कार्य भी लिया है, जो उनकी अपनी विशेषता है। सवादों द्वारा वह केवल एक पात्र या उसमें भाग लेने वाले सभी पात्रों की ही तत्कालीन मनोस्थिति का उद्घाटन नहीं करते, प्रत्युत् उसमें समूचे वर्ग, जाति

या समाज की तत्कालीन वृत्ति, उसमें व्याप्त जागरण की लहर या उसके चरित्र की अधोगति स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो उठती है। यहाँ लेखक का ध्यान सवाद द्वारा किसी एक या अनेक पात्र के चरित्र-उद्घाटन की ओर न होकर समूचे समाज के किसी चारित्रिक गुण की अभिव्यक्ति की ओर होता है।

चरित्र का तुलनात्मक परिचय

सवादों द्वारा प्रेमचन्द परिस्थिति विशेष मे पात्रों के दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तो कर ही देते है, साथ ही उनके उस दृष्टिकोण के प्रेरक चारित्रिक गुणावगुणों का तुलनात्मक परिचय भी करा देते है। प्रेमचन्द ने इस रूप मे सवादो का खूब प्रयोग किया है। 'निर्मला' उपन्यास के आरम्भ मे ही नायिका के माता-पिता का गरमा-गरमी मे हुआ सवाद एक ऐसी घटना को तो जन्म देता ही है, जिससे उपन्यास के कथानक को गति मिली और नायिका के चरित्र को विकास के लिए मार्ग भी, साथ ही उससे दोनो—कल्याणी तथा उदयभानु की—गर्म प्रकृति का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार का उष्णरक्त वाला दम्पत्ति सेवासदन मे मिलता है—सुमन और गजाधर। घर छोड़ते समय, अपने पति के प्रति सुमन के शब्दो मे—'क्या तुम ही मेरे अन्नदाता हो ? जहाँ मजदूरी करूँगी वही पेट पाल लूँगी······क्या संसार में सब स्त्रियों के पति होते है ?'[१४५] में उसका उग्र स्वभाव निखर पड़ता है। स्वभाव की वैसी ही उग्रता निर्मला की माता कल्याणी के इन शब्दो मे भी स्पष्ट हो सकती है : 'तुम्हारा घर तुम्हे मुबारक रहे, मेरे लिए पेट की रोटियो की कमी नही······ईश्वर की सृष्टि मे असख्य प्राणियो के लिए जगह है, क्या मेरे लिए नही।'[१४६] सुमन और कल्याणी तो तरख स्वभाव वाली थी ही, पर जब उन्हे पति भी उसी प्रकार गर्म प्रकृति के मिल गए तो उनकी गृहस्थी चैन से न चल सकती थी और न चली। ये दोनो सवाद उपन्यास के कथानकों को तो गति देते ही है साथ ही सवाद मे भाग लेने वाले दम्पति के स्वभाव की उग्रता को भी स्पष्ट कर देते हैं।

इसी प्रकार निर्मला उपन्यास में जब मोटेराम शास्त्री बाबू भालचन्द के पास उनके पुत्र तथा निर्मला के विवाह की बात आगे बढाने के लिए जाता है तो उस समय भालचन्द और रंगीली के संवाद मे[१४७] लेखक बड़ी सुन्दरता से पति-पत्नी के चरित्र की तुलना उपस्थित कर देता है। स्पष्टवादिनी रगीली यह कह चुकने के बाद कि 'साफ बात करने से सकोच क्या ? हमारी इच्छा है, नही करते। किसी का कुछ लिया तो नही है' जब निर्मला की माँ का करुणापूर्ण पत्र पढ़ती है तो पसीज उठती है। उसका पसीज उठना लेखक ने उसके इन शब्दो में कितनी मार्मिकता से व्यक्त

१४५. प्रेमचन्द, 'सेवासदन' पृ० ४८-४६।
१४६. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ६-१०।
१४७. वही, पृ० २३-२४।

किया है : 'अभी ब्राह्मण बैठा है न ?"। मालचन्द को, जो रंगीली के कन्धे पर रखकर बन्दूक चलाना चाहता था, हृदय में उमडी करुणा को भाँप अपना पैंतरा यों बदलना पड़ा, "तुम्हारे ही कारण मुझे अपनी बात खोनी पडी। अब तुम फिर रंग बदलती हो। यह तो मेरी छाती पर मूँग दलना है। आखिर तुम्हें मेरे कुछ तो मान-अपमान का विचार करना चाहिए।" इस संवाद मे जहाँ रंगीली की स्पष्टवादिता दयार्द्रता तथा वाक्पटुता का पता चलता है, वहाँ उसके पति भालचन्द की नीच प्रवृत्ति—धनलोलुपता का भी विशेष परिचय मिल जाता है।

इसी प्रकार 'गबन' में जालपा से विवाह पर दिए हुए आभूषण कैसे वापिस लेने चाहिएँ, जब इस समस्या पर रमानाथ तथा दयानाथ में वार्तालाप होता है तो उससे पिता-पुत्र के परस्पर विरोधी स्वभावों का अच्छा दिग्दर्शन हो जाता है। एक ओर बेटा है जो अपनी पत्नी से गहने वापिस माँगने की अपेक्षा रात को चोरी से उठा लाना अपने लिए सहज समझता है और दूसरी ओर उसका पिता है जो आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी घूस लेना प्रारम्भ करने के विचार तक को प्रश्रय नहीं देना चाहता। पिता और पुत्र के चरित्र में कितना महान् अंतर है। कर्मभूमि मे अमरकान्त और सकीना के संवाद में[१४८] उन दोनों के चरित्र की तुलना कितने सुन्दर ढंग से हुई है। जहाँ अमरकान्त के इस कथन में 'क्यों न इसी वक्त हम और तुम कहीं चले जाएँ ?' उसकी वासना नग्न होकर नाच उठती है, वहाँ सकीना के इस उत्तर में उसके प्रेम की पवित्रता झलकती है 'नहीं, वह जाहिरा मुहब्बत है। असली मुहब्बत वह है, जिसकी जुदाई में भी विलास है, जहाँ जुदाई है ही नहीं, जो अपने प्यारे से एक हजार कोस दूर होकर भी अपने को उसके गले से मिला हुआ देखती है।' सकीना का यह उत्तर स्पष्ट प्रमाण है कि उसका प्रेम 'दूध के उफान की तरह नहीं कि आया और उबल पड़ा ; प्रत्युत् उसमें सागर की-सी गहराई है।'

इस प्रकार पात्रों के चरित्र-विकास की विभिन्न अवस्थाओं का तुलनात्मक शैली में चित्रण करने के लिए प्रेमचन्द ने कथोपकथनों से खूब काम लिया है। कोरा विश्लेषणात्मक वर्णन पाठकों को ऊबा देता, पर संवादों से रोचकता निरंतर बनी रही है।

व्यक्ति पात्र का चरित्रचित्रण

प्रेमचन्द कई बार किसी एक पात्र के गुणावगुणों को प्रकाश में लाने के लिए या उसके चरित्र के विविध रूपों के चित्रण के लिए संवादों की रचना कर देते हैं। ऐसे संवादों में भाग तो दो या दो से अधिक पात्र लेते हैं, पर चरित्र-प्रकाशन उनमें से केवल एक का ही होता है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य पात्रों ने वार्तालाप का आरम्भ ही उस पात्र के उस गुणावगुण को उघाड़ने के लिए

किया हो। 'रंगभूमि' में भैरों द्वारा सूरदास के घर को आग लगा देने पर मिठुआ और सूरदास में जो वार्तालाप होता है, वह इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है —

"मिठुआ ने पूछा —'दादा' अब हम रहेंगे कहाँ ?'
सूरदास—'दूसरा घर बनाएँगे।'
मिठुआ—'और फिर कोई आग लगा दे ?'
सूरदास—'तो फिर बनाएँगे।'
मिठुआ—'और कोई सौ लाख बार लगा दे ?'
सूरदास ने उसी बालोचित सरलता से उत्तर दिया—"तो हम भी सौ लाख बार बनाएँगे।"[१४९]

इस संवाद की रचना केवल यह दिखाने के लिए हुई कि सूरा बड़े जीवट का आदमी है, उसमें अटूट हिम्मत है। 'रंगभूमि' के आरम्भ में ही गनेश गाड़ीवान-सूरदास संवाद में भी सूरदास के चरित्र के कई रूप प्रकाश में आ जाते हैं। इसमें उसका मनमौजी स्वभाव तो व्यक्त होता ही है, उसके इन शब्दों में कि 'कोई ऐसी जगह बताओ, जहाँ धन मिले और भिखमंगी से पीछा छूटे' तथा 'घर वाली की कमाई खाकर किसी को मुँह दिखाने लायक भी न रहूँगा' में उसका आत्म-गौरव भाव पूर्णरूपेण प्रतिबिम्बित हो उठा है।

इसी प्रकार 'निर्मला' के डा० सिन्हा का प्रथम परिचय हमें निर्मला से विवाह कराने के प्रश्न पर उसके और उसकी माँ के बीच हुए वार्तालाप[१५०] से स्पष्ट हो जाता है। उसके ये शब्द उसके चरित्र का दर्पण बन जाते हैं और उसमें उसका लालची स्वभाव झलक पड़ता है. "कहीं ऐसी जगह शादी करवाइये कि खूब रुपये मिलें ; और न सही एक लाख का तो डौल हो। वहाँ अब क्या रखा है। वकील साहब रहे ही नहीं। बुढ़िया के पास अब क्या होगा ...मैं जायदाद नहीं चाहता बस एक लाख नकद हो। या फिर कोई ऐसी जायदाद वाली बेवा मिले जिसकी एक ही लड़की हो।" माँ के यह कहने पर कि औरत चाहे कैसी हो, वह उत्तर देती है. "धन सारे ऐबों को छिपा देगा। मुझे वह गालियाँ भी सुनाए तो चूँ न करूँ। दुधारू गाय की लात किसे बुरी मालूम होती है।" 'कर्मभूमि' में जब सुखदा जेल छोड़ने से पहले अमरकान्त से मिलने के लिए तैयार होती है, उस समय का सुखदा-सकीना-संवाद[१५१] बड़ा ही सुन्दर बन पाया है :—

सकीना—'मैं क्या संदेशा कहूँगी ? बहूजी आप इतना ही कह दीजिए—नैना देवी चली गई, पर जब तक सकीना जिन्दा है, आप उसे नैना ही समझते रहिए।"

---

१४९. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० १३५।
१५०. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० २६।
१५१. प्रेमचन्द, 'कर्मभूमि', पृ० ४०२।

सुखदा ने निर्दय मुस्कान से कहा—"उनका तो तुम से दूसरा रिश्ता हो चुका है।"

सकीना ने जैसे इस वार को काटा—"तब उन्हें औरत की जरूरत थी, आज बहन की जरूरत है।"

सुखदा ने सकीना को इस प्रकार की बातों में इसीलिए उलझाया था कि उसे उकसाकर उसके मन की बात जान सके। सकीना के उत्तर ने उसकी तसल्ली कर दी। सकीना के एक-एक शब्द में उसकी सहृदयता, नम्रता और वाकपटुता फूट पड़ रही है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में इस प्रकार के संवाद भरे पड़े है, जिनका निर्माण पात्रों के चरित्र के किसी विशेष रूप के उद्घाटन के लिए ही हुआ है।

जाति या वर्ग की मनोवृत्ति का चित्रण

उपन्यासों में प्रेमचन्द का ध्यान व्यक्ति विशेष के चित्रण की ओर न रह कर तत्कालीन समाज के विभिन्न रूपों तथा उसकी प्रवृत्तियों की ओर रहा है। जहाँ वह किसी पात्र विशेष का चरित्रचित्रण करते है, वहाँ वह पात्र भी प्राय वर्ग प्रतिनिधि के रूप में ही हमारे सामने पुनता है। कई बार वह वर्ग-प्रतिनिधि के रूप में किसी एक पात्र को न लेकर एक से अधिक छोटे-छोटे पात्रों को लेकर संवादात्मक शैली में उस समाज या वर्ग की तत्कालीन मनोस्थिति का दिग्दर्शन करा देते हैं। यहाँ 'प्रेमाश्रम' के उस संवाद का उल्लेख किया जा सकता है जो कारिन्दों द्वारा गाँव के तालाब का पानी रोक देने की घटना की चर्चा करते हुए सुक्खु चौधरी और कादिर मियाँ में हुआ।[१५२] इस संवाद में इन दोनो द्वारा व्यक्त भावना केवल उनकी ही नहीं, समस्त गाँव की है। सुक्खु का यह कहना कि 'लाठी है किस दिन के लिए ?' और कादिर का उपकथन है कि 'किस के बूते पर लाठी चलेगी, गाँव में रह कौन गया, अल्लाह ने पट्ठों को चुन लिया,' और सुक्खु के प्रत्युत्तर 'पट्ठे नहीं हैं, न सही, बूढ़े तो है। हम लोगों की जिंदगानी किस काम आएगी,' में गाँव की पीड़ित तथा शोषित जनता में एक ओर तो बदले की आग सुलगती दिखाई देती है और दूसरी ओर उस पर पड़ी उनकी असहाय अवस्था की राख भी नजर आती है।

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

पात्रों की अपनी क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा उनके विशेष चारित्रिक गुणावगुणों के प्रकाशन के साथ-साथ प्रेमचन्द दूसरे पात्रों पर पड़े उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रभाव को भी चित्रित करते जाते है। किसी पात्र के सम्बन्ध में अन्य पात्रों के विचार प्रकट करने के लिए तथा उन पर पड़े उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं के

१५२. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० १०१।

सम-सामयिक प्रभाव को व्यक्त करने के लिए, वह अन्य पात्रों को [illegible] चर्चा का विषय बनाकर उनसे उस पर या उसके चरित्र के किसी विशेष अंग पर टीका-टिप्पणी कराते रहते है। उस पात्र के वहाँ उपस्थित न होने के कारण अन्य पात्र उसके चरित्र के बारे में या चरित्र के किसी विशेष गुणावगुण के बारे में अपना स्वतन्त्र मत प्रकट कर सकते है।

प्रशंसा

उन पात्रो की टीका-टिप्पणी कही मित्र-प्रशसा अथवा शत्रु-निन्दा का रूप न ग्रहण कर ले, इसके लिए उनका प्राय यह प्रयत्न रहा है कि टीका-टिप्पणी करने वाला या वाले तटस्थ हो, पर बहुधा जब कोई तटस्थ पात्र नहीं मिल पाता और उन्हे पात्र के किसी विशेष गुणावगुण की धाक बैठानी होती है तो वह प्रशसात्मक टिप्पणी उस पात्र की अनुपस्थिति में उसके किसी शत्रु से करवाते है और निन्दात्मक मत उसके किसी हितु-सम्बन्धी या मित्र आदि का प्रकट करते है, जिससे उनके मत विश्वसनीय माने जायँ। जिस व्यक्ति की प्रशसा उसकी अनुपस्थिति में उसके शत्रु तक भी करे, उसके चरित्र में अवश्य कोई असाधारण गुण होगा। जो अपने सम्बन्धी और मित्रो तक की दृष्टि में भी गिरा हुआ हो, उसके चरित्र में जरूर कही कोई असगति होगी।

निष्पक्ष आलोचक

निष्पक्ष आदमी बहुत कम मिलते है, फिर भी 'निर्मला' के मोटेराम शास्त्री को इस रूप मे निष्पक्ष कहा जा सकता है कि निर्मला की होने वाली सास, रगीली से न तो उसकी कोई शत्रुता थी और न ही कोई भाई-चारा। निर्मला के विवाह की बात टूट जाने पर भी वह वापिस लौटकर रगीली की प्रशसा मुक्त कण्ठ से करता है : 'लडके की माँ अलबता देवी थी। उसने पुत्र और पति दोनो ही को समझाया पर उसकी कुछ न चली।'[153] 'प्रेमाश्रम' का कादिर मियाँ अपने गाँव का निष्पक्ष नेता था। मनोहर की आत्मसम्मान की भावना ने उसे मोह लिया था। गौस खाँ की हत्या के अपराध में मनोहर के पकडे जाने पर वह गाँव वालो से कहता है : 'हम सब के सब कायर है, वही एक मर्द है।'

शत्रु द्वारा प्रशंसा

इसी प्रकार, प्रेमचन्द के नायक-नायिकाओ के साहस और त्याग, धैर्य और मनोबल, सहृदयता और निःस्वार्थ-भाव आदि की प्रशसा जब उनके शत्रुओ तक को करते पाते है, तो उनके गुणों की असाधारणता पर हमारा विश्वास जम-सा जाता है। 'रगभूमि' मे सूरदास के धैर्य और त्याग का बखान उसके शत्रु तक करते है। जॉनसेवक को भी यह स्वीकार करना पडा कि 'वह (सूरदास) बड़े जीवट का आदमी

---

१५३. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० ११५।

है, आसानी से काबू में आने वाला नहीं।'[१५४] उसके चरित्र के जननायकत्व की महत्ता को मि० क्लार्क तक मानता है। राजा महेन्द्रप्रताप से उसकी बातचीत के बीच यह बात प्रकट हो जाती है 'हमें आप जैसे मनुष्यों से भय नहीं, भय ऐसे ही (मेरे जैसे) मनुष्यों से है जो जनता के हृदय पर शासन करते हैं।'[१५५] सोफिया से रुष्ट रहने पर भी रानी जाह्नवी विनय के प्रति उसकी सहृदयता को पहचानने में नहीं चूकती : 'मैं अपनी संकीर्णता के कारण सोफिया की कितनी ही उपेक्षा करूँ, पर वह सती है, इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं।'[१५६] 'गबन' की नायिका जालपा के चरित्र की महानता को उसके पति रमा की वेश्या जौहरा तक मान गई। वापिस लौटकर वह रमा से कहती है : "मैंने बड़े-बड़े काइयाँ और छँटे हुए शोहदों और पुलिस अफसरों को चपरगट्टू बनाया है, पर उनके (जालपा के) सामने जैसे मैं भीगी बिल्ली बनी हुई थी।"[१५७] इन पात्रों की प्रशंसा उनके शत्रुओं तक को करते देख उनकी सच्चरित्रता पर पाठकों का विश्वास जम जाता है।

मित्र द्वारा निन्दा

प्रेमचन्द को जब अपने किसी पात्र के चारित्रिक दोषों को सिद्ध करके उसके प्रति पाठकों का घृणा-भाव जागृत करना होता है तो उसके बारे में वह उनके शत्रुओं का मत प्रकट करना उतना आवश्यक नहीं समझते जितना कि उनके सम्बन्धियों या मित्रों का। उनके बारे में वह यह बताना अत्यावश्यक समझते हैं कि वे पात्र, अपनों तक की दृष्टि में गिरे हुए हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लेखक को अपने पात्रों के दोषों के बारे में उनके हितु-सम्बधियों की राय का स्वयं अपने शब्दों में ही वर्णन करना होता है, क्योंकि ऐसी सम्मतियाँ उनके हितैषियों के अपने मन में ही सुरक्षित रहती हैं, किसी अन्य पर टीका-टिप्पणी के रूप में प्रकट नहीं हो पाती ; कारण ऐसी बातें करना निन्दा करने के बराबर समझा जाता है, और निन्दा मित्रों की, की नहीं जाती। 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर के बारे में उसका बचपन का मित्र ज्वालासिंह सोचता है : 'इस मनुष्य में बुद्धि, बल और दुर्जनता का कैसा विलक्षण समावेश हो गया है।'[१५८] उसकी अपनी पत्नी विद्या को 'पति की संकीर्णता पर खेद होता था, लेकिन कुछ और कहते डरती थी कि कहीं उनकी दुष्कामना और भी दृढ न हो जाय।'[१५९] 'रंगभूमि' के विनय की प्रेमिका सोफिया का भी जो उसके लिए निरन्तर यातनाएँ सहती रही थी, उस पर विश्वास नहीं जमता था। 'उसे भय था कि कदाचित् विवाह के पश्चात् उनका दाम्पत्य जीवन सुखमय न हो।'[१६०] वह विनय के ढुलमुल स्वभाव से परिचित हो गयी थी।

इस प्रकार पात्रों के चरित्र के बारे में उनके मित्रों-सम्बन्धियों आदि की गुप्त धारणा जान लेने पर उनके चरित्र की हीनता में हमें संदेह नहीं रहता।

---

१५४. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० २१८।
१५५. वही, पृ० ८३३।
१५६. वही, पृ० ८८१।
१५८. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृ० ३४।
१५९. वही, पृ० ३०।
१६०. प्रेमचन्द, 'रंगभूमि', पृ० ५१३।

जयशङ्कर 'प्रसाद'

परिचयात्मक विवेचन

जयशंकर 'प्रसाद' मूलत कवि थे,[1] प्रकृत्या स्वच्छन्द और उन्मुक्त। उनके अन्य सभी रूप आनुषंगिक है। इसलिए उनकी किसी भी साहित्य-कृति को, वह नाटक, उपन्यास, कहानी आदि कुछ भी हो, उनकी काव्यकृतियों मे रखकर ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है। जीवन की कठोर सत्यता की अनुभूति और तज्जनित घोर निराशा जो पहली बार उनके काव्य-संग्रह 'झरना' मे झलकी और उत्तरोत्तर बल पकडती हुई[2] 'आंसू' और 'कामायनी'[3] में चरम-सीमा को छू गई, उसकी कसक उनके 'कंकाल'[4] की नस-नस में व्याप्त है। 'कंकाल' प्रसाद की अन्य कृतियो से भिन्न कोई असफल[5] प्रयोग नही, उनके दर्शनानुकूल मानव-कंकाल के उद्धार की ओर पहला कदम है।

---

१. (क) नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', भारती-भण्डार, इलाहाबाद, स० २००४, पृ० ६३-६४।

(ख) इलाचन्द्र जोशी, ''प्रसाद जी की कथा-साहित्य और कंकाल'', 'कल्पना', फरवरी १९५१।

''प्रसादजी प्रधानत. कवि थे। इसलिए अपनी जिन रचनाओं में वह काव्यात्मक भावना अधिक प्रस्फुटित करने में प्रयत्नशील रहे है, उनमें एक मोहक सुन्दरता भरने मे सफल हुए है और जिनमें वह जीवन के यथार्थ की ओर अधिक झुके है, उनमे उन्हे उतनी सफलता नहीं मिल पाई है।''

२. प्रसाद, 'आंसू', भारती-भण्डार, इलाहाबाद, ७वां संस्करण, स० २००३, पृ० १४।

''जो घनीभूत पीडा थी मस्तक में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आंसू बनकर वह आज बरसने आई।।''

३. प्रसाद, 'कामायनी', दर्शन सर्ग :

''यहां सतत संघर्ष विफलता
कोलाहल का यहां राज है,
अंधकार में दौड़ लगा रही
मतवाला यह सब समाज है।।

४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ८४-८६।

५. (क) श्रीवास्तव, 'हिन्दी उपन्यास', पृ० २३८-२३९।

''कंकाल में चित्रित जीवन एकांकी है ···'कंकाल' की यह त्रुटि सम्भवत स्वयं प्रसाद को भी खटकी और इसलिए उनकी 'तितली', इस अंधेरी दुनिया से उड़कर खुली हवा और प्रकाश में आई। ···· 'सम्भवत' प्रेमचन्द जी के ग्रामीण चित्रों की मनोहरता देखकर प्रसाद जी भी इस लोभ का संवरण न कर सके।''

(ख) प्रभाकर माचवे, ''हिन्दी उपन्यास और चित्रलेखा'', 'वीर अर्जुन', १७ नवम्बर, १९४७।

कंकाल में व्यक्तिवाद

जीवन की निम्न अनुभूतियों ने समाज के प्रति प्रसाद के विश्वास को झँझोड़ कर उन्हें जॉन किस की भाँति व्यक्तिवादी बना दिया था। समाज की प्रचलित मान्यताओं, उसके निर्धारित मूल्यों तथा विधि-निषेधों के प्रति उन्हें घोर अनास्था हो गई थी।[६] उन्हें विश्वास हो गया था कि अपनी रूढ़िबद्ध धारणा के वशीभूत समाज जिस वर्ग को उच्च, मान्य और आदर्श समझकर प्रतिष्ठित किए हुए है, वह सच्ची मनुष्यता से कोसों दूर है और अपने पूर्व-ग्रह के कारण वह जिसे सड़ा-गला और निकृष्ट समझकर बहिष्कृत किये हुए है, उसमें अभी मनुष्यता शेष है।[८] अपने इसी विश्वास को व्यक्त करके छिन्नाधार संघर्ष-पीड़ित मानव-प्राणियों में स्वस्थ चेतना जगाने के लिए 'कंकाल' की रचना हुई। इसलिए 'कंकाल' का मुख्य विषय ये मानव-कंकाल बने। प्रेमचन्द की कोरी उपदेशात्मकता को न अपनाकर प्रसाद ने व्यंग्यात्मक शैली से काम लिया और कथानक को ऐसा रूप दिया जिससे रूढ़िबद्ध जातीय प्रतिष्ठा की पोल खुले और साथ ही इस निष्कासित वर्ग के सतत संघर्षमय जीवन की कठोर यथार्थताओं के चित्रण द्वारा यह दिखाया जा सके कि उन्हें उनकी इस दशा तक पहुँचाने वाले उस तथाकथित उच्च वर्ग के स्वार्थपूर्ण कुकृत्य ही हैं।

ढुलमुल पात्र

इस प्रकार के कथानक को निभाने के लिए प्रसाद को एक तो ऐसे पात्रों की आवश्यकता पड़ी जिनका अस्तित्व ही समाज-व्यवस्था के लिए भारी खतरा समझा जाता हो। विजय, तारा तथा मोहन जैसी जारज सन्तानें, यमुना की-सी अविवाहित मातायें, गुलेनार जैसी बाल वेश्यायें, लतिका के समान धर्मच्युत-स्त्रियाँ, घंटी की-सी अज्ञात कुल-शील छोकरियाँ इत्यादि, समाज की दृष्टि में घृणित समझे जाने वाले, ऐसे ही मानव-प्राणी है जो जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर गिरते-पड़ते असंख्य नारकीय यातनायें भोगते रहते है और जिनकी आहों-कराहों के प्रति उदासीनता का भाव बनाये रखना समाज अपने लिए गौरव की बात समझता है। प्रसाद ने इन लोगों का इनके गुण-दोषों सहित चित्रण किया है, प्रेमचन्द की भाँति इनमें

६. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', पृ० ४२।

७ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ७०।

"जिन्हें आवश्यकता नहीं, उन्हें बिठाकर आदर से भोजन कराया जाए" जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है,... वे मनुष्य कुत्तों के साथ जूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।"

८ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६०।

"किशोरी, मैंने खोज कर देखा कि मैंने जिसे सबसे बड़ा अपराधी समझा था वही सब से अधिक पवित्र है।"

कोरी आदर्शवादिता फूंकने का प्रयत्न नहीं किया। इस वर्ग की विवशताओं के प्रति प्रसाद की पूर्ण सहानुभूति होते हुए भी इनमें से कोई पुरुष-पात्र धीरोदात्त नायक के रूप में विकसित न हो सका और न ही कोई स्त्री पात्र सती-साध्वी नायिका के रूप में। लेखक ने उनके विकास में कृत्रिमता न लाकर उन्हें उनके स्वभाव और परिस्थितियों के अनुसार ही दुर्बल और ढुलमुल रहने दिया है। इसलिए वे 'प्रेमचन्द के कृत्रिम आदर्शवादी नायक-नायिकाओं की अपेक्षा अधिक सजीव और जीवन के अधिक निकट हो सके हैं।'[९]

शोषक वर्ग

दूसरी प्रकार के पात्र प्रसाद ने उस वर्ग में से चुने जो समाज में सदा से उच्चासन ग्रहण किये हुए है—अपनी योग्यता या गुणों के आधार पर नहीं, बल्कि प्रचलित समाज-व्यवस्था की त्रुटियों से अनुचित लाभ उठाकर—और दीन-हीन असहाय प्राणियों का जोंक के समान रक्तशोषण करके उन्हें कंकाल बनाये जा रहा है। गुरुडम[१०] की आड़ में व्यभिचार फैलाने वाले धर्म के ठेकेदार मठाधीश-महन्त निरंजन, यन्त्र-तन्त्र-विद्या की धाक बैठाकर लड़की से लड़का बना सकने की दुहाई देने वाले ठग रामदेव, 'परोपदेशपाण्डित्यम्' के सिद्धान्त वाले समाज-सुधारक-जाति-सेवक मगन, झूठे प्रेम-जाल फैलाकर अबलाओं के धन और सतीत्व दोनों पर हाथ साफ करने वाले धन-लोलुप श्रीचन्द, अपनी कन्या की विवशतापूर्ण स्थिति समझे बिना उसके सतीत्व पर सन्देह करके उसके लिए समाज के द्वार बन्द कर देने वाले तारा के पिता इत्यादि का निर्माण इसी रूप में हुआ। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान और क्या ईसाई सब के सब वासना की वेगवती धारा में बहे चले जा रहे हैं, यह दिखाने के लिए लेखक को लतिका के पीछे पागल हुए फिरने वाले धार्मिक बिशप साहब, कलामूर्तियों के नाम पर कोमलांगना मानव-मूर्तियों की टोह में रहने वाले बाथम साहब, सोने-चाँदी के कुछ सिक्कों की चमक दिखाकर अबला नारियों का, उनके कुलशील की चिन्ता किये बिना, सतीत्व नष्ट करने वाले मिरजा जैसे कई पात्रों की अवतारणा हुई।

आर्थिक शोषण नहीं

यद्यपि प्रेमचन्द के पात्रों की तरह 'कंकाल' के पात्रों के भी 'शोषक' और 'शोषित' नाम से दो भेद किए जा सकते हैं, तो भी यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि प्रेमचन्द के औपन्यासिक पात्रों की भांति इस उपन्यास में केवल आर्थिक शोषण को ही शोषण नहीं समझा गया। इस उपन्यास के कई शोषित पात्र आर्थिक

९. इलाचन्द्र जोशी, 'प्रसाद जी का कथा-साहित्य और कंकाल', 'कल्पना', फरवरी, १९५१।
१०. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ७८।

दृष्टि से तो काफी समृद्ध है। निरजन द्वारा जो शोषण हुआ वह आर्थिक शोषण न था, प्रत्युत् वह नैतिक शोषण था। इसी प्रकार किशोरी, तारा और लतिका का क्रमशः निरञ्जन, मगलदेव और बाथम द्वारा जो शोषण हुआ वह आर्थिक शोषण नहीं कहा जा सकता। उपन्यास के नायक विजय की समस्या भी आर्थिक न थी बल्कि यदि वह समाज-सम्मत रुढिबद्ध आचरण अपना लेता तो वह धनी-मानी सेठ बनकर ऐश करता होता, पर क्योंकि यह समाज के कृत्रिम सत्य का तिरस्कार करके व्यापक सत्य की खोज में निकल पड़ा, समाज ने चिढ़कर उसके मार्ग मे ऐसे काँटे बिछा दिए कि उसका स्वाभाविक विकास न हो पाया। वास्तव में, ककाल की मूल समस्या ही यह है कि समाज सभी को अपने कठघरे मे बन्द करके व्यक्तित्वहीन बौने बनाए चला जा रहा है। यह बात कंकाल के पात्रों को इसलिए भी खटकती है कि वे अनपढ ग्रामीण नही, प्रत्युत् आधुनिक युग के जागरूक नागरिक है।

'तितली' में व्यक्ति की महानता

प्राचीन भारतीय आदर्शों से विमुख होकर चमकीली पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण करने वालों को भारतीय व्यक्तिगत साधना[१२] की जीवनोपयोगिता दिखाने के लिए 'तितली' की रचना हुई। 'तितली' का लक्ष्य कंकाल के लक्ष्य से भिन्न नही। सस्थावाद की अनिवार्य बुराइयों से व्यक्ति की रक्षा के महान् लक्ष्य की पूर्ति की ओर ककाल यदि पहला कदम है तो तितली[११] दूसरा। ककाल द्वारा समाज के रूढिबद्ध जातीय-दम्भ तथा कृत्रिम विधि-निषेधो पर गहरा व्यंग्य कसते हुए उसके प्रति जागरूकता फैलाने के पश्चात् व्यक्ति की शक्ति की अपरिमितता में दृढ विश्वास पैदा करने के लिए कठोर व्यक्तिगत साधना नितान्त आवश्यक थी। इसके लिए उन्हे एक ऐसे पात्र की जरूरत पडी जो संस्थावाद के आँधी-तूफानो के आगे पर्वत के समान अड़ जाय—गर्व के साथ अपना ललाट उन्नत किये, अपनी साधना में मस्त। सदा से ही उस कसौटी पर खरी उतरती आने वाली भारतीय नारी के रूप में तितली की अवतारणा हुई, जिसमें नारी और सतीत्व का प्राचीन भारतीय आदर्श मूर्त हो उठा।[१३] तुलना द्वारा इसका महत्त्व[१४] दिखाने के लिए पश्चिमी सभ्यता में पली अंग्रेज महिला शैली की रचना हुई, जो भारतीय सिद्धान्तो को स्वीकार कर लेने

११. नन्ददुलारे बाजपेयी, 'जयशंकर प्रसाद', पृ० १०४।

१२ प्रसाद, 'तितली', पृ० १०१ :

"भारतीय आत्मवाद के मूल में व्यक्तिवाद है; किन्तु उसका रहस्य है समाजवाद की रूढियों मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना।"

१३. वही, पृ० २६७।

"बहन शैला ! संसार भर उनको (मधुवन को) चोर, हत्यारा और डाकू कहे; किन्तु मैं जानती हूँ कि वह ऐसे नहीं हो सकते। इसलिए मैं कभी उनसे घृणा नही कर सकती।"

१४. शिवनाथ, 'प्रसाद साहित्य का मूल स्वर', 'संगम' (प्रसाद स्मृति अंक), फरवरी, १९५१।

पर भी उस कड़ी साधना में न टिक सकी।[१५] इन दोनों के साथ ही सृष्टि हुई समाज की रूढ़िवादिता से आक्रान्त उस वर्ग की, जिसमे अनपढ़-अक्खड़-ग्रामीण मधुवन से लेकर बैरिस्टर-जमीदार इन्द्रदेव तक सभी सस्थावाद की चक्की मे पिसे चले जा रहे है।

'तितली' मे भी शोषितो की एक लम्बी लिस्ट है। मधुवन, तितली, इन्द्रदेव और शैला के अतिरिक्त बाल-विधवा राजकुमारी, बेटे-बेटी की चिन्ता में फँसी विधवा माता श्यामदुलारी, व्यसनी पति द्वारा चिरोपेक्षिता बीबी माधुरी, कानून और धर्म के ठेकेदारो के अत्याचारो से सताये हुए देवनन्दन, माधो, रामजस आदि असंख्य किसान, दूसरो की गृह-कलह का कुफल भोगने वाला निरपराधी नौकर रामदीन आदि कितने ही असहाय-निरुपाय लोग बिलखते दिखाई देते है। तितली मे दूसरा वर्ग बना उन पात्रो का जो औरो की कमजोरियों से लाभ उठाकर उन्हे एक-दूसरे के विरुद्ध उकसाते-लड़ाते-भिड़ाते हुए अपना उल्लू सीधा करते रहते है। कानून को हाथ में लेकर मनमानी करने वाला तहसीलदार, गृह-कलह कराकर अपना काम निकालने वाला धूर्त ब्राह्मण सुखदेव चौबे, धर्म का ठेकेदार पाखण्डी महन्त, लेडी डा० के वेश मे दूसरो के पतियों को हथियाने वाली अनवरी, चाँदी के टुकड़ो पर जान देने वाली वेश्या मैना आदि सस्थावाद के गन्दे जल से उत्पन्न ऐसी जोकें है जो मानव का समूचा रक्त चूसकर उसे ठठरी बना देती है।

इरावती

समाज के बन्धनो से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने की ओर 'इरावती' तीसरा कदम है। मँझधार में फँसी समाज की नौका को किनारे लगाने के लिए साधना के चप्पू की आवश्यकता 'तितली' मे स्वीकार कर लेने के बाद प्रसाद उस साधना का आदर्श सगठित करने की चेष्टा मे इतिहास के अनुशीलन की ओर प्रवृत्त हुए। उन्हे विश्वास था कि 'हमे गिरी दशा से उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल नही हो सकता'।[१६] प्रसाद ने इरावती में बौद्ध धर्म के पतन काल के चित्रण द्वारा दिखाने के लिए लेखनी उठाई कि "किस प्रकार समाज को सुन्दर बनाने के लोभ में (सुधार द्वारा) भगवान् तथागत द्वारा निर्दिष्ट श्रेष्ठ पथ को रूढ़ियो मे बाँध देने से बनता-बनता चित्र बिगड़ गया। हमारी अहिंसा हमारी हिंसा करने लगी, हमारा

---

१५. प्रसाद, 'तितली', पृ० २६६, तितली, शैला से :

"बहन, तुम भूल तो नहीं कर रही हो ? तुम धर्म के बाहरी आवरण मे अपने को ढककर हिन्दू स्त्री बन गई हो सही, किन्तु उसकी सस्कृति की मूल शिक्षा को भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी भावना का प्रमाण है।"

१६. प्रसाद, 'विशाख' की भूमिका, प्रथम सस्करण, सन् १६२१।

प्रेम स्पर्धा से द्वेष करने लगा और धर्म पाप बनता गया।"[१७] इस उपन्यास के लिए एक ओर तो चुनाव हुआ सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक रूढ़ियों के अंधभक्तों का। जीवन में आनन्दवाद को सर्वोच्च स्थान देते हुए उसकी साधना में सब कुछ वैध समझने वाला महाकाल के मन्दिर का ब्रह्मचारी तथा उसके शिष्य, मानव-जीवन में से आनन्द की भावना को उखाड़कर उसके स्थान में कारुण्य की स्थापना करने के प्रयत्न में मनुष्य को यन्त्रचालित कठपुतली बना डालने वाले भिक्षुणी-विहार के अनन्य अधिकारी, जराजर्जरित राज्य-व्यवस्था का अंध-भक्त पुष्यमित्र इत्यादि इसी वर्ग के पात्र हैं। दूसरी ओर सृष्टि हुई अग्निमित्र और इरावती के-से पात्रों की जो इन अंधभक्तों के विकृत धर्म और राजनीति का निरंतर शिकार बनते आते हैं। मत्स्यावाद द्वारा उत्पन्न लोगों की विशेषताओं से लाभ उठाकर स्वार्थ साधने वालों का तीसरा वर्ग है, जिसमें मगधराज बृहस्पतिमित्र अग्रगण्य है। इनके अतिरिक्त एक स्वस्तिक दल है विद्रोहियों का जो बेजुबाँ पशुओं की भाँति चुपचाप अत्याचार नहीं सहता और राज्य-व्यवस्था को उलटने के लिए नित्य नये षड्यन्त्र रचता रहता है। 'इरावती' में ऐतिहासिक और कल्पित दोनों प्रकार के पात्र हैं। पुष्यमित्र, अग्निमित्र बृहस्पतिमित्र और खारवेल ऐतिहासिक पात्र हैं और कालिन्दी, इरावती, धनदत्त, मणिमाला आदि कल्पित।

चयन-परिधि

(इस प्रकार, प्रसाद ने विलासी राजाओं, स्वामिभक्त मन्त्रियों तथा सेना-नायकों धर्म के ठेकेदार महन्तों, ब्रह्मचारियों, बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों, पादरियों, समाज के गण्य-मान्य नवाबों, रईसों, सेठों, समाज-सुधारकों-प्रचारकों आदि से लेकर समाज के घृणित-उच्छृंखल लोगों वेश्याओं, जारज सतानों, क्वारी माताओं, क्वारे पिताओं, चोर-उचक्के-गुण्डों, डाकुओं आदि तक सभी को अपने उपन्यासों के पात्रों के रूप में चुना। यद्यपि उनका चुनाव क्षेत्र उतना व्यापक न था जितना कि प्रेमचन्द का,) तो भी इसमें अतिशयोक्ति नहीं कि जिन भी पात्रों को उन्होंने चुना उनके बारे में उन्हें पूरी जानकारी थी। (उन्होंने अपने पात्र प्रधानतया उच्च और निम्न वर्ग में से चुने और वे भी नगर-निवासियों या नगरों से सटे हुए ग्रामों के निवासियों में से; मध्यवर्ग के प्रति उनकी विशेष रुचि न थी) इन दोनों वर्गों की कठिनाइयों और उनकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप से उनका परिचय घनिष्ठ था, विशेषतः उच्चवर्ग की खोखली आदर्शवादिता तथा उसके जातीय दम्भ से। इसीलिये वह उन पर तीखे व्यंग कस सके तथा उनकी पोल खोल सके।

(प्रसाद उच्च वर्ग का चित्रण कर रहे हों या निम्न वर्ग का उनकी विशेष सहानुभूति सदा चिरोपेक्षिता-चिरशोषिता नारी-जाति से ही रही है, क्योंकि वह

१७ प्रसाद, 'इरावती' के आरम्भ में प्रकाशित 'प्रसाद' का संकेत पत्र।

जानते थे कि संस्थावाद के अनिवार्य अत्याचारों का शिकार सबसे अधिक नारी ही होती रही है। बेचारी तारा, घण्टी, तितली, मलिया, राजकुमारी, इरावती आदि की तो हस्ती ही क्या, किशोरी चंदा, श्यामदुलारी, माधुरी इत्यादि आर्थिक रूप से सम्पन्न नारियाँ भी शोषण से न बच पाईं। पुरुष निर्मित समाज में नारी भला बची भी कैसे रह सकती है।[18] पर भारतीय नारी तो अमर है। दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न विपरीत परिस्थितियों के आँधी-तूफानों में भी पर्वत के समान खड़ी-खड़ी रहने वाली नारी की मूक वेदना का चित्रण करते-करते प्रसाद की लेखनी चल पकड़ती जाती है और उनकी कला में उत्तरोत्तर निखार आता जाता है। पुरुष द्वारा शोषित रहने पर भी उसकी सच्ची सहायिका सिद्ध होने वाली नारी के चित्रण में प्रसाद 'प्रसाद' ही हैं कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार आदि किसी भी रूप में। तितली और यमुना (तारा) उनके उपन्यासों की अमर नायिकाएँ हैं। इरावती भी अमर बन गई होती यदि उसके सिर पर से उसके स्रष्टा प्रसाद का साया जल्दी न उठ जाता।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

जयशंकर 'प्रसाद' अपने पात्रों के नामों द्वारा उनके चरित्र-चित्रण की प्रणाली का इतना अधिक प्रयोग तो नहीं करते जितना प्रेमचन्द ने किया है, फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अपने औपन्यासिक पात्रों का नामकरण करते समय उनके सामने भी उन पात्रों के चरित्र के भावी विकास की रूपरेखा अवश्य रही होगी। 'प्रसाद' के अनेक पात्रों के नामों से भी उनके स्वभाव का थोड़ा-बहुत परिचय मिल जाता है। उनके जिन पात्रों के नामों से उनके चरित्र का परिचय मिलता है, उनमें से अधिकतर नाम सांकेतिक हैं जो पात्रों के किसी गुणावगुण विशेष को ध्वनित करते हैं। कुछ नाम ऐसे भी हैं, जिन्हें व्यंग्यात्मक कहा जा सकता है। उनके माध्यम से प्रसाद पाखण्डी पात्रों के सामाजिक रूप की खिल्ली उड़ाते हैं।

सांकेतिक नाम

सांकेतिक नाम वे हैं जिनके माध्यम से उपन्यासकार अपने पात्रों के चरित्र की किसी उभरी हुई विशेषता की ओर या उनके जीवन-दर्शन की ओर संकेत करता है। ऐसे पात्रों के सम्बन्ध में हमारी जानकारी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनके नामों की सार्थकता स्पष्ट होती जाती है। उनके 'कंकाल' की किशोरी अवस्था में प्रौढ़ा होने पर भी मन से सदा किशोरी ही रही। लतिका अपने आरम्भिक जीवन में लता के समान बढ़ती गई और बाद में बाथम नामक एक अंग्रेज व्यापारी से

१८. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २७५।
"कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं बहन। सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं।"

लिपट गई।[१९] ब्रजबाला घण्टी की बोली घण्टी के समान सुरीली थी।[२०] बदन गूजर 'देह का इतना बलिष्ठ[२१] था कि बुड्ढा होने पर भी डाका डालने अकेला चला जाता था'। 'तितली' उपन्यास का इन्द्रदेव इन्द्र के समान ही आर्थिक रूप से सम्पन्न था, और श्यामलाल अपनी काली करतूतों की संख्या बढाता चला जाता था। उनके 'इरावती' उपन्यास की नायिका इरावती हर हाल में मस्त गजगामिनी ही रही। गोस्वामी कृष्णचरण तथा रामनाथ के नाम भी ऐसे है जो उनके जीवन-दर्शन को समझने मे सहायता देते है। कृष्णचरण ने कृष्ण-भक्तो का निवृत्ति-मार्ग[२२] अपनाया था तो रामनाथ ने राम-भक्तो का प्रवृत्ति-मार्ग।[२३]

व्यंग्यात्मक नाम

प्रसाद का 'कंकाल' दोषपूर्ण समाज-व्यवस्था पर एक तीखा व्यग है। यह व्यग उसके कथानक तथा पात्रो के चरित्र-विकास से ही नही, उनके नामो तक से भी ध्वनित होता है। समाज के खोखले आदर्शों की दुहाई देने वाले पात्रो के नाम उनके उस रूप के द्योतक है, जो समाज के सामने व्यक्त है और जो उनके यथार्थ रूप से नितान्त भिन्न है। 'कंकाल' के निरंजन को समाज माया-मोह से मुक्त महात्मा के रूप में जानता है पर निरंजन इस बात को भली प्रकार से समझता है कि उसने 'भगवान की ओर से मुँह मोडकर मिट्टी के खिलौनो में मन लगा लिया है।[२४] मगल देव समाज का मगल करने के बहाने कइयो का अमगल कर बैठता है—विशेषतः तारा का[२५]। 'तितली' का सुखदेव चौबे ऊपर से तो अपने को लोगों के दुःख-सुख का साथी जताता[२६] है पर वास्तव में वह दूसरो के सुख का ही साथी बनता है, दुःख का नहीं। बीबी माधुरी आँखें तरेरे बिना किसी की ओर देखती नही[२७] मधुवन की बहन राजकुमारी जीवन भर अभाव से पीडित रहती है।[२८]

ऐसे नामो द्वारा 'प्रसाद' अपने पात्रो के चरित्र की किसी कमजोरी की खिल्ली उडाते है।

---

१९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १५७।
२०. वही, पृ० २३९।
२१. वही, पृ० १९२।
२२. प्रसाद, 'तितली', पृ० २८३।
२३. वही, पृ० १०१।
२४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६०।
२५. वही, पृ० १०६।
२६. प्रसाद, 'तितली', पृ० ८४।
२७. वही, पृ० ५७।
२८. वही, पृ० ९२।

स्वेच्छापूर्वक नाम-परिवर्तन में चरित्र-विकास

प्रसाद के कई पात्रों का जीवनपर्यन्त एक नाम नहीं रहा, बल्कि वह उनके जीवन में आये अनेक उत्थान-पतन के साथ समय-समय पर बदलता रहा है। 'कंकाल' के प्रारम्भ की तारा का वेश्या-जीवन का नाम गुलेनार पड़ा और वेश्यालय से निकलते ही वह फिर तारा बन गई और तब तक तारा ही रही जब तक कि उसने मंगल द्वारा तिरस्कृत होने पर नदी में कूदकर आत्महत्या का प्रयत्न नहीं किया। किशोरी के घर में नौकरी कर लेने के बाद वह यमुना बन गई और अन्त तक उसका नाम यही रहा। इसी प्रकार विजय भी तांगे वाले उस गुण्डे की हत्या करके भागने के बाद 'नए' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'तितली' उपन्यास के आरम्भ की बंजो बाद में तितली बन जाती है और मधुवा का नाम मधुबन हो जाता है।

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों या परिस्थितियों में पात्रों के नामों का बदलते रहना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना यह है कि उन पात्रों ने अपनी इच्छा से पुराना नाम बदलकर नया नाम ग्रहण किया। पात्रों द्वारा इस प्रकार इच्छानुसार नाम परिवर्तन जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण के परिवर्तन का भी द्योतक हो सकता है। किशोरी के घर में मंगल द्वारा पहचान ली जाने पर यमुना नामधारी तारा कहती है—'तारा मर गई, मैं उसकी प्रेतात्मा हूँ।' और फिर उसे खबरदार करती हुई कहती है "हमारा इसी में कल्याण है कि एक दूसरे को न पहचाने और न एक-दूसरे की राह में अड़ें।"[२६]

बदन गूजर के यहाँ शरण लेने पर अपना नाम 'नए' रखते ही मानो विजय के नए जीवन का सूत्रपात हुआ। कहा जा सकता है कि विजय ने अपने आप को छिपाने के लिए परिस्थितिवश नाम बदला, पर 'नए' नाम क्यों रखा। 'तितली' का मधुवन भी तो विजय की स्थिति में ही भागा था। उसने अपना नाम क्यों न बदल लिया; कदाचित् इसलिए कि सब कुछ झेलने पर भी जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण नहीं बदलता था। 'तितली' के मधुवा और बंजो ने एक राय होकर ही अपना नाम बदलकर मधुबन और तितली रखा था और इस नाम परिवर्तन के साथ ही उन दोनों का एक-दूसरे के प्रति दृष्टिकोण भी बदल गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसाद ने पात्रों के जीवन में हुए प्रधान परिवर्तनों का महत्त्व स्थापित करने के लिए पात्रों द्वारा नाम-परिवर्तन की प्रणाली को अपनाया जो हिन्दी-साहित्य में उस समय सर्वथा मौलिक थी।

पात्रों का प्रथम परिचय

वैसे तो जयशंकर 'प्रसाद' भी प्रेमचन्द के समान सभी प्रमुख पात्रों का प्रवेश उपन्यास के आरम्भ में ही करा देते हैं, पर पात्रों का प्रथम परिचय कराने का उनका

२६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ८८।

ढग कुछ ऐसा है कि कभी यह नही प्रतीत होता कि लेखक उनका परिचय कराने भर के लिए उन्हे उपन्यास के रगमच पर लाया हो। उनके पात्र उपन्यास मे तभी प्रकट होते है जब उनके करने के लिए कोई आवश्यक काम होता है। लेखक उपन्यास के आरम्भ मे ही कोई ऐसी घटना घटित करा देता है, जिसमें उन सब की उपस्थिति आवश्यक और स्वाभाविक हो जाती है। 'तितली' मे शिकार खेलने और सुखदेव चौबे का घुटना टूटने की घटना द्वारा वह रामनाथ, तितली, मधुबन, इन्द्रदेव, शैला, सुखदेव चौबे आदि प्रमुख पात्रो का बडे स्वाभाविक ढग से पाठको के सामने ले आता है। 'इरावती' के भी प्रारम्भ में ही महाकाल के मन्दिर वाले उत्सव में इरावती, अग्निमित्र, बृहस्पतिमित्र, ब्रह्मचारी आदि प्रधान पात्रो को एक स्थान पर इकट्ठा करके उनका परिचय करा देता है। 'ककाल' में भी वह उपन्यास के प्रथम दो परिच्छेदो मे ही श्रीचन्द, किशोरी, निरजन, मगल, तारा, विजय आदि मुख्य पात्रों का परिचय करा देता है, यद्यपि घण्टी बाथम, लतिका, बदन गूजर, गाला आदि का प्रवेश विजय के जीवन-विकास के विभिन्न मोडो पर होता है।

सक्षिप्त एवं कलात्मक परिचय

अपने उपन्यासो के गौण पात्रो का तो प्रथम परिचय प्रसाद भी वर्णनात्मक शैली द्वारा ही कराते है और उन्हे उपन्यास के रगमच पर लाते समय उनकी आकृति, वेशभूषा तथा कभी-कभी पूर्वो इतिहास का भी परिचय करा देते है। पर बहुधा वह सक्षिप्त और कलात्मक होता है।

घण्टी को प्रसाद इस वाक्य के साथ उपन्यास में लाते है . "इतने में एक सुन्दर रमणी बालिका अपना हँसता हुआ मुख लिये भीतर आते ही बोली"।[३०] "बदन गूजर······ गाला का सत्तर बरस का बूढा पिता है"[३१] ······ "गाला की वयस यद्यपि बीस के ऊपर है, फिर भी कौमार्य के प्रभाव से वह किशोरी ही जान पडती है"।[३२] पात्रो की आकृति और वेश-भूषा के बारे में भी वह विस्तार से न बताकर कला की कूची मे छू भर देते है। बनारसी साडी का आँचल कन्धे पर से पीठ की ओर लटकाए, हाथ में छोटा-सा बैग लिये एक सुन्दरी के[३३] रूप में अनवरी के प्रथम दर्शन होते है। लतिका भी उपन्यास में सर्वप्रथम एक सफेद रेशमी धोती पहने आती है।

पात्रों के रगरूप का वर्णन करते हुए प्रसाद उनके नखशिख के यथातथ्य वर्णन की ओर न प्रवृत्त होकर कवि-कल्पना और आलकारिक भाषा का सहारा लेते

३०. प्रसाद, 'ककाल,' पृ० १०१।
३१. वही, पृ० १११।
३२. वही, पृ० ११२।
३३. वही, पृ० २८।

हुए उन्हें पाठक की कल्पना में साकार कर देता है। तारा के प्रथम प्रवेश पर उसके रंगरूप का वर्णन "तारा सुन्दरी थी। होनहार सौन्दर्य उसके प्रत्येक अंग में छिपा था। वह युवती हो चली थी। परन्तु अनाघ्रात कुसुम के रूप की पंखुरियाँ बिखरी थीं"।[३४] घण्टी के कपोलों में हँसने समय गढ़े पड़ जाते "'वह एक क्षण के लिए भी स्थिर न रहती "कभी अँगड़ाई लेती और कभी उँगलियाँ चटकाती।[३५] 'कंकाल'[३६] में बाथम, लतिका, गाला, बदन गूजर का, 'तितली'[३७] में श्यामदुलारी, अनवरी, महन्त का, 'इरावती'[३८] में अग्निमित्र आदि का प्रथम परिचय इसी प्रकार का है।

पर 'प्रसाद' अपने पात्रों तथा पाठकों के बीच अधिक देर तक नहीं अड़े रहते, यहाँ तक कि पात्रों का परिचय कराते समय भी वह अपनी ओर से यथासम्भव कम ही कहते हैं। बहुधा वह वर्णनात्मक शैली को त्यागकर नाटकीय शैली को अपना लेते हैं। और बिना किसी भूमिका के अपने पात्रों को उपन्यास के रंगमंच पर ला खड़ा करते है। उपन्यास का प्रथम या दूसरा परिच्छेद खुलते ही उनके पात्र किसी परिस्थिति विशेष में उलझे हुए दिखाई देते है। लेखक उनके बारे में कुछ भी नहीं कहता, प्रत्युत् उन्हें स्वयं अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा पाठकों पर धीरे-धीरे खुलने देता है।

पात्रों का औत्सुक्यवर्द्धक प्रवेश

'प्रसाद' अपने उपन्यासों के पात्रों का प्रवेश एकदम नहीं करा देते, प्रत्युत् उन्हें उपन्यास के पन्नों पर धीरे-धीरे इस प्रकार उभारते चले जाते है कि उनके प्रति पाठकों की उत्सुकता उत्तरोत्तर जागृत होती जाती है और साथ ही उनकी प्रथम भेंट भी अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव बन जाती है। उनके पात्रों की कभी तो पहले आवाज़ सुनाई देती है, फिर उनकी छाया मूर्ति दिखाई देती है और ज्यों-ज्यों वह पास आती जाती है त्यों-त्यों क्रमशः उनकी आकृति वेशभूषा, रंगरूप, नख-शिख आदि स्पष्ट होते जाते है। तितली में सुखदेव चौबे और शैला का प्रथम प्रवेश इसी प्रकार से कराया गया है। पहले रात के अँधेरे में चौबे की कराहट कान में पड़ती है' ; "हाय राम इन काँटों में कहा आ फँसा।" और फिर शैला का 'बड़ा मधुर शब्द' "चौबेजी आप कहाँ है ?" फिर झाड़ियों के रौंदे जाने का शब्द होता है और दो व्यक्तियों का बातें करते हुए थोड़ी दूर तक चलना, फिर जोर से धमाका और

३४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २१।
३५. वही, पृ० १०२।
३६. प्रसाद, 'कंकाल', १२१, १६१, १६२।
३७. प्रसाद, 'तितली', पृ० ३१, २८, १६०।
३८. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ६।

रमणी की चिल्लाहट। इनके आकार प्रकार, रंग-रूप का तब तक जरा भी पता नही चलता जब तक कि वे रामनाथ की कुटिया के दिये के प्रकाश मे नहीं आ जाते।[३९] इसलिए उनके पात्रों की प्रथम भेंट एक ही स्थान पर कई पन्नों में बिखरी रहती है। किशोरी का परिचय ७ पृष्ठों तक मे फैला हुआ है।

अपने पात्रों का नाम भी प्रसाद प्राय स्वय नही बताते बल्कि पात्रों की पारस्परिक बातचीत मे वह स्वय प्रकट हो जाता है। चौबे के नाम का पता शैला के इस वाक्य मे चलता है 'चौबेजी आप कहाँ है ?' शैला के नाम का परिचय हमे इन्द्रदेव की 'शैला ! शैला' !! की पुकार से मिलता है। बहुधा यह देखा गया है कि प्रसाद पात्रों का नाम बहुत देर बाद बताते हैं। रामनाथ का प्रवेश उपन्यास के सातवे पृष्ठ पर हो जाता है, पर उसका नाम पहली बार ३९वे पृष्ठ पर मिलता है।

पात्रो के प्रारम्भिक वार्तालाप और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा प्रसाद अपने पात्रो के चारित्रिक गुणावगुणों को तो प्रकाश मे लाते ही है, साथ ही प्रथम भेंट के समय उन पात्रो के दूसरो पर पड़े प्रभाव का चित्रण करके वह उसके व्यक्तित्व की एक 'ऑब्जेक्टिव' झाँकी दे देते है। बृहस्पतिमित्र का परिचय कराते हुए—'रथी का डील-डौल साधारण था पर उसका प्रभाव असाधारण। उसके समीप से लोग हट जाते।......नागरिकों का एक झुण्ड भी चला आ रहा था। किन्तु जाने क्यो उस रथी पर दृष्टि जाते ही जैसे सब सशक हो जाते है, पथ छोड देते।'[४०] इसी प्रकार शैला के रूप सौन्दर्य का चित्रण स्वयं करने की अपेक्षा वह यह बता देते है कि प्रथम भेंट में रामनाथ, तितली, अनवरी आदि अन्य पात्रो को वह कैसी लगी।

वर्णनात्मक शैली

जयशंकर प्रसाद की औपन्यासिक शैली प्रधानतया नाटकीय रही है। पर कोई भी उपन्यासकार कोरी नाटकीय शैली से काम नही चला सकता, उसे वर्णनात्मक शैली का न्यूनाधिक सहारा लेना ही पड़ता है। प्रसाद ने भी यत्र-तत्र वर्णनात्मकता से काम लिया है, पर उनके वर्णनात्मक स्थलो को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इस शैली में उनकी विशेष रुचि नही। प्रायः उपन्यासकार पात्रो का प्रथम परिचय कराते समय, उनके नाम-धाम-काम का, उनके स्वभाव की कुछ-एक उभरी हुई विशेषताओं का तथा तत्पश्चात् उनके पूर्व-जीवन का परिचय कराते समय वर्णनात्मक शैली को अपनाया करता है, पर प्रसाद बहुधा इनके चित्रण के लिए भी, अपनी ओर से कुछ न कहकर पात्र के अपने मुख से या अन्य पात्रों से उनके कथोपकथन के बीच व्यक्त कराते है। फिर भी स्थिति का चित्रण करने के लिए, उस स्थिति में पड़े पात्रो की वेशभूषा, नखशिख तथा अनुभाव, भ्रूभंगिमा आदि के वर्णन के लिए और

३९. प्रसाद, 'तितली' पृ० १६।
४०. [illegible], '[illegible]', पृ० १०।

उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के अंकन के लिए प्रसाद को वर्णनात्मक शैली से काम लेना पड़ा।

स्थित्यंकन

संक्षिप्त वर्णन

प्रसाद स्थिति का चित्रण उतने विस्तार से नहीं करते जितने विस्तार से प्रेमचन्द किया करते हैं। वह परिस्थिति-चित्रण में अधिक न उलझकर उसमें हो रही पात्रों की व्यक्ताव्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अंकन की ओर तेजी से बढ़ते हैं। 'कंकाल' के आरम्भ में ही कुम्भ के मेले में माता-पिता से बिछुड़ी तारा का घबड़ा कर इधर-उधर देखना और उसकी छलछलाती आँखें और छलकते हुए यौवन को देखकर एक कुटनी का उसके पास पहुँचकर उसकी संरक्षिका बन जाना आदि समस्त घटना का वर्णन पृष्ठ भर में करके लेखक उस स्थिति में व्यक्त मंगल की प्रतिक्रिया के अंकन की ओर बढ़ता है "स्वयं सेवक मंगल चुप रहा, युवक बालक एक युवती बालिका के लिए हठ न कर सका। वह दूसरी ओर चला गया।"[४१] उससे पहले किशोरी के गर्भवती होकर श्रीचन्द के साथ चले जाने की घटना का वर्णन सार रूप में केवल छः-सात पंक्तियों में ही करते हुए वह बता देते हैं कि "देव निरंजन को समझा-बुझाकर फिर आने की प्रतिज्ञा करके किशोरी पति के साथ चली गई।"[४२]

किसी-किसी घटना की उनकी भूमिका इतनी संक्षिप्त होती है कि मानो वह किसी नाटकीय दृश्य का पूर्व संकेत हो। कुक्कुटाराम के भिक्षुणी विहार में इरावती की कठोर मानसिक यातनाओं का, हृदय से प्रेम की भावना के उन्मूलन के लिए उसे बाध्य किये जाने का चित्रण भी वे नाटकीय ढंग से, इरावती और दो नई शिक्षमाणाओं के बीच संवाद कराकर करते हैं और उस संवाद से पहले नाटकीय संकेत के रूप में ये तीन वाक्य जोड़ देते हैं: "कुक्कुटाराम के भिक्षुणी-विहार के प्राचीर से सटे हुए एक लम्बे चक्रम पर, द्वार के भीतर से तीन भिक्षुणियाँ आ रही हैं। सूर्यास्त हो चला है। हल्का अंधकार फैलना ही चाहता है। उनमें आगे हैं इरावती, उसके साथ सम्भवत. दो नई शिक्षमाणा हैं"।[४३] इन वाक्यों में वर्तमानकालिक क्रियाओं का वैसा ही प्रयोग हुआ है, जैसा नाटकीय संकेतों में हुआ करता है। अगले वाक्य में ही प्रसाद संवाद आरम्भ कराते हुए क्रिया-रूप बदलकर भूतकालिक कर देते हैं: 'इरावती ने पूछा'।

---

४१. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २१।

४२. वही, पृ० २०।

४३ प्रसाद, 'इरावती', तृतीय संस्करण, पृ० ३७।

व्यंजनात्मक चित्रण

प्रेमचन्द पहले स्थिति का क्रमबद्ध पूर्ण परिचय करा देते हैं और फिर उसमें पात्रों को डालते हैं, पर प्रसाद बहुधा ऐसा नहीं करते। वह स्थिति का समूचा चित्रण एक साथ न करके उसे धीरे-धीरे उसी क्रम से खोलते जाते हैं, जैसे-जैसे वह स्वयं पात्रों पर खुलती जाती है। इस प्रकार, पात्रों को उपन्यास के रंगमंच पर लाये बिना उसके चित्रपट के कोरे चित्रण में नीरसता की जो संभावना रहती है, वह प्रसाद के उपन्यासों में नहीं मिलती। प्रेमचन्द की तरह वह खाली औपन्यासिक रंगमंच पर स्वयं अकेले सूत्रधार का अभिनय नहीं करते रहते, प्रत्युत् पाठकों को प्रतीक्षा में रखे बिना मंच पर पात्रों का प्रवेश करा देते हैं और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के साथ-साथ स्थिति की गम्भीरता की ओर भी संकेत करते चलते हैं। इसी कारण उनका स्थिति चित्रण कई पन्नों तक बिखरा रहता है। 'तितली' के आरम्भ में चौबे का घुटना टूटने वाली घटना में वह स्थिति का चित्रण कई पन्नों तक बीच-बीच में सूत्र-शैली द्वारा व्यंजित कराते चलते हैं। 'सन्ध्या गाँव की सीमा मे धीरे-धीरे आने लगी'''' बजो दीप जलाने लगी''''''उस दरिद्र कुटीर के''[44]''''''धाँय धाँय धाँ (का शब्द)। गंगातट के धड़ाके मे मुखरित हो गया'''वहाँ एक घिरा हुआ मैदान था[45]'''''' झाड़ियों के रौंदे जाने का शब्द हुआ''''' अंधकार के साथ-साथ सर्दी बढ़ने लगी।'' प्रसाद के 'इरावती' उपन्यास का तो आरम्भ भी बिना किसी भूमिका के हुआ है। उपन्यास के खुलते ही पाठक अग्निमित्र को (जिसके नाम का बहुत बाद में पता चलता है) रंगमंच पर पाता है। बाद में पात्रों की बातचीत मे से संकेत मिलता है कि वह महाकाल के मंदिर मे जा रहा है।[46] फिर केवल आध पृष्ठ[47] में स्थिति का प्रारम्भिक परिचय देकर उसमे पात्रों को डाल देते हैं और स्वयं मौन ग्रहण कर लेते हैं। तत्पश्चात् स्थिति के विकास का ज्ञान लेखक के वर्णन से नहीं, पात्रों के अनुभाव, भ्रूभंगिमा तथा क्रिया-प्रतिक्रिया से ही हो पाता है।

प्रसाद ने जहाँ कहीं क्रमबद्ध वर्णन किया है, वहाँ भी वे वर्णन लम्बे न होकर पात्रों की प्रतिक्रिया के अंकन की ओर तीव्रगति से बढ़ते हैं, क्योंकि प्रसाद घटनाओं का निर्माण परिस्थितियों के चित्रण के लिए कम और विभिन्न परिस्थितियों में पात्रों की प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति द्वारा उनकी शक्याशक्यता दिखाने के लिए अधिक करते हैं।

---

४४. प्रसाद, 'तितली', पृ० ९ ।

४५. वही, पृ० १०-१२ ।

४६. प्रसाद, 'इरावती', पृ० १ ।

४७. वही, पृ० [illegible] ।

आकृति-वेशभूषा-चित्रण

उपन्यास में पात्रों का आकृति वेशभूषा वर्णन, रीतिकालीन कवियों के नखशिख-वर्णन की भाँति कविरूढ़ियों के आधार पर तो नहीं होता, पर इस उद्देश्य से कि पाठकों की कल्पना में औपन्यासिक पात्र साकार होकर नाच उठे, उपन्यासकार के लिए उनकी आकृति, वेशभूषा, नखशिख आदि का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। जयशंकर प्रसाद भी समय-समय पर अपने पात्रों की आकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल आदि का वर्णन करते रहते है, पर वह पात्रों के नखशिख के ब्योरेवार वर्णन में न उलझकर उनके अंग-प्रत्यंगों के, उनके व्यक्तित्व के, समसामूहिक[४८] प्रभाव के अंकन की ओर अधिक प्रवृत्त होते है। कंकाल के देवनिरंजन के प्रथम दर्शन से ही पाठक उसके व्यक्तित्व की महानता स्वीकार कर लेता है। एक निश्चिष्ट आसन पर एक बीस वर्ष का युवक हल्के रंग का काषायवस्त्र अंग पर डाले बैठा था। जटाजूट नहीं था, कन्धे तक बाल बिखरे थे। आँखें संयम के मद से भरी थीं। पुष्ट भुजाएँ और तेजोमय[४९] मुखमण्डल से आकृति बड़ी प्रभावशालिनी थी।[५०] तितली में तहसीलदार का नखशिख वर्णन यदि अपेक्षाकृत विस्तार से मिलता है तो ऐसा उसकी कुटिलता को मुखरित करने के लिए ही हुआ है।[५१]

रूप सौन्दर्य का काव्यात्मक चित्रण

नारी पात्रों के रूप सौन्दर्य का चित्रण करते समय प्रसाद का कवि सजग हो उठता है और वह उन पात्रों के अंग-प्रत्यंगों की सुघड़ता का ब्योरेवार वर्णन न करके कुशल चित्रकार के समान कल्पना की कूची से दो-चार बार छूकर ही अनुपम मुख-रेखाएँ उभार देते है। इतना ही नहीं, कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो लेखक अपनी उस रचना की रूप माधुरी पर स्वयं मुग्ध होकर एकाएक उस छवि को निहारने के लिए रुक गया है, और उसी मस्ती में प्रकृति से उपमाएँ बटोरने लगा है। मधुवन की बहन राजकुमारी की आँखों में तितली की मोहिनी

४८ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ४३।

"सवेरे उठते समय तारा ने मुस्कराते हुए पलँग पर बैठकर दोनों हाथ सिर से लगाते हुए कहा—नमस्कार!

मंगल ने देखा—कविता में वर्णित नायिका जैसे प्रभात की शय्या पर बैठी है।"

४९. प्रसाद, 'कामायनी, चिन्ता सर्ग में ध्यानमग्न मनु का चित्रण :

"अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिसमें संचार।"

५०. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १०।

५१. प्रसाद, 'तितली', पृ० १२६।

मूर्ति गढ़ गई : 'उसकी काली रजनी सी उनींदी आँखें, लम्बा छरहरा शरीर, गोरी-पतली उँगलियाँ, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिंची हुई भौंएँ और छोटा-सा पतले अधरों वाला मुख, कानों के ऊपर से ही घुँघट था, जिससे लटें निकली पड़ती थी। उस की चौडे किनारे की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर मे घुला जा रहा था। वह सन्ध्या के निरभ्र गगन मे विकसित होने वाली अपने ही मधुर आलोक से सन्तुष्ट एक छोटी सी तारिका थी।"[५२]

कई बार[५३] तो प्रसाद पात्र के अनाकर्षक परिधान की अवहेलना करके सीधे उसके खिलते हुए यौवन को आँखों मे भर लेना चाहते है, गाला की माँ की आत्मकथा के मिर्जा के रूप मे : "शबनम वस्त्र सँवारने लगी—आभूषणों में दो-चार काँच की चूड़ियाँ और नाक मे नथ। मिर्जा ने देखा बालिका की वेषभूषा मे कोई विशेषता नही, परन्तु परिष्कार था। उसके पास कुछ नही था वसन, अलंकार या भादो की भरी नदी-सा यौवन। कुछ नही, थी केवल दो-तीन कलामयी मुख-रेखाएँ.. जो आगामी सौंदर्य की बाह्य रेखाएँ थी।[५४] अग्निमित्र को फाँसने मे प्रयत्नशील 'इरावती' की कामुक कालिंदी की यह मुद्रा भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है "चकित और सशंकित अग्निमित्र ने भीतर जाकर देखा : सुन्दर शय्या पर आधी लेटी हुई सुन्दरी जिसके रत्नालंकारों की प्रभा से आँखें झलमलाने लगी··· शिष्टाचारवश आँखें जमाकर वह उस सुन्दर मुख को देखता भी न था।"[५५]

विविध वेशभूषा में चरित्र-विकास के मोड़

किसी व्यक्ति की आकृति, वेशभूषा और उसकी प्रभावोत्पादकता सदा एक सी नहीं बनी रहती। जीवन की विभिन्न स्थितियों में मनुष्य भिन्न-भिन्न रूपो में प्रकट होता है। प्रेमचन्द के से कई उपन्यासकार अपने पात्रो की 'हुलिया-नवीसी' प्राय. एक बार ही कर देते है और वह भी उपन्यास में उनके प्रथम प्रवेश के समय उससे उपन्यास के अन्त तक पाठको की कल्पना में पात्रो का वही एक रूप बना रहता है। पर प्रसाद एक ही बार किसी पात्र की आकृति और वेशभूषा का परिचय देकर बस नही कर देते, प्रत्युत् जीवन के विभिन्न मोडो पर उनके पहनावे और रंगरूप के वर्णन में उनकी मानसिक अवस्था को व्यंजित करते रहते है। 'कंकाल'[५६]

५२ प्रसाद, 'कामायनी', काम सर्ग :
"गाधर्वी निशा की अलसाई
अलकों में लुकते तारा-सी।"

५३. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २०१, ९० ।

५४ वही, २०१ ।

५५. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ५१ ।

५६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २१ ।

की नायिका तारा (यमुना) का उपन्यास मे प्रवेश एक तरुणी के रूप मे होता है : "तारा सुन्दरी थी। होनहार सौन्दर्य उसके प्रत्येक अंग मे छिपा था। वह युवती हो चली थी परन्तु अनाघ्रात कुसुम के रूप की पखुरियाँ विकसी न थी।" वेश्यालय मे कुटनी के चुंगल मे फँसे हुए उसे मंगल ने जिस रूप मे देखा वह उससे भिन्न ही था 'एक षोडशी युवती सजे हुए कमरे में बैठी थी। पहाडी रूखा सौन्दर्य उसके गेहुएँ रंग मे ओत-प्रोत है ·· बीच मे मिली हुई भौहों के नीचे न जाने कितना अंधकार खेल रहा था। सहज नुकीली नाक···नीचे सिर किए हुए उसने जब इन लोगों को देखा ·· उसकी बड़ी-बड़ी आँखों के कोने और भी खिंचे हुए जान पड़े। घने काले बालों के गुच्छे दोनो कानों के पास के कंधों पर लटक रहे थे। बाँए कपोल पर तिल...।"[५७]

वही तारा जब नदी में कूदकर आत्महत्या करने के लिए चली जा रही थी तब "फटी धोती उसके अंग पर लटक रही थी। बाल बिखरे थे। बदन विकृत, भय का नाम नही। जैसे कोई यन्त्रचालित शव चल रहा है।"[५८] अस्पताल की चारपाई पर पड़ी, प्रसव-वेदना मे पीड़ित तारा की अवस्था शोचनीय थी "उसका पीला मुख, धँसी हुई आँखें, करुणा की चित्रपटी बन रही थी।"[५९] किशोरी के साथ पहाडी यात्रा कर रही यमुना रूपी तारा विजय को बहुत सुन्दर लगी . "किशोरी ने उसे हठ करके गुलेनार की ओढ़नी दी थी। पसीने से लगकर उस रंग ने यमुना के मुख पर अपने चिन्ह बना दिए थे। वह बड़ी सुन्दर रंगसाजी थी" इस समय विलक्षण आकर्षण उसके मुख पर था।"[६०] जीवन की कठोर यातनाओं ने उसे कई रंग दिखाए और जीवन के प्रति उसे एकदम निराश कर दिया . "आलोक प्रार्थिनी यमुना (तारा) अपनी कुटीर में दीपक बुझाकर बैठी रही। उसे आशा थी कि वातायन और द्वारों से राशि-राशि प्रभात का धवल आनन्द उसके प्रकोष्ठ में भर जाएगा। पर जब समय आया, किरनें फूटी, तो उसने अपने वातायनों झरोखों और द्वारों को रुद्ध कर दिया। वह चुपचाप पड़ी थी। उसके जीवन की अनन्त रजनी उसके चारों ओर घिरी थी।[६१] विजय के शव के पास बैठी तारा का अन्तिम रूप कितना करुणापूर्ण है . "मंगल ने देखा···एक स्त्री पास ही मलिन वसन में बैठी है। उस का घूँघट आँसुओ से भीग गया है।"[६२]

प्रसाद ने यमुना (तारा) की ही विभिन्न झाँकियाँ नही दिखाई, प्रत्युत् तितली, इरावती, किशोरी, घंटी, मंगलदेव, निरंजनदेव, मधुवन, इन्द्रदेव,

---

५७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २४।
५८. वही, पृ० ५८।
५९. वही, पृ० ५९।
६०. वही, पृ० ६३।
६१ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २७४।
६२. वही, पृ० २६६।

अनिमिन आदि सभी पात्रों की शक्ल-सूरत के चित्रों द्वारा उनकी भिन्न-भिन्न स्थितियों को ध्वनित किया है।[६३]

अनुभाव-चित्रण

किसी स्थिति का चित्रण करते हुए जयशंकर प्रसाद इस बारे में तनिक भी संकेत नहीं करते कि उसमें पड़कर उनके पात्र या पात्रों की कैसी प्रतिक्रिया होगी। वह स्थिति का ब्योरेवार वर्णन नहीं करते, उसकी संक्षिप्त-सी भूमिका बाँधकर उसमें पात्रों को ला डालते हैं और धीरे-धीरे उन पर उनकी परिस्थिति को खोलते जाते हैं और उनकी मुखाकृति तथा अंग-प्रत्यंगों में होने वाले प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन के चित्रण द्वारा यह व्यक्त करते जाते हैं कि पात्र ने उस स्थिति को किस रूप में ग्रहण किया है, अर्थात् उस स्थिति का पात्र पर कैसा प्रभाव पड़ा है। पात्र के किसी स्थिति में पड़ जाने के पश्चात् और उसके प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले उसकी मनोस्थिति, उसमें हो रही हलचल को वह उनकी भ्रूभंगिमा, मुखमुद्राओं तथा उनकी अन्य कायिक चेष्टाओं के चित्रण द्वारा अभिव्यक्त करते रहते हैं।

कायिक मुद्राएँ

'तितली' की अंग्रेज ललना शैला से प्रथम भेंट की प्रतीक्षा में माधुरी और अनवरी श्यामदुलारी के पास बैठी थीं। बाहर पैरों का शब्द सुनाई पड़ते ही उनको जो घबराहट हुई, उसके वर्णन के लिए प्रसाद अपनी ओर से कुछ नहीं कहते। उन तीनों की मुद्राओं में जो भी थोड़ा-बहुत परिवर्तन हुआ उसके चित्रण द्वारा ही वह उनकी घबराहट की सफल अभिव्यक्ति कर देते हैं : "तीनों स्त्रियाँ सजग हो गईं। माधुरी अपनी साड़ी का किनारा सँवारने लगी। अनवरी एक उँगली से कान के पास के बालों को ऊपर उठाने लगी, और श्यामदुलारी थोड़ा खाँसने लगी।[६४] यहाँ प्रसाद घबराहट का नाम लिये बिना उसे व्यंजित करा देते हैं।

प्रसाद के वर्णन संक्षिप्त भले ही हों, उनमें एक सफल कवि की मूर्तिमत्ता की कमी नहीं। वह अपने पात्रों को उपन्यास के शुष्क पन्नों से उभारकर पाठकों के सामने साकार खड़ा कर देते हैं। उक्त प्रसंग में शैला और चौबे के साथ भीतर आये इन्द्रदेव के अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देते हुए श्यामदुलारी ने देखा कि 'वह गोरी मेम भी दोनों हाथों की पतली उँगलियों में बनारसी साड़ी का सुनहला

---

६३ उदाहरणार्थ—

घण्टी—'कंकाल', पृ० १०२, २३३।

तितली—'तितली', पृ० ७, १०, १६७, २१६।

६४. प्रसाद, 'तितली', पृ० ४४।

आँचल दबाए नमस्कार कर रही है।'[65] शैला की विनीत मुद्रा से श्यामदुलारी पिघल गई।

जब शैला मधुबन के बाप-दादों की डीह शेरकोट को बचाने के लिए इन्द्रदेव से सिफारिश कर रही थी तो पास बैठी अनवरी ने शैला के प्रति इन्द्रदेव के मन में सन्देह के बीज बोने के लिए जब शैला से यह कहकर—'मधुबन। हाँ, वही न, जो उसने रात को आपके साथ था'···उस पर तो आपको दया करनी ही चाहिए'—[66] इन्द्रदेव की ओर भेद भरी दृष्टि से देखा, इन्द्रदेव को कितना जबरदस्त धक्का लगा होगा, इसका चित्रण प्रसाद अपनी ओर से कुछ कहे बिना केवल एक वाक्य में कर देते हैं : 'इन्द्रदेव कुर्सी छोड़ उठ खड़े हुए।'[67] इन्द्रदेव को लगी इस चोट को शैला ने भी भांप लिया, जिसे प्रसाद ने शैला की निराश दृष्टि की ओर संकेत करके व्यक्त[68] कर दिया।

अनुभावों द्वारा प्रतिक्रिया की पूर्व सूचना

पात्रों के परिसम्वाद में प्रसाद उनके कथोपकथन की ओर ही ध्यान नहीं देते, उनकी मुख-मुद्राओं के प्रत्येक परिवर्तन, उनके अंग-प्रत्यंगों के प्रत्येक संचालन तथा उनकी प्रत्येक यत्नज तथा अयत्नज चेष्टा का अंकन भी करते जाते हैं, क्योंकि इनके अभाव में कथोपकथनों का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सकना प्रायः असम्भव होता है। पात्रों के अनुभावों से उनकी भावी प्रतिक्रिया के बारे में बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यमुना को देव-गृह से बाहर निकाल देने की बात को लेकर विजय और निरंजन में जो खटपट हुई, उसमें निरंजन के विजय को सहसा 'नास्तिक ! हट जा' कहते ही विजय की कनपटी लाल हो गई, बरौनियाँ तन गईं।[69] पूर्व इसके कि उसकी उग्र प्रतिक्रिया प्रकट होती मंगल स्थिति को भांप कर विजय को वहाँ से खींचकर ले गया। इसी प्रकार मंगल के साथ गाड़ी में यात्रा करती हुई तारा को पहचानकर उसके पिता के मुँह का रंग घृणा और क्रोध में बदल गया 'यात्री का (उसका) दम्भ उसके अधरों में स्फुरित हो रहा था।[70] इरावती' में महाकाल के मन्दिर में बृहस्पतिमित्र के हस्तक्षेप के विरुद्ध ब्रह्मचारी अपनी पूर्ण मनुष्यता से तनकर खड़ा हो गया।[71] और बृहस्पतिमित्र उसकी ओर देखने का

६५ प्रसाद, 'तितली', ५वाँ संस्करण, पृ० ४४।
६६ वही, पृ० ८५।
६७ वही, पृ० ८५।
६८. वही, पृ० ५८।
६९ प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ७८।
७०. वही, पृ० ३६।
७१. प्रसाद, 'इरावती', पृ० २२।

माहम छोड़[72] ऐंठा हुआ उद्धत भाव से दूसरी ओर देख रहा था।[73]खारवेल के दूत के मुख से स्वर्ण की जिन मूर्ति की माँग सुनकर सम्राट वृहस्पति की 'भवें तनी, नथूने फड़के और वह तनिक सभल कर बैठ गए।'[74]

साँकेतिक वर्णन

वर्णन में व्यंजकता

प्रसाद थे कवि, कम से कम शब्दों द्वारा गूढ़ानिगूढ़ अर्थ को व्यंजित करने मे सिद्धहस्त। उनकी यह प्रवृत्ति उनके उपन्यासों में भी लक्षित होती है। उनके उपन्यासों में ऐसे स्थलों की कमी नहीं, जहाँ वे शब्दों की अभिधा शक्ति से काम न लेकर उनकी व्यंजना शक्ति से काम लेते है। ऐसे स्थलों पर अभिव्यक्ति में रमणीयता तो आ ही जाती है, साथ मे वर्णनो में शालीनता भी आ जाती है और वे अश्लीलता के दोष से बच जाते है। 'तितली' में राजकुमारी के प्रथम परिचय के समय उनका वर्णन करते हुए वह कहते है "उस स्त्री के अंग पर कोई आभूषण न था, और न तो कोई सधवा का चिह्न। था केवल उज्ज्वलता का पवित्र तेज, जो उसकी मोटी सी धोती के बाहर भी प्रकट था।'[75] यहा 'उज्ज्वलता का पवित्र तेज' द्वारा लेखक उसके चरित्र की उज्ज्वलता को व्यंजित कर देता है। निरजन को किशोरी के शरीर-समर्पण का वर्णन भी वह साँकेतिक ढग से कर देता है ' 'दुर्बल हृदय किशोरी को चक्कर आने लगा। उसने ब्रह्मचारी के चौडे वक्ष पर अपना सिर टेक दिया।'[76] 'किशोरी का मनोरथ पूर्ण हुआ,'[77] कह कर वह उसकी गर्भावस्था की ओर सकेत कर देते हैं। तारा और मगल के शारीरिक मिलन का वर्णन लेखक इस प्रकार करता है: 'सहसा मगल ने उसी प्रकार सपने में बर्राते हुए कहा---मेरी तारा, प्यारी तारा आओ। उसके दोनों हाथ उठ रहे थे कि आँख बन्द कर तारा ने अपने को मगल के अंक में डाल दिया''''''प्रभात हुआ''''''जंगले से पहली लाल किरणें तारा के कपोल पर पड़ रही थी। मगल ने उसे चूम लिया। तारा जाग पड़ी, वह लजाती हुई मुस्कराने लगी। दोनों का मन हलका था।'[78] 'दोनों का मन हलका था' द्वारा व्यंजित अर्थ इन शब्दों के अभिधार्थ से बहुत परे है। मगल के उसे अकेली छोड भाग जाने पर तारा स्वगत कहती है—मगल! भगवान जानते होंगे कि तुम्हारी शय्या

७२. प्रसाद, 'इरावती', पृ० १२

७३ वही, पृ० १२।

७४. वही, पृ० २६।

७५. प्रसाद, 'तितली', ५वां सस्करण, पृ० ५२।

७६. प्रसाद, 'कंकाल', ७वां सस्करण, पृ० २०।

७७. वही, ,, पृ० २०।

पवित्र है।[७९] यहां 'शय्या की पवित्रता' की बात कहकर वह अपने गर्भ को मंगल का ही घोषित करती है।

क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

आवेगज आचरण

सामान्य स्थिति में व्यक्त होने वाली पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण भी प्रसाद सीधी वर्णनात्मक शैली में न करके उन्हें नाटकीय शैली में व्यक्त करते है। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग वह तभी करते है जबकि पात्र कुछ बोल न पाते हों और उन स्थलों पर उनसे वार्तालाप करा देना अस्वाभाविक हो जैसे पात्रों का ऐसा आवेगज आचरण जिसमे उनकी कायिक चेष्टाएँ ही व्यक्त हुई हो।

'कंकाल' में विजय के घोड़े के बिदकने वाली घटना, जिसमें उसकी मंगल से प्रथम भेंट हुई थी, का आरम्भ तो प्रसाद नाटकीय शैली में कर देते है– "विजय ही तो है—"एक ने कहा—"घोड़ा उनके वश मे नहीं है, अभी गिरना ही चाहता है'—दूसरे विद्यार्थी ने कहा।" पर ज्यो ही स्थिति गम्भीर हो गई और किसी को बोलने के लिए कोई स्थान न रहा, वर्णनात्मक शैली को अपनाने के सिवाय उनके पास कोई चारा नहीं रहता 'पवन से विजय के बाल बिखर रहे थे, उसका मुख भय से विवर्ण था। उसे अपने गिर जाने की निश्चित आशंका थी। सहसा एक युवक दौड़ता हुआ आगे बढ़ा—बड़ी तत्परता से घोड़े की लगाम पकड़कर उसके नथुने पर उसने सबल घूँसा मारा और दूसरे क्षण वह उच्छृंखल अश्व सीधा होकर खड़ा हो गया··· यह एक सिनेमा का दृश्य था।'[८०] यहाँ मंगल की आवेगज प्रतिक्रिया प्रकट होने से पहले का वर्णन नाटकीय शैली में करने का मोह प्रसाद संवरण नहीं कर सके है और दो विद्यार्थियो को सामने लाकर उनमे कथोपकथन करा देते है, यद्यपि वह वार्तालाप दो वाक्यो से अधिक नहीं बढ़ सकी है।

नाटकीय प्रणाली के प्रति मोह

पात्रो की ऐसी क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण जो आवेगज न होकर उनकी सूझ-बूझ का परिणाम हो, प्रसाद यथासम्भव नाटकीय शैली मे ही करते है पात्रों के पारस्परिक कथोपकथन द्वारा, उनके स्वगत-भाषण के रूप में या बातचीत के बीच पात्रों के अपने मुख से कहलवाकर। 'तितली' में अपने पति श्यामलाल को अनवरी के साथ एकान्त में सुरापान करते देख माधुरी की जो संयत प्रतिक्रिया व्यक्त हुई, उसका वर्णन लेखक स्वयं न करके माधुरी के मुख से कराता है. "मै तो उसका (अनवरी की बात का) उत्तर न देना चाहती थी परन्तु उसकी ढिठाई अपनी सीमा

७९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ५८।
८०. वही, पृ० ६४।

पार कर चुकी थी। मैंने कहा बडी अच्छी बात है, मिस अनवरी ! आप कब जाएँगी ? मैं अधिक कुछ न कह सकी। थाली रखकर लौट आई।"[८१] ककाल मे जब यमुना छूरी द्वारा मुक्त कर दी गई और मगल और निरजन उसके समीप आ गए और वह रोने लगी, प्रसाद तब भी अपनी ओर से न कहकर यमुना की प्रतिक्रिया उसके मुख मे ही प्रकट कराते है उसने मगल से कहा—"मै नही चल सकती",[८२] यद्यपि उसके पहले वर्णन के साथ लेखक अपनी ओर से एक वाक्य यह भी मिला सकता था कि उसने मगल के साथ चलने से इनकार कर दिया। इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते है जो स्पष्ट सकेत है कि प्रसाद नाटकीय शैली मे ही अधिक रमते थे।

संक्षिप्त वर्णन

पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण प्रसाद लेखक के रूप में उत्तम पुरुष में करें या नाटकीय शैली में, इससे उनके चित्रण के आकार में कोई विशेष अन्तर नही पडता। दोनों ही अवस्थाओं में उनके चित्रणो पर सक्षेप की मोहर लगी रहती है। यहाँ यह बता देना आवश्यक न होगा कि सक्षिप्त होने पर भी उनके वर्णनो से यह बात प्रकट नही होती कि लेखक उन वर्णनों मे उदासीनता का भाव बनाये हुए है, यद्यपि नाटकीय शैली में किए गए उनके चित्रणों की तुलना में वे फीके पडते है। 'तितली' मे महन्त के पास से रुपये उधार लेने गई हुई अपनी बहन राजकुमारी की चीख सुनकर मधुबन की जो आवेगज प्रतिक्रिया प्रकट हुई उसका वर्णन सक्षिप्तता और स्पष्टता की दृष्टि से उल्लेखनीय है . 'वह पागल की तरह चिल्लाई ! दीवार के बाहर ही इमली की छाया में मधुबन खडा था। पाँच हाथ की दीवार लाँघते उसे कितना विलब लगता, वह महन्त की खोपडी पर यमदूत-सा आ पहुँचा। उसके शरीर का असुरों का-सा पूर्ण बल उन्मत्त हो उठा। दोनो हाथो से महन्त का गला पकडकर दबाने लगा। वह छटपटाकर भी कुछ बोल नही सकता था, और भी बल से दबाया। धीरे-धीरे महन्त का विलास-जर्जर शरीर निश्चेष्ट होकर ढीला पड़ गया।"[८३] इसी प्रकार ककाल में बदमाश नवाब की हत्या करते समय विजय की आवेगज प्रतिक्रिया तथा दोनो के गुत्थमगुत्था होने का वर्णन हुआ है और यदि यह आकार में थोडा बडा है[८४] तो भी केवल इसलिए कि यहाँ विजय को अपने प्रतिद्वन्द्वी नवाब का मुकाबला करना पडा जबकि वहाँ मधुबन का प्रतिद्वन्द्वी था कायर-कामुक महन्त जिसने कोई प्रतिकार नही किया था।

---

८१. प्रसाद, 'तितली', पृ० १५६।
८२. प्रसाद, 'ककाल', पृ० २६५।
८३. प्रसाद, 'तितली', पृ० १६७-१६८।

उपन्यासकार द्वारा टीका-टिप्पणी

उपन्यासकार प्रवचनकर्ता नहीं

"प्रेमचन्द की भांति प्रसाद भी साहित्य से आशा रखते थे कि वह समाज की वास्तविक स्थिति दिखाते हुए उसमें आदर्शवाद का सामजस्य स्थिर करे।"[८५] दुःख-दग्ध जगत् की कठोर यथार्थताओं तथा आनन्दपूर्ण[८६] स्वर्ग के मधुर स्वप्नों से अपने पाठकों को परिचित कराने के लिए भी कदाचित् वह प्रेमचन्द से कम अधीर नहीं थे, पर यह सब होने पर भी उन्होंने कभी भी प्रवचनकर्ता के रूप में प्रकट होकर पाठकों पर अपनी मान्यताएं लादने का प्रयत्न नहीं किया। वह जानते थे कि "सिद्धांत से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्ता बन जाता है ...... और यथार्थवादी सिद्धांत से ही इतिहासकार से अधिक कुछ नहीं ठहरता ...... किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकर्ता है और न धर्मशास्त्र प्रणेता ...... साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का काम करता है।"[८७] इसीलिए उनके उपन्यासों में प्रेमचन्द की सी लम्बी-लम्बी टीका-टिप्पणियां नहीं मिलतीं। एक कुशल नाटककार के समान—कुशल नाटककार तो प्रसाद थे ही—वह अपने को अलग रखते हुए अपनी धारणाओं और मान्यताओं को किसी एक या अनेक पात्रों के जीवन-दर्शन में ही घुला-मिला देते थे और धीरे-धीरे उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं अथवा कथोपकथनों आदि के माध्यम से व्यक्त कराते रहते थे।

कंकाल में वह क्रमशः तारा, विजय और गोस्वामी कृष्णशरण के मुख से अपने जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति कराते रहे।[८८] तितली में पहले तो वे रामनाथ की वाणी में बोलते रहे और उसकी मृत्यु के बाद उन्होंने तितली को अपना माध्यम बनाया।[८९] इरावती में ब्रह्मचारी, इरावती और अग्निमित्र के मुख से बोलते

८५-८७. प्रसाद, "यथार्थवाद और छायावाद", 'काव्य कला और अन्य निबन्ध', स० २००१, पृ० ८८-८९।

८८. प्रसाद, 'कंकाल' : यमुना (तारा) पृ० ५९ (पाप कहां! पुण्य किसका नाम—पुण्य कर रही हू करने दो।)

विजय (पृ० ७८-८०) गोस्वामी कृष्णशरण (पृ० २८१-२८२)

८९. (क) प्रसाद, 'तितली', पृ० १००-१०२ (रामनाथ)।

(ख) वही, पृ० २५२ (तितली)।

"शैला की आंखें जैसे बढ़ गईं। उसने तितली का हाथ पकड़ कर कहा—बहन! तुम यथार्थ में बाबा जी की बेटी हो, तुम्हारा काम प्रशंसनीय है।"

(ग) वही, पृ० २६६।

"अरे सुनो तो, मेरी बात को लेकर तुमने अपना मानसिक स्वास्थ्य खो दिया है क्या?—बापू का उपदेश क्या स्मरण नहीं? प्रसन्नता से सब कुछ ग्रहण करने का अभ्यास तुमने नहीं किया।"

रहे।[६०] इस प्रकार नाट्य शैली को अपनाने से एक तो उनके उपन्यासो के कथानक गतिशील रहे, दूसरे उनके पात्रों का चरित्र-विकास कभी रुकता हुआ नही दिखाई दिया और न ही उनके उपन्यासो मे ऊबा देने वाली उपदेशात्मकता घुस सकी।

पात्रों के भावी विकास का संकेत

प्रसाद के उपन्यासों में ऐसे बहुत कम स्थल हैं जहा वह सीधे पाठको के सामने आए हों। 'ककाल' मे गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में, परस्पर विरोधी दिशा में जाने वाले अपने कई पात्रों को इकट्ठा करके वह पहली बार निरावरण होकर पाठको के सामने आते है "पाठक आश्चर्य करेंगे कि घटनासूत्र तथा सम्बन्ध में इतने समीप के मनुष्य एकत्र होकर चुपचाप कैसे रहे ?"[६१] और लगभग एक पृष्ठ तक उनके प्रेरक कारणो पर प्रकाश डालते रहते हैं जो अत्यत आवश्यक ही हो गया था, यद्यपि इस उद्धृत पक्ति के बिना भी वह काम चला सकते थे। 'तितली' में अवश्य वह दो-चार बार अपनी कुछ एक स्थापनाएँ दे देते है जो उनके पात्रों के भावी चरित्र-विकास का आधार बनती है। चतुर्थ खण्ड के आरम्भ में वह लिखते है . "ससार मे अपराध करके प्राय मनुष्य अपराधो को छिपाने की नित्य चेष्टा करते है। जब अपराध नही छिपते तब उन्हे ही छिपाना पड़ता है। और अपराधी ससार उनकी इस दशा से सतुष्ट होकर अपने नियमो की कडाई की प्रशसा करता है। वह बहुत दिनो से सचेष्ट है कि ससार से अपराध उन्मूलित हो जाएँ। परन्तु अपनी चेष्टाओ से वह नए-नए अपराधो की सृष्टि करता जा रहा है।"[६२] यह मधुबन के कलकत्ता भागकर कोयला ढोने के काम पर लग जाने और बाद में वहाँ से भी लडकर चम्पत होकर बीरू बाबू की गुण्डा मण्डली में मिल जाने का प्रसंग है। इसी प्रकार जीवन की कठोर यथार्थताओ से टकराकर बीबी माधुरी के अभिमान के चकनाचूर होने पर उनके शैला के प्रति स्नेहार्द्र होने के सदर्भ में प्रसाद अपनी एक और स्थापना रख देते है· "मानव हृदय की मौलिक भावना है स्नेह। कभी-कभी स्वार्थ की ठोकर से पशुत्व की, विरोध की, प्रधानता हो जाती है······ पर प्रेम, मित्रता की भूखी मानवता ! बराबर बारंबार अपने को ठगाकर भी वह उसी के लिए झगडा करती है। झगड़ती है, इसलिए प्रेम करती है।"[६३] इसी प्रकार कुछ-एक स्थल और है जहाँ

---

६०. प्रसाद, 'इरावती', स० २००६ :

(क). ब्रह्मचारी, पृ० २८-२१।

"मुझे अपनी आखों से देखना होगा कि आर्यावर्त में कही पौरुष बच गया है।"

(ख) पृ० २२-५८, आनन्दवाद का समर्थन।

६१. प्रसाद, 'ककाल', पृ० २६६।

६२. प्रसाद, 'तितली', पृ० २३४।

६३. वही, पृ० २७२।

प्रसाद पाठकों के सामने सीधे आते हैं पर ऐसे स्थल केवल हृदय की भड़ास निकालने के अवसर पाने के प्रयत्न न होकर उनके पात्रों के भावी विकास के रेखा-चित्र बना जाते है।

विश्लेषणात्मक शैली

किसी व्यक्ति को ठीक-ठीक समझने के लिए उसके परिपार्श्व को तथा परिपार्श्व के प्रति उसके व्यक्त—यत्नज या अयत्नज—आचरण को जान लेने भर से काम नहीं चलता, क्योंकि मनुष्य का व्यक्त आचरण ही उसका समूचा चरित्र नहीं।[६४] मानव-चरित्र एक हिमनग (आईसबर्ग) है, जिसका केवल थोड़ा-सा नवमांश ही उसकी व्यक्त चेष्टाओं में प्रतिबिम्बित हो पाता है और शेष अव्यक्त रहकर उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित करता रहता है। इसलिए उस प्रेरक, पर अव्यक्त, चरित्र को जाने बिना मनुष्य के व्यक्त आचरण का मूल्यांकन भ्रामक हो सकता है।[६५] मानव-जीवन का यही एक रहस्य है जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य दूसरों के लिए, अनेक बार अपने लिए भी, पहेली बना रहता है। पर वस्तुजगत् की यह पहेली उपन्यासजगत् में सुलझ जाती है। अपने पात्रों का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका अन्तर्यामी तो होता ही है, उनका व्यक्ताव्यक्त आचरण चित्रित करने के लिए उसे वर्णनात्मक तथा नाटकीय दोनों प्रकार की प्रणालियों के प्रयोग की स्वतन्त्रता भी रहती है। नाटकीय प्रणाली द्वारा वह अपने पात्रों के व्यक्त आचरण में प्रतिबिम्बित होने वाले उनके चरित्र को अभिव्यक्त करता है और विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा उनके अव्यक्त चरित्र का चित्रण करता है, जो उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में न तो व्यक्त हो पाता है और न ध्वनित ही।

मनोविश्लेषण की कमी

इस प्रकार वस्तु-जगत् में मानव-चरित्र का जो अंश अव्यक्त रहता है, उपन्यास में वह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतएव सशक्त वर्णन प्रणाली के अतिरिक्त उपन्यासकार की विश्लेषणात्मक प्रणाली की ओर जितनी अधिक प्रवृत्ति होगी, उतना स्पष्ट और सुसंगत होगा उसके पात्रों का चरित्रचित्रण। जयशंकर प्रसाद के वर्णनों में मूर्तिमत्ता की अपूर्व योजना होने से उनके पात्रों का रंग-रूप हमारे मानसपटल पर एक अमिट छाप छोड़ जाता है। पर जैसा कि हम पहले बता चुके है, पात्रों के मनोविश्लेषण की ओर न प्रवृत्त होने के फलस्वरूप उनके कई पात्र पहेली बनकर रह जाते है और उनकी कई क्रिया-प्रतिक्रियाओं में संगति बैठाना कठिन हो जाता है। पात्रों के चरित्र-विकास की ऐसी अवस्थाओं में, जहाँ कि उनसे आशा की जा सकती थी कि वह उनकी तात्क्षणिक मन स्थिति का विश्लेषण करते

६४-६५. Ruch, 'Psychology and Life', p 122.

हुए उनके मन में उठ रही परस्पर-विरोधी तरंगों द्वारा उत्पन्न संघर्ष का चित्रण करते, वह इसमें न उलझ कर नाटकीय या काव्यात्मक प्रणाली द्वारा उस संघर्ष की ओर संकेत भर करके आगे बढ़ जाते हैं।[६६] प्रेमचन्द के समान प्रसाद भी ऐसे स्थलों के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर सके हैं। प्रेमचन्द निजी टीका-टिप्पणी द्वारा अपने विचारों को प्रकट करने का मोह न संवरण कर सके और प्रसाद का रुझान एक सफल नाटककार होने के नाते, नाटकीय शैली की ओर अधिक रहा। जब कभी वह मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ भी, उनके पात्रों ने उनकी एकाग्रता भंग कर दी, और पात्रों के चरित्र की जो गुत्थियाँ विश्लेषणात्मक प्रणाली से ही सुलझाई जा सकती थीं, उनके लिए भी प्रसाद को नाटकीय प्रणाली का आश्रय लेना पड़ा।

पात्रों की बहिर्मुखता

'कंकाल' के चतुर्थ खण्ड के आरम्भ में 'आलोक प्रार्थिनी यमुना, अपनी कुटीर में दीपक बुझाकर' बैठी, उसने 'आँखें भी बन्द कर ली' 'उसके जीवन की अनन्त रजनी उसके चारों ओर घिरी थी', पाठक भी हृदय थामकर बैठ गया कि लेखक अब उसकी मन स्थिति का विश्लेषण करेगा। पर, दुर्भाग्य से, 'लतिका ने जाकर यमुना का द्वार खटखटा दिया' और सारी एकाग्रता जाती रही।[६७] इसी प्रकार, सुखदेव चौबे के लिए जलपान का प्रबन्ध करने के प्रयत्न में 'तितली' की राजकुमारी अपनी निराश और अग्निमयी आँखों को घुमाकर जिधर ही ले जाती थी, अभाव का खोखला मुँह विकृत रूप से परिचय देकर जैसे उसकी हँसी उड़ाने के लिए मौन हो जाता। वह पागल होकर बोली—'यह भी कोई जीवन है।' यह पढ़कर पाठक आशा करने लगता है कि अब लेखक पात्र के मन में गोता लगाएगा, शायद वह लगाता भी, पर तभी 'क्या है भाभी ! मैं आ गया।'[६८]—कहते हुए चौबे ने घर में प्रवेश किया और राजकुमारी को अपने मन के कपाट बन्द करके बहिर्मुखी होना पड़ा।

इसी प्रकार के अनेक स्थल प्रसाद के उपन्यासों में मिलते हैं जहाँ उन्होंने मनोविश्लेषण के लिए उपकरण तो जुटाए, पर ठीक मौके पर उनका पूरा उपयोग करने से अपना हाथ खींच लिया।

---

६६. इलाचन्द्र जोशी, "प्रसाद का कथा-साहित्य और कंकाल", 'कल्पना', फरवरी, १९५१:

"जो कवि कामायनी में मनु के भीषण अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में आश्चर्यजनक रूप से सफल रहा है, उसकी अन्तर्भाव विश्लेषणी प्रतिभा पर सन्देह नहीं किया जा सकता। फिर भी आश्चर्य ही है कि कंकाल का कोई भी पात्र उन्हें मनोविश्लेषण के योग्य नहीं जँचा, कोई भी परिस्थिति गम्भीर वातावरण उत्पन्न करने योग्य मालूम नहीं हुई।"

६७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २७४।

६८. प्रसाद, 'तितली', पृ० ९२-९३।

अन्त:प्रेरणाओं का चित्रण

किसी विशेष परिस्थिति में पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया उतना महत्त्व नहीं रखती, जितना कि उसके प्रेरक कारण।[99] विभिन्न परिस्थितियों में तो पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है, समान परिस्थितियों में भी उनकी प्रतिक्रियाएँ अलग-अलग हो सकती हैं।[100] पात्रों के चरित्र विकास में संगति ठहराने के लिए उन विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रेरक कारणों में एकसूत्रता लाना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

असंगत प्रतीत होने वाले आचरण की प्रेरणाओं में संगति

कभी-कभी जयशंकर प्रसाद भी अपने पात्रों के असंगत आचरण के प्रेरक कारणों पर प्रकाश डाल देते हैं, विशेषतः तब जब किसी पात्र का आचरण एकदम अप्रत्याशित हो। 'कंकाल' के परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों वाले पात्रों का गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में पहुँचते ही आपसी बैर को भूल कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को शांत भाव से देखते रहना असंगत प्रतीत होने लगता है, पर शीघ्र ही लेखक स्वयं उनके इस अप्रत्याशित आचरण के कारणों पर प्रकाश डाल कर उनके व्यवहार में संगति बैठा देता है : 'लतिका और घंटी का वह मनोमालिन्य नहीं रहा, क्योंकि अब आश्रम से इन दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं रहा..... यमुना के हृदय में मंगल के व्यवहार की इतनी तीव्रता थी कि उसके सामने और किसी के अत्याचार परिस्फुट हो नहीं पाते थे। वह अपने दु:ख-सुख में किसी को साझीदार बनाने की चेष्टा न करती'.........इत्यादि।[101] 'तितली' के मधुबन की बाल-विधवा बहन राजकुमारी अपनी सच्चरित्रता के लिए गाँव भर में विख्यात थी, पर वह सुखदेव चौबे की फुसलाहट में कैसे आ गई। इसके लिए लेखक को चौबे के साथ उसके पुराने सम्बन्धों का उल्लेख करना पड़ा और चौबे की भेंट का उस पर जो प्रभाव पड़ा था, उसका चित्रण भी : 'उस दिन चौबे विदा हुआ। किन्तु राजकुमारी के मन में भयानक हलचल हुई। संयम के प्रौढ़ भाव की प्राचीर के भीतर जिस चारित्र्य की रक्षा हुई थी, आज वह संधि खोजने लगा था।'[102] तत्पश्चात् लेखक उन सभी कारणों पर प्रकाश डालता है जिन्होंने मधुबन-तितली विवाह के प्रति उसके भावी विरोध को प्रेरित किया : "उधर हृदय में एक सन्तोष भी उत्पन्न हो गया था। वह सोचने लगी थी कि मधुबन की गृहस्थी का बोझ

---

९९. R. M. Maciver, 'Society', Macmillan, London, 1950, p. 35.

१००. Haines, 'Living with Books', Columbia University Press, New York, 1950, p. 526.

१०१. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६६।

१०२. प्रसाद, 'तितली', पृ० ८६।

उसी पर है। उसे मधुवन की कल्याण कामना के साथ उसकी व्यावहारिकता भी देखनी चाहिये। शेरकोट कैसे बचेगा और तितली से विवाह करके दरिद्र मधुवन कैसे सुखी हो सकेगा? यदि तितली इन्द्रदेव की रानी हो जाती और राजकुमारी के प्रयत्न से, तो वह कितनी .... ।"[१०३]

मनुष्य का कथन इतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि उन शब्दों का अभिप्राय। उसके कथन की सार्थकता या निरर्थकता उसके अभिप्राय पर ही निर्भर करती है। तहसीलदार द्वारा इद्रदेव के विरुद्ध उकसाई जाने पर 'तितली' की श्यामदुलारी जब स्थिति पर विचार करते-करते मौन हो गई तो उसके क्षोभ को ताड़ कर उसे कम करने के अभिप्राय से सहसा माधुरी ने कहा "क्यो माँ क्या सोच रही हो.........ये लोग तो ऐसी व्यर्थ की बाते निकालने में बडे चतुर है ही। तुम को तो यह काम पहले ही कर डालना चाहिये।[१०४] किन्तु क्या कर डालना चाहिये, उसे साफ-साफ माधुरी ने भी अभी नहीं सोचा था। "वह केवल मन बहलाने वाली कुछ बातें करना चाहती थी।"[१०५]

अन्तःप्रेरणाओं का भी 'आब्जेक्टिव' चित्रण

यद्यपि प्रसाद समय-समय पर अपने पात्रो की बहुरूपी क्रिया-प्रतिक्रियाओ के पीछे छिपी उनकी प्रेरणाओ को भी प्रकाश में लाते जाते, पर बहुधा जाने या अनजाने उनके कई मुख्य प्रेरकों के बारे में या तो वह मौन धारण कर लेते है अथवा तीन-तीन परस्पर-विरोधी प्रेरको की ओर सकेत मात्र करके आगे बढ लेते है। फलतः उनके कई पात्रो के चरित्र दुर्बोध बन गए हैं। 'ककाल' की नायिका यमुना किन कारणो से विजय द्वारा की गई हत्या को अपने सिर पर ले लेने के लिए प्रेरित हुई थी, लेखक इस सम्बन्ध में उसकी मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने की बजाए अन्य पात्रों के परस्पर-विरोधी अनुमानो को, उनके 'आब्जेक्टिव' अध्ययन को, पाठकों के समक्ष रख कर नीरक्षीर विवेचन का काम उन पर छोड देता है। इस सम्बन्ध में गाला का मत है कि "वह स्त्री अवश्य उस युवक से प्रेम करती है, जिसने हत्या की।"[१०६] पर मगल का मन सदैव इस विचार का प्रतिवाद करता रहा: "गाला! पर मै कहता हूँ कि वह उससे घृणा करती थी। ऐसा क्यो! मैं न कह सकूंगा, पर है बात कुछ ऐसी ही।"[१०७] किशोरी को लिखे अपने पत्र में निरजन उसके प्रेरक भाव को एक और रूप देता है: 'वही यमुना

१०३. वही, पृ० ६७।
१०४. प्रसाद, 'तितली', ५वा सस्करण, पृ० ७७-७८।
१०५. वही, पृ० ७७-७८।
१०६. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २४४।
१०७ वही, पृ० २४४।

..........तुम्हारी दासी ! तुम जानती होगी कि तुम्हारे गले में पड़ने के कारण, विजय के लिए वह फाँसी पर चढ़ने जा रही थी और मैं...... जिसे विजय पर ममत्व था...... दूर-दूर खड़ा धन से सहायता करना चाहता था।"[१०८] पर विजय और यमुना के बाद के सम्बन्ध-विकास को देखते हुए पाठकों को कदाचित् इनमें से एक मत भी पूर्णतः सत्य दिखाई न दे।[१०९]

नाटकीय प्रणाली

प्रसाद मूलतः उपन्यासकार नहीं थे। उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले वह हिन्दी साहित्याकाश में एक सफल कवि और नाटककार के रूप में जगमगा चुके थे। पर जीवन की यथार्थताओं के निकट जितना उपन्यास है उतना नाटक या कविता कहाँ ? इसलिए संस्थावाद की चक्की में निरंतर पिसते चले आ रहे मानव-कंकाल की मूक वेदना को मुखरित करने के लिए उन्हें साहित्य की इस विधा—उपन्यास—को भी अपनाना पड़ा।[११०] उपन्यास क्षेत्र में दूसरों की बढ़ती हुई कीर्ति को देखकर ही प्रसाद उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुए थे, ऐसा समझना उनके प्रति अन्याय करना होगा।[१११] प्रसाद उपन्यास की ओर झुके तो सही, पर उनके साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ—कविता और नाटक—उनका साथ न छोड़ सकीं और, जाने या अनजाने, उनके उपन्यासों पर हावी होती रहीं। पद्य का प्रयोग तो वह उपन्यासों में कर नहीं सकते थे, क्योंकि उपन्यास गद्य-साहित्य की एक विधा है, पर गद्य-काव्य के सुन्दरतम उदाहरणों से उनके उपन्यास भरे पड़े हैं।

उपन्यासकार के नाते वह अपने उपन्यासों में प्रत्यक्ष (वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक) और अप्रत्यक्ष (नाटकीय), दोनों प्रणालियों का प्रयोग कर सकते थे, पर उनका रुझान नाटकीय प्रणाली की ओर ही अधिक रहा। 'कंकाल', 'तितली' और 'इरावती' में नाटकीय प्रणाली का अधिकाधिक प्रयोग इस बात का

---

१०८. वही, पृ० २६० ।

१०९. वही, पृ० २६४ ।

"एक घण्टा बीता होगा कि एक स्त्री आई, उसने कहा—'भाई !'

"बहन ! ...कह कर विजय उठ बैठा ।"

११०. प्रसाद, "यथार्थवाद और छायावाद", 'काव्य कला और अन्य निबन्ध', पृ० ८९ ।

"सांस्कृतिक केन्द्रों में जिस विकास का आभास दिखाई देता है वह महत्त्व और लघुत्व (आदर्श और यथार्थ) दोनों सीमान्तों के बीच की वस्तु है। साहित्य की आत्मानुभूति यदि उस स्वात्म अभिव्यक्ति, अभेद और साधारणीकरण का संकेत कर सके, तो वास्तविकता का स्वरूप प्रकट हो सकता है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति का मुख्य वाहन गद्य साहित्य ही बना।"

१११. श्रीवास्तव, 'हिन्दी-उपन्यास' पृ० १३६ :

"सम्भवतः प्रेमचन्द जी के ग्रामीण चित्रों की मनोहरता देखकर प्रसाद जी भी इस लोभ को संवरण न कर सके और उनकी कल्पना भी उसी ओर दौड़ पड़ी।"

स्पष्ट प्रमाण है। अपने औपन्यासिक पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए उन्होंने उन सभी साधनों का प्रयोग किया है, जो एक सफल नाटककार को अपनाने पड़ते हैं। वर्णनात्मक शैली तो फिर भी उनके उपन्यासों में प्रचुर मात्रा से मिल जाती है, पर विश्लेषणात्मक शैली, जिसकी सहायता से उपन्यासकार अपने पात्रों के चरित्र की अनेक गुत्थियाँ सुलझाया करता है, उनके उपन्यासो मे बहुत कम मिलती है। फलत उनके पात्रो का चरित्र-विकास कई स्थानों पर दुरूह हो गया है।

घटनाओं द्वारा चरित्रचित्रण

चरित्रोद्घाटन और चरित्र विकास

अपने पात्रो के चरित्रोद्घाटन के लिए प्रसाद भी यत्रतत्र घटनाओं का आश्रय लेते है। अपने प्रमुख पात्रों का एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करके उन्हें एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट लाने का काम वह घटनाओ से ही लेते है। इसी-लिए प्रेमचन्द के पात्रो की भाँति प्रसाद के पात्र परस्पर परिचय के लिए किसी तीसरे पात्र की—यहाँ तक कि लेखक की भी—अपेक्षा नही रखते। कंकाल में विजय और मंगल की प्रथम भेंट घोडे वाली घटना द्वारा ही होती है। बडी तत्परता से उच्छृंखल घोड़े की लगाम पकड कर उसके नथनो पर एक सबल घूंसा जमा कर उसे शात करते हुए विजय का हाथ पकड़ कर उसे धीरे से नीचे उतार लेने वाले युवक मंगल के प्रति विजय का रोम-रोम आभारी हो गया।[११२] इस घटना मे मगल की निडरता तो प्रकट हुई ही, इससे विजय और मंगल एक-दूसरे के सम्पर्क में भी आ गये और उनके जीवन-ततु परस्पर उलझने लगे।

निरजन द्वारा यमुना को देवालय से निकाल देने वाली घटना की रचना एक ओर तो निरजन के दम्भ को प्रकाश में लाने के लिए हुई और दूसरी ओर विजय और यमुना को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए।[११३] इसी प्रकार, गाला और मगल का प्रथम परिचय मेले में उसे (मंगल को) साड की जद से बचाने वाली घटना द्वारा हुआ, जिसके पश्चात् वे एक-दूसरे के जीवन में घुलते-मिलते गए।[११४] 'तितली' के आरम्भ में ही चौबे का घुटना टूटने वाली घटना द्वारा जहाँ तितली

११२. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ६४-६५।

११३. वही, पृ० ७६-७८ :

"यमुना की रोती हुई आँखें हँस पड़ीं—उसने कृतज्ञता की दृष्टि से विजय को देखा। विजय भूल-भुलैयाँ में पड़ गया। उसने स्त्री की—एक युवती स्त्री की—सरल सहानुभूति कभी न पाई थी। उसे भ्रम हो गया जैसे बिजली कौंध गई हो।"

११४. प्रसाद, 'कंकाल', पृष्ठ २२० :

"विचारों में बौखलाए हुए मंगल ने अब पहिचाना······यह तो गाला है।······मंगल के हृदय में एक नवीन स्फूर्ति हुई। वह डग बढ़ाकर गाला के पास पहुँच ही गया और घबराए हुए शब्दों में उसे धन्यवाद दे ही डाला। गाला भौंचक्की-सी उसे देखकर हंस पड़ी।"

की सहज दयालुता का परिचय मिलता है, वहाँ उससे उपन्यास के प्रमुख पात्रों में सम्पर्क भी स्थापित हो जाता है।[115] 'इरावती' के आरम्भ में महाकाल के मन्दिर में हो रहे नृत्य के समारोह में जहा बृहस्पतिमित्र की धृष्टता का परिचय मिलता है, और ब्रह्मचारी की निर्भीकता और स्वाभिमान की भावना भी व्यक्त हो जाती है वहाँ साथ ही उपन्यास के प्रमुख पात्रों में संघर्ष का सूत्रपात भी हो जाता है।[116]

प्रसाद जिस प्रकार घटनाओं के समावेश द्वारा पात्रों के जीवन-तन्तुओं को परस्पर उलझा कर उनके चरित्र को विकास की ओर ले जाते है, वैसे ही किसी एक या अनेक पात्रों का उपन्यास में काम पूरा हो जाने पर उन्हें किसी और घटना के समावेश द्वारा उसी प्रकार निकाल बाहर फेंकते है जैसे मक्खन से से बाल। कई बार तो उपन्यास के आरम्भ में जिन घटनाओं से वह चरित्रविकास का काम लेते है, उपन्यास के अंत में उनसे मिलती-जुलती घटनाओं का प्रयोग पात्रों को उपन्यास के रंगमंच से हटाने के लिए करते है। 'तितली' के पूर्वार्द्ध में कुश्ती के अखाड़े में हाथी के बिगड़ जाने वाली घटना[117] द्वारा लेखक मधुबन और मैना को सम्पर्क में लाकर मधु-बन की जीवन-दिशा को बदल देता है और उपन्यास के अंत में उसी से मिलती-जुलती घटना[118] द्वारा तहसीलदार, वेश्या, मैना, पुजारी आदि को, उनकी आवश्यकता न रहने पर, हाथी के पांवों तले रौंदवा देता है।

मनोव्यथा की अभिव्यक्ति

इसके अतिरिक्त प्रसाद पात्रों की मानसिक पीड़ा और एक-दूसरे के प्रति अव्यक्त-दृष्टिकोण की ओर संकेत करने के लिए भी घटनाओं का निर्माण करते रहते है। कंकाल में यमुना और मंगल को अकेले बाते करते देख विजय को कितना धक्का लगा, इसका वर्णन विश्लेषणात्मक प्रणाली से न करके उपन्यासकार उसे विजय की बीमारी की घटना के रूप में अभिव्यक्त करता है। विजय की बीमारी में यमुना ने जिस लगन से उसकी सेवा-शुश्रूषा की उससे मंगल पर प्रकट हुए बिना न रहा कि वह विजय की ओर आकृष्ट है।[119] इससे यमुना के प्रति उसके रुख में परिवर्तन आ गया। इसी प्रकार गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में यमुना की बेरुखी ने मंगल के हृदय को जो ठेस पहुँचाई थी वह उसके प्रचण्ड ज्वर के रूप में प्रकट हुई, जिसमें दिन-रात

---

११५. प्रसाद, 'तितली', पृ० १०-१८।
११६. प्रसाद, 'इरावती', पृ० १०-१६।
११७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० १७२।
११८ वही, पृ० २८१-२८२।
११९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ८८, ८९-९०।

एक करके मगल की सेवा करके उसके प्रति अपने प्रेम को व्यक्त करने का माला को अवसर मिला।[१२०]

पात्रों के चरित्र-विकास की कोई एक अवस्था किसी घटना को जन्म देती है और इस प्रकार उद्भूत वह घटना उसके तथा अन्य सवन्धित पात्रो के जीवन को गति देती है।

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

नाटकीय शैली की ओर प्रसाद के आवश्यकता से अधिक झुकाव ने उनके औपन्यासिक पात्रों को बातूनी बना दिया है। कई बार तो उनकी प्रगल्भता इतनी बढ़ जाती है कि वे लेखक की बात को बीच में ही काटकर अपनी कहने लग जाते है। परिणामत उनके उपन्यासों में बहुत से कथोपकथन तो नाटक की भाँति कथासूत्रो को जोड़ने और कथानक को गति देने के लिए ही होते है और उनका पात्रो के चरित्रोद्घाटन से कोई संबन्ध नहीं होता।

औपन्यासिक पात्र जन्म लेते ही तो उपन्यास में आ नही जाते। उपन्यास-जगत् में उन्हें तब तक नही लाया जाता जब तक कि वहाँ उनके करने के लिए कोई विशेष काम न हो। इसलिए उपन्यास में आने से पहले वे अपने जीवन के कई वर्ष बिता चुके होते हैं। उन्हें उपन्यास में पहली बार देखते ही उनका पहला जीवन-वृत्त जानने की जिज्ञासा होती है, जिसे उपन्यासकार प्राय: उनका प्रथम परिचय कराते समय संक्षेप में बता दिया करता है। पर प्रसाद इस काम का भार भी अपने पात्रों पर ही छोड़ देते हैं। कथोपकथन के बीच में उनके पात्र स्वयं ही अपनी जीवनगाथा सुनाने लग जाते है। किशोरी आदि का उपन्यास में पदार्पण करने के पूर्व का जीवन-वृत्त हमें उन्हीं के शब्दो में मिलता है। और तो और प्रसाद के बहुत से पात्रो के नाम तक का पता भी उनमें हो रहे कथोपथकनो से ही चलता है, लेखक उन्हे अलग से नही बताता।

इसके अतिरिक्त जब पात्र काफी देर गायब रहने के बाद पुन: उपन्यास में आते हैं तो इतनी देर वे कहाँ रहे और क्या करते रहे, इसका परिचय भी वे पात्र स्वयं देते रहते हैं।

चरित्र-विकास की विविध अवस्थाओं का चित्रण

उपन्यास में प्रथम प्रवेश के समय की पात्र की स्थिति से लेकर उसके उत्तरोत्तर विकास की विविध अवस्थाओं का चित्रण भी प्रसाद समय-समय पर उनमें हुए संवादों द्वारा कराते चलते है, जिससे जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में होनेवाले उलट-फेरों का परिचय मिलता रहता है।

अल्हड़—तितली तो थी ही । उपन्यास के आरम्भ में ही उसमें और रामनाथ में जो संवाद चलता है, उसमें उसका बालोचित औत्सुक्य स्पष्ट झलकता है: 'बापू ! उस अकाल में तुमने मुझे पाया था । लो, दूध पीकर मुझे वह पूरी कथा सुनाओ ।'[१२१] इसके पश्चात् जब वह वय प्राप्त होकर बाल्य और यौवन की संधि पर पहुँच जाती है, तो कैसे वह मानिनी का रूप धारण करती जाती है

> "तो क्या मैं तुम से रूठ रही हूँ ?"—चिढ़े हुए स्वर में तितली ने कहा ।
>
> "आज न सही तो दो दिन में रूठोगी । उस दिन रक्षा पाने के लिए आज से ही परिश्रम कर रहा हूँ । नहीं तो सुख की रोटी किसे नहीं अच्छी लगती ?"
>
> तितली इस सहज हँसी से भी झल्ला उठी । उसने कहा—"नहीं······ नहीं, मेरे लिए किसी को कुछ करने की आवश्यकता नहीं ।"[१२२]

संयत—विवाह के पश्चात् वह किस प्रकार एक उत्तरदायित्वपूर्ण महिला के रूप में जीवन को समझौता समझकर मार्ग में आनेवाले झाड़-झंखाड़ों से बचती हुई चलती है, यह प० दीनानाथ की कन्या के विवाह के अवसर पर उसकी राजकुमारी से हुई भेंट के बीच विदित होता है । कहाँ तो आग उगलती हुई राजकुमारी और कहाँ संयत तितली :

> "मैं कौन हूँ इसकी ? यह सिरचढ़ी तो स्वयं ही दूल्हा खोजकर आई है । भला इस दिखावट की आवभगत से क्या कार्य ?"
>
> राजकुमारी का स्वर बड़ा तीव्र और रूखा था । "अब तो आ गई हूँ जीजी"—तितली ने हँस कर कहा ।
>
> कुछ युवतियों ने उसकी बात पर हँस दिया' 'तितली भौंचक सी अपने अपराध को खोजने लगी । फिर उसने साहस एकत्र किया और पूछा—
> "जीजी, मेरा अपराध क्षमा न करोगी ?"[१२३]

दृढ़ और अडिग—जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर उसके मधुर स्वप्न भले ही बिखर गए हों, पर उसका धैर्य नहीं टूटने पाया था, प्रत्युत् वह पर्वत के समान अडिग बनी रही थी । इन्द्रदेव की सहायता को ठुकराकर तितली के लौट आने पर जब राजकुमारी ने उससे पूछा कि मुकदमे में क्या हुआ ? उस समय के उसके प्रशांत और दृढ उत्तर में स्वावलम्बन की भावना ओतप्रोत दीखती है .

> "पता नहीं लगा । और न तो उनके आए बिना मुकदमा ही चलता है । तब तक हम लोगों को मुंह सीकर तो रहना नहीं होगा, जीजी ! जीना तो

---

१२१. प्रसाद, 'तितली', पृ० ८ ।

१२२. वही, पृ० १०४ ।

१२३. प्रसाद, 'तितली', पृ० १६२ ।

पड़ेगा ही, जितनी माँगें आने-जाने को है, उतनी लगातार ही रहेगी। फिर यह क्या हो रहा है?"—कहकर उसने गौ को हाँकते हुए अपनी छोटी सी गठरी रख दी।

"आग लगे ऐसे पेट में, जीकर ही क्या होगा। भगवान् मुझे उठा ही लेते, तो क्या उनको कोई अपराध लगता! मै तो······"

"मै भी तुम्हारी सी बात सोचकर छुट्टी पा जाती जीजी! पर क्या करूँ मै ऐसा नही कर सकती। मुझे तो उनके लौटने के दिन तक जीना पड़ेगा और जो कुछ वे दे गए है, उसे सभाल कर उनके सामने रख देना होगा।"[१२४]

तितली और शैला के बीच समय-समय पर जो संवाद लेखक ने कराए हैं, उनमें तो उस पतिनिष्ठ भारतीय नारी का आदर्श मूर्त हो उठा है: "बहन शैला। संसार-भर उनको चोर हत्यारा और डाकू कहे, किन्तु मै जानती हूँ कि वह ऐसे नही हो सकते। इसलिए मै कभी उनसे घृणा नही कर सकती। मेरे जीवन का एक-एक कोना उनके लिए, उस स्नेह के लिए, सन्तुष्ट है।"[१२५]

ममतामयी : समाज के सम्मुख 'वज्रादपि कठोर' भारतीय नारी माँ के रूप में कैसे 'कुसुमादपि कोमल', ममतामयी बन जाती है। निर्दय समाज से अकेले टक्कर ले सकने की क्षमता रखनेवाली तितली यह जानकर कि समाज ने उसके पुत्र के मन में भी उसके सतीत्व के बारे में सदेह उत्पन्न कर दिया है, करुणा-विह्वल हो उठती है। मोहन के प्रति उसके शब्दों में आत्मविश्वास कूट-कूटकर भरा पड़ा है.

"कह भी! मुझे जीते जी मार न डाल! मेरे लाल! पूछ! तुझे डर किस बात का है? तेरी माँ ने ससार में कोई ऐसा काम नहीं किया है कि तुझे उसके लिए लज्जित होना पड़े।"[१२६]

इस प्रकार तितली ही क्यो यमुना, घण्टी, शैला, इरावती, विजय, मंगल, इन्द्रदेव, मधुबन आदि के चरित्र-विकास की विभिन्न अवस्थाओं और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में होनेवाले परिवर्तनो की झाँकी समय-समय पर हुए उनके कथोपकथनो मे मिलती रहती है।

अवचेतन की अभिव्यक्ति

बड़े यत्न से दबाकर रखे हुए भाव कई बार सहसा अजाने में निकले हुए शब्दों में मुखरित होकर व्यक्ति का भण्डा-फोड़ देते है। प्रसाद के पात्र कई बार, इस तरह, अनायास ही पाठको के सम्मुख खुलकर उन्हें आश्चर्यचकित कर देते है। शैला:

१२४. वही, पृ० २३१-२३२।
१२५. प्रसाद, 'तितली', पृ० २४७।
१२६. प्रसाद, 'तितली', पृ० २६२।

वाट्सन की ओर आकृष्ट थी, यह तो वाट्सन भी जानता था, पर शैला उस मार्ग पर इतनी दूर निकल आई होगी, इसकी उसे आशा नहीं थी। नौका-विहार करते समय वाट्सन से अत्यन्त साधारण वार्तालाप के बीच शैला के मुख से निकले एक वाक्यांश ने शैला को एकदम निरावरण करके वाट्सन के सामने नग्नरूप में ला खड़ा किया :

> "वाट्सन ने हसी से कहा—"शैला ! तुम तो गगा स्नान करने सबेरे नही आती। फिर कैसी हिन्दू ?"
>
> शैला ने हसकर कहा—"तुम भी प्रति रविवार गिरजे मे नहीं जाते, फिर कैसे ईसाई ?"
>
> "तब तो न तुम हिन्दू और न मै ईसाई !"
>
> "बस केवल स्त्री पुरुष," सहसा शैला के मुख से अजाने में निकल गया। वाट्सन ने चौक कर उसकी ओर देखा। शैला झेप-सी गई।"[१२७]

इस प्रकार इस स्थल पर पाठक भी चकित हुए बिना नहीं रहता। वह कभी भी यह नही सोच सकता था कि शैला पर से रामनाथ की शिक्षा का रग इतनी जल्दी उतर जाएगा।

भावाभिव्यक्ति में व्यजकता

कोई व्यक्ति अपने कथोपकथन में सदा ही पूर्णरूपेण खुल जाता हो, यह बात नहीं। कई बार उसके अन्दर तो बहुत कुछ भरा होता है और बाहर उबल पड़ना भी चाहता है, पर अनौचित्य के भय से, हानि-लाभ के किसी अन्य भाव से, वह अपने आतरिक भावों को बाहर आने से बलपूर्वक रोकता है। इस प्रकार उसके कथोपकथन में उसकी तत्कालीन मनोदशा का उतना अग ही प्रकट हो पाता है जो उसके रोके से न रुका हो। ऐसे स्थलो पर उपन्यासकार बडे सकट मे पड जाता है। यदि वह औचित्य का ध्यान रखे बिना अपने पात्रो के आतरिक भावो को उनके अपने मुख से व्यक्त कराता है, तो अस्वाभाविकता का दोष आने की सभावना रहती है और यदि वह उसे पूरी तरह से खुलने नही देता तो चरित्र दुरुह बन जाता है। प्रसाद ने ऐसे स्थलो पर बडी कुशलता से ऐसे कथोपकथन कराए हैं, जिनसे उनके आतरिक भाव व्यंजित तो हो उठते है, पर पूरी तरह खुलते नही। 'तितली' में इन्द्रदेव और शैला के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने के लिए अनवरी और माधुरी के बीच जिस सवाद मे सधि हुई थी, इस दृष्टि से वह उल्लेखनीय है :

> "माधुरी ने भीतर के कमरे की ओर देखते हुए उसके मुह पर हाथ रख दिया और कहने लगी—"प्यारी अनवरी ! क्या इस चुडैल से छुटकारा पाने का कोई उपाय नही ?"

१२७. प्रसाद, 'तितली', पृ० २६२।

"कुंवर साहब इससे व्याह कर ले तो तुम्हारा क्या ?"
"ऐसा न कहो अनवरी।"
"तुम्हारी माँ तो फिर तुमको ही······"
"ऊंह तुम क्या बक रही हो।"
"अच्छा तो मैं कुछ दिन यहाँ रहूँ तो······"
"तो रहो न मेरी रानी······"[१२८]

इस छोटे-से संवाद में अनवरी ने माधुरी की नब्ज पकड ली, पर माधुरी प्रकट में कैसे स्वीकार कर लेती कि उसका आशय यही है। लेखक उसके अंतिम दो कथनों से संधि-भाव व्यंजित करा देता है. 'ऊँह ! तुम क्या बक रही हो' इस संवाद का प्राण है और इसमे भी 'ऊँह' की ध्वनि। अंतिम कथन तो 'रहो न मेरी रानी ······' इस बात की पुष्टि भर करता है।

व्यंजना द्वारा प्रणय-निवेदन

ऐसे संवादो को भी, जो प्रेमी-प्रेमिका के बीच मे प्राय: हुआ करते है, प्रसाद ने व्यंजना के प्रयोग से न केवल अश्लीलता के दोष से बचा लिया है, बल्कि इस प्रकार उन्हें और भी स्वाभाविक और सजीव बना दिया है। प्रेमिका पर पहली बार प्रेम-ज्ञापन करते समय प्रेमी को बडी कठिनाई होती है। कुछ तो स्वाभाविक सकोचवश और कुछ इस भय से कि न जाने उसकी प्रेमिका उसके प्रणय-निवेदन को किस रूप में ग्रहण करे, वह प्रत्येक शब्द तौल-तौलकर निकालता है और वह भी स्पष्ट रूप से नहीं।

विजय-यमुना

विजय द्वारा यमुना पर प्रथम बार प्रेम-ज्ञापन प्रसाद ने व्यंजना-शक्ति द्वारा ही कराया है

"यमुना, है बडे आश्चर्य की बात ! पहाडी के इतने ऊपर भी यह जल-कुण्ड सचमुच अद्भुत है। परन्तु मैने और भी ऐसा कुण्ड देखा है—जिसमें कितना ही जल पिएँ, वह भरा ही रहता है !"

"सचमुच ? कहाँ पर विजय बाबू ?"

"सुन्दरी के रूप का कूप"—कहकर विजय यमुना के मुख को उसी भाँति देखने लगा जैसे अनजान में ढेला फेंककर बालक चोट लगानेवाले को देखता है।

"वाह विजय बाबू ! आजकल साहित्य का ज्ञान बढ़ा हुआ देखती हूँ!"—

कहते हुए यमुना ने विजय की ओर देखा—जैसे कोई बड़ी बूढ़ी, नटखट लड़के को संकेत से झिड़कती हो।

जिस प्रकार व्यंजना द्वारा विजय ने प्रेम-ज्ञापन किया उसी प्रकार व्यंजना द्वारा ही यमुना ने उसका उत्तर दे दिया, जिसे सुनकर 'विजय लज्जित हो उठा।[129]

प्रणय के क्षेत्र में मधुवन और तितली में जो संधि हुई थी, वह भी व्यंजना द्वारा ही हुई थी : "······जब वह लौटने लगी, तो मधुबन ने कहा—अच्छा, फिर आज से मैं रहा मधुबन और तुम तितली। यही न ?"[130]

कालिन्दी-अग्निमित्र

षड्यन्त्र द्वारा अग्निमित्र को आमन्त्रित करके भी कालिन्दी स्पष्ट शब्दों में प्रणय निवेदन न कर सकी और सांकेतिक भाषा का आश्रय लेने पर विवश हो गई :

"······कालिन्दी तूने मुझे यहाँ क्यों बुलाया, अपना अर्थ स्पष्ट कहो। मैं अधिक नहीं ठहर सकता।"

"हाँ देव ! स्त्री का मुँह कुछ बातों के लिए बन्द रहता है, यह क्या आप नहीं जानते ?"

"······तिस पर भी तुम चाहे कुछ हो, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ, यह तो तुम्हीं को बताना होगा।'

"मेरी विपत्ति अभी तक नहीं समझ सके निष्ठुर ! मैंने जिस दिन से गंगामन्दिर पर तुमको······।"

"चुप रहो कालिन्दी, मैं स्त्रियों के प्रेम का रहस्य नहीं समझ पाया ······जाने दो मैं प्रणय के स्वाध्याय में असफल विद्यार्थी हूँ। दूसरी कोई बात हो तो कहो।"

जब कालिन्दी ने देखा कि अग्निमित्र निरंतर टालता चला जा रहा है तब कहीं जाकर वह अधिक स्पष्ट शब्दों में बोली··· :

"······मगध के विश्वविश्रुत नन्दराज का रक्त मेरी धमनियों में है। मैं कुमारी हूँ, समझा। मैं तुम्हारे प्रणय के उपयुक्त हूँ। भिक्षुणी इरावती से कहीं अधिक······"[131]

ऐसे स्थलों पर प्रसाद के संवाद लम्बे और ढीले न होकर बड़े चुस्त और

१२९. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ६५।
१३०. प्रसाद, 'तितली', पृ० ३६।
१३१. प्रसाद, 'इरावती', पृ० ५२-५३।

सजीव होते है। संक्षिप्त होते हुए भी वे पात्रो के मन मे मच रही तात्क्षणिक उथल-पुथल को सफलतापूर्वक व्यजित कर देते हैं।

प्रसाद की सीमा

संवाद कितने ही सफल हों, है तो वे संवाद ही। पात्र की तत्कालीन मन-स्थिति की वे आंशिक अभिव्यक्ति ही कर सकते है। नाटक में तो, नाटककार की मजबूरी देखते हुए, इतने से ही संतोष किया जा सकता है, पर उपन्यासकार से तो यहाँ तक भी आशा रखी जा सकती है कि वह पात्रो के मानसिक द्वन्द्वो की शतप्रतिशत अभिव्यक्ति करा दे। मजे हुए नाटककार होने के कारण प्रसाद इन संवादों द्वारा पात्रो के विकास की विभिन्न अवस्थाओं की झाँकी दिखा सकने मे भले ही सफल हुए हों, पर उपन्यास के लिए यह पर्याप्त नहीं। उपन्यास की वास्तविक समस्या तो पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना है। इसलिए, उसे तो यह भी चित्रित करना होता है कि उसके पात्र चरित्र-विकास की एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक क्यो, कब और कैसे पहुँचे। पात्रो के चरित्र-विकास में क्यों, कब और कैसे का उत्तर देना अकेले नाटकीय प्रणाली की सामर्थ्य से बाहर है। यह तो विश्लेषणात्मक प्रणाली के बूते का ही काम है। पर क्योंकि प्रसाद का रुझान नाटकीय प्रणाली की ओर ही अधिक रहा और विश्लेषणात्मक प्रणाली को तो उन्होने छुआ ही, इसलिए यदि वह अपने पात्रो के भीतरी मनोभावो की तीव्रता, उनके भीतर उठनेवाले तूफानो और विद्रोही भावनाओं के चित्रण में असफल रहे हो तो इसे नाटकीय शैली की असफलता ही समझना चाहिए। प्रसाद यदि नाटकीय तथा विश्लेषणात्मक प्रणालियो मे सामजस्य बैठा लेते—उन जैसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक के लिए यह कठिन न था—तो उनके पात्रो का चरित्र-चित्रण प्रथम श्रेणी का होता। ऐसा न करने से उनके कई पात्रों का चरित्र-विकास दुरूह हो गया है।

डायरी द्वारा चरित्रचित्रण

तितली में इन्द्रदेव की मनोव्यथा का चित्रण प्रसाद ने डायरी द्वारा किया है। इन्द्रदेव एक अतर्मुखी पात्र है। 'ऊपर से शीतकाल की नदी के जमे हुए जल की कठोरता धारण किए रहने पर भी उसके भीतर का तरल जल ठाठें मारता रहता है।'[१३३] वह अपने परिपार्श्व के प्रति उदासीन हो, यह बात नही। अपने आसपास के षड्यन्त्रपूर्ण वातावरण के प्रति वह जागरूक है, अपने को दूसरो के विरोध का लक्ष्य बना पाकर उसके मन में प्रतिक्रिया भी प्रबल हो उठती है, पर जीवन के प्रति उसके घुलघुल दृष्टिकोण द्वारा उत्पन्न उसकी पलायनवृत्ति बाहर के संघर्ष को उसके भीतर समेट लाती है। उसे संसार में कोई भी ऐसा नही दीखता जिसे विश्वास-पात्र [illegible] खोल सके। वह भीतर ही भीतर घुलता रहता है—अपने

वातावरण में घिरा हुआ बेबस—खोया-खोया सा । ऐसी स्थिति में यदि वह डायरी के पन्नों पर अपनी मनोव्यथा उंडेलकर हल्का न हो जाता तो पागल हो गया होता । 'उन्माद का पूर्व लक्षण विस्मरण तो उसमें प्रकट हो ही गया था ।'[133]

इन्द्रदेव जैसे पात्र की मानसिक हलचल का प्रभाव अन्य पात्रों में उसके कथोपकथन द्वारा तो व्यंजित करा नहीं सकते थे, क्योंकि उसमें अस्वाभाविकता आ जाने का डर रहता । विश्लेषणात्मक प्रणाली की ओर जो ऐसे पात्रों की मानसिक गुत्थियों को प्रकाश में लाने के लिए अत्यन्त उपयुक्त रहती है, उनका झुकाव नहीं था । इसलिए उन्होंने डायरी का ही आश्रय लिया । इन्द्रदेव की यह डायरी उसके हृदय का दर्पण है, जिसमें उसके मन पर पड़े हुए वे सभी संस्कार जो शैला, तितली और अनवरी के बारे में उसकी मानसिक हलचल का कारण बने थे और जिन्हें वह अनौचित्य के भय से शायद कभी भी प्रकट न कर पाता, प्रतिबिम्बित हुए दीखते हैं ।

> "वह तितली बन कर मेरे हृदय में शैला नहीं बनी रहेगी । तब तो उस दिन तितली को ही जैसा मैंने देखा वह कम सुन्दर न थी ।"
>
> "..........मैं स्वीकार करता हूँ कि संसार की कुटिलता मुझे अपना साथी बना रही है । वह मित्र-भाव तो शैला का साथ न छोड़ेगा । किन्तु मेरी निष्कपट भावना....जैसे मुझ में खो गई है । मुझे संदेह होने लगा है कि मैं शैला को वैसा ही प्यार करता हूँ, या नहीं ।"[134]

इन्द्रदेव यदि डायरी न लिखता तो उसके हृदय में हो रहे इन परिवर्तनों का पता न चल पाता और यह कभी प्रकाश में ही न आता कि प्रेम के क्षेत्र में भी वह उतना ही ढुलमुल है जितना दुनियादारी में ।

इन्द्रदेव की डायरी में लिखित अन्य पात्रों के आचरण के सम्बन्ध में उस की टीका-टिप्पणी जहां लेखक (इन्द्रदेव) के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है, वहां उन पात्रों के चरित्र को भी व्यक्त करती है, तथा उनके विकास पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है । माधुरी के बारे में इन्द्रदेव लिखता है'.........'मेरी बहन ! उसे कितना दुःख है । किन्तु अब देखता हूं कि वह मुझ से स्नेह और सांत्वना की आशा करने वाली निरीह प्राणी नहीं रह गई है, वह तो अपने लिए एक दृढ़ भूमिका चाहती है । मेरा पतन......तब तो हृदय व्यथित हो जाता है ।'[135] अनवरी की छवि उसके मन में समा गई है, फिर भी वह उसके रूप की कृत्रिमता को पहचानने में नहीं चूकता : 'बाहर से चंचल और भीतर से गहरे मनोयोगपूर्वक प्रयत्न करने वाली चतुर स्त्री है ।...हंसते-हंसते अपने यौवन से भरे हुए अंगों को, लोट-पोट होकर असावधानी से, दिखा देने का अभिनय करती है; और काम में आकर कुछ कह देने के बहाने हँसकर लौट जाती है ।'[136]

१३३. वही, पृ० ११६ ।
१३४. प्रसाद, 'तितली', पृ० १२० ।
१३५. वही, पृ० ११७ ।
१३६. प्रसाद, 'तितली', पृ० ११६ ।

डायरी अपने श्रेष्ठ रूप में लेखक पात्र के अपने शब्दों में लिपिबद्ध उसका चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) भी हो सकती है। पर उपन्यास के लिए यह विश्लेषणात्मक प्रणाली द्वारा अभिव्यक्त पात्र के चेतनाप्रवाह से कहीं अधिक उपयोगी होती है। पात्र के चेतना प्रवाह का, उसके मन की चारदीवारी में सीमित रहने से उसका प्रभाव किसी अन्य पात्र पर नहीं पड़ सकता। पर डायरी जहाँ एक ओर लेखक-पात्र के विकास पर प्रकाश डालती है, वहाँ वह जिस किसी अन्य पात्र के हाथ में पड़ जाए उसके भावी आचरण को भी प्रभावित कर सकती है। इन्द्रदेव का इन शब्दों के साथ—"तो तुमने पढ़ लिया ? अच्छा ही हुआ"[137]—डायरी को फाड़ डालना और फिर कभी डायरी लिखने का नाम न लेना एक स्पष्ट संकेत है कि कदाचित् शैला तक अपनी मनोव्यथा पहुंचाने के लिए उसे यही एक उपाय सूझा हो। किसी और तरह से शैला के सम्मुख अपना दिल खोल सकने की हिम्मत तो उसमें थी नहीं।

पत्रों द्वारा चरित्रचित्रण

प्रसाद ने पत्रों द्वारा पात्रों के चरित्रोद्घाटन की शैली को भी अपनाया है। 'कंकाल' के अन्त में निरंजन का किशोरी को लिखा पत्र उपन्यास के कथानक की बिखरी हुई कड़ियों को ही नहीं जोड़ता, निरंजन, किशोरी तथा यमुना के चरित्र-विकास की कई गुत्थियों को भी खोलने में सहायक होता है और साथ ही उसके लेखक निरंजन की तत्कालीन विकासावस्था को भी चित्रित कर देता है।

अंतःप्रेरणाओं का चित्रण

गोस्वामी कृष्णशरण के आश्रम में जाने को निरंजन किन कारणों से प्रेरित हुआ था, यह सारे उपन्यास में पहली बार इस पत्र से ही ज्ञात होता है। निरंजन लिखता है : "मैंने उसकी (यमुना की) सहायता करनी चाही और लगा था कि निकट भविष्य में उसकी सांसारिक स्थिति सुधार दूं इसलिए मैं भारत संघ में लगा, सार्वजनिक कामों में सहयोग करने लगा।"[138] विजय के प्रति निरंजन का ममत्व तो समझ में आ सकता है, पर यमुना के प्रति उसके पहले कठोर व्यवहार को देखते हुए यह तब तक समझ में नहीं आता कि उसके प्रति उसे इतनी ममता कैसे हो गई, जब तक पाठक निरंजन के पत्र की इन पंक्तियों तक नहीं पहुंचता : "मैं सोचता हूँ कि मैंने अपने दोनों को खो दिया। अपने दोनों पर तुम हँसोगी, किन्तु वे चाहे मेरे न हों तब भी मुझे ऐसी ही शंका हो रही है कि तारा की माता रामा से मेरा अवैध सम्बन्ध अपने को अलग नहीं रख सकता।"[139]

---

१३७. वही, पृ० १०० ।
१३८. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २६० ।
१३९. ,, पृ० २६० ।

इतना ज्ञानवान और संयमशील होकर भी निरंजन को अपने आचरण से घृणा क्यों नहीं हुई, इसका उत्तर भी निरंजन स्वयं देता है कि वह अपने प्रत्येक कुकृत्य का, मनोविज्ञान के शब्दों में, युक्तीकरण (रैशनलाइज़ेशन) कर लिया करता था; अपने मन में उसे उचित सिद्ध कर लिया करता था 'पवित्र होने के लिए मेरे पास एक सिद्धांत था। मैं समझता था कि धर्म से, ईश्वर से, केवल हृदय का सम्बन्ध है, कुछ क्षणों तक उसकी मानसिक उपासना कर लेने पर वह मिल जाता है। इन्द्रियों से, वासनाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।'[140] यमुना का उल्लेख करते हुए वह जहाँ अपनी भूल स्वीकार करता है वहाँ यमुना के चरित्र की उज्ज्वलता का भी बखान किए बिना नहीं रहता 'किशोरी। मैंने खोज कर देखा कि मैंने जिसको सबसे बड़ा अपराधी समझा था, वही सबसे अधिक पवित्र है।'[141] निरंजन के चरित्र विकास में, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में, संसार की विरक्तानुभूतियों ने जो एक महान् परिवर्तन ला दिया था उसकी व्यंजना भी उसके पत्र द्वारा हुई है 'न्याय और दण्ड देने का ढकोसला तो मनुष्य भी कर सकता है। पर क्षमा में भगवान् की शक्ति है।...सबके क्षमा के लिए वह महाप्रलय करता है...उसी महाप्रलय की आशा में मैं भी किसी निर्जन कोने में जाता हूँ, बस, बस !"[142]

इसी प्रकार, 'तितली' में नन्दरानी द्वारा शैला को लिखा गया पत्र जहाँ नारी की स्वतन्त्रता के बारे में पाश्चात्य आदर्श के प्रति नन्दरानी के दृष्टिकोण को उपस्थित करता है, वहाँ भारतीय नारी के पदचिह्नों पर चलने के उसके कृत्रिम प्रयास की भी पोल खोल देता है।

स्वप्न और दिवास्वप्न

जयशंकर प्रसाद ने कहीं-कहीं अपने पात्रों के स्वप्नों और दिवास्वप्नों द्वारा उनके अवचेतन मन में गहरी धँसी हुई असामाजिक वासनाओं को और उन द्वारा उत्पन्न आंतरिक तनावों को, जो उनकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं को गुप्त रूप से प्रेरित करते हैं, प्रकाश में लाकर उनके चरित्र विकास में पड़ी अनेक गाँठों को खोलने का प्रयत्न किया है।[143] फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि स्वप्नों व दिवास्वप्नों में मनुष्य प्रायः अपनी चेतन या अचेतन आकांक्षाओं को तृप्त किया करता

१४० वही, पृ० २८८।

१४१ वही, पृ० २९०।

१४२. वही, पृ० २९०।

१४३. Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis', p. 49 :

"Dreams often reflect changes in our attitude towards life in general, and persons and things in particular, as well as our innermost desires and secret cravings— unconscious".

है,[१४४] इसलिए किसी व्यक्ति के स्वप्न की समुचित व्याख्या द्वारा उसके चरित्र के अव्यक्त अंश तक पहुँचा जा सकता है। [१४५]जब कोई वासना अपने असामाजिक और अनुचित स्वभाव के कारण होने वाले लोकापवाद के डर से अभिव्यक्ति पाने से बचकर चेतन मन से निकल कर अचेतन मानस में धस जाती है तो वह बार-बार स्वप्नों मे व्यक्त हुआ करती है।[१४६] और यदि वह वासना इतनी कुत्सित होती है कि अपने नग्नरूप मे वह स्वप्न तक में भी ग्राह्य नही हो सकती हो तो वह अपने वास्तविक स्वरूप मे प्रकट न होकर प्रतीको के सहारे रूप बदल कर प्रकट हुआ करती है।

गुप्त इच्छाओं का प्रकाशन

'कंकाल' का मगल तारा को वेश्यालय से छुडा लाने के पश्चात् व्यक्त में तो उससे बहन का नाता रखता रहा पर भीतर ही भीतर वह उसे अपनी हृदयेश्वरी बना चुका था और चाहता था कि उससे विवाह कर ले। लोकनिन्दा के डर से तथा तारा की दृष्टि में गिर जाने के भय से वह अपनी आतरिक इच्छा को प्रकट करने का साहस नही कर पाता था। फलत: उसका आतरिक तनाव बढ़ता गया और एक रात वह स्वप्न में बर्रा उठा :

> 'कौन कहता है कि तारा मेरी नही है ? मै भी उसी का हू। तुम्हारे हत्यारे समाज की मैं चिंता नही करता। वह देवी है। मैं उसकी सेवा करूंगा ...नही-नही, उसे मुझसे न छीनो। [१४७]

और इस प्रकार तारा पर उसकी आंतरिक इच्छा प्रकट हो गई। इस स्वप्न में उसकी वासना ही व्यक्त नही हुई, प्रत्युत् सुषुप्तावस्था में तारा को आलिंगन के

१४४. (क) Ruch, 'Psychology and Life', p. 529.

(ख) Fielding, 'Self-Mastery through Psycho-analysis, p 37.

"The dream is always the fulfilment of a wish or craving of the unconscious."

१४५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 112 :

"The psycho-analysts have long held that dreams were symbolic expressions of inner tensions and that extensive personality interpretation was possible by way of the study of dream through free association."

१४६. F Alexander, 'The Medical Value of Psycho-analysis', 1932, p. 79 :

"Everything contradictory to the ruling tendencies of the conscious personality, to its wishes, longing and ideals, and everything which would disturb the good opinion one likes to have of one-self is apt to be repressed. One of the symptoms of repressed emotion is symbolization, the representation of unconscious thoughts in acceptable forms in dreams' art."

१४७. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ४५-४६।

लिए निमंत्रित करके उसने तारा की वासना को भी जगा दिया। फिर जो कुछ हुआ उससे इन दोनों की जीवन-दिशा ही बदल गई।

अचेतन आशंकाओं की अभिव्यक्ति

ठीक विवाह वाले दिन जब मंगल गंगा स्नान करने गया तो लौटा ही नहीं और सब लोग उसकी प्रतीक्षा करके निराश हो चले गए, तारा का हृदय धक-धक करने लगा। वह रोने को हो रही थी पर मंगल में रोना नहीं चाहिए—वह खुल कर न रो सकी।[148] मंगल उसे इस प्रकार निराश्रय छोड़ जाएगा, यह तो वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकती थी। पर उसके अवचेतन मन में ऐसी आशंका जरूर विद्यमान थी जो उसके स्वप्न में रूप बदलकर प्रतीकों द्वारा प्रकट हुई। उसने जो स्वप्न देखा[149] उसमें झूले का पुल प्रतीक बना मंगल से विवाह की उसकी आशा का, सामाजिक अड़चनों ने विकृत रूप धारण किया भयानक पर्वत और खड्डों का। तारा सम्भल-सम्भल कर चल रही थी कि उसके आशा रूपी पुल पर उसकी चाची नन्दो बिजली बनकर कड़की और वह पुल टूट गया।

हिन्दू जाति के थोथे कर्मकाण्ड के प्रति विजय की घोर अनास्था उसके अवचेतन मानस तक में ऐसा घर कर गई थी कि वह स्वप्न में भी उसकी प्रामाणिकता के बारे में वहम करने लग गया था।[150]

इसी प्रकार लतिका का बाथम और घण्टी के गुप्त प्रेम के बारे में संदेह उसके स्वप्न में अभिव्यक्त हुआ. '.........बाथम एक सुन्दर हृदय की आकांक्षा सा सुरुचिपूर्ण यौवन का उन्माद......प्रेरणा का पवन......मैं लिपट गई' ' ' क्रूर ... निर्दय......मनुष्य के रूप में पिशाच...... मेरे धन का पुजारी......व्यापारी...... चापलूसी बेचनेवाला। और यह कौन ज्वाला घण्टी......बाथम असहनीय......... और !'[151] और फिर जब वह बाथम की निर्लज्ज कपटता की बात सोचती हुई व्यथित हो रही थी, तो उसकी अर्धचेतनावस्था में वही स्वप्न प्रतीकों द्वारा विकृत रूप में प्रकट हुआ : 'वह आँखें बन्द किये थी, डर से खोलती न थी। उसने मेष-शावक और शिशु का ध्यान किया। शावक को गोद में लिये शिशु प्यार कर रहा है। परन्तु यह क्या......यह क्या' '' ' 'वह त्रिशूल सी कोई विभीषिका उसके पीछे खड़ी है ! ओह, उसकी छाया मेष-शावक और शिशु दोनों पर पड़ रही है'।[152]

मधुबन जब तितली और राजकुमारी को गाँव में निराश्रय छोड़, स्वयं छिप

---

१४८. वही, पृ० ५४।
१४९. वही, पृ० ५४-५५।
१५०. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ६७।
१५१. वही, पृ० १५७।
१५२. वही, पृ० १५८।

कर अपने दिन काट रहा था, तब उसे यह आशंका निरन्तर साल रही थी कि उसकी अनुपस्थिति मे इन्द्रदेव और चौबे तितली और राजकुमारी पर डोरे डालेगे, उसे डर था कि वे कहीं उन धूर्तों के पंजे में न फँस जाएँ। उस रात जब वह मैना को हाथी से बचाकर घर लाया था और उसने अपने द्वार पर चौबे को आवाजे लगाते पाया था, तभी से राजकुमारी के चरित्र पर उसे सदेह हो गया था। यद्यपि वह सदेह आगे न बढ़ा था, तो भी वह उसके अवचेतन मन मे कही गहरे जा धँसा था और अब अवसर पाकर वह परिवर्द्धित रूप मे तितली को भी उसी मे समेटे[१५३] स्वप्न मे प्रकट हुआ, जिसमे तितली और इन्द्रदेव के विवाह की पुरानी चर्चा, राजकुमारी और चौबे का अपवाद, महन्त की हत्या आदि उसके मन पर जमे हुए कई सस्कार घुलमिल-कर विकृत रूप मे प्रकट हुए।

इस प्रकार प्रसाद स्वप्न और दिवास्वप्नो द्वारा पात्रो के चरित्र-विकास में पड़ गई गाँठों को ही खोलने का प्रयत्न नही करते, प्रत्युत् उनके सहारे अन्य सबन्धित पात्रो के चरित्र विकास को भी गति देते रहते है।

गीत

कुछ-एक स्थलों पर प्रसाद ने गीतो द्वारा भी पात्रों की तात्क्षणिक मनोव्यथा को अभिव्यजित किया है। गाने का अवसर प्राप्त होने पर पात्र अपनी मनोदशा के अनुकूल ही कोई गीत छेड देता है और उसकी किसी एक कडी को पकड़कर बार-बार गाने लगता है, मानो उसकी व्यथा को बाहर आने के लिए वह एक मार्ग मिला हो और उसकी आवृत्ति से उसे शांति और सतोष मिल रहा हो।

मनोव्यथा का चित्रण

'ककाल' में शबनम—गाला की नानी—ने प्रथम भेंट मे मै मिर्जा के सामने जो गाना गाया वह मानो कोरा गाना न होकर उसके अपने हृदय की पुकार भी था :

> पसे मर्ग मेरी मजार पर जो दिया किसी ने जला दिया,
> उसे आह ! दामने बाद ने सरेशाम ही से बुझा दिया ![१५४]

'इसके आगे जैसे शबनम को भूल गया था। वह इसी कडी को बार-बार गाती रही। उसके सगीत में कला न थी, करुणा थी।'[१५५] इस गीत द्वारा वह मिर्जा तक अपनी पुकार पहुँचाने मे सफल हो गई। तभी तो रहमतुल्ला के सारगी रखते ही मिर्जा जैसे स्वप्न से चौंका और उसने देखा—'सचमुच सध्या से ही बुझा हुआ स्नेह-विहीन दीपक सामने पड़ा है। मन मे आया उसे भर दू'।[१५६] इस गीत में जहाँ

१५३ प्रसाद, 'तितली', ५वां सं०, पृ० २२७-२२८।
१५४. प्रसाद, 'कंकाल', पृ० २०३।
१५५. वही, पृ० २०३।
१५६ वही, पृ० २०४।

एक ओर [illegible] का हृदय बोल उठा है, वहाँ इस गीत ने [illegible] को भी उस स्थिति में अनुकूल प्रतिक्रिया करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार प्रसाद ने इस गीत से चरित्रोद्घाटन और चरित्र-विकास दोनों ही प्रकार का काम लिया है।

प्रेम-ज्ञापन : कदम्ब के वृक्ष के नीचे बैठे विजय को हारमोनियम बजाते देख घण्टी ने उसके पास जाकर जो गाना गाया उसमें उसने मानो विजय को मोह लेने की अपनी इच्छा की ही अभिव्यक्ति की हो :

पिया के हिया में पड़ी है गाँठ
 मैं कौन जतन से खोलूँ ?
सब सखियाँ मिलि फाग मनावत,
 मैं बावरी सी डोलूँ ॥[157]

इस गीत द्वारा घण्टी ने विजय पर अपना प्रेम ज्ञापित कर दिया। इस गीत ने वही काम किया जो घण्टी उससे लेना चाहती थी "मादकता थी उसके लहरीले कण्ठस्वर में, और व्याकुलता थी विजय की परदों पर नाचने वाली उंगलियों में। वे दोनों तन्मय थे।"[158]

गीत के साथ एकात्मीकरण (आइडेण्टीफिकेशन)

इसी प्रकार, तितली में पं० दीनानाथ की कन्या के विवाह से लौटते समय राजकुमारी के कानों में मैना के गीत के बोल······"लगे नैन बालेपन में"[159] पड़ते ही उसके पाँव रुक गए और वह बुधिया की बात को मान अँधेरे में बहुत सी स्त्रियों के पीछे घूंघट खींचकर खड़ी हो गई। राजकुमारी को लगा कि मैना के गीत में उसका अपना हृदय बोल रहा है, उसके भी तो बचपन से ही चौबे से नैन लगे हुए थे। 'उसने विह्वल होकर कहा—'बालेपन से !' साथ ही एक दबी साँस उसके मुँह से निकल गई।[160] एक हिन्दू विधवा की मनोव्यथा दूसरों के गाए हुए गीतों को सुनकर भरी हुई आहों और बहाए हुए आँसू के रूप में ही निकल सकती है, वह स्वयं तो गा सकती नहीं, गाना उसके लिए वर्जित जो हुआ।

इस प्रकार, प्रसाद ने गीतों द्वारा जहाँ एक ओर पात्रों की मनोकामना को व्यंजित किया है, वहाँ उनसे पात्रों के चरित्र-विकास का काम भी लिया है। गीतों द्वारा निकली पात्रों की मनोव्यथा अन्य पात्रों पर प्रभाव डालकर उनके भावी आचरण को प्रेरित करती है।

---

१५७. वही, पृ० ११३।
१५८. प्रसाद, 'कंकाल', ५वां संस्करण, पृ० ११३।
१५९. प्रसाद, 'तितली', पृ० १७०।
१६०. वही, पृ० १७१।

भगवतीचरण वर्मा

परिचयात्मक विवेचन

भगवती चरण वर्मा उपन्यासों को कहानी का एक विकसित रूप मानते हैं और यह आवश्यक समझते है कि "उपन्यास का आधार एक पुष्ट और सुन्दर कहानी हो।"[1] उपन्यास के कहानी तत्त्व के प्रति उदासीन तो प्रेमचन्द भी नही थे, पर उनके लाख चेष्टा करने पर भी उनके उपन्यासो की कथावस्तु में थोडी-बहुत शिथिलता तो रह ही जाती थी; परिस्थिति-चित्रण की लय में उनके कथानक की एकता को हर बार बह जाना पडता था। वर्माजी की 'चित्रलेखा' यदि हिन्दी साहित्याकाश में आते ही जगमगा उठी थी, तो उसका एक कारण यह भी था कि पाप-पुण्य की समस्या को उसके वास्तविक स्वरूप मे रखने के प्रयत्न के साथ-साथ उसके कथानक के पुष्ट तथा सुन्दर बनाने में भी लेखक ने कसर नही छोड़ी थी। वर्माजी के उपन्यासों में इन दोनों गुणो के समाहार के कारण उन्हे "प्रेमचन्द का सशोधित सस्करण"[2] भी कहा गया है।

सिद्धान्त-शरीरी पात्र

प्रेमचन्द के उपन्यासो की भाँति वर्माजी के उपन्यास भी समस्यामूलक है, यद्यपि उनके उपन्यासो की समस्याएँ प्रेमचन्द के उपन्यासो की समस्याओ से नितांत भिन्न है। समस्याओ के उद्घाटन के लिए वर्मा जी सुसगठित और सुन्दर कथानक रचते हैं और उसके आसपास पात्रो का एक जमघट लगा देते है। पात्रो को वह

---

१. भगवतीचरण वर्मा, "साहित्य एक साधना है" (भगवतीचरण वर्मा : 'एक भेंट), 'साप्ताहिक, हिन्दुस्तान', २० सितम्बर, १९५३।

२. देवराज उपाध्याय: "टेढ़े-मेढ़े रास्ते : एक समीक्षा", 'प्रतीक' (इलाहाबाद), सं० १—ग्रीष्म।

स्वतन्त्र रूप से विकसित होने की छूट नहीं देते, अपितु नियति के 'विधान' का डण्डा दिखाकर स्वयं उनके नियामक बन जाते हैं और उन्हें पूर्वनिर्धारित दिशा में इस प्रकार मोड़ते रहते हैं कि समस्या के सभी पक्षों पर प्रकाश पड़ता चला जाए। वर्माजी का विश्वास है कि "मनुष्य अपना स्वामी नहीं, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। वह कर्ता नहीं है, वह केवल साधन है।"[3] इसीलिए उनके पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं में अनेक बार एकसूत्रता नहीं आ पाती और लेखक द्वारा समाधान भी बहुधा बौद्धिक ही रह जाते हैं। उनके सभी मुख्य पात्र सिद्धांत-शरीरी हैं।[4] उपन्यास में वे जिस सिद्धांत को लेकर पदार्पण करते हैं उसके अनुरूप ही उनके औपन्यासिक जीवन का, जो एक-दो-तीन वर्षों तक ही सीमित होता है, विकास होता है। वर्माजी के उपन्यास उनके पात्रों के समूचे जीवन को चित्रित न करके उसके स्वल्पांश को ही लेते हैं।

निवृत्तिमार्गी बनाम प्रवृत्तिमार्गी पात्र

"पाप क्या है और उसका निवास कहाँ है ?"[6] इस समस्या को लेकर वर्माजी के प्रथम उपन्यास "चित्रलेखा" की रचना हुई। समस्या के सही रूप तक पहुँचने के लिए एक ओर जरूरत पड़ी युवा योगी कुमारगिरि की, जिसमें यौवन और विराग ने मिलकर एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न कर दी है और जिसका दावा था कि उसने संसार की समस्त वासनाओं पर विजय पा ली है।[7] और दूसरी ओर निर्माण हुआ भोगी सामंत बीजगुप्त का, जिसके हृदय में यौवन की उमंग है और आँखों में मादकता की लाली, जिसे ईश्वर पर विश्वास नहीं तथा आमोद-प्रमोद ही जिसके जीवन का साधन है और लक्ष्य भी।[8] परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के इन दोनों पात्रों के चरित्र के समूचे गुणावगुणों को व्यक्त कराने के लिए सृष्टि हुई पाटलिपुत्र की सर्वसुन्दरी तथा परम विदुषी नर्तकी चित्रलेखा की, और इस काम में उसके सहायकों

---

३. (क) भगवतीचरण वर्मा: "साहित्य एक साधना है," 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २० सितम्बर, १९५३ :

"बात कुछ आपको अजीब-सी लगेगी, लेकिन इधर कुछ दिनों से मैं नियतिवादी बन गया हूँ।"

(ख) वर्मा, 'आखिरी दाँव', प्रथम संस्करण, पृ० २५० :

"चमेली ने बात काटकर कहा—'अवश्य रहा भी कब तक जा सकता है सेठ, नियति के विधान के खिलाफ कौन लड़ सकता है, कौन लड़ सका है ?"

४. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वाँ संस्करण, पृ० २०८ ।

५. भगवतीचरण वर्मा, "साहित्य एक साधना है", 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', २० सितम्बर, १९५३ :

"उसमें ('टेढ़े-मेढ़े रास्ते में') राजनीतिक आदर्शवाद पर ही चरित्रों का विकास हुआ है।"

६. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वाँ संस्करण, पृ० ५ ।

७ वही, पृ० ७ ।

८. वही, पृ० ७ ।

के रूप में अवतारणा हुई वयोवृद्ध सामन्त मृत्युंजय तथा उनकी अल्हड़ सुन्दरी, पर लज्जाशील, कन्या यशोधरा की और बीजगुप्त के सेवक श्वेतांक की। महाप्रभु रत्नाम्बर तथा उनका दूसरा शिष्य विशालदेव कथानक में खप नहीं पाते और अलग खिड़की से दीखते रहते है—केवल यह निष्कर्ष लादने के लिए कि मनुष्य न पाप करता है और न पुण्य, वह केवल वही करता है जो उसे करना पड़ता है। फिर पाप और पुण्य कैसा ? वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।[९]

वर्माजी के दूसरे उपन्यास 'पतन' की समस्या उसके नाम से ही ध्वनित हो जाती है। उपन्यास भर में लेखक कहीं भी पतन की सुनिश्चित परिभाषा नहीं देता अपितु उसके प्रकाशन के लिए प्रतापसिंह, रणवीर, भवानीशंकर, सुभद्रा (गुलशन), सरस्वती, गुलनार आदि कुछ-एक स्त्री-पुरुष पात्रों को चुन लेता है और उनके पारस्परिक यौन सम्बन्धों के औचित्यानौचित्य पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करता हुआ पतन की समस्या को छूता है। प्रताप सिंह का निर्माण वासना के कीड़े[१०] के रूप में हुआ है, वह प्रेम तो किसी से नहीं करता, यहाँ तक कि गुलनार से भी नहीं, जिसने उसके लिए घर के सब आराम छोड़े और उसे बचाने के प्रयत्न में अपने पिता की कटार का निशाना बन गई—पर स्त्री-पात्रों को भ्रष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ता। वह तीव्र गति से पतन की ओर बढ़ रहा है। यद्यपि रणवीर और सुभद्रा के यौन सम्बन्ध में भी लेखक पतन देखता है,[११] भले ही वे एक-दूसरे से प्रेम करते है, और सरस्वती के परपुरुष सम्बन्धों की चर्चा भी वह बार बार उठाता है,[१२] तो भी भवानीशंकर के पतन के सम्बन्ध में उसने अनायास ही जो कहा है "नरक से निकल कर वह फिर नरक में आ पड़ा, इसीको पतन कहते है। बुराइयों को जानते हुए भी बुराइयों को आलिंगन करना पड़ता है, यह मनुष्य की कमजोरी है"[१३] इस दृष्टि से वह 'पतन' के पात्रों की कमज़ोरी उनकी ही नहीं, मनुष्यमात्र की कमज़ोरी ठहराता है, जिसमें पतन का प्रश्न ही नहीं उठता। यह उपन्यास लेखक के इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है।

निराश प्रेमी : एक मनोवैज्ञानिक 'केस'

जिस समस्या को लेकर वर्मा जी के अगले उपन्यास 'तीन वर्ष' की रचना हुई है, वह है— प्रेम का स्वरूप और विवाह से उसका सम्बन्ध।[१४] इस उपन्यास के

९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० २०८।

१०. वर्मा, 'पतन', द्वितीयावृत्ति, १९४९।

११. वही, पृ० २३६।

१२. वही, पृ० १७५, २२५-२२६।

१३. वही, पृ० २२५।

१४. वर्मा, 'तीन वर्ष', चतुर्थावृत्ति, सं० २००५, पृ० ५३-५४।

नायक के रूप में चित्रित हुई है अनाथ, पर पढ़ाकू विद्यार्थी, रमेश जो अपने मित्र की आर्थिक सहायता से तथाकथित उच्च और सम्पन्नतम सामाजिकों में खिलने-सा लग जाता है, पर अपने पौराणिक संस्कारों के कारण इस आधुनिकतम सभ्यता के मूल्यों को समझने में धोखा खा जाता है। वह प्रेम को ईश्वरीय और दो आत्माओं का बन्धन मानता है।[15] उसका विश्वास है कि प्रेम से ही संसार स्थित है; प्रेम अनादि है, प्रेम अनन्त है तथा प्रेम ही मनुष्यों का प्राण है।[16] रमेश के प्रेम के आलम्बन के रूप में अवतारणा हुई उस तथाकथित उच्च वर्ग की युवती प्रभा की, जिसके लिए प्रेम अथवा विवाह का अन्त धन है,[17] जो प्रेम को भौतिक सम्बन्ध[18] से अधिक और कुछ नहीं समझती और उसे विवाह का आधार नहीं मानती।[19] उपन्यास के कथानक में कुँवर अजितकुमार की उपयोगिता इतनी ही है कि वह रमेश को आर्थिक सहायता देकर प्रभा की आँखों में चढ़ा देता, अन्यथा वह शायद ही रमेश की ओर ध्यान देती, पर लेखक ने इस पात्र पर दार्शनिकता का आरोप करके उसे अपनी मान्यताएँ व्यक्त करने का माध्यम भी बना लिया है। इससे उसका रूप विकृत होने लगता है और वह अन्त में सभी पात्रों का अभिभावक बन बैठता है।

प्रेम के क्षेत्र से रमेश को इतनी निराशा हुई कि वह अपना सन्तुलन खो बैठा और उन्मादावस्था[20] की ओर बढ़ने लगा। उसकी अनुभूतियों की समस्त पीड़ा उसके चेतन मानस से निकलकर उसके अचेतन मन में धसने लगी। इस अवस्था में यदि लेखक उसे कानपुर न ले जाता तो वह *पागलखाने में या जेल में पड़ा सड़ता*[21] इसलिए निर्माण हुआ विनोद और उसके आवारा साथियों का, जो दिन भर शराब पी कर लेटे रहते हैं और रात भर रण्डियों के कोठों पर मारे-मारे फिरते हैं। रमेश इस नए समाज में ही खप सकता था। इस समाज के साथ ही रचना हुई सरोज की, जो वेश्या होने पर भी रमेश की पूजा करती थी, उसे देवता की तरह मानती थी। पूर्व अनुभूतियों की कटुता में रमेश ने इसे समझने में भी गलती की। वह सरोज के प्रेम को भी एक ढकोसला समझता रहा।[22] पर सरोज ने जिसे रमेश वेश्या ही

१५. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ५४।

१६. वही, पृ० ५४।

१७. वही, पृ० १०१।

१८. वही, पृ० १३७।

१९. (क) वही, पृ० १३८।

"बिलकुल स्पष्ट है। रमेश, मैं प्रेम को विवाह का आधार नहीं मानती।"

(ख) वही, पृ० १३६।

"हम दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हैं, करना काफी है और सदा करते रहेंगे। विवाह की क्या आवश्यकता है?"

२०. वही, पृ० १६७।

२१. Andre Tridon, 'Psycho-analysis and Love', p. 39.

२२. 'तीन वर्ष', पृ० २३२।

समझता रहा, न इस से अधिक, न इससे कम, [२३] अपने प्राणों की आहुति देकर सिद्ध कर दिया कि उसका प्रेम रुपयों का गुलाम नहीं ; [२४] वह देना ही जानता है, लेना नहीं और विवाह के प्रति उदासीन है, कदाचित् इसलिए कि वह वेश्या थी और वेश्या से विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता।

अहंवादी पात्र

वर्मा जी के 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की समस्या है—सम्मिलित परिवार व्यवस्था का पतन, और उसकी शैली है व्यंग्यात्मक। व्यंग्यात्मकता उपन्यास के कथानक तक ही सीमित नहीं रही, प्रत्युत वह पात्रों के चरित्र-विकास में भी निहित है। उपन्यास का सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि इसके पात्रों का विनाश—रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ, मनमोहन, झगड़ू मिश्र, विश्वम्भर दयाल, वीणा में से किसी को ले लें—उनके अपने हाथों ही हुआ, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं। वर्मा जी ने कथानक को ऐसा रूप दिया है जिस से एक ओर तो यह दिखाया जा सके कि किस प्रकार अपने स्थितिपालक 'कान्जर्वेटिव' मुखिया की अहम्मन्यता से एक बना-बनाया सम्मिलित परिवार वर्ष भर में ही विच्छृंखलित हो कर बिखर जाता है और दूसरी ओर सक्रांतिकाल (सन् १६३०) की राजनीतिक उलझनों, धार्मिक भावनाओं तथा सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भी हो जाए।

इस उपन्यास के नायक के रूप में अवतारणा हुई ताल्लुकेदार रामनाथ तिवारी की, जो उस संक्रन्ति-काल के ताल्लुकेदारों तथा सम्मिलित परिवार के मुखियों का एक साथ प्रतिनिधित्व करता है। वर्मजी ने इस पात्र में इन दोनों वर्गों के समस्त गुण-दोषों का समाहार कर दिया है। सारे उपन्यास में रामनाथ ही एक ऐसा पात्र है जिस पर लेखक ने सबसे अधिक ध्यान दिया है। रामनाथ "पत्थर के उस शृंग की भाँति अड़ा खड़ा है जिसकी जड़ से विरोधी लहरों के बार-बार टकराने से उसके आस-पास का सब कुछ बह गया है, वह अपनी अहम्मन्यता में अडिग है।[२५] उसे केवल एक बात का मोह है और वह है—'अपनी, अपनी आत्मा का, अपने सिद्धांत का।'[२६] उसे विश्वास है कि 'जो कुछ मै करता हूं वही ठीक है, जो कुछ मैं सोचता हू, वही सत्य है।'[२७] इसलिए वे सभी मार्ग जिन पर उसके अपने लड़के तथा दूसरे लोग चल रहे है, उसकी दृष्टि में 'टेढ़े-मेढे रास्ते' है। रामनाथ के साथ ही साथ लेखक रच डालता है, उसके सिद्धात-शरीरी पुत्रो दयानाथ, उमानाथ, तथा प्रभानाथ को जो क्रमशः कांग्रेस, कम्युनिस्ट तथा क्राँतिकारी पार्टियों के सदस्य हैं। यद्यपि

२३. वही, पृ० २३४।
२४. वही, पृ० २६८।
२५. ठाकुरप्रसाद सिंह, "टेढे-मेढे रास्ते : समीक्षा" 'समाज', ३ जुलाई, १६४७।
२६. वर्मा, "टेढ़े-मेढ़े रास्ते", द्वितीय सस्करण, पृ० ३००।
२७. वही, पृ० ३००।

भिन्न-भिन्न राजनीतिक सिद्धांतों के अनुकरण से इनके वाह्यरूप अलग-अलग दीखते हैं, वास्तव में, अपने पिता के चरित्र का अभिन्न अंग—उसकी अहम्मन्यता—इन तीनों में यथावत् विद्यमान है[२८] और वह अनायास ही उनके आचरण को प्रभावित किए हुए है। रामनाथ तथा उसके पुत्रों दयानाथ, उमानाथ तथा प्रभानाथ में अहम्मन्यता की मात्रा आवश्यकता से अधिक है, तुलना द्वारा यह दिखाने के लिए झगड़ू मिश्र, मार्कण्डेय, ब्रह्मदत्त तथा वीणा की सृष्टि हुई। पिता रामनाथ के मुकाबिले में झगड़ू मिश्र की रचना हुई और ताल्लुकेदार रामनाथ के मुकाबिले में डी० एस० पी० विश्वम्भर दयाल की। वास्तव में, रामनाथ को झकझोर देनेवाले यही दो पात्र थे।[२९] इनके प्रवेश करते ही उपन्यास में जान आ जाती है।

धन के पिशाच के गुलाम

वर्मा जी का उपन्यास 'आखिरी दाँव' जिस समस्या पर आधारित है, वह है धन के पिशाच द्वारा उत्पन्न विकृति।[३०] आज के युग में सम्मान और शक्ति के भी धन में ही एकाकार हो जाने से धन का पिशाच सब को गुलाम बनाए हुए है और समझता है कि 'हर आदमी की कीमत है, इसकी भी और उसकी भी। बस केवल खरीदार चाहिए—खरीदार।'[३१] फलतः समाज के सभी मूल्यों की प्राप्ति के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धन के पीछे अन्धाधुन्ध दौड़ लगाते हुए मानव स्वयं भी विकृत हो गया है।

---

२८. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० ४३० और ४६० पर दयानाथ से मार्कण्डेय कहता है—

"मैं जानता हूँ दया कि तुममें अहम्मन्यता है; उतनी ही अधिक, जितनी तुम्हारे पिता में अथवा अन्य भाइयों में।" (पृ० ४३०)

"दयानाथ! तुममें अहम्मन्यता है, कठोर और कुरूप;·········तुम्हारी हर हरकत में, तुम्हारे हर काम में, दूसरों के साथ तुम्हारे बरताव में, तुम्हारी अहम्मन्यता का जबर्दस्त पुट रहता है।" (पृ० ४६०)

२९. वही, पृ० ४३९।

(क) "रामनाथ मुस्करा पड़े, 'आपकी प्रार्थना है, मिसिर जी! आपने मुझे अजीब परिस्थिति में डाल दिया। पर आपकी बात मैं नहीं टालूँगा।" (पृ० ३७)

"उसी समय झगड़ू रामनाथ तिवारी के ऊपर लेट गये। पचासों लाठियाँ झगड़ू पर पड़ीं।" (पृ० ३७९)

(ख) "रामनाथ अच्छी तरह समझ गये कि विश्वम्भरदयाल से अधिक बात करना बेकार है, वे जानते थे कि उस पुलिस अफसर से वे पराजित हुए।" (पृ० ४३९)।

३०. वर्मा, 'आखिरी दाँव', प्रथम संस्करण, पृ० २३८ :

"हम सब पैसे के गुलाम हैं, धन हमारा ईश्वर है, हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य है; न प्रेम है, न भावना है—जो कुछ है वह धन ही है।

३१. वही, पृ० ४७।

इस उपन्यास के नायक के रूप में रचना हुई है रामेश्वर की, जो धनी बनने की चेष्टा में अपनी गाँठ के भी ५०० रु० तथा अपनी समस्त चल और अचल सम्पत्ति जुए में हारकर गाँव छोड़ने के लिए विवश हो जाता है। दूसरी ओर सृष्टि हुई नायिका चमेली की, जो उसके धन और यौवन दोनों पर आँख रखनेवाले रतनू के झाँसे में आकर घर से गहने, कपडे, नगदी चुरा, उसके साथ बम्बई भाग जाती है। वहाँ रतनू उसका माल चट करके उससे वेश्यावृत्ति कराना चाहता है और वह वहाँ से जान छुड़ाने के प्रयत्न में पुलिस के चक्कर में पड़ जाती है, जहाँ से रामेश्वर उसे पहचानकर छुड़ा लाता है और दोनों का जीवन एक दम्पति के रूप में आरंभ होता है। दोनों कुछ देर अपनी मेहनत की कमाई से पेट भरकर निश्चिन्त और स्नेहपूर्ण जीवन बिताते हैं, पर इसी बीच लेखक धन के पिशाचों का निर्माण कर देता है—सेठ शिवकुमार और शीतलप्रसाद के रूप में, जिन्हें चमेली, रामेश्वर को बचाने के लिए, पहले अपना शरीर और बाद में आत्मा भी बेचने के लिए विवश हो जाती है।[३२] एक बार जब दोनों एक-दूसरे को बचाने के प्रयत्न में धन के पिशाच के हत्थे चढ़ गए[३३] तो लाख जोर मारने पर भी उसके चंगुल से छुटकारा न पा सके।[३४]

'ऐक्स्ट्रा' पात्र

उपर्युक्त प्रधान पात्रों के अतिरिक्त वर्माजी अपने उपन्यासों में चलचित्रों के 'ऐक्स्ट्रा' लोगों की भाँति अनेक पात्र विशेष अवसरों के लिए भी इकट्ठे कर लाते हैं, बडी रुचि और विस्तार से एक-एक का परिचय कराते हैं, और अवसर बीत जाने के बाद उन्हें शीतघर (कोल्ड स्टोरेज) में रखकर भूल जाते हैं और कभी उनका नाम तक भी नहीं लेते। 'चित्रलेखा' में सामंत मृत्युंजय के घर यशोधरा के जन्म-दिवस पर आमन्त्रित लोग, सम्राट् चन्द्रगुप्त की सभा; 'तीन वर्ष' में अजित तथा प्रभा के जन्मदिवसों पर हुई पार्टियों में अभ्यागत, रमेश के कमरे में जमनेवाली बैठकों में भाग लेनेवाले उसके सहपाठी; कानपुर में विनोद और उसके आवारा दोस्त; 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में कांग्रेस, कम्युनिस्ट और क्रान्तिकारी दल की बैठकों में भाग लेने वाले राजनीतिविशारद, साहित्य-गोष्ठियों के कविगण; 'आखिरी

३२. वर्मा, 'आखिरी दाँव', प्रथम संस्करण, पृ० १८५।

३३. वही, पृ० २३८ :

"जिसके पास पैसा है, वह सब कुछ खरीद सकता है, रूप, यौवन, शरीर, आत्मा। सब बेच रहे हैं अपने को, धन के पिशाच के हाथों, चमेली, हम दोनों भी अपने को उस पिशाच के हाथों बेच चुके हैं।"

३४. वही, पृ० २७३ :

"चमेली खून से लथपथ पडी थी—रामेश्वर के आने पर उसने आँखें खोलीं—नहीं बचा सकी, न तुम्हें और न अपने को।"

दाँव' में फिल्म कम्पनी के कार्यकर्ता आदि कितने ही ऐसे पात्र है, जिनपर लेखक की शक्ति और समय तथा उपन्यास का कलेवर व्यर्थ में ही व्यय हुआ है।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

चरित्रानुरूप नाम

अपने पात्रों का स्रष्टा होने के नाते उपन्यासकार उनका सर्वज्ञ होता है। उपन्यास में पदार्पण करते समय की पात्रों की विकासावस्था से तो वह परिचित होता ही है, उनके भावी चरित्र-विकास से भी वह अनभिज्ञ नही होता। इसलिए पात्रों का नाम रखते समय वह जाने या अनजाने उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना नही रहता और पात्रों के नामो द्वारा भी उनकी वैयक्तिक विशिष्टताओ को अभिव्यजित कर देता है।[३५] इस रूप में, भगवतीचरण वर्मा भी अपवाद नही कहे जा सकते। उनके पात्रो के नामो में ही उनकी आकृति-प्रकृति की झलक मिल जाती है। कई पात्रों के तो नाम और चरित्र में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध प्रतीत होता है और यह बता सकना कठिन हो जाता है कि नाम के आधार पर चरित्र बना है या चरित्र-विकास के आधार पर नाम रखा गया है।

अजित—'तीन वर्ष' का कुँवर अजितकुमार—नाम अजित है तो वह रहा भी अजित ही। जब तक वह उपन्यास में रहा कोई उसे हरा न सका—न बाहुबल से और न बुद्धि-बल से। यहाँ तक कि रमेश उसपर गोली चलाकर भी उसे हरा न सका। उसने 'अनुभव किया कि अजित उससे बहुत ऊँचा है'।[३६] अजित की तर्कना-शक्ति के आगे बैरिस्टर सर कृष्ण भी हार मानकर कह उठते है: "मैं आपके तर्कों को काट नही सकता।"[३७] संसार में निराश प्रेमियो की संख्या बढ़ानेवाली नटखट लीला भी अजित को मान गई: "अजित! उफ, तुम बड़े भयानक जादूगर हो, तुम से पार पाना असम्भव है।"[३८]

विनोद—'तीन वर्ष' के प्रथम खण्ड में रमेश का अभिन्न मित्र था अजित और दूसरे खण्ड में उसका साथी बना विनोद। विनोद ने भी अपना नाम सार्थक करने में कोई कसर न छोडी थी; जेसा नाम वैसा काम। उसका सिद्धांत था कि 'मौज करो और प्रसन्न रहो। मौज करना ही जीवन है।'[३९]

---

३५. Wellek: 'The Theory of Literature', London, 1949, p. 226-27:
"The simplest form of characterization is naming. Each appellation is a kind of vivifying, animating and individuating."

३६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १५८।

३७. वही, पृ० १०८।

३८. वही, पृ० ७६।

३९. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १५५।

दीवाना—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्र हिन्दी के कवि दीवानाजी अपने सम्भाषण से—'मेरे स्वागत का भार इन छोकडो पर छोड कर आप बड़े आदमियों की खातिरदारी में चल दिए ? जरा तमीज सीखिए[४०]—ही अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर देते है और फिर उनकी आकृति और वेश-भूषा तो शक के लिए कोई जगह ही नहीं छोडती : 'कुरता पहने और तहमद बाधे, नगे सर और नंगे पैर। बाल बड़े-बडे, दाढ़ी मूंछ साफ।'[४१]

शशिप्रभा—कवयित्री शशिप्रभा ने भी साहित्याकाश में नवीन ग्रह की भाँति एक दिन अचानक उदय होकर अपना नाम अर्थपूर्ण बना दिया था।[४२]

इस प्रकार के पात्रों को देखकर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो लेखक ने पहले इनकी रूपरेखा बना ली हो और फिर उसके अनुकूल ही उनका नाम रखा हो।

व्यंग्यात्मक नाम

व्यग्यचित्रो से तो वर्माजी के उपन्यास भरे पड़े है। उनकी व्यंग्यात्मक शैली और भी प्रखर हो जाती है जब वे किसी महफिल, टी-पार्टी, डिनर, कवि-गोष्ठी या राजनीतिक बैठक में भाग लेने वाले व्यक्तियो का रस लेकर परिचय कराने लगते है। व्यग्य उन पात्रो की वेश-भूषा तथा आकृति-प्रकृति तक ही सीमित नही रहता, उनके नामो तक से भी व्यजित होता है। 'तीन वर्ष' के दूसरे खण्ड में वेश्या प्रभा के यहां लगी महफिल में मुंशी उल्फतराय[४३] को देखकर तो उनके नाम की सार्थकता पर विश्वास हो जाता है, पर उनके साथ ही ठाकुर शेर सिह का नाम सुनकर जरा आश्चर्य होता है, जो उनकी मूछे और थल-थल बदन[४४] को देखकर तथा उन्हें रमेश के दुर्व्यवहार से डर कर सबसे पहले भागता[४५] देख दूर हो जाता है कि यह बीसवीं शताब्दी के शेरसिह हैं और वह भी शहर के पालतू। 'टेढ़े-मेढे रास्ते' में वर्मा जी ने हिन्दी के साहित्यकारों के व्यंग्य चित्र दिए हे। व्यग्य उन पात्रों के आकार प्रकार से ही नही उनके नामो से भी ध्वनित होता है। कविवर विलासीजी ने अपना उपनाम विलासी इसलिए रखा है कि वह अधिकाश स्त्रियों के ट्यूशन करते हैं और स्त्रियों के ट्यूशन उन्हे इसलिए मिल जाते थे कि उनकी काली और भद्दी शक्ल-सूरत पर स्त्रियो के पिता-पतियो को पूरा भरोसा था।[४६] नाटे कद के पतले दुबले नरकंकाल-से आलोचक महाशय का नाम रखा गया है 'परम सुख'।[४७] पके

४०. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', द्वितीय संस्करण, पृ० २३७।
४१. वही, पृ० २३७।
४२. वही, पृ० २५०।
४३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १७०।
४४. वही, पृ० १७२।
पृ० १७३।
-मेढे रास्ते', पृ० २३४।
पृ० २३५।

हुए बालो पर खिजाब लगाए, बड़े-बडे दांतो वाली, पक्के रंग की तन्दुरुस्त पर अधेड़ उमर की कवयित्री का नाम है मृणालिनी।[४८] यहाँ लेखक उनका सुन्दर नाम रख कर मानो उनकी आकृति-प्रकृति और वेश-भूषा की खिल्ली उडा रहा हो।

विकासारम्भ के द्योतक नाम

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रो के कई नाम ऐसे हैं जो उपन्यास में पदार्पण करते समय के पात्रो के चरित्र की किसी उभरी हुई विशेषता को व्यंजित करते है, यद्यपि आगे चलकर वे विकास की एक नई दिशा पकड लेते है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', के झगडू मिश्र के प्रथम दर्शन यद्यपि एक झगड़ालू ब्राह्मण के रूप में होते है[४९] और रामनाथ तिवारी भी उसे एक झगडालू भाई के रूप में ही जानता रहा,[५०] पर उस का विकास दूसरी दिशा में हो रहा था, जिसकी चरमावस्था थी झगडा मिटाने के लिए उसका प्राणोत्सर्ग।[५१] इसी प्रकार यद्यपि 'तीन वर्ष' की लीला का प्रथम परिचय—ससार में निराश प्रेमियों को संख्या बढ़ाने वाली[५२]—इस रूप में कराया गया है कि मानो केवल मनोरंजन के लिए प्रेम करके वह अपने नाम 'लीला'[५३] को सार्थक कर रही हो, पर अजित के सम्पर्क में आने के बाद वह प्रेम को गम्भीरता पूर्वक लेने लग गई थी, यह इलाहाबाद छोडते समय गाड़ी मे बैठी हुई लीला की मुखाकृति से जाना जा सकता है।[५४] 'चित्रलेखा' के आरम्भ का योगी कुमारगिरि जो कौमार्य में गिरि के समान उन्नत और अडिग था, 'सयम जिसका साधन था और स्वर्ग जिसका लक्ष्य',[५५] बाद में वासना का गुलाम बन जाता है। इसी प्रकार, बीजगुप्त जो पहले बीज-प्रकृति का उपासक था, 'ईश्वर के बारे में जिसने कभी सोचा नहीं था तथा आमोद और प्रमोद ही जिसके जीवन का लक्ष्य था',[५६] बाद में भोगी से योगी हो जाता है। बीजगुप्त का सेवक श्वेतांक भी, जिसका हृदय उपन्यास के आरम्भ में एक ऐसी साफ-सुथरी स्लेट के समान था जिस पर अभी कोई सस्कार रूपी अक्षर नहीं बने थे—यदि थे भी तो केवल श्वेत अंक ही—'जो तब अबोध था, ससार में

४८. वही, पृ० २३६।
४९. वही, पृ० १३४।
५०. वही, पृ० ३६५।
५१. वही, पृ० ३७९।
५२. 'तीन वर्ष', चतुर्थावृत्ति, पृ० ६२।
५३. रामचन्द्र वर्मा, 'संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागर', नागरी-प्रचारिणी सभा, चतुर्थ संस्करण, सं० २००२, पृ० ११०४।
५४. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ६४।
५५. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वा संस्करण पृ० ७।
५६. वर्मा, 'चित्रलेखा', ७वां संस्करण, पृ० ७।

उसने अभी-अभी पदार्पण किया था',[५७] वही अनाड़ी उपन्यास के समाप्त होते-होते एक सफल प्रेमी के रूप में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार, स्पष्ट हो जाता है कि भगवतीचरण वर्मा ने पात्रों के नाम-करण द्वारा भी उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है।

पात्रों का प्रथम परिचय

भगवतीचरण वर्मा उपन्यास के आरम्भ में ही सभी प्रमुख पात्रों का प्रवेश नहीं करा देते हैं। पहले तो वे उन्ही पात्रों को लेते है, उपन्यास की कथा को चालू करने के लिए जिनका होना आवश्यक हो। फिर कथानक को गति देने के लिए तथा नायक-नायिका के विविध रूपो को प्रकाश में लाने के लिए समय-समय पर नए पात्रों का प्रवेश कराते जाते है। उनके कई प्रमुख पात्रो की अवतारणा उपन्यास के बीच में कथा के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हुई है और उनके आते ही उपन्यास को गति मिली, अन्य पात्रो मे जान-सी आ गई और नायक-नायिका के चरित्र ने विकास की एक नई दिशा ग्रहण की। 'चित्रलेखा' में यशोधरा का प्रथम परिचय तब कही जाकर मिलता है जबकि उपन्यास ८१वें पृष्ठ पर चला जा रहा होता है। उसके आते ही कथानक में चुस्ती आ जाती है और चित्रलेखा, बीजगुप्त, श्वेतांक और कुमारगिरि में आतरिक और बाह्य तनाव बढ़ जाता है। 'तीन वर्ष' में विनोद उपन्यास के दूसरे खण्ड में आता है, नायक रमेश के विकास की नई दिशा के अनुरूप वातावरण बनाने के लिए; और सरोज जिसने अपनी तपस्या से नायक के पूर्वग्रह को झकझोर दिया, पहली बार पृष्ठ १८५ पर दिखाई देती है। 'टेढ़े-मेढे रास्ते' के रगमच पर उमानाथ, झगड़ू मिश्र, वीणा, मनमोहन आदि का आगमन भी कथा-विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हुआ है और उनके आने से नायक रामनाथ के चरित्र के विविध रूप प्रकाश मे आए हैं। नायक की टक्कर के दूसरे पात्र डी० एस० पी० विश्वभरदयाल का, जिसने उपन्यास में गति और रोचकता ला दी और जिसका लोहा रामनाथ को भी मानना पडा, तब प्रवेश हुआ जब उपन्यास के ३८४ पृष्ठ भरे जा चुके थे। 'आखिरी दाँव' में भी सेठ शिवकुमार और शीतलप्रसाद नायिका के जीवन में नए मोड़ ला देने के लिए समय-समय पर प्रकट हुए है।

आरम्भिक उपन्यास

वर्माजी के उपन्यासों में एक बात खटकनेवाली भी है और वह यह है कि उनके कई प्रमुख पात्रों के उपन्यास में पदार्पण करने से पहले ही अन्य पात्रों की

५७. वही, पृष्ठ १६।

परस्पर बातचीत में उनकी चर्चा छिड़ जाती है और उनके बारे में इतनी अधिक जानकारी प्राप्त हो जाती है कि उनके प्रति विशेष उत्सुकता नहीं रहती। 'चित्रलेखा' में महाप्रभु रत्नाबर और उनके शिष्यो की बातचीत से कुमारगिरि और बीजगुप्त की आकृति और उनके आचार-विचार का इतना विस्तृत परिचय मिल जाता है कि उनके बारे में जानने के लिए कुछ शेष रहता ही नहीं। 'पतन' में सुभद्रा के 'गुलशन'-रूप में प्रथम दर्शन पृष्ठ ६४ पर होते हैं, पर पृष्ठ ६ से १७ तक अन्य पात्रो की बातचीत में उसकी जो चर्चा होती रही है उससे इसके प्रथम दर्शन मे कोई विशेष रुचि नहीं रहती।

अनावश्यक लम्बा प्रथम परिचय

वर्माजी अपने पात्रो का प्रथम परिचय बहुधा स्वय उत्तम पुरुष में कराते है। उनके प्रारम्भिक उपन्यासो में तो पात्रो का प्रथम परिचय इतना अनावश्यक बौद्धिक विस्तार लिये होता है कि वह नीरस तो बन ही जाता है, पात्र के चरित्रोद्-घाटन में उसकी उपयोगिता भी नगण्य ही रहती है। 'चित्रलेखा' में कुमारगिरि का परिचय लेखक "कुमारगिरि योगी था।" इन शब्दो से आरम्भ करता है और सवा पृष्ठ तक सैद्धातिक तर्क-वितर्क करके अपने आरम्भिक शब्दों को सिद्ध करता हुआ इस वाक्य के साथ समाप्त करता है: "और इसलिए कुमारगिरि योगी था।"[५८] 'पतन' के प्रथम परिच्छेद में नवाब वाजिदअलीशाह का प्रथम परिचय इतिहास-ग्रंथ के विवरणों की सी शुष्कता, अनावश्यक विस्तार और विश्लेषण लिये हुए है। 'सन् १८५१ ई० की बात है' से उसका आरम्भ होता है और बीच-बीच में "नवाब.........दुर्भाग्यवश अपने कुल के अन्तिम शासक थे", "नवाब साहब में अपने पूर्वजों की सी योग्यता न थी, इतिहास और उनका पतन यह बतलाता है", "किंवदतियाँ है कि नवाब साहब ने ··" "लोगों का कहना है कि वे", के-से वाक्याश[५९] आ-आकर उसे इतिहास-ग्रथों का विवरण बना देते है। आश्चर्य होता है कि नवाब वाजिदअली-शाह जैसे पात्र में, जिसका कथानक तथा पात्रों के विकास में कोई विशेष योग नही, लेखक व्यर्थ में क्यो उलझ रहा है।

अतिशयोक्तिपूर्ण परिचय

वर्माजी ने कहीं भी पात्रों का काव्यात्मक परिचय न कराया हो, यह बात नहीं। जब कभी भी वह इस ओर प्रवृत्त हुए तो रीतिकालीन पद्धति पर अतिशयोक्ति-पूर्ण नखशिख वर्णन पर उतर पडे जो आज के युग में वैसे ही अनोखा प्रतीत होता है। 'पतन' में गुलनार का प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ है: 'गुलनार सुन्दरी थी।

---

५८. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ २५।

५९. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ १६।

उसका मुख चन्द्रमा की भाँति निर्मल था, शायद उससे भी अधिक············जिस समय वह चलती थी·········मतवाले-से-मतवाले हाथी उसकी मतवाली चाल पर शर्मा जाते थे···जिस समय वह बोलती थी···मानो कोयल पंचम स्वर में कूक रही हो"[६०] इत्यादि।

प्रौढ़ उपन्यास

यह तो हुई वर्माजी की आरम्भिक रचनाओं में पात्रो के प्रथम परिचय की बात। पर धीरे-धीरे उनका प्रथम परिचयात्मक विवरण प्रेमचन्द की आदर्श शैली को—"किसी चरित्र की रूपरेखा करते समय हुलियानवीसी की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यो में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ"[६०क]—पकड़ने लगता है। चार-छः वाक्यों में ही वह पात्रों की आकृति-प्रकृति की कुछ-एक उभरी हुई विशेषताएँ बता कर आगे बढ जाते है। 'आखिरी दाँव' के आरम्भ में रामेश्वर का परिचय इसी सारगर्भित शैली में हुआ है : "रामेश्वर को सारा गाँव काका कहता था। छरहरे बदन का लम्बा-सा आदमी, निःशंक और मस्त, ढलती हुई जवानी। मुँह पर एक अजीब तरह की कोमलता थी, बालो में एक अजीब तरह की चमक थी। खिचड़ी मूँछ लेकिन अच्छी तरह से छटी हुई, घुटी हुई दाढ़ी। चाल में लापरवाही से भरी हुई ऐंठ, स्वर में मीठी-सी उपेक्षा की दृढ़ता। रामेश्वर की अवस्था करीब पैंतालीस वर्ष थी।"[६१] ऐसा ही राधा का प्रथम परिचय है : "राधा काफी शौकीन थी, और वह मकान की अन्य स्त्रियों से अलग रहने में अपनी शान समझती थी·········अवस्था लगभग सत्ताईस-अट्ठाईस साल की थी और उसका शरीर फैलने लगा था। अति से प्रपीडित यौवन अब ढलने की अवस्था में आ गया था, राधा का सम्मान रूप के बाजार में कम हो गया था······।"[६२]

औपचारिक परिचय

वर्माजी के अधिकाश पात्र उच्च वर्ग में से है और आए दिन क्लबो, पार्टियों, मीटिंगों, डिनरों में इकट्ठे मिलते रहते है जहाँ एक व्यक्ति नपी तुली शब्दावली से उन्हें एक-दूसरे से परिचित कराता है। ऐसे अवसरों पर पात्र को लेखक की अपेक्षा नहीं रहती और वह संक्षेप में पात्रों के नख-शिख और वेश-भूषा वर्णन द्वारा उसे आकार देकर छोड़ जाता है और उपन्यास का कोई पुराना पात्र उसका हाथ पकड़ कर उसे दूसरे पात्रों के सामने ले आता है। 'तीन वर्ष' में उपन्यासकार लीला को

---

६०. वही, पृष्ठ ४३।
६०. (क) प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४८।
६१. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ १।
६२. वही, पृष्ठ ३०।

आकार देकर उस कमरे में धकेल देता है जहाँ प्रभा, रमेश और अजीत बैठे थे। सबने उस "दुबली और लम्बी युवती को देखा। उसका रग गोरा, मुख लम्बा, होंठ पतले-पतले और लाल, नाक लम्बी और उठी हुई, आँखें बड़ी-बड़ी और मत्था नीचा था।" प्रभा ने झट उठकर उसका स्वागत किया और इस प्रकार उसका परिचय कराया : "मिस लीला विशाल क्रास्थवेट में मेरे साथ पढती थी और आजकल लखनऊ में पढ़ रही हैं। एक बात और बता दूँ, लीला ने ससार में निराश प्रेमियो की सख्या बढ़ाने का काफी काम किया है, और इसके लिए मै इन्हे मैडल देने वाली हूँ।"[६३] इसी प्रकार के औपचारिक परिचय के लिए लेखक सर कृष्ण कुमार को आकार देकर उसकी लडकी प्रभा के हवाले कर देता है : "सर कृष्णकुमार अध्यक्ष मझोले कद के और दोहरे बदन के आदमी थे। वे अधेड कहे जा सकते थे, क्योकि उनके सिर के बाल सफेद पड़ने वाले थे। डाढ़ी मूंछ साफ और सिल्क का सूट पहने हुए थे। उनकी आँखे बडी-बडी थीं, और माथा चौडा''''''रग गोरा था और मुख पर एक स्वाभाविक लाली थी।"[६४] अजित के जन्म-दिवस पर आमन्त्रित लोगो का परिचय भी अजित ही कराता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में लेखक ने इसी प्रकार हिल्डा का निर्माण कर दिया और उमानाथ उसे पकड़कर उपन्यास के रगमच पर लाया : 'करीब पन्द्रह मिनट बाद उमानाथ एक स्त्री के साथ वापस आया। स्त्री यूरोपियन थी और उसकी अवस्था लगभग तीस वर्ष की रही होगी, वह सुन्दरी कही जा सकती थी; उसकी आँखें गहरी नीली थी, और उनमें चमक थी; उसका चेहरा लम्बा और कठोर और बाल लम्बे-लम्बे तथा अस्त-व्यस्त थे।"[६५] कामरेड मॉरीसन तथा 'आखिरी दॉव', के सेठ शीतलप्रसाद को भी आकार देकर लेखक उन्हे पात्रो के हवाले कर देता है।

अनौपचारिक परिचय भी

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रों का प्रथम परिचय बहुधा औपचारिक ही रहा है। जब उनके पात्र उपन्यास जगत् में पहुँचते हैं तो अधिकाश के साथ लेखक स्वयं गाइड के रूप में आता है या किसी पुराने पात्र को उसके साथ कर देता है। फिर भी उनके कुछ-एक पात्रों का प्रथम प्रवेश अनौपचारिक ढंग से हुआ है। लेखक पहले स्थिति का निर्माण कर लेता है और फिर उसमे पात्र को डाल देता है और अपनी ओर से कुछ कहे बिना स्थिति के चित्रण द्वारा उस स्थिति में पात्र की क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि द्वारा उसे खुलने देता है। उपन्यास के रगमच पर उन पात्रो के जब सर्वप्रथम दर्शन होते है तो वे स्थिति में इतने उलझे मिलते है कि उसमें व्यक्त

---

६३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ६२।
६४. वही, पृष्ठ ४३।
६५. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ १४।

हो रही उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और किसी बात पर ध्यान ही नही जाता, यहाँ तक कि उनकी आकृति और वेश-भूषा की ओर भी नहीं। स्थिति के साधारण होने पर ही लेखक उनका कुछ परिचय देता है, यद्यपि उससे पहले उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर उनकी चारित्रिक विशेषताओ का अनुमान हो चुका होता है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में डी० एस०पी० विश्वम्भरदयाल का प्रवेश इसी प्रकार होता है : "लेकिन उसी गाडी के सैकण्ड क्लास में एक और आदमी था, जो इस काण्ड को बडे कौतूहल से देख रहा था। प्रभानाथ और मनमोहन के भागने के साथ ही उसने अपने रिवाल्वर से उन दोनों की ओर फायर किया।"[६६] गोलियों की बौछार शान्त होने पर लेखक उसका परिचय कराता है . "जिस आदमी ने ये दो गोलियाँ चलाई थी, उसका नाम विश्वम्भरदयाल था और वह पुलिस डिपार्टमेंट में था''''''।"

वीणा के प्रथम दर्शन भी लगभग इसी स्थिति में होते हैं : '(प्रभानाथ) ने देखा कि उसकी मोटर के सामने करीब पाँच गज की दूरी पर एक युवती पिस्तौल ताने खड़ी है'''प्रभा ने कार रोक दी। युवती ने झपटकर कार का बाईं ओर वाला दरवाजा खोला और वह प्रभानाथ की बगल में बैठ गई।"[६७]'''जब स्थिति की गम्भीरता कम हुई तब प्रभानाथ ने कनखियों से उस युवती की ओर देखा : 'वह करीब बीस या बाईस वर्ष की बंगाली युवती थी और उसके मुख पर कठोरता थी। उसकी आँखें नीले चश्मे से ढकी थी—युवती मझोले कद की थी और उसका रंग गेहुआँ था और यदि वह कुरूप न थी तो वह सुन्दर भी न थी।'[६८]

'तीन वर्ष' में विनोद[६६] और वेश्या सरोज[७०] दोनों का परिचय अनौपचारिक ढंग से हुआ है। यहाँ लेखक पात्र और पाठको के बीच में नहीं अड़ता और स्थिति-विशेष में पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि द्वारा उन्हें एक दूसरे पर खुलने देता है।

पूर्वग्रहपूर्ण परिचय

वर्माजी के उपन्यासो में पात्रों का प्रथम परिचय बहुधा पक्षपातपूर्ण रहा है। उनके प्रथम परिचय में प्रेमचन्द की शैली के सभी गुणों और दोषों का समाहार हुआ है। ये परिचयात्मक विवरण चुस्त और सारगर्भित तो हैं, पर निष्पक्ष एक भी नहीं। पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया दिखाए बिना उनके चारित्रिक गुणावगुणों का उल्लेख पूर्वग्रह का द्योतक है, जिसके प्रभाव से पाठक भी बच नही पाते। 'आखिरी दाँव'

---

६६. वही, पृष्ठ ३८५।
६७. वही, पृष्ठ ६३।
६८. वर्मा, 'टेढ़े-मेढे रास्ते', पृ० ६४।
६६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १५१।
७०. वही, पृष्ठ १८५।

के सेठ शिवकुमार के प्रथम परिचय में ही उनके प्रति लेखक की घृणा व्यक्त हो जाती है। 'शिवकुमार लखपती था, लेकिन वह लखपती बना था अपने उचक्केपन से। जाल, फरेब, बेईमानी—इन सब गुणों में वह पारंगत था। समाज में वह बडा शरीफ आदमी गिना जाता था।'[७१]

पात्रों के प्रति वर्माजी का पूर्वग्रह और भी प्रबल हो उठता है, जब वह पार्टियो, सभाओं आदि के रूप में एक साथ दर्जनों पात्रो का प्रवेश कराकर बडी रुचि से उनके व्यंग्यचित्र बनाने लग जाते हैं। 'तीन वर्ष' में कुंवर अजितकुमार के जन्म-दिन पर आमन्त्रित राजा रामप्रताप सिंह, ठाकुर केशरीनारायण, कुंवर रिपुदमन सिंह लाला अम्बिकाप्रसाद सिंह आदि[७२] के तथा परमा के कोठे पर लगी महफिल में मुन्शी उल्फतराय, ठाकुर शेरसिंह, लाला नौरतनदास[७३] के परिचयात्मक विवरण में लेखक ने उनकी खूब खिल्ली उडाई है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' तो ऐसी व्यंग्यात्मक परिचयमालाओ से भरा पड़ा है। उपन्यास के आरम्भ में ही लेखक दयानाथ के घर हो रही कांग्रेसियों की मीटिंग के रूप में एक साथ दस पात्रों का प्रवेश करा देता है और एक-एक करके उनका परिचय कराने लगता है। किस पात्र के प्रति लेखक की सहानुभूति है और किसके प्रति नहीं यह उनके परिचय के ढंग से पता चल जाता है—"पाँचवें सज्जन का नाम वासुदेव था। वासुदेव कौन है? कहाँ का रहने वाला है? उसकी जाति क्या है? यह कोई नहीं जानता।"[७३क] "छठे सज्जन का नाम मौलाना हामिद अली ...उनके हृदय में दया थी...करुणा थी। और वह समझते थे कि 'मनुष्य', मनुष्य पहले है और हिन्दू-मुस्लिम बाद में।" "डा० हीरालाल सातवें सज्जन थे। कानपुर नगर में उनकी डाक्टरी उनकी योग्यता से कहीं अधिक उनके कांग्रेस के नेता होने के कारण चलती थी।...मंत्री होने का सपना देखा करते थे।"

प्रो० किशोर और रानी शशिप्रभा के घर हुई कवि-गोष्ठियों के रूप में भी लेखक दर्जनों साहित्यकारों का व्यंग्यात्मक परिचय कराता है और पात्रो पर व्यंग्य कसने की धुन में प्रायः यह भूल जाता है कि उसके ऐसा करने से न तो उपन्यास का कथानक आगे बढ पाता है और न ही उसकी मीटिंग या गोष्ठी की कार्यवाही, जिसके सदस्यो के परिचय में वह उलझ जाता है। ऐसे परिचयों की स्वाभाविकता और उपादेयता संदिग्ध है, क्योंकि इनमें से बहुत-से पात्रो के तो फिर कभी दर्शन ही नही होते कि उनके क्रिया-कलापों के साथ उनके बारे में प्राप्त जानकारी का मिलान किया जा सके। ऐसी स्थिति में पाठक लेखक के पूर्वग्रह को मानने को बाध्य हो जाता है।

---

७१. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ ३१।
७२. 'तीन वर्ष', पृष्ठ ३०।
७३. वही, पृष्ठ १७०।
७३. (क) 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ १८-१९।

अनुभाव-चित्रण

यदि किसी साधारण व्यक्ति से भी यह पूछा जाए कि वह दूसरो की मुख-मुद्राओ को देखकर उनकी तात्कालिक मनःस्थिति के बारे में कुछ बता सकता है या नही, तो वह झट से 'हाँ' कह देगा।[७४] स्थिति-विशेष में पड जाने के पश्चात् और प्रतिक्रिया के व्यक्त होने से पहले किसी व्यक्ति के चेहरे के बदलते हुए रग, उसकी भ्रू-भंगिमा तथा विभिन्न शारीरिक मुद्राओं के आधार पर उसकी तात्कालिक मनोदशा, स्थिति के प्रति उसके रुख और निकट भविष्य में प्रकट होने वाली उसकी प्रतिक्रिया का काफी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, इस दावे की सत्यता स्वीकार करने से पहले यह मानना होगा कि उस व्यक्ति की व्यक्त चेष्टाएँ या अनुभाव आदि सहज-स्वाभाविक हैं, न कि बनावटी।[७५] पर बहुधा होता इसके विपरीत है। मनुष्य सामाजिक पशु है। मूलत: वह पशु है, पर समाज में विचरते हुए उसे पग-पग पर अपने असामाजिक पशुत्व को बलपूर्वक दबाकर उस पर सामाजिक मनुष्यत्व[७६] का आरोप करना पडता है जो अनैसर्गिक होता है। इस आरोपित मनुष्यत्व को स्वाभाविक और नैसर्गिक समझकर उसके आधार पर लगाया गया अनुमान भ्रामक सिद्ध होता है। जितना अधिक कोई सभ्य और सामाजिक होगा, उतना अधिक उसका व्यवहार आरोपित होगा और उतना ही अधिक कठिन होगा उसके व्यक्त व्यवहार से उसकी आतरिक भावनाओं का ठीक-ठीक पता लगा सकना।

अनुभावों का अभिनय

भगवतीचरण वर्माजी के अधिकांश पात्र समाज के उच्च और सभ्य-वर्ग में से हैं। शेष ऐसे है जो स्वयं चाहे उच्च वर्ग से न हों, पर उच्च वर्ग से उनका नित्यप्रति का घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण उस वर्ग के रंग-ढंग, रहन-सहन, तौर-तरीकों आदि को अपनाए हुए हैं। "बडे आदमियों में 'गूव' करने के लिए उन्हे यह सब-कुछ करना पडता है।"[७७] उनके पात्र आए दिन क्लबों, पार्टियो, डिनरों, सभा-

७४. Ruch, 'Psychology and Life', p. 177:

"In popular thought we have been inclined to believe that every emotion has some highly distinctive facial and vocal expression, and that the emotional reaction of other persons may be identified mainly by these clues."

७५. Ross Stagner, 'Psychology of Personality', p. 224:

"The effective states, pleasantness, unpleasantness, excitement and depression, in their original and unmodified form lead directly to reflex movements of an expressive nature."

७६. Ibid, p. 225:

"So-called 'civilizing' of the emotion."

७७. महावीर अधिकारी, "भगवतीचरण वर्मा", 'आजकल', जून, १९५१ पृष्ठ १७ पर उद्धृत वर्मा जी के शब्द।

सोसाइटियों आदि में एक-दूसरे से मिलते रहते हैं। जब भी वे आपस में मिलते हैं तो वे अपनी भ्रू-भंगिमा और मुखमुद्रा के एक-एक परिवर्तन, नख से लेकर शिख तक की वेश-भूषा की एक-एक सिलवट तथा बातचीत के एक-एक शब्द द्वारा मानो दूसरों से कह रहे हों : 'हाँ, मैं तैयार हूँ।' कुछ एक आवेशपूर्ण क्षणों को छोड़कर जब कि लाख रोकने पर भी उनका आवेगज आचरण फूट पड़ता है,[७८] वर्माजी के पात्र अपने परिवेश तथा उसमें अपने स्तर (स्टेटस) के प्रति इतने जागरूक रहते हैं कि वे अपने प्रत्येक स्वाभाविक आचरण को जिसके उस स्थिति में उलटा पड़ने की या मनोवांछित प्रभाव डालने में बाधक होने की सम्भावना हो, बलपूर्वक दबाकर उस पर बनावटी, पर स्थित्यनुकूल, आचरण के आरोप का एक भी अवसर खोने देना नहीं चाहते। उनका प्रयत्न यही होता है कि दूसरों को उनके व्यक्त व्यवहार में वही भाव प्रतिबिम्बित मिले, जो वास्तविक चाहे न हो, पर जिन्हें वे उनपर प्रकट करना चाहते हैं।[७९] इसलिए उन पात्रों के व्यक्त अनुभाव, उनकी विविध मुद्राओं तथा अंगप्रत्यंगों के संचालन आदि के माध्यम से उनके हृदय की थाह लेना और उनकी अव्यक्त प्रेरणाओं का अनुमान लगा सकना अत्यंत कठिन हो जाता है, क्योंकि उसके लिए उनके चेतन-मन और तज्जनित बनावटी आवरण के पीछे झाँकना होता है।[८०] चित्रलेखा, चमेली, लीला, प्रभा, वीणा आदि के बारे में जो अभिनय करना भी जानती हैं, और भी कठिन हो जाता है।[८१]

---

७८. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 225 :

"*There is evidence which suggests that, even when the process of* training has gone to such an extent that verbal expressions of emotion have been eliminated, there may be an unconscious, unrecognized gesture which reveals the emotional state to the observer."

७९. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 465 :

"*One set of determinants pertains to the special adaptive perform*ance prescribed by the task in hand.....The resulting action is purposive, skilful, voluntary, and specific in reference to the demands of the occasion and to the special tension created."

८०. Ibid., p. 467 .

"*Any deliberate attempt to disguise expression markedly* inhibits its individual character. Extreme examples of such attempts are the poseur, the mimic, the character actor and the forger, who make conscious efforts to divest the performance completely of the spontaneous forms of expression. In these instances *voluntary determinants* predominate to such an extent that the naive personal idiom is altogether suppressed."

८१. Ibid, p. 467 :

"To perceive the individuality of expressive behaviour it is, then, necessary to look beyond the specific intent of the act, beyond conscious control and the manifestations of convention and skill."

(L. Clages in 'Der Geist als Widersacher der Seele').

चित्रलेखा—सामंत मृत्युंजय के यहाँ, यशोधरा के जन्म-दिवस पर आमंत्रित महिलाओं द्वारा दी गई कटु-व्यंग्यपूर्ण बधाई का उत्तर जब चित्रलेखा ने उससे भी अधिक कटुता में दिया : "अपने सौंदर्य के बल से अभिमानिनी स्त्रियों को अपना स्वागत कराने के लिए बाध्य करनेवाली को बधाई की आवश्यकता नहीं', तो महिलाएं इतनी भौचकी-सी रह गईं कि एक ने दूसरी की ओर देखा और दूसरी ने तीसरी की ओर। बात जिस तीव्रता से कही गई थी, उससे बीजगुप्त को भी भय हुआ कि चित्रलेखा का, बहुत सम्भव है, अपमान हो। उसने पूछा ' 'क्या बात है।' यह सुनते ही चित्रलेखा का क्रोध से लाल मुख एकदम शाँत हो गया, 'कुछ नहीं आपस में हसी हो रही थी।' उस समय चित्रलेखा हस रही थी। यशोधरा चित्रलेखा के इस भाव-परिवर्तन पर मुग्ध हो गई, बीजगुप्त के जाने के बाद उसने चित्रलेखा से कहा, 'बहिन, तुम लोक-व्यवहार में बहुत कुशल हो।' 'तभी तो इतनी प्रभावशालिनी हूँ'—चित्रलेखा हस पड़ी, चित्रलेखा की हास्य-ध्वनि झंकृत हो उठी और उसमें वातावरण की समस्त कटुता लुप्त हो गई।"[८२]

लीला—'तीन वर्ष' की लीला विशाल ने इलाहाबाद में दो-तीन दिन और रुकने की बात पक्की कर लेने पर भी जब अचानक घोषणा करके कि वह उसी रात गाडी से चली जाएगी सबको चकित कर दिया तो अजित ने लीला की ओर देखा, दोनों की आखें चार हुई। तभी अपने रुदन को दबाने के लिए लीला खिलखिलाकर हँस पडी—"मिस्टर अजित, मैं स्वय अपने लिए पहेली हू। आपका आश्चर्य करना स्वाभाविक ही है।"[८३]

चमेली—'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली स्टूडियो में आने के पहले दिन ही, जब रामेश्वर द्वारा सेठ शिवकुमार और राधा के पास छोड़ दी जाती है और सेठ राधा को भी कमरे से बाहर चले जाने का सकेत करता हुआ कहता है—'राधा, तुम रिहर्सल में चलो, अपनी कम्पनी की हीरोइन से मुझे कुछ बातें करनी हैं, उसे कुछ बातें बतलानी हैं'; तो राधा ने चमेली की ओर इस आशा से देखा कि वह या तो उसे जाने से रोकेगी या फिर उसके साथ ही रिहर्सल में जाने का आग्रह करेगी, पर उसे चमेली के मुख पर 'एक अजीब तरह का सूनापन मिला; किसी भी प्रकार की भावना उसे चमेली के चेहरे पर न मिली, न हर्ष, न क्रोध, न विषाद।'[८४] भीतर से भरी हुई होने पर भी चमेली अपनी समस्त आंतरिक हलचल को दबाकर शाँत बैठी थी, जिस रूखी व्यंग्यात्मक मुसकराहट से उसने मौन तोड़ा वह इस बात की परिचायक है।—'हाँ, सेठ। तुम मुझसे बातचीत करना चाहते थे न। यहाँ तक ले आए हो और मैं चली आई हूँ। बड़े प्रसन्न हो रहे होगे अपनी सफलता पर।'[८५]

---

८२. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ ८४-८५।

८३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ९२।

८४. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ ९७।

८५. वही, पृष्ठ ९८।

इसी प्रकार, पिकनिक के समय, वृक्षों के एक झुरमुट मे अपने साथ असहाय अवस्था मे बैठी चमेली को मदिरा पिलाने के लिए शीतलप्रसाद ने जब दोबारा आग्रहपूर्वक थरमोस का गिलासनुमा ढक्कन बढाया तो "उसका हाथ मुलायमियत के साथ हटाते हुए चमेली ने कहा—'नही, आप ही पीजिए।' इस समय वह बड़ी कठिनाई से अपने को सयत किए बैठी थी। उसके अन्दर जो क्रोध और ग्लानि थी, वह उसे बडे प्रयत्न के साथ अन्दर दबाए थी।"[८६]

भाव प्रदर्शन

ऐसे स्थलो से वर्मा जी के उपन्यास भरे पडे हैं, जहा उनके पात्र अपने भीतर के तूफान को सफलतापूर्वक दबाकर बनावटी हाव-भाव दिखाने लगते है। यही नहीं, हृदय में कोई भाव न होने पर भी वर्मा जी के पात्र दूसरो को प्रसन्न करने के लिए या उन पर वाछित प्रभाव डालने के लिए स्थित्यनुकूल भाव मुख पर ले आते है। प्रभा के घर पहली भेंट के बीच उसके ड्राइग रूम में बैठे अजित ने जब उससे कहा : मिस अध्यक्ष मेरे सिगरेट पीने में आपको कोई आपत्ति तो न होगी, तो आत्मीयता दिखाने के लिए 'किंचित् क्रोध का भाव प्रदर्शित करते हुए'[८७] (उसके भीतर कोई भाव न था) प्रभा ने कहा : 'कुंवर साहेब ! यदि आप मुझे मिस अध्यक्ष न कह कर केवल प्रभा कह सकें तो अच्छा हो। हम सब मित्र है फिर आपस में यह तकल्लुफ क्यो ?' इसी प्रकार प्रभा के यहा जब नारी समस्या पर बातचीत हो रही थी तो हिन्दू समाज में स्त्रियों के स्थान के बारे में बोलते हुए सर कृष्ण ने जब कहा कि'''' जहां लोग स्त्री और पुरुष के अधिकारों को समझने लगे है, डाइवोर्स की आवश्यकता प्रतीत की जाने लगी है। पर अधिकांश हिन्दू स्त्री को सम्पत्ति ही समझते है, तो अजित के मुख से अचानक ही निकल पडा, और दुर्भाग्यवश मैं उन हिन्दुओं में से एक हूँ।' उसकी बात सुनते ही सर कृष्ण के हाथ से सिगरेट छूट पड़ी, प्रभा इतने ज़ोर से चौंकी कि गिरते-गिरते बची और रमेश ने शरबत का गिलास मेज पर रख दिया।[८८] अजित की बात ने उन लोगो को कदाचित् ही इतना धक्का लगाया होग जितना कि उन्होंने प्रदर्शित किया।

'आखिरी दाँव' में चमेली के फ्लैट पर लगी एक महफिल मे जब रामेश्वर ने किशोर से एक कविता सुनाने के लिए अनुरोध किया और चमेली ने उसके प्रस्ताव का अनुमोदन किया तो 'किशोर ने जरा शरमाते हुए, जरा अनखाते[८९] हुए पहले तो कहा, 'कविता, इस वक्त तो मेरा गला ठीक नही है' और फिर गला साफ करके कविता

---

८६. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ २०१।
८७. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ३८।
८८. वही, पृष्ठ १०३-१०४।
८९. 'वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ १२०।

सुना भी दी : 'सजनी तेरा अभिसार करूँ ।' किशोर का यह सारा आचरण बनावटी ही था। डिनरों, पार्टियों सभा-सोसाइटियों में तो वर्मा जी के पात्रों का बनावटी आचरण अपनी पराकाष्ठा को पहुंच जाता है।

पूर्णतः कृत्रिम अनुभाव सम्भव नहीं

हृदय के मचलते हुए भावों और उमड़ते हुए आवेगों को इस प्रकार थाम लेना कि व्यक्त चेष्टाओं में उनकी झलक भर भी न मिल सके, कुशल अभिनेताओं के बस का भले हो, साधारण व्यक्ति के बस का कदापि नहीं। वर्मा जी के पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। पात्रों के लाख रोकने पर भी कई बार उनके मनोभाव उनकी व्यक्त चेष्टाओं में एक बार तो झलक दिखा ही जाते हैं, फिर चाहे वे संयत ही क्यों न हो जायँ।[६०] पूर्व उद्धृत प्रसंग में, चित्रलेखा का मुख भी एक बार तो क्रोध से लाल हो ही गया था,[६१] बाद में चाहे उसने अपनी व्यवहार-कुशलता से बात बिगड़ने से बचा ही ली। 'पतन' उपन्यास के आरम्भ में आधी रात के समय गंगा के किनारे अकेले टहलते हुए रणवीर को जब प्रताप सिंह सहसा पुकार उठा—'रणवीर तुम पहले से ही यहां आ पहुंचे', तो उसका मुंह पीला पड़ गया। फिर भी उसने अपने मनोभावों को दबाते हुए हँसकर कहा[६२]—'भाई साहब, अब न कहिएगा कि आप वक्त के पाबन्द हैं।

जिस वर्ग से भगवतीचरण वर्मा ने अपने अधिकांश पात्र चुने हैं और जिस प्रकार के वातावरण में वे पलते और बढ़ते-फूलते हैं, वहाँ लोगों को अपने सहज-स्वाभाविक आचरण को दबाकर अवसर के अनुकूल बनावटी हाव-भाव दिखाने पड़ते हैं—कई बार भयवश और कई बार प्रलोभनवश। पर कोई भी आचरण न तो समूचा बनावटी हो सकता है और न ही पूरा सहज-स्वाभाविक। इसलिए उनके व्यवहार में कभी तो बनावट की प्रधानता आ जाती है और कभी नैसर्गिकता की।[६३] तभी तो लेखक को बार-बार बताना पड़ता है कि पात्र के हाव-भावों में बनावट की मात्रा कितनी है। जहां वह कुछ नहीं बताता वहां पात्रों की चेष्टाएँ स्वाभाविक मानी जानी चाहिएँ, ऐसा उसकी शैली से ध्वनित होता है।

---

६०. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 215 ।

६१. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ २५ ।

६२. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ ५-६ ।

६३. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 467 :
"No single act of behaviour can be designated exclusively as expressive and none as non-expressive. Every act has both an adaptive (zweck massing) and an individual or stylistic (ausdruck lick) character."

स्थित्यंकन

औपचारिक स्थितियां

किसी मनुष्य के व्यक्त आचरण में प्रतिबिम्बित उसकी विशिष्टताओं के आधार पर उसके चरित्र के बारे में काफी-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है, पर व्यक्ति का आचरण अपने आप नहीं फूट पड़ता, प्रत्युत् उसे प्रेरित करने के लिए सदा किसी न किसी स्थिति की वह बाह्य हो अथवा मानसिक, अपेक्षा रहती है।

भगवतीचरण वर्मा भी अपने उपन्यासो में अनेक स्थितियो का निर्माण करते हैं और उन्हें इस क्रम से अपने पात्रो के जीवन में लाते जाते है कि उनके सयोग से धीरे-धीरे पात्रो के विविध रूप खुलते जायें। वर्माजी के लगभग सभी उपन्यासो की पृष्ठभूमि (सेटिंग) बड़े-बड़े नगर हैं और उनके अधिकाश पात्र या तो स्वय समाज के उच्च और सम्पन्न वर्ग में से हैं और या फिर उच्च वर्ग के घनिष्ठ सम्पर्क में आ जाने से उसके रहन-सहन तथा सामाजिक मूल्यो को अपनाए हुए है। नगरो का यह उच्च वर्ग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण सुख-सुविधा से भरपूर तो है ही, मान और प्रतिष्ठा के उच्चासन पर भी है। इसके अतिरिक्त गावो के सम्पन्न परिवारो तक को भी जिन सामाजिक रीति-नीतियों का पालन करना पड़ता है, नगरो में बिरादरी प्रथा के शिथिल हो जाने से इस प्रकार का कोई भी अंकुश उन लोगों पर नहीं रहता। उनका जीवन होता है—स्वच्छन्द और उन्मुक्त, लोकलाज की चिंता से मुक्त। धन और समय दोनों की उनके पास कमी नही रहती, वल्कि समस्या यह होती है, उसे कहा और कैसे लगाया जाए। वे लोग आए दिन डिन्नरो, पार्टियों, वर्षगांठों, कवि गोष्ठियों, विवाद-सभाओं आदि का आयोजन करते रहते हैं। एक-दूसरे से उनकी मुलाकात अचानक भेंट (चास एनकाउण्टर) रूप मे नही होती, प्रत्युत् पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के आधार पर होती है और वहा उनका पारस्परिक परिचय भी, यदि पहले न हुआ हो, औपचारिक ढंग से हुआ करता है। इसलिए वर्मा जी के उपन्यासो की अधिकाश स्थितिया औपचारिक ही होती है। उन स्थितियो में उनके पात्र आजाने मे नही फसते, प्रत्युत् उनके लिए पहले से ही तैयार होकर आते हैं। इन बैठको तथा समारोहों पर यद्यपि 'लेबल' तो वर्षगाठो, साहित्यिक समाजों, राजनीतिक दलों की बैठको, आदि के लगे रहते हैं, पर इन का आयोजन संयोजकों द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से होता है—वह उद्देश्य औरों के साथ किसी विशेष व्यक्ति को बुलाकर उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र में ला, अपना उल्लू सीधा करने से लेकर दूसरों पर अपने अधिकार, विद्वत्ता और सौंदर्य की धाक बैठाने आदि तक चाहे कुछ भी हो। इस प्रकार की दो-चार बैठकों में आने-जाने से ही पात्रों में आपसी रोमांस पलने आरम्भ हो जाते है, उनमें प्रतिद्वन्द्विता बढने लगती है और उनके जीवनतंतु एक-दूसरे से उलझने लगते है

चरित्र-विकास के लिए

"चित्रलेखा" की अधिकाश स्थितिया जिन में पडकर पात्रो का चरित्र धीरे-धीरे प्रकाश में आता है, औपचारिक ही है। उसमें पात्रो की एक दूसरे से अचानक भेंट नही हो जाती। सभी पात्र स्थिति से भिडने के लिए तैयार हो कर आते हैं। यशोधरा की वर्षगाठ के उपलक्ष्य में मृत्युंजय के यहा उत्सव का आयोजन और अन्य सामंतो के साथ बीजगुप्त का निमंत्रित किया जाना तथा चित्रलेखा को नर्तकी की *अपेक्षा भद्र-महिलाओं में स्थान दिया जाना, ऊपर से साधारण प्रतीत होने पर भी* सोद्देश्य था। वृद्ध मृत्युंजय यशोधरा के लिए वर खोज रहे थे और एकाएक उनकी दृष्टि बीजगुप्त पर पड़ चुकी थी। उसे यशोधरा के निकट लाने के लिए ही यह समस्त आयोजन था। इसी प्रकार महाराज चन्द्रगुप्त की सभा के औपचारिक वातावरण में ही चित्रलेखा कुमारगिरि पर मुग्ध हुई थी। उन दोनों समाजों से ही चित्रलेखा *और कुमारगिरि तथा यशोधरा और बीजगुप्त के जीवन एक-दूसरे से उलझने* लगे थे।

'तीन वर्ष' के पूर्वार्द्ध की सभी स्थितिया औपचारिक है। रमेश और प्रभा का प्रथम परिचय अजित ने औपचारिक ढग से कराया और उसके बाद उनकी सभी पारस्परिक भेंटे औपचारिक ही रही है। प्रभा और रमेश की किसी भी अनौपचारिक भेंट का चित्रण इस उपन्यास मे नही मिलता। रमेश प्रभा के प्रेमपाश में अधिकाधिक उलझता जा रहा है, इस बात का पता रमेश और अजित की समय-समय पर बात-चीत से ही प्राप्त होता है, रमेश और प्रभा अनौपचारिक रूप से प्रेमालाप करते समूचे उपन्यास में कहीं नही मिलते। लीला और अजित तथा लीला और अविनाश का पारस्परिक परिचय भी औपचारिक रूप से होता है। पर ऊपर से औपचारिक और सामाजिक प्रतीत होने पर भी इन समाजों, गोष्ठियों, डिनरो के पीछे आयोजन-कर्ताओ का एक विशेष उद्देश्य झलके बिना नहीं रहता है। प्रभा की वर्षगाठ के *उपलक्ष्य में सर कृष्ण के यहां हुए उत्सव में अजित और लीला तथा प्रभा और रमेश* को एक दूसरे के निकट आने का एक अच्छा अवसर मिल गया। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' भी राजनीतिक बैठकों, साहित्यिक गोष्ठियो, प्रीतिभोजों आदि से भरा पड़ा है, जिनमें पात्र मीटिंग में प्रस्तुत विषय को छोड़ कर व्यक्तिगत मामलों पर ही एक-दूसरे से उलझ पडते है।

स्थित्यंश पर कैमरे का फोकस

औपचारिक स्थितियों की सूचना वर्मा जी के पात्रों को पहले से ही मिल जाती है। उनके पाठको को तो कई बार इससे भी पहले मिल जाती है। तभी वे [illegible] नहीं आ फंसते, प्रत्युत् उनके लिए पूरी तरह से तैयार होकर आते हैं। [illegible] वर्षगाठ के उपलक्ष्य में मृत्युंजय के घर हो रहे उत्सव के लिए चित्रलेखा

को बीजगुप्त के माध्यम से पहले ही निमन्त्रण मिल चुका था और क्योंकि इससे पहले वह उच्च कुलों के उत्सवों में केवल नर्तकी की स्थिति में ही जाने की अभ्यस्त थी, उससे यह सम्भावना छिपी न थी कि 'कुलीन स्त्रियां' उसका अपमान कर बैठें। सम्बन्धित पात्रों को स्थिति विशेष में डालते समय वर्मा जी स्थिति का, आसपास के वातावरण का, लम्बा-चौडा वर्णन न करके स्थिति के उसी पक्ष को लेते है, जिसका उन पात्रो से सीधा सम्बन्ध होता है। मृत्युंजय के यहा हो रहे उत्सव पर वहा की सजधज, चहल-पहल तथा अन्य सामन्तो की ठाठ-बाट के चित्रण में न उलझ कर बीजगुप्त और चित्रलेखा पर ही अपना कैमरा 'फोकस', किए रखते हैं। उनके रथ से उतरते ही उन्हें उचित स्वागत और आदर के साथ बैठाया जाता है। इसके बाद लेखक एक-एक करके चित्रलेखा, बीजगुप्त, यशोधरा, मृत्युंजय और बाद में आए योगी कुमारगिरि की ओर अपना कैमरा घुमाता जाता है। कई बार तो ऐसा लगने लगता है, इन लोगो के सिवा इस उत्सव में और कोई है ही नही—और यदि है तो गूंगे होंगे। 'तीन वर्ष' में सर कृष्ण के यहा प्रभा की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में हुए डिनर की भी सूचना पात्रों को पहले ही मिल जाती है और वे स्थिति के लिए तैयार होकर आते है। डिनर के ब्यौरेवार वर्णन में न उलझकर, प्रत्युत चार-पाच पंक्तियो मे ही उसका संक्षिप्त परिचय देकर—'रविवार आया, सर कृष्ण के यहां......दावत थी। नगर के प्रमुख नागरिक आमन्त्रित थे, प्रबन्ध पाश्चात्य ढंग पर किया गया था। प्रभा अपने मेहमानों के साथ व्यस्त थी...'। लेखक शेष सब को भूलकर अपना ध्यान लीला, रमेश और अजित की पर केन्द्रित कर लेता है और उन्हें मेहमानो की भीड में से निकालकर लायब्रेरी में ला बैठाता है। इस प्रकार देखते है कि लेखक कहीं भी अनावश्यक विस्तार के मोह में नही पडता।

अपसाधारण (ऐबनौर्मल) स्थितियां

यद्यपि भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों की अधिकाश स्थितियां पूर्व-निर्धारित तथा औपचारिक है, तो भी उनमें आकस्मिक तथा अपसाधारण स्थितियो की भी कमी नहीं। औपचारिक स्थितियो के लिए उनके पात्र पहले से ही तैयार रहते है पर इन आकस्मिक तथा असाधारण स्थितियों मे वे अपने अजाने में ही फँस जाते है। पहले से तैयार रहने के कारण औपचारिक स्थितियों में पडने पर उनके पात्रो की क्रिया-प्रतिक्रिया, उनके हाव-भाव, उनके आचार-व्यवहार में कृत्रिमता आ जाती है। पर इन आकस्मिक स्थितियों में उनका सहज स्वाभाविक आचरण फूट पडता है। उनके पात्रो का वास्तविक रूप इन स्थितियो में ही खुल पाता है, यद्यपि इनके प्रति व्यक्त होने वाली उनकी प्रतिक्रिया का अनुमान लगाना असम्भव-सा ही होता है। मानसिक सतुलन खो बैठने पर पात्रों के भीतर जो तनाव (टैन्शन) पैदा हो जाता है उसे निकास-मार्ग देने के लिए ही लेखक ने इन असाधारण स्थितियो का समावेश किया है।

'तीन वर्ष'—'तीन वर्ष' के पूर्वार्द्ध में नायक रमेश के भीतरी जीवन में कोई

तनाव नही था। पूर्वार्द्ध का अन्त होते-होते प्रभा द्वारा उसके विवाह-प्रस्ताव के ठुकराए जाने पर रमेश अपना मानसिक सतुलन खो बैठता है और उसके भीतर एक गाठ पड जाती है, जिसे खोलने या कम-से-कम ढीली कर देने के लिए उत्तरार्द्ध में असाधारण स्थितियो का समावेश हुआ। सरोज वेश्या से उसकी प्रथम भेंट इसी प्रकार की स्थिति में हुई, वह पूर्वनिश्चित न होकर एक अचानक भेट ही थी। परिस्थिति की माँग होने पर भी रमेश के व्यवहार में किसी प्रकार की कृत्रिमता नही मिलती। रमेश की तत्कालीन मन.स्थिति देखते हुए यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि वह क्या कुछ कर डालेगा। कुछ भी हो इस स्थिति में पडने से उसका भीतरी तनाव कुछ ढीला अवश्य हुआ। 'प्रयाग छोडने के बाद उसका वह पहला दिन था, जब उसने अपने हृदय को कुछ हलका पाया।'

चित्रलेखा—'चित्रलेखा' के अन्तिम चरण में भी लेखक कुछ एक ऐसी असाधारण स्थितियों का निर्माण कर देता है, जिनके कारण एक ओर चित्रलेखा क्रोध में आकर कुमारगिरि को अपना शरीर सौपकर उसकी वासना का साधन बन जाती है और दूसरी ओर घोर निराशा में बीजगुप्त पहले स्वार्थवश यशोधरा से विवाह करने का निश्चय कर लेता और फिर श्वेताक के प्रस्ताव को सुनकर केवल यशोधरा के आकर्षण को ही नहीं छोड देता अपितु श्वेतांक से उसका विवाह कराने के प्रयत्न में अपनी समस्त सम्पत्ति और सामत की पदवी भी उसके लिए त्याग देता है। इस प्रकार एक-दूसरे के प्रति गलतफहमी के कारण दोनो के मन में जो एक ज़बर्दस्त तनाव पैदा हो गया था, उसके लिए निकास-मार्ग मिल जाता है।

टेढ़े-मेढ़े रास्ते—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में बीनापुर के निरीह किसानों की स्थिति देखकर मनमोहन के मन में जो उथल-पुथल मची हुई थी, उसका निकास रामसिह की हत्या में हुआ। मनमोहन के मानसिक तनाव का अंदाजा इसीसे लगाया जा सकता है कि वीणा के कमरे में पहुँचकर भी वह उसे नहीं देखता और बाद में उसे देखकर चौंकते हुए कहता है : 'क्षमा कीजिए, मैने आपको देखा नहीं था। मैं आपके अस्तित्व को और आपके ही अस्तित्व को नही, स्वयं अपने अस्तित्व को भूला हुआ था।'

क्रिया-प्रतिक्रिया-चित्रण

व्यक्ति के डील-डौल, उसकी वेश-भूषा तथा हाव-भाव के आधार पर लगाया गया अनुमान बहुधा भ्रामक सिद्ध होता है। किसीने कदाचित् इसीलिए कहा है कि 'राह पिया जाने या वाह पिया जाने'; अर्थात् किसी रास्ते की कठिनाइयो को वह जानता है जो उस रास्ते से हो आया हो और इसी प्रकार किसी व्यक्ति के बारे में वही ठीक-ठीक जानता है जिसका उससे कभी पाला पड़ चुका हो। मनुष्य व्यवहार से पहचाना जाता है। व्यवहार से मनुष्य पहचाना तो जरूर जाता है पर एक-बार के व्यवहार से नही। किसी व्यक्ति का व्यवहार सदा एक-सा नही रहता। विभिन्न

स्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का प्रकट होना तो साधारण बात है, पर कई बार दो समान स्थितियों में एक ही व्यक्ति की अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ होती देखी जाती है। इसलिए किसी व्यक्ति का प्रथम भेंट के समय का व्यवहार हमारे हृदय-पटल पर जो छाप छोड जाता है, उसकी जाच करने के लिए जीवन की विविध स्थितियों में उसकी प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करना पडता है।[६४]

चरित्रोद्घाटन

भगवतीचरण वर्मा अपने पात्रों के विविध रूपों का उद्घाटन करने के लिए अपने उपन्यासों में अनेक प्रकार की स्थितियों का निर्माण करते रहते है और उन स्थितियों में पात्रों को इस प्रकार डालते है कि उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं में उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ अपने-आप प्रतिबिम्बित होती चलें।

अजित—पिस्तौल की आवाज सुनकर जब बोर्डिंग हाऊस के लडके 'क्या हुआ, क्या हुआ' कहते 'तीन वर्ष' के नायक रमेश के कमरे में घुस आए तो रमेश की गोली द्वारा घायल होने पर भी अजित ने मुस्कराहट की ओट में सचाई को छिपाते हुए कह दिया : "बडी खैर हो गई। क्या बताऊँ, पिस्तौल का सेफ्टी बिगडा हुआ था, और मुझे यह मालूम न था। मैं उसे देख रहा था कि अचानक गोली छूट गई।"[६५] अजित यदि चाहता तो सच-सच बताकर रमेश को फाँसी के तख्ते पर लटकवा देता, पर उसकी इस प्रतिक्रिया से यह स्वतः ही प्रकट हो गया कि वह अपने घातक रमेश का कितना हितचिंतक था। उसकी इस प्रतिक्रिया के बाद उसके इस कथन में सार दिखाई देने लगता है : "पर एक बात समझ लो, रमेश, मैंने जो कुछ किया, सद्भावना से प्रेरित होकर किया···मैंने जान-बूझकर तुम्हारा अहित नहीं किया।"[६६] यदि लेखक चाहता तो अजित को गोली लगने से मरवा भी सकता था—इस घटना के बाद तो वह उपन्यास में मर-सा ही जाता है—पर तब उसकी वह उदारता न प्रकट हो पाती जो उसने रमेश को बचाकर दिखा दी।

झगड़ू—राजनीतिक कलाबाजियों से अनभिज्ञ 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के अनपढ़ ब्राह्मण झगडू की आत्मा कितनी सजग थी, यह रामनाथ के विरुद्ध बानापुर के लोगों के सशस्त्र विद्रोह के प्रति उसकी प्रतिक्रिया से स्पष्ट हो जाता है। यह जानते हुए भी कि ज्यादती रामनाथ की है, हिंसा को रोकने के लिए वह उसपर लेट गया और उसे बचाने के प्रयत्न में अपनी जान तक न्यौछावर कर दी।[६७]

महालक्ष्मी—उमानाथ के लाख गिडगिड़ाने पर भी रामनाथ ने उसे देश से

६४. Stagner, 'Psychology of Personality', p 33.

६५. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १४४।

६६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १४५।

६७. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ ३७६।

बाहर भाग निकलने के लिए रुपया देने से यह कहते हुए साफ इन्कार कर दिया : "उमा जाओ यहाँ से। तुम समाज के सबसे भयानक शत्रु हो—जाओ मेरे सामने से—जाओ।" ज्यों ही उमानाथ मर्माहत होकर निकलता है, लेखक उस स्थिति में उसकी पत्नी महालक्ष्मी को डालकर उसकी प्रतिक्रिया के माध्यम से उसके चरित्र की परमोज्ज्वलता को प्रकाश में लाने के इस अवसर का लाभ उठाता है : "वह कमरे से बाहर निकला और उसने देखा कि महालक्ष्मी खडी है। महालक्ष्मी ने भर्राए हुए स्वर में कहा 'मेरे साथ आइए।' उमानाथ चुपचाप महालक्ष्मी के साथ भीतर अपने कमरे में चला गया। उमानाथ को बिठलाकर महालक्ष्मी ने अपनी अलमारी खोली। अलमारी में से उसने गहनों का बक्स निकाला—और वह बक्स उसने उमानाथ के सामने रख दिया। उसने कहा—'मैने आपकी और ददुआ की बातें सुनीं। मेरे पास कुल दो हजार रुपये हैं—बाकी मेरा गहना है, यह सब आप ले जाइए'—और उमानाथ ने देखा कि लक्ष्मी उसके चरणों को पकडे हुए रो रही है।"[६८] महालक्ष्मी की इस प्रतिक्रिया में उसकी पतिभक्ति साकार हो उठी और पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध में पथ-भ्रष्ट उमानाथ को भी यह स्वीकार करना पडा—'महालक्ष्मी! तुम स्त्री नही हो, देवी हो।'

रामेश्वर—इसी प्रकार 'आखिरी दाँव' के आरम्भ में रामेश्वर जब पहले-पहल चमेली को सिपाही के चंगुल से छुड़ाकर घर ले आया था तो ऐसी आशंका हो सकती थी कि वह भी उसे अपनी वासनापूर्ति का साधन बनाएगा, पर पहली रात ही चमेली को कमरे में अकेली सुलाकर स्वयं मूसलाधार वर्षा की बौछारों की चिन्ता छोड, बाहर बरामदे के फर्श पर ही बिस्तर करके दीवार के साथ बैठे-बैठे सारी रात बिताते दिखाकर लेखक उसके आचरण में उसकी सच्चरित्रता प्रतिबिम्बित कर देता है।[६९]

आवेगज आचरण

तात्क्षणिक मनोदशा का चित्रण

पात्रों की प्रतिक्रिया में उनकी चारित्रिक विशिष्टताए तभी झलकती हैं, जब वे प्रकृतिस्थ हो। पर जब वे आपे से बाहर हुए हों तो उनकी उस समय की आवेगज प्रतिक्रिया उनके स्वभाव की किसी विशिष्टता को न प्रकट करके उनकी तात्कालिक मनोदशा का ही उद्‌घाटन करती है।

रमेश—'तीन वर्ष' के नायक रमेश के पहले आचरण को देखकर उससे यह कभी भी आशा नही की जा सकती थी कि वह अपने सच्चे मित्र अजित के प्राण लेने

६८. वही, पृष्ठ ५४०-५४१।
६९. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ २४।

पर उतारू हो जाएगा। उसके इस दुस्साहस से यह प्रकट होता है कि जब उसने अजित पर गोली चलाई तब वह प्रकृतिस्थ नहीं था। उन्मादावस्था में ही उसने ऐसा किया। पिस्तौल की आवाज ने ज्योंही उसके उन्माद को तोडा, वह बेहोश होकर गिर पडा। अजित को भी उसके उन्माद का तभी पता चला जबकि गोली उसके बायें हाथ से रगड़ती हुई निकल गई—'रमेश, तुम इतने बडे पागल हो जाओगे यह मैं न जानता था।'[100]

वीणा—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' मे रामनाथ ने दो अवसरों पर बगाली लडकी वीणा को घर से बाहर निकल जाने के लिए कहा। दोनों बार वीणा की प्रतिक्रिया भिन्न रही। पहली बार जो रामनाथ ने चिल्लाकर कहा—'जाओ यहाँ से, इसी समय मेरे घर से निकल जाओ'[101] तो उसकी इस चिल्लाहट की प्रतिक्रिया में वीणा ने मानो आग उगली—'इस तरह चिल्लाना आपको शोभा नही देता—मैं स्वय जा रही हूँ। विश्वासघातियों के घर का अन्न खाकर मैने अपने को अपवित्र कर लिया है—इसका प्रायश्चित्त करना होगा न।'[102] परन्तु दूसरे अवसर पर जब रामनाथ ने क्रोध से भरे पहले से भी कडे शब्दों में कहा—'चुप रहो, और जाओ यहाँ से चुडैंल कहीं की। अब मुझे अपना मुँह मत दिखाना'[103] तो गाली सुनने पर भी, वीणा ने अनायास ही झुक-कर रामनाथ की चरणधूलि अपने मस्तक पर लगा ली।[104] वीणा की इन दोनों प्रति-क्रियाओं में उसकी मनःस्थिति बोल उठती है।

चमेली—काण्ट्रैक्ट पर हस्ताक्षर हो चुकने के बाद जब सेठ शिवकुमार ने 'आखिरी दॉव' की नायिका चमेली के हाथ में चार हजार का चैक पकड़ा दिया तो उसकी (चमेली) की "आखो में आंसू आ गए",[105] और उसने 'अनजाने में ही'[106] अपने को समर्पित कर दिया: 'सेठ'''''''आज मेरे साथ तुमने जो उपकार किया, मैं उसे जन्मभर न भूलूँगी। तुमने मुझे हमेशा के लिए अपना बना लिया।'[107] आश्चर्य होता है कि ये वाक्य उसी चमेली के हैं, जिसने राधा के यहाँ शिवकुमार को बुरी तरह लथाड़ते हुए कहा था: 'सेठ! तुमने मुझे राधा की तरह रण्डी समझ रखा है क्या। अब अगर दूसरी बात मुह से निकाली तो जीभ खीच लूंगी',[108] केवल इतना कहा ही नही था, अपितु राधा को धक्का देकर वह कमरे

१००. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १४४।
१०१. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ४६३।
१०२. वही, पृष्ठ ४६३।
१०३. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ५०३।
१०४. वही, पृष्ठ ५०३।
१०५. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ १००।
१०६. वही, पृष्ठ १०१।
१०७. वही, पृष्ठ १०१।
१०८. वही, पृष्ठ ४३।

के बाहर भी निकल गई थी। उसकी तब की प्रतिक्रिया उसके चरित्र की विशिष्टता —रामेश्वर से अनन्य प्रेम की द्योतक थी पर इस समय का उसका समर्पण भी रामेश्वर को बचाने के लिए रुपये मिलने पर मिली उसकी मनस्तुष्टि का ही परिचायक है— इससे बढ़ कर कुछ नही—सेठ शिवकुमार ने उसका अर्थ चाहे कुछ भी लगाया हो।

उपन्यासकार द्वारा टीका-टिप्पणी

उपन्यास जीवन का दर्पण है। यही नहीं, प्रत्येक अच्छा उपन्यास एक जीवन-दर्शन भी होता है। जीवन के प्रति उपन्यासकार का अपना एक दृष्टिकोण रहता है, जो उसके उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाने के लिए अधीर रहता है। वैसे तो उपन्यास में नाटकीय और अनाटकीय दोनो प्रकार के तत्त्वो का मिश्रण होने से उपन्यासकार को यह सुविधा रहती है कि वह नाटकीय या वर्णनात्मक प्रणालियो में से जब जिसे चाहे अपना सकता है,[१०९] पर उपन्यास-जगत् के कोमल मायाजाल को बनाए रखने और उसमें पाठक को भरमाए रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उसे लेखक के अस्तित्व का—इस तथ्य तक का भी कि वह उपन्यास पढ रहा है—आभास न होने दिया जाए,[११०] और लेखक पाठक तक जो कुछ पहुंचाना चाहता है उसे उपन्यास की घटनाओ, पात्रों के कथोपकथनो तथा उनकी क्रिया-प्रतिक्रियायो के माध्यम से ध्वनित करा दे, अन्यथा वस्तु-जगत् के लेखक को देखते ही पाठक के कल्पना-चक्षुओं के आगे से उपन्यास-जगत् लुप्त हो जायगा और वह धड़ाम से वस्तु-जगत् में आ गिरेगा।[१११] सिद्धांतत. यह जानते हुए भी जीवन की विविध स्थितियों में प्राप्त लेखक के अनुभव और उनके आधार पर जीवन और जगत् के बारे में बने हुए उसके विश्वास और मान्यताएँ अनायास ही अपने नग्न रूप में फूट पड़ते हैं, लेखक उनके प्रकाशन का मोह सवरण नही कर सकता और पाठकों के सामने सीधा आकर टीका-टिप्णी करने लग जाता है।

प्रतिक्रिया की पूर्वसूचना

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासो में भी ऐसे स्थलों की कमी नही, जहा वह सीधे पाठकों के सामने आकर किसी स्थिति-विशेप पर, पात्रो की किसी क्रिया-प्रतिक्रिया पर या उसपर प्रकाश डालने के लिए, अथवा उनके जीवन में आनेवाले मोडों की पूर्वसूचना देने के लिए अपनी ओर से टीका-टिप्पणी आरम्भ कर देते है। पात्रो को किसी स्थिति में डालने से पहले उस स्थिति का चित्रण तो उपन्यासकार को करना

---

१०९. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 146.

११०. Ford, 'Joseph Conrad : A Personal Remembrance', 1924, p. 186.

१११. Mendilow, 'Time and the Novel', 1952, p 101-102 :
'The merest hint of the author's existence is sufficient to burst the delicate bubble of illusion.'

ही होता है, पर वर्माजी कई बार स्थिति के चित्रण मे पहले ही एक ऐसी टिप्पणी जोड देते हैं, जिसमें उस स्थिति के बारे मे उनका अपना दृष्टिकोण ही नही रहता, प्रत्युत् उसमें पड़नेवाले पात्र के साथ लेखक के एकात्मीकरण (आइडेन्टीफिकेशन) कर लेने से उस पात्र की भावी प्रतिक्रिया की पूर्वसूचना भी मिल जाती है।

प्रभानाथ—'टेढे-मेढे रास्ते' में उनकी इस प्रकार की एक टिप्पणी तीन पृष्ठों तक में फैली हुई है। प्रभानाथ को कलकत्ता ले जाकर वीणा से उसकी आकस्मिक भेंट कराने से पहले उस नगर के बारे में उनकी अपनी टिप्पणी में उसके प्रति उनका अपना जो दृष्टिकोण है—'ऐश के सभी सामान इस नगर में मौजूद है, और यह ऐश मनुष्य मानवता का गला घोंटकर, कर रहा है। इस नगर में शान्ति नही है, यहा जो कुछ है, वह आज का पिशाच है और उस पिशाच में गुलाम बनाने की प्रबल अभिलाषा है'[११२]—उसके अनुरूप ही उनके पात्र प्रभानाथ की प्रतिक्रिया भी प्रकट होती है : 'प्रभानाथ को कलकत्ता अच्छा नहीं लगा···कलकत्ता की दानवता ने उस भोले नवयुवक की आत्मा पर एक प्रहार-सा किया।'[११३] कितना अच्छा होता यदि लेखक कलकत्ता के बारे में अपनी ओर से कुछ न कहकर अपने इस युवक पात्र की नगर के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में ही व्यक्त करता।

सिद्धांत-व्याख्या

पात्रों के चरित्र-विकास की किसी दिशा-विशेष के कारणों (प्रेरकों) पर प्रकाश डालने के लिए वर्माजी अनेक बार पहले किसी व्यापक सिद्धान्त की व्याख्या में एक टिप्पणी जोड देते हैं—जो कथानक में अलग ही एक थिगली सी दीखती रहती है[११४]—और फिर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि इस सिद्धांत के अधीन ही उस पात्र के जीवन-विकास ने वह दिशा ग्रहण की। चित्रलेखा तथा कुमारगिरि के जीवन-सूत्रों के आपस में उलझ जाने के कारणों पर प्रकाश डालता हुआ लेखक पहले एक सिद्धात का उल्लेख करता है : "कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं जो दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करके उसे दबा देते हैं और उसको अपना दास बना लेते हैं।"[११५] और फिर उस सिद्धांत को चित्रलेखा पर लागू कर देता है : "चित्रलेखा का व्यक्तित्व भी ऐसा ही था······और कुमारगिरि अपने को रोक न सका।"[११६]

---

११२. वर्मा, 'टेढे-मेढे रास्ते', पृष्ठ ६०-६२।

११३. वही, पृष्ठ ६३।

११४. Mendilow, 'Time and the Novel', p. 102

"*It is true that fiction does not, and cannot, and should not, if it could, reproduce life photographically, it must comment on it and interpret it. But the comment must be implicit in the whole; it must flower up from within, not be stitched on from without. A purple patch is still a patch.*"

११५. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ १४६।

११६. वही, पृष्ठ १४६।

'पतन' के रणवीर में सुभद्रा से प्रेम करने के सम्बन्ध में जो अतर्द्वन्द्व छिड़ा उसका चित्रण आरम्भ करने से पहले ही लेखक तीन पृष्ठों की अपनी एक टिप्पणी जोड देता है—'कहा जाता है कि प्रेम अधा होता है, और इस कथन में सत्य की एक वडी मात्रा है......प्राय. देखा गया है कि प्रेम और कर्तव्य में बडा तुमुल युद्ध होता है। एक-दूसरे के मार्ग पर बाधा की भांति खड़ा रहता है, और इसके कारण हैं।'[११७] कारणो पर प्रकाश डालता हुआ लेखक प्रेम और अंतरात्मा के विश्लेषण में उलझ जाता है और चौथे पृष्ठ पर जाकर कही रणवीर के मानसिक संघर्ष का चित्रण आरम्भ करता है . 'रणवीर की अतरात्मा और उसके प्रेम में युद्ध होने लगा······'[११८]

जुए की जिस लत के कारण 'आखिरी दाँव' का नायक रामेश्वर सब कुछ हारकर बम्बई आया, उसकी प्रेरणा उसे क्यों और कैसे मिली, इसपर प्रकाश डालने के लिए लेखक प्रसंग से पूर्व ही एक टिप्पणी जोड़ देता है, जिसमें उस स्थिति के प्रति लेखक का अपना दृष्टिकोण ही व्यक्त नही होता, उसके पात्र की प्रतिक्रिया भी उसी सिद्धांत के अधीन व्यक्त होती है : 'गृहस्थी और गरीबी में वैर है, लेकिन गरीबो के लिए वह अभिशाप है। गृहस्थी तभी जमाई जा सकती है जब पास में सम्पत्ति हो, रुपया-पैसा हो·········और रामेश्वर सोचने लगा कि रुपया पैसा आवे कहाँ से ? पन्द्रह बीघे की खेती से तो इतना रुपया नहीं आता था कि वह कुछ बचा सके। खेती के अलावा उसे रुपया पैदा करने के लिए कुछ और उपाय करना आवश्यक था।'[११९]

दार्शनिक टिप्पणियाँ

अपने आरम्भिक उपन्यासो में वर्माजी नया परिच्छेद शुरू करते हुए पिछले परिच्छेद में छोडे कथासूत्र को एकदम नही पकड़ लेते, प्रत्युत् उसका आरम्भ एक दार्शनिक टिप्पणी से करते हैं, जिसमें किसी-एक व्यापक सिद्धात के उल्लेख द्वारा अपने किसी पात्र-विशेष के चरित्र-विकास की भावी दिशा की ओर सकेत कर देते हैं। 'चित्रलेखा' के नायक बीजगुप्त के जीवन में यशोधरा के आ जाने से उसे जो मानसिक यातना झेलनी पड़ी, उसकी ओर संकेत करता हुआ लेखक परिच्छेद के आरम्भ में ही एक दार्शनिक टिप्पणी जोड देता है : 'दिन के बाद रात, और रात के बाद दिन। सुख के बाद दुःख, और दुःख के बाद सुख·········यही परिवर्तन का नियम है। संसार परिवर्तनशील है, मनुष्य उसी संसार का एक भाग है।

११७. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ १५५-१५७।
११८. वही, पृष्ठ १५८।
११९. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ ४-५।

बीजगुप्त मनुष्य था—उसने सुख देखा था, उसके लिए दु:ख को देखना भी आवश्यक था।'[१२०]

इसी प्रकार चित्रलेखा के जीवन में जो क्रांति मची और जिसके कारण वह नष्ट हो गई, उसकी ओर संकेत करने के लिए लेखक ने उपन्यास के आठवें परिच्छेद के आरम्भ में जो टिप्पणी लिखी है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है—अपनी दार्शनिकता के कारण : 'महासागर के शांत वक्ष:स्थल पर भयानक झंझावात उठाने के पहिले एक घोर निस्तब्धता छा जाती है, उस समय वायुमण्डल उत्तेजित हो उठता है और सारा वातावरण भावी क्रांति की आशंका से शून्य-सा हो जाता है। उसके बाद ? वायु के प्रचण्ड झोंके·········लहरों का ताण्डव नर्तन तथा विप्लव-गायन·········और उसके बाद ? अग्नि के शोले—और विनाश।'[१२१] इतना कुछ लिख चुकने के बाद जाकर लेखक कहीं पिछले परिच्छेद में छोड़े कथासूत्र को पकड़ता है—'चित्रलेखा का रथ बीजगुप्त के द्वार पर रुका······'[१२२]

उपन्यासकार द्वारा इस प्रकार की टीका-टिप्पणी एक तो उपन्यास के कथा-प्रवाह तथा चरित्र-विकास में गतिरोध ला देती है और दूसरे, अनेक बार आवश्यकता से पहले ही पात्रों के जीवन में आनेवाले अगले मोडों की पूर्वसूचना देकर उनके प्रति उत्सुकता के भाव को कम कर देती है। पर इनसे भी अधिक अखरनेवाली बात यह है कि इस प्रकार की टीका-टिप्पणियों से पाठक प्राय: झुंझला जाया करता है। इन टिप्पणियों में उसे यह ध्वनि मिलती है कि लेखक उसे कल का बच्चा समझे बैठा है जो बार-बार प्रकट होकर उपन्यास की विभिन्न स्थितियो तथा पात्रो के चरित्र-विकास की विविध दिशाओं की व्याख्या करने लग जाता है, मानो पाठक निरा बुद्धू हो और लेखक की इस टीका-टिप्पणी के अभाव में कुछ भी न समझ सकता हो।[१२३] उसे यह भी खटकने लगता है कि इन टीका-टिप्पणियों के रूप में उपन्यासकार अपनी मान्यताएँ और अपने विश्वास लादना चाहता है मानो वह पाठकों को किसी स्वतंत्र निर्णय पर पहुँचने ही न देना चाहता हो।

पाठको के सामने सीधा आने की यह प्रवृत्ति वर्माजी के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। उनकी उपन्यास-कला में प्रौढ़ता आने के साथ-साथ उनकी यह प्रवृत्ति स्वत: ही दबती गई है। 'पतन' के नायक रणवीर और

---

१२०. वर्मा, चित्रलेखा', पृष्ठ १२६।

१२१. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ ७३।

१२२. वही, पृष्ठ ७३।

१२३. Charles Lamb in his letter dated 30th January, 1801 to Wordsworth 'Time and Novel', p. 101 :

"An intelligent reader finds a sort of insult in being told, 'I will teach you how to think upon this subject.' This fault, if I am right, is in a ten thousand worse degree in Sterne and many...They set out with assuming their readers to be stupid,"

'तीन वर्ष' के नायक रमेश को, उन्हें वासना-पूर्ति का साधन बनाने के लिए क्रमशः सरस्वती और परमा द्वारा किए गए प्रयत्नो को विफल बनाने मे, लगभग एक-सी ही स्थिति का सामना करना पडा, उनकी प्रतिक्रियाएँ भी लगभग समान ही रहीं, फिर भी उनके चित्रण में काफी अतर आ गया है—वर्माजी की उपन्यास-कला के विकास होने के कारण। 'पतन' में लेखक तीन-चार पक्तियो में ही स्थिति को गम्भीर बना देता है : 'सरस्वती आगे-आगे थी और रणवीर पीछे। द्वार पर जाकर वह रुकी—रणवीर भीतर चला गया। सरस्वती ने झपटकर भीतर से द्वार बन्द कर लिये, रणवीर चौक उठा। सरस्वती अर्धनग्नावस्था में पलंग पर बैठ गई······उसने रणवीर का हाथ पकड लिया।'[१२४] रणवीर के प्रश्न पर कि 'सरस्वती, यह क्या ?' वह हंस पड़ी, सारा कमरा उस हंसी के उतावलेपन से गूंज उठा। पर एकाएक वह गम्भीर हो गई। उसने कहा—'रणवीर तुम इस समय जानते हुए भी मुझसे बन रहे हो।'[१२५]इस स्थिति में रणवीर की प्रतिक्रिया क्या हुई होगी, इस बात को उठा कर—'रणवीर सरस्वती के इस व्यवहार के लिए प्रस्तुत न था'—लेखक बीच में ही बहक जाता है और दर्शन और मनोविज्ञान की बाते करने लगता है : 'यौवन और उल्लास, ये दो सदा साथ रहते हैं······व्यभिचार के दो कारण होते हैं—समाज और प्रकृति।······प्रकृति दूसरा कारण है और यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य की प्रकृति का विश्लेषण करना बडा कठिन है······"[१२६] और इसीमें डेढ़ पृष्ठ से भी अधिक भर देने के पश्चात् रणवीर की प्रतिक्रिया का वर्णन करना आरम्भ करता है और उसे कुछ एक पंक्तियो में समाप्त भी कर देता है : "रणवीर ने सरस्वती की ओर देखा। एक बार उसका चित्त विचलित हुआ, दूसरे ही क्षण उसने अपने को रोक लिया—'जानती हो तुम प्रकाशचन्द की स्त्री हो।'[१२७]

इस प्रकार की स्थिति का सामना 'तीन वर्ष' के नायक रमेश को भी करना पडा था और उसकी प्रतिक्रिया भी लगभग वैसी ही हुई थी जैसी कि रणवीर की। शरीर समर्पण के लिए अधीर वासनामयी परमा को उसे भी कहना पडा था—'परमा, तुम विनोद की हो[१२८] और उसके हठ करने पर वह यह कहता हुआ तेजी के साथ जीने से नीचे उतर गया था—'तुम होश में नही हो, परमा···विनोद मेरा मित्र है, यह याद रखना।'[१२९] समान होने पर भी इन दोनों की प्रतिक्रियाओं में अंतर है। 'तीन वर्ष' तक पहुंचते-पहुंचते वर्माजी की शैली मंज चुकी थी। इसीलिए यहाँ न तो

१२४. वर्मा, 'पतन', पृष्ठ १४४।
१२५. वही, पृष्ठ १४४।
१२६. वही, पृष्ठ १४५।
१२७. वही, पृष्ठ १४६।
१२८. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ १८०-१८१।
१२९. वही, पृष्ठ १८१।

मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों की नीरस चर्चा है और न ही अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करने का मोह।

वर्माजी के प्रौढ़ उपन्यासों में जगत् और जीवन के जटिल विषयों पर दार्शनिक चर्चाएँ न चली हों या उनमें से कोई जीवन-दर्शन न प्रस्फुटित हुआ हो, यह बात नही। प्रत्युत् उनके प्रौढ़ उपन्यासों में यह सब-कुछ अधिक मात्रा में ही मिलेगा। फिर भी वहाँ यह भली प्रकार से खप गया है, क्योंकि उनमें लेखक सीधा पाठकों के सामने आता नही, अपितु उन तक जो कुछ भी पहुँचाना चाहता है, उसे उपन्यास की घटनाओं, पात्रों के कथोपकथन या उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा ध्वनित करा देता है।

अन्तःप्रेरणाओं का चित्रण

जब पात्र या तो निरुद्देश्य इधर-उधर भटकने लगें अथवा कथानक की माँग को स्वीकार करके अपनी प्रकृति और स्वभाव के विपरीत आचरण आरम्भ कर दें और उपन्यासकार उनके इस स्वभाव-विरुद्ध विकास के सबल और तर्कसंगत कारण उपस्थित न कर पाए, तब पात्रों के चरित्रचित्रण में शिथिलता आ जाया करती है। पात्रों के चरित्र की स्वाभाविकता उनके विविध आचार-व्यवहार की समानरूपता पर इतना निर्भर नही करती, जितना कि उनके पीछे काम करनेवाली प्रेरणाओं (मोटिव्ज) की एकसूत्रता पर, जिसके अभाव में समूचा चरित्रचित्रण असंगत दिखाई देगा।[१३०] जब पाठक किसी पात्र को उसकी प्रकृति के विपरीत कार्य करते हुए देखता है या उसके चरित्र-विकास को एक ऐसी दिशा ग्रहण करते देखता है जो उसके स्वभाव से मेल न खाती हो, तो उसके चरित्रचित्रण में उसे कृत्रिमता नजर आने लगती है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार यदि पात्र के इस परिवर्तन के लिए ठोस कारण उपस्थित नही करता और उन्हें उनकी पहली प्रेरणाओं के अनुकूल नहीं सिद्ध कर पाता तो पात्र का चरित्रचित्रण खटकने लगता है। भगवतीचरण वर्मा के औपन्यासिक पात्र अनेक बार अपनी प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते दीखते हैं। साधारण पात्र ही नहीं, उनके उपन्यासों के नायक-नायिकाओं तक में भी बहुधा यह बात खटकने लगती है। जहाँ वह एक-दूसरे के विरुद्ध जाने वाली पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के प्रेरकों में एकसूत्रता दिखा सके हैं, वहाँ तो उनका चरित्रचित्रण बहुत सुन्दर बन गया है।

चरित्र-विकास में संगति

रामनाथ : उनके उपन्यास 'टेढ़े-मेढे रास्ते' का नायक रामनाथ कहाँ तो अपने बड़े बेटे दयानाथ को कांग्रेस से अलग कराने के लिए एड़ी से चोटी तक का जोर लगा देता है और उसके न मानने पर उसे घर से बाहर निकालकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद

१३०. Haines. 'Living with Books', p 526.

तक कर लेता है . 'तुम सिद्धाँत की आड में मुझे गालियाँ दे रहे हो, मै तुम्हारा मुह तोड़ दूंगा। मैं तुम से साफ कहे देता हूँ—या तो तुम चौबीस घण्टे के अन्दर काग्रेस छोड़ दो या फिर मेरे यहां पैर मत रखना।'[१३१] उसे अपना अतिम निर्णय सुनाते हुए रामनाथ ने कहा था : "आज से जब तक मैं जीवित हूँ, तुम इस घर में अपना पैर न रख सकोगे।"[१३२] दूसरी ओर जब श्यामनाथ उससे अनुमति माँगता है कि वह दयानाथ से जेल में मिलकर कोशिश करे कि वह काग्रेस से अलग हो जाए, क्योंकि उसके ऐसा आश्वासन देने पर वह उसे जेल जाने से बचा सकेगा तो चेहरे पर रूखी मुस्कराहट लाकर रामनाथ साफ कह देता है : 'नहीं, श्याम।'[१३३] रामनाथ की इन परस्पर-विरोधी प्रतिक्रियाओं के प्रेरको में एकसूत्रता लाकर लेखक पहले ही उससे दयानाथ को कहलवा देता है : 'देखता हूँ, सरगर्मी के साथ काग्रेस का काम तुम कर रहे हो''''''जानते हो, तुम मेरे नाम को, मेरे कुल को कलंकित कर रहे हो,[१३४] यही भाव प्रेरक था दयानाथ के प्रति उसके इतने कठोर व्यवहार का। जेल जाने के भय से दयानाथ कहीं माफी माँग अपने कुल को कलंकित न कर दे, यह भावना काम कर रही थी रामनाथ द्वारा श्यामनाथ के इस सुझाव को ठुकराने में कि दयानाथ को मनाकर उसे काग्रेस से अलग करा दिया जाए। रामनाथ के स्वाभिमान को नही सहन था कि दयानाथ "इतना ऊपर चढ़कर अपने को एकदम गिरावे",[१३५] इससे उसके कुल-गौरव को ठेस पहुँच सकती थी।

क्रातिकारियों से रामनाथ को कोई सहानुभूति न थी, बल्कि वह उन्हें देशद्रोही समझता था। उनके मरने में उसे कोई दुःख नहीं था। इस बारे में वह कहता भी है : ''जो जैसा करेगा, वैसा भोगेगा'''भोगें'''मरें'' छः नहीं छः सौ आदमी मरें'''वे कीडे हैं, हमें उनकी चिंता क्यों हो।"[१३६] क्रांतिकारियों के प्रति इतना कठोर होते हुए भी रामनाथ अपने पुत्र प्रभानाथ के प्राणों की बाजी लगाकर उन सबको बचा लेता है। रामनाथ के इस असगत प्रतीत होनेवाले आचरण की अतःप्रेरणा पर प्रकाश डालते हुए उपन्यासकार यह बताने में नहीं चूकता कि रामनाथ ने अपने पुत्र के प्राणो की आहुति क्रातिकारियों के बचाने के लिए नही, प्रत्युत् अपने कुल को कलंकित होने से बचाने के लिए दी थी। 'विश्वासघातियों के घर का अन्न खाकर मैंने अपने को अपवित्र कर लिया'''इसका प्रायश्चित्त करना होगा,'[१३७] वीणा के इन शब्दों ने उसकी सारी अहम्मन्यता, उसका सारा आत्म-गौरव हिला दिया। उसके पुत्र

१३१. 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ १४।
१३२. वही, पृष्ठ ३४।
१३३. वही, पृष्ठ १४३।
१३४. वही, पृष्ठ १०-११।
१३५. वही, पृष्ठ १४३।
१३६. वही, पृष्ठ ४९३।
१३७. वही, पृष्ठ ४९३।

के लिए दुनिया 'विश्वासघाती' शब्द का प्रयोग करेगी, यह जानकर वह कांप उठा था।

चमेली—वर्माजी के उपन्यास 'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली को सेठ शिवकुमार ने जब स्वार्थवश फुसलाकर फिल्म लाइन में ले जाना चाहा था और उसके लिए पेशगी के रूप में सौ-सौ के पाच नोट भी उसकी ओर बढ़ाए थे तो वह तड़प उठी थी : "सेठ, तुमने मुझे राधा की तरह रंडी समझ रखा है क्या। अब अगर दूसरी बात मुह से निकाली तो जीभ खीच लूंगी।'[१३८] उसी चमेली को जब हम काण्ट्रेक्ट पूरा करके सेठ से चार हजार का चैक पाने पर यह कहते हुए पाते है: 'सेठ, तुम इतने भले हो, मैने यह सोचा न था। आज मेरे साथ तुमने जो उपकार किया, मैं उसे जन्म भर न भूलूंगी। तुमने मुझे हमेशा के लिए अपना बना लिया।'[१३९] तो उसके इन शब्दों पर सहज में विश्वास नहीं हो पाता। चमेली की इन दो परस्पर-विरोधी प्रतिक्रियाओं में एकसूत्रता लाते हुए लेखक पहले ही कह देता है : "चमेली को यह अनुभव हो रहा था कि वह अपनी इच्छा के प्रतिकूल विनाश के गर्त में खिंच रही है, उसके चारों ओर विनाश है, लेकिन वह कही भाग नही सकती—भागने के सब रास्ते बन्द है। उस स्टूडियो में वह रुपयों के लिए आई है; उसे चार हजार रुपये लेने ही होगे। अब उसके पास केवल दो दिन का समय है।'[१४०] जिस रामेश्वर के प्रति अपार श्रद्धा और प्रेम के कारण चमेली ने शिवकुमार को लथाड़ा था, उसी रामेश्वर को जेल जाने से बचाने के लिए सेठ से चार हजार रुपया पाकर वह गद्-गद हो उठी थी 'उसके हृदय से भार हट गया था और वह अब प्रसन्न थी।'[१४१] उसी मनःस्थिति में सेठ के प्रति आभार प्रकट करते हुए उसके मुख से ये शब्द निकल गये थे।

चरित्र-विकास में असगति

वही चमेली जिसने एक रात पहले सेठ शीतल प्रसाद को जली कटी सुनाकर अपने घर से बाहर निकाल दिया : 'तुम प्रेम की बात मत करो—वासना के कीड़े। तुम क्या जानो कि प्रेम क्या होता है······यह रुपया पाने के लिए तुम अपनी आत्मा तक धन के पिशाच के हाथ बेच चुके हो। तुम घृणित हो, तुम नीच हो, तुम शैतान हो।'[१४२] अगले दिन सेठ शिवकुमार के सुझाव देने पर वह उसे स्टूडियो में निमन्त्रित करने के लिए तैयार हो जाती है। इन दोनो परस्पर-विरोधी प्रतिक्रियाओ

१३८. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ ४३।
१३९. वही, पृष्ठ १०१।
१४०. वही, पृष्ठ ९९।
१४१ वही, पृष्ठ १०१।
१४२. वही, पृष्ठ २४१।

में संगति बैठाने के लिए लेखक कहता है कि उस रात रामेश्वर के उसे छोड़कर चले जाने के बाद वह आपे में न थी और इसलिए यह न समझ पाती थी कि किस आदमी से क्या बात कहनी चाहिए। पर अगले दिन 'सवेरे जब वह सोकर उठी, वह काफी स्वस्थ हो गई थी। उसकी स्मृति में यह घटना एक दु:स्वप्न मात्र थी।'[१४३] पर क्या रात वाली घटना इतने कम महत्त्व की थी कि सवेरे तक उसके मन पर से उसका समस्त प्रभाव जाता रहा होगा?

इसी प्रकार, रामेश्वर की महानता के प्रति श्रद्धा होते हुए, उससे प्रेम होते हुए भी चमेली सेठ शिवकुमार तथा शीतलप्रसाद की वासनापूर्ति का साधन तक बन जाती है। उसकी इन दो परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं में संगति बैठाना कठिन हो जाता है। लेखक उसके इस आचरण का कारण रामेश्वर के शब्दों में यही बताता है: 'जिस के पास पैसा है, वह सब कुछ खरीद सकता है—रूप, यौवन, शरीर, आत्मा। सब बेच रहे हैं अपने को, धन के पिशाच के हाथों चमेली, हम दोनों भी अपने को उस पिशाच के हाथों बेच चुके हैं।[१४४]......तू मेरी बनकर तभी रह सकती है जब मै तेरा बन कर रहूं, लेकिन यह सम्भव नही। धन के पिशाच की गुलामी का पट्टा जो हम लोगो ने लिख दिया है।'[१४५]

पात्रों की क्रिया प्रतिक्रियाओ के पीछे काम करनेवाली उनकी प्रेरणाओं को वर्माजी कई प्रकार से प्रकाश में लाते हैं। यदि वह प्रतिक्रिया के प्रकट होने से पहले ही प्रेरक भाव को व्यक्त कर देना आवश्यक समझें तब तो अपनी तरफ से वर्णनात्मक शैली में उसका अंकन कर देते हैं। यदि प्रतिक्रिया के बीच में ही उसे बताना हो तो किसी दूसरे पात्र के मुख से कहलवा देते हैं। पर यदि वह प्रतिकिया हो चुकने के बाद बताना हो तो बहुधा उसी पात्र के मुख से स्वीकारोक्ति के रूप में कहला देते है।

अन्तर्द्वन्द्व

मानसिक संघर्ष का अभाव

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासो के अधिकतर पात्र निश्चित धारणाओ को लेकर ही उपन्यासों में पदार्पण करते है और उपन्यास भर में उन्हें वैसे ही बनाए रखते हैं। जीवन के अनेक मोडों पर जब भी उनके सामने समस्याएं आती हैं और जब भी वे परस्पर-विरोधी मार्गों में से एक को अपनाने के लिए बाध्य होते हैं, उन्हें अपना मार्ग निश्चित करने में हिचकिचाहट नहीं होती। होती भी है तो वह बहुत देर तक रहती नही। अपने स्वभाव, गत अनुभव और मान्यताओ के आधार

१४३. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृष्ठ २४१-२४३।
१४४. वही, पृष्ठ २३८।
१४५. वही, पृष्ठ २३९।

पर वे शीघ्र ही अपने लिए मार्ग चुन लेते है। इसीलिए उनके पात्रो में मानसिक सघर्ष कम छिड़ता है और यदि छिड़ता भी है तो वह अधिक देर तक नहीं रहता।

रामनाथ—'टेढ़े-मेढे रास्ते' के नायक रामनाथ को ले। उसका सबसे बडा लडका कांग्रेस के प्रभाव में आकर उसके हाथ से निकल गया, सबसे छोटे लडके को उसकी क्रांतिकारी कार्यवाहियों के कारण फांसी मिल गई। उसके मझले लडके के पीछे, उसकी साम्यवादी सरगर्मियो के कारण पुलिस लगी हुई है, जिसकी लपेट से बचने के लिए वह देश से भाग जाना चाहता है और इसी सम्बन्ध मे वह अपने पिता के पास आर्थिक सहायता की प्रार्थना लेकर आता है। उस समय रामनाथ अपनी अहम्मन्यता तथा अपने पुत्र की कुशलता मे से एक को चुनने के लिए बाध्य हो जाता है। ऐसे अवसर पर यदि रामनाथ के स्थान पर कोई और व्यक्ति होता तो वह या तो अहम्मन्यता पर अपने पुत्र के जीवन को प्राथमिकता देता और यदि ऐसा न करके अपने पुत्र के जीवन की अवहेलना करने की बात सोचता तो वैसा करने के लिए तैयार होने मे उसे अतुल मानसिक सघर्ष में से गुजरना पडता। पर इस स्थिति में रामनाथ को कोई उलझन नही मालूम हुई, क्योंकि उसके निकट पुत्र का जीवन और अहम्मन्यता दोनों के मूल्य पहले से ही निश्चित थे जिनके अनुसार उसकी अहम्मन्यता पुत्र के जीवन से अधिक मूल्यवान ठहरती थी। इसीलिए बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के उसने अपने पुत्र को फटकार लगा दी. 'हम पूंजीपतियो को मिटाने के लिए तुम हमारा ही रुपया चाहते हो······और तुम समझते हो, मै स्वयं विनष्ट होने के लिए तुम्हे शक्ति प्रदान करूँगा···तुम्हे रुपया दूँगा······जाओ यहा से। तुम समाज के सबसे भयानक शत्रु हो···जाओ मेरे सामने से··· जाओ।[१४६]

रामेश्वर—'आखिरी दाँव' का नायक रामेश्वर जिस चमेली को अपनी कहने का दम भरता था, वह दूसरों को अपना शरीर बेचती फिरती थी। इस बात की उसे केवल खबर ही नही थी, बल्कि उसके मन मे न तो कोई उथल-पुथल मची और न ही उसे किसी विशेष मानसिक सघर्ष में से गुजरना पडा। उसके स्थान पर यदि कोई और होता तो वह या तो किसी को मार देता और या स्वय घुल-घुलकर मर गया होता। पर चमेली के प्रति वह जिस दृष्टिकोण को अपनाये हुए था, उसके अनुसार उसे चमेली से कोई शिकायत ही नहीं रहती थी। चमेली के प्रति अपने उस दृष्टिकोण को वह चमेली पर प्रकट भी कर देता है· 'हम सब पैसे के गुलाम है, धन हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य, न प्रेम है न भावना है—जो कुछ है वह धन है—हम दोनों में किसी को किसी से कोई शिकायत नही होनी चाहिए।[१४७] इस के अतिरिक्त रामेश्वर यह भी जानता था कि 'उसके

---

१४६. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृष्ठ ५४०।

१४७. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृष्ठ २३८।

पास आने से पहले वह रतनू सुनार के साथ भाग आई थी। आखिर चमेली पर उस को अधिकार ही क्या था? और चमेली को उसने ही तो बाद में इस मार्ग पर प्रेरित किया था।[१४८]

मानसिक संघर्ष है भी तो बहुत कम

वर्माजी ने जहाँ कहीं पात्रों के मानसिक द्वन्द्व का चित्रण किया भी है, वहा वे दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों या भावनाओं के प्रति, जिनमें संघर्ष हो रहा हो पात्र का समान झुकाव या बिलगाव अधिक देर तक नहीं दिखा पाते, जिसके परिणामस्वरूप उनके पात्रों को अधिक देर तक अनिश्चितता की स्थिति में रहकर मानसिक यातना नही भोगनी पडती, उनके पात्र अपने मन में लम्बे-लम्बे युक्तिसंगत तर्क-वितर्क नही करते, प्रत्युत् एक-दो छलांगो में ही किसी विशेष निश्चय पर पहुँच-कर उस स्थिति से उभर आते है।

'चित्रलेखा' के ग्यारहवें परिच्छेद में लेखक सवा दो पृष्ठ तक में यह बताने के पश्चात् कि रातभर चित्रलेखा अपने विगत जीवन के बारे में क्या-क्या सोचती रही, उस सामयिक समस्या की ओर सकेत करता है, जिसने उसे उद्विग्न कर रखा था : 'चित्रलेखा कुमारगिरि से प्रेम करने लग गई, इस समय अपने प्रेम के आधार बीजगुप्त के रहते हुए।'[१४९] इसके बाद वह पात्र के मानसिक सघर्ष का चित्रण न करके उस स्थिति में किए गए उसके निश्चय और उस निश्चय तक पहुँचने के कारणों का उल्लेख कर देता है : 'पर मृत्युंजय के भवन के उत्सव की बात ने उसे साहस दिया, साहस के साथ उसे मनुष्यता को धोखा देने का एक बहाना भी दिया। उसने मन में कहा, 'बीजगुप्त को सुखी बनाना मेरा कर्त्तव्य है, उसे मुक्त कर देना ही मेरा महान् त्याग होगा और उसके जीवन को सार्थक बनाना होगा। मुझे बीजगुप्त को छोड़ देना ही पड़ेगा, सदा के लिए छोड देना पडेगा"[१५०]—मानो पात्र समस्या से उसके समाधान तक एक ही छलाग में पहुँच गया हो और लेखक का यह कहना निर-र्थक हो कि 'उस रात चित्रलेखा सो न सकी। वह इन्ही बातों पर विचार करती रही,[१५१] और यदि वह न माने तो यह मानना होगा कि लेखक पाठकों से अपने पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व छिपा रहा है।

इसी प्रकार जब श्वेतांक ने बीजगुप्त से अनुरोध किया कि वह मृत्युंजय के सम्मुख श्वेतांक से यशोधरा के विवाह का प्रस्ताव रखे तो बीजगुप्त के मन में उथल-पुथल मच गई, क्योंकि वह स्वयं यशोधरा के पाणिग्रहण का निर्णय कर चुका था।

---

१४८. वही, पृष्ठ २३० ।
१४९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ ९८ ।
१५०. वही, पृष्ठ ९८ ।
१५१. वही, पृष्ठ ९८ ।

श्वेताक ने, इस प्रकार, बीजगुप्त को चित्रलेखा और यशोधरा में से पुन. एक को चुनने का अवसर दिया। इन दोनों के प्रति बीजगुप्त का समानाकर्षण अधिक देर न रहने पाया, और वह एक छलाग में ही निश्चय पर पहुँच गया : 'क्या मै यशोधरा से प्रेम भी कर सकूंगा ? अभी मै उद्विग्न हूँ—अभी अपने दु:ख को दूर करने के लिए मै यशोधरा से विवाह किए लेता हूँ। पर भविष्य में ? नही। मुझे कोई अधिकार नही कि मै विवाह करूँ।'[१५२]

मानसिक संघर्ष का उल्लेख भर

वर्माजी के कतिपय पात्रो को अनेक बार ऐसी स्थितियो में से गुजरना पड़ता है, जिनमें पड़कर उनके से व्यक्तियों मे तीव्र मानसिक सघर्ष छिडे बिना रह नही सकता, पर उनके पात्रों में उस समय या तो संघर्ष का नाम तक नही मिलता और यदि मिलता है तो लेखक संघर्ष का उल्लेख-भर करके पीछा छुडा लेता है, उसके चित्रण में नही उलझता।

रमेश—'तीन वर्ष' का नायक रमेश प्रभा से प्रेम करता है और जानता है कि उसके बिना नही रह सकता, पर साथ ही वह इस बात को भी नही भूलता कि वह 'कितना असहाय और निरवलम्ब है।'[१५३] वह समझता है कि 'उसकी रईसाना ठाठ, जिसके कारण प्रभा उसकी ओर आकृष्ट हुई है, तभी तक कायम है जब तक अजित की उसपर कृपादृष्टि है।'[१५४] वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रभा से प्रेम करके वह विनाश की ओर बढा जा रहा है। ऐसी स्थिति में, जबकि उसे सर्वनाश और प्रेम में से एक को चुनना पड रहा हो, वह बडा बेचैन हुआ होगा। रमेश की यह बेचैनी अजित के साथ उसके कथोपकथन में भले ही बरबस प्रतिबिम्बित हो पडी हो, लेखक ने अलग से कही भी उसका चित्रण नहीं किया, सिवाय इसके कि एक बार वह उसके मानसिक संघर्ष की ओर सकेत करके आगे बढ जाता है : 'रमेश अप्रतिभ सा हो गया। कुछ देर तक वह चित्रलिखित-सा खड़ा रहा, उसके नेत्र शून्य में हृदय में मचे हुए द्वन्द्व का उत्तर ढूंढ रहे थे।'[१५५]

प्रभानाथ—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का प्रभानाथ उपन्यास के अंतिम चरण में एक ऐसी स्थिति में पहुंच जाता है जहाँ उसे जीवन तथा मृत्यु में से एक का वरण करना पड जाता है। जीवन के साथ उसका नैतिक पतन बंधा होता है और मृत्यु के साथ बधा होता है उसका तथा उसके कुल का गौरव। ऐसी स्थिति मे प्रभा के-से पात्र को किसी भी निश्चय पर पहुंचने से पहले घोर मानसिक यातना सहनी पड़ी होगी,

१५२. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृष्ठ १६४।
१५३. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृष्ठ ६८।
१५४. वही, पृष्ठ ६८।
१५५. वही, पृष्ठ १००।

पर लेखक कही भी उसकी बेचैनी का चित्रण नही करता, पात्र के शब्दो में उसकी ओर सकेत मात्र करते ही अपने कर्तव्य की समाप्ति समझ लेता है : 'बदुआ। काका ने सरकारी गवाह बनने की अनुमति ले ली है······लेकिन तब से मेरे मन में एक भयानक अशाति भर गई है।'[१५६]

चमेली—'आखिरी दॉव' की नायिका चमेली जानती थी कि वह दिनोदिन पतन की ओर बढ़ रही है और उसका रामेश्वर उससे दूर जाकर पाप की ओर अग्रसर है। वह बार-बार रामेश्वर और धन में से एक को अपना लेने के लिए बल बटोरती है, पर रामेश्वर के साथ बन्धी गरीबी और धन के साथ गुंथे पतन से घबराकर वह अतिम निर्णय करने की बात को टालने के लिए स्थिति का विश्लेषण करने बैठ जाती है। पर वह विश्लेषण भी अधिक देर नही कर पाती; कोई-न-कोई आकर उसकी विचार-शृंखला तोड देता है[१५७] और लेखक को आगे बढने का अवसर मिल जाता है। बहुत हुआ तो उसका एक-आध आतरिक द्वन्द्वात्मक कथोपकथन[१५८] ज्यों-का-त्यों रख दिया। इसके अतिरिक्त लेखक और कुछ नही करता।

अन्तर्द्वन्द्व का यदा-कदा सफल चित्रण

जहाँ कहीं वर्माजी पात्रों के मन में उठे परस्पर-विरोधी भावों की समान तीव्रता दिखाकर उनकी मानसिक अनिश्चितता को अधिक देर तक बनाए रख सके है, वहाँ उनके पात्रों के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण बड़ा सजीव बन गया है। 'चित्रलेखा' का योगी कुमारगिरि रातभर सोचते रहने पर भी यह निश्चय नहीं कर पाया कि वह आश्रम में आई हुई सुन्दरी चित्रलेखा पर विजय पाए या अपनी इन्द्रियों पर। योगसाधना और चित्रलेखा दोनों का उसके लिए समान आकर्षण बना रहा। दोनों में से किसी का भी पल्ला भारी न हुआ और वह अत में थक कर सो

१५६. वर्मा, 'टेढ़े मेढे रास्ते', पृ० ५०१-५०२।
१५७. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृ० २१५-२१६।
१५८. वर्मा, 'आखिरी दांव', पृ० २१५-२१६।

"रामेश्वर ने जो मार्ग अपनाया है, वह भयानक रूप से खतरनाक है, चमेली इतना अनुभव कर रही थी—रामेश्वर, उसका रामेश्वर, सीधा-सादा, नेक और ईमानदार एकाएक अपराधी कैसे बन गया।"

और जैसे किसी ने चमेली से कहा, "तेरे कारण, तेरे पतन ने उसे पतित बना दिया है।' चमेली दात कचकचाकर पूछ बैठी।

'लेकिन मेरे पतन का कारण तो वही थे। सब कुछ जानते हुए, समझते हुए, आखिर उन्होंने ही तो मुझे इस काम पर मेरी इच्छा के विरुद्ध भेजा था। माना कि जेल जाने से बचने के लिए उन्होंने यह सब किया, पर जेल जाने की नौबत तो उन्हें आ गई थी। उन्होंने अपराध किया था, वह अपराध तो मेरे कारण नही किया था।'

उसी समय नौकर ने कमरे में आकर कहा, 'राधादेवी आप से मिलना चाहती हैं।' चमेली ने मन-ही-मन राधा को अपना अकेलापन तोड़ने के लिए धन्यवाद दिया।'

गया।[159] 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के आरम्भ में ही दयानाथ के मानसिक द्वन्द्व का बडा सुन्दर चित्रण हुआ है। उसके पास केवल चौबीस घण्टे थे और उतने समय मे उसे अंतिम रूप में निश्चय करना था कि वह अपने सिद्धांतो पर दृढ़ रहता हुआ कांग्रेस को अपनाये रखे और अपने पिता की समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर दे या सम्पत्ति के मोह में पड़कर कांग्रेस के चक्कर से अलग हो जाये। कांग्रेस को अपनाए रखने में उसे अपने बारे में तो कोई अड़चन न थी, पर वह यह निश्चय न कर पा रहा था कि अकेले अपनी इच्छा-अनिच्छा के अनुसार अपने दोनों लडको और पत्नी को कंगाल बना देना क्या उसके लिए उचित होगा।[160] तीन पृष्ठो तक उसका मानसिक संघर्ष चलता रहा और शायद आगे भी चलता रहता यदि उसकी पत्नी राजेश्वरी यह कहकर निश्चय-विशेष तक पहुँचने में उसकी सहायता न करती : 'मुझे जरा भी तकलीफ नही होगी। मुझको उसीमें सुख है, जिसमें तुमको है। अरे सुख-दुःख दोनों ही सहने के लिए तो आदमी पैदा हुआ है।'[161]

वर्माजी की उपन्यास-कला के विकास के साथ-साथ उनके पात्रो में जैसे-जैसे प्रौढ़ता आती गई, वैसे-वैसे जीवन और समाज के प्रति उनके दृष्टिकोण में स्थिरता और निश्चितता आती गई। फिर जब भी उन्हे जीवन के किसी मोड पर से परस्पर विरोधी भावों में से एक को चुनना पडा, उनके मूल्य पात्रो के मन में पहले से ही स्थिर होने के कारण, उन्हे निश्चय करने में देर न लगी। फलत: उनमें मानसिक संघर्ष की मात्रा उत्तरोत्तर कम होती गई।

उपन्यासकार 'रिपोर्टर' के रूप में

वर्माजी अपने पात्रों के अंतर्द्वंद्व की ओर संकेत भर कर रहे हों, या उसका अधूरा या पूरा चित्रण कर रहे हों, वह स्वयं पाठकों की दृष्टि से ओझल नहीं होते। 'रिपोर्टर' के रूप में बार-बार प्रकट होकर वह अपने पाठको को उनकी इस लाचारी का आभास कराते रहते है कि पाठक पात्रों के मन की खिड़की में से झाककर उनमें हो रहे संघर्ष को अपनी आंखो नही देख रहे। बल्कि वे तो लेखक के पास एक ओर बैठे हुए हैं जो उस खिडकी में से झाँककर जो कुछ देखताहै उन्हें बताता जा रहा है और वे उतना ही जान पा रहे हैं जितना लेखक उन्हे बता रहा है। खिडकी में से स्वयं झाँककर अपनी आँखो से सब कुछ देख लेने की लाख चेष्टा करने पर भी पाठक ऐसा नहीं कर पाता, क्योंकि लेखक खिडकी के सामने श्रेष्ठ स्थान ग्रहण किए हुए है और वहाँ से हिलने का नाम नहीं लेता।'[162]

---

१५९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० १५१-१५३।

१६०. वर्मा, 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', पृ० २७-३०।

१६१. वही, पृ० ३०।

१६२. Edel, 'The Psychological Novel', (1900-1950); J. B. Lippincott, New York, 1956, 1st edn. p. 208

वर्माजी के उपन्यासों में उनके पात्रों के मन में उठ रहे विविध प्रकार के विचारों की गतिशील धारा नही मिलती, प्रत्युत् उसके स्थान पर मिलती है—उस धारा-प्रवाह के बारे मे लेखक की 'रिपोर्ट', जो पाठकों को यह प्रतीति करा सकने में असमर्थ है कि वे पात्रो की मानसिक अनुभूतियो के क्षण-प्रतिक्षण के परिवर्तन को अपनी आँखो देख रहे हैं। ऐसी प्रतीति कराने की ओर कदाचित् लेखक का ध्यान भी नही रहा।

घटनाओं द्वारा चरित्र-चित्रण

मनुष्य परिस्थितियो का दास है या नही, इसपर भले ही दो मत हो पर इस तथ्य से तो इन्कार नही किया जा सकता कि कई बार एक ही घटना मनुष्य की जीवन-धारा बदल डालती है। जीवन-सरिता के बालू में बनाये हुए मनुष्य के अनेक किले घटना की बाढ़ में ऐसे बह जाते हैं कि उनका निशान तक शेष नही रहता। घटनाएँ मानव-चरित्र को प्रभावित ही नहीं करती, उसे व्यक्त करने में योग भी देती हैं। सामान्यावस्था मे मनुष्य जिस भेद को प्रकट होने से बचा लेता है, घटना की लपेट में आकर वह अपने आप प्रकाश में आ जाता है। मानव-जीवन में घटनाए भले ही निरुद्देश्य घटित होती हों, पर उपन्यास में किसी घटना का समावेश निरुद्देश्य नहीं होता। उपन्यासकार भी बहुधा अपने पात्रों के चरित्र की विभिन्न अवस्थाओ के उद्घाटन तथा चरित्र-विकास के लिए घटनाओं का सृजन किया करता हे।

भगवतीचरण वर्मा के औपन्यासिक पात्रो में भी घटनाओं का कम महत्त्व नहीं। आकस्मिक घटनाएं ही उन्हें एक दूसरे के सम्पर्क में लाकर उनके जीवन-सूत्रों को परस्पर उलझा देती है। उपन्यास के आरम्भ में ही वर्माजी कुछ एक ऐसी घटनाओ की शृ खला बाँध देते हैं कि उनके पात्र धीरे-धीरे एक-दूसरे के जीवन में आने लगते है। जंगल में रास्ता भूल जाने की घटना चित्रलेखा को योगी कुमारगिरि की कुटी में ले आई और इससे चित्रलेखा को कुमारगिरि की ओर आकृष्ट होने का अवसर मिला।[१६३] प्रथम भेंट का यह आकर्षण शायद यही तक रह जाता, यदि चन्द्रगुप्त की सभा में कुमारगिरि से उसकी पुनः भेंट न होती।[१६४] प्रथम घटना ने प्रेम का जो बीज बो दिया था उसे दूसरी घटना ने अकुरित कर दिया और उनके जीवन-सूत्र एक-दूसरे से उलझने लगे। 'तीन वर्ष' के आरम्भ में ही प्रोफेसर के मरने की घटना ने रमेश और प्रभा को एक-दूसरे से बात करने और विस्तृत परिचय प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया[१६५] और वे दोनों एक-दूसरे की ओर आकृष्ट हुए। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में पिस्तौल की आवाज़ों के बीच प्रभानाथ और वीणा की

१६३. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ३६।
१६४. वही, पृ० ५२।
१६५. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ३६ तथा ४२।

अचानक भेंट हुई और दोनों एक दूसरे के प्रति आदर के भाव से भर गये।[१६६] यद्यपि इन घटनाओं द्वारा उनसे सम्बन्धित पात्रों के चरित्र की कोई-न-कोई विशिष्टता भी प्रकाश में आ जाती है पर यहाँ उनका समावेश मुख्यतः पात्रों को एक-दूसरे के सम्पर्क में लाना है।

पात्रों की मनोव्यथा के चित्रण के लिए भी वर्माजी ने अनेक बार घटनाओं का आश्रय लिया है। जब किसी पात्र की मनोव्यथा चरम सीमा को छू जाती है और उसे उस व्यथा में अपना कोई साभी नहीं मिलता जिससे बातचीत करके वह अपना मन हलका कर सके, तब उसका मानसिक दुःख किसी घटना के रूप में उमड़ पड़ता है। रमेश के बारे में कभी विचार तक भी नहीं किया जा सकता था कि वह अपने आश्रयदाता मित्र अजित की हत्या करने पर उतारू हो जाएगा। उसका इस प्रकार का प्रयत्न बताता है कि प्रभा ने उसके प्रेम को ठुकराकर जो चोट लगाई थी, उससे वह अपना सतुलन खो बैठा था।[१६७] रमेश के सरोज को छोड़कर चले जाने के बाद सरोज के अचानक बीमार हो जाने की घटना का समावेश यह दिखाने के लिए हुआ कि रमेश के रूठकर चले जाने से सरोज के मन को कितनी गहरी ठेस पहुँची।[१६८]

इसके अतिरिक्त पात्रों के चरित्र की किसी विशिष्टता को प्रकाश में लाने के लिए भी लेखक ने घटनाओं का सृजन किया है। 'चित्रलेखा' में चन्द्रगुप्त की सभा में योगी कुमारगिरि की पराजयवाली घटना की अवतारणा जहाँ नर्तकी चित्रलेखा और योगी कुमारगिरि को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए हुई, वहाँ उससे चित्रलेखा के समृद्ध ज्ञानभण्डार और आत्मविश्वास का भी पता चलता है। महामन्त्री चाणक्य तक ने भी उसकी विजय को स्वीकार किया। 'नर्तकी चित्रलेखा! आज की विजय तुम्हारी रही।'[१६९] 'तीन वर्ष' में रमेश द्वारा अजित पर गोली दाग देनेवाली घटना जहाँ रमेश की तात्क्षणिक मनःस्थिति को व्यक्त करती है, वहाँ उससे अजित के चरित्र की महानता का भी उद्घाटन हो जाता है। गोली खाकर भी उसने धैर्य से काम लिया और झूठ बोलकर भी अपने हत्यारे मित्र रमेश को हत्या के अभियोग से बचा लिया।[१७०] उपन्यास के उत्तरार्द्ध में सरोज की बीमारी की घटना उसकी निष्कप-

---

१६६. वर्मा, 'टेढ़े-मेढे रास्ते' पृ० ६७।
१६७. वही, पृ० १४३-१४४।
१६८. वही, २४६-२५१।
१६९. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ४६।
१७० वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १४४।

टता को प्रकाश में ले आती है कि वेश्या होकर भी रमेश के प्रति उसका प्रेम सच्चा था। उसे रमेश का रुपया नहीं चाहिए था---वह उसे चाहती थी, केवल उसे।[१७१] 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में बिल्ली वाली घटना के समावेश द्वारा वर्माजी ने साम्यवादी मौरिसन के चरित्र का बड़े सुन्दर ढंग से उद्घाटन किया है। उसके मुख पर निशान तो पड़े थे हिल्डा के नाखूनो की खरोंचों के, पर इस सबके लिए मिसे सिमज की बिल्ली को दोषी ठहराकर उसने मिसेज सिम से पाँच सौ रुपये वसूल कर लिये।[१७२] इसी उपन्यास में रामनाथ की कोठी पर गाँववालों के आक्रमण वाली घटना से जहाँ भीड़ के पागलपन का परिचय मिलता है, वहाँ झगड़ू पण्डित की सहृदयता भी पूर्णरूप से सामने आ जाती है। अपनी जान गवाकर भी उसने रामनाथ की प्राण-रक्षा की।[१७३]

वर्माजी के पात्रो के चरित्र-विकास में जब गतिरोध आ जाता है तो वे किसी घटना की अवतारणा द्वारा उसके जीवन में एक नया मोड ला देते हैं जिससे उसका विकास एक नई दिशा में होने लगता है। 'तीन वर्ष' का नायक रमेश दिन-रात प्रभा के ध्यान में ही मग्न रहता है और अजित उसे बार-बार चेताने का असफल प्रयत्न करता रहा। काफी समय तक यही स्थिति बनी रही, मानो उसका विकास वही रुक गया हो। तभी लेखक प्रभा द्वारा रमेश के विवाह-प्रस्ताव को ठुकरवाकर[१७४] उसके जीवन में उथल-पुथल मचा देता है और बाद मे नगर छोड़ने पर विनोद से उसकी अचानक भेंट कराकर उसकी विकास-धारा को ही बदल डालता है।

कथोपकथन द्वारा चरित्र-चित्रण

वर्माजी के उपन्यास कथोपकथनो से भरे हुए होने पर भी उनमें पात्रो की चरित्राभिव्यक्ति करनेवाले कथोपकथनो की सख्या अधिक नही कही जा सकती। वैसे तो आरम्भ से ही वर्णनात्मक प्रणाली की अपेक्षा नाटकीय प्रणाली की ओर उनकी प्रवृत्ति अधिक रही है और उनकी उपन्यास-कला के विकास के साथ-साथ उनकी यह प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर बल पकड़ती गई है, पर उनके कथोपकथनों को कथानक को गति देने, स्थिति का निर्माण करने, समस्याओ पर प्रकाश डालने, राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक विषयो का विश्लेषण आदि अनेक ऐसे विषयों का बोझ ढोना पड़ता है, जिनका निर्वाह वर्णनात्मक प्रणाली द्वारा अपेक्षाकृत अच्छा हो सकता था। परिणामतः, उनके कथोपकथनो का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा रह जाता है जिसका उनके पात्रों के चरित्र-चित्रण से कोई सीधा सम्बन्ध नही।

---

१७१. वही, पृ० २६८।
१७२ वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० १०८-११०।
वही, पृ० ३७६।
वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १३६।

भ्रामक कथोपकथन

वर्माजी के अधिकांश औपन्यासिक पात्र समाज के उच्च और सभ्य कहे जाने-वाले वर्ग में से हैं। ये क्लबों, पार्टियों, डिनरों, सभा-सोसाइटियो में ही एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और यही पर उन्हे किसी को प्रभावित करने या किसी से प्रभावित होने का अवसर मिलता है। जब भी ये लोग एक-दूसरे से मिलते है, उनका मिलना-जुलना औपचारिक होता है। इन औपचारिक भेंटों में वे अपनी मुख-मुद्रा के प्रत्येक परिवर्तन, नख से लेकर शिख तक की वेशभूषा की प्रत्येक सिकुड़न तथा बातचीत के प्रत्येक शब्द के प्रति जागरूक होते है। इसलिए उनके कथोपकथनमात्र के आधार पर उनका मूल्याकन करने का अर्थ अपने-आपको धोखे में रखना होगा।

चित्रलेखा—चित्रलेखा को ही लें। वह अपने कथोपकथनो में अपने अन्तर को प्रतिबिम्बित होने से इतनी सफाई से बचा जाती है कि जिसने भी उसकी बात को सत्य मानकर उस पर विश्वास कर लिया उसीने धोखा खाया। कुमारगिरि की कुटिया पर उससे चित्रलेखा की जो प्रथम भेंट हुई और उस समय उनमें जो बातचीत हुई थी, उसके आधार पर बीजगुप्त को ऐसा लगा कि कुमारगिरि उसके और चित्र-लेखा के बीच व्यवधान बन रहा है। उसने यह आशंका जब चित्रलेखा के सामने रखी तो उसने बड़ी कुशलता से उसे निर्मूल सिद्ध कर दिया—'प्रियतम! कुमारगिरि योगी है और मूर्ख है। उसकी आत्मा मर चुकी है'''कुमारगिरि के जीवन का लक्ष्य है मरती का पागलपन। प्रियतम! संसार में कोई भी व्यक्ति हम दोनों के बीच में नही आ सकता।'[१७५] बीजगुप्त चित्रलेखा की बात को उसके हृदय से निकली समझ-कर शकारहित हो गया और यहीं उसने पहली बार धोखा खाया। इस डर से कि कोरे कथोपकथन के पीछे जाकर कहीं पाठक भी चित्रलेखा के चरित्र के मूल्याकन में चूक न जाएँ, उपन्यासकार अपनी ओर से यह जोड़ना नहीं भूलता कि 'चित्रलेखा ने बीजगुप्त को धोखा दे दिया पर वह अपने को धोखा न दे सकी, उसने मन ही मन कहा, पर कुमारगिरि सुन्दर अवश्य है।'[१७६] कुछ समय बाद चित्रलेखा का अपने प्रति उदासीनता का भाव देखकर बीजगुप्त को पुन: शंका हुई और उसके पूछने पर उन दोनों में जो बातचीत हुई, उसमें फिर चित्रलेखा बीजगुप्त को जोरदार शब्दों में झूठा आश्वासन दिला गई, 'नहीं, बीजगुप्त का अनुमान मिथ्या है। चित्रलेखा का प्रेम सागर की भाँति गम्भीर है, उसका बदलना असम्भव सा है।'[१७७]

रमेश—इसी प्रकार 'तीन वर्ष' के रमेश और प्रभा अपने कथोपकथनों में जो विश्वास व्यक्त करते है, उनका चरित्र उनके बिलकुल विपरीत सिद्ध होता है :

---

१७५. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० ३९।
१७६. वही, पृ० ३९।
१७७. वही, पृ० ७८।

प्रभा ने रमेश पर आंखे गडाकर कहा, 'सामाजिक अराजकता पर तो मै विश्वास नही करती, पर इतना अवश्य मानती हूँ कि यौवन स्वय अराजकता का दूसरा नाम है।'

प्रभा की आंखो की आग के सामने रमेश सिहर उठा, आखें नीची करते हुए उसने कहा, 'मै तो यौवन की अराजकता मानने को तैयार नही हूँ। यौवन को मैं केवल नियन्त्रित आत्मविस्मृति तक मान सकता हूँ। इससे आगे बढना, नियन्त्रण को तोड़ना'''यह नीचे गिरना है, लक्ष्य-हीन जीवन है।'

प्रभा जोर से हँस पड़ी, 'मिस्टर रमेश, यौवन का प्राण है प्रेम और प्रेम में नियन्त्रण होना असम्भव है, प्रेम अराजक है।'[१७८]

यौवन को नियंत्रित आत्म-विस्मृति मानने पर भी रमेश नियंत्रण नही रख पाता।

अजित—स्त्री रक्षिता है और पुरुष रक्षक है, वह जीवित रहने के लिए पुरुष पर अवलम्बित है—और यही पर स्त्री गुलाम है, वह पुरुष की सम्पत्ति है'[१७९] इस स्थापना के समर्थन में देर तक जोरदार भाषण देने के बाद अजित का यह कथन : 'प्रभाजी, अभी जो कुछ मैने कहा वह एक 'आरगूमेंट' था, उसका उत्तर भी मैं कभी आपको सुनाऊँगा। आप यदि बुरा मान गई हों तो मै क्षमा माँग लेता हूँ, क्योकि मैं इस बात पर विश्वास नही करता।'[१८०] और प्रभा के पुनः प्रश्न करने पर यह उत्तर कि 'मैं शायद किसी बात पर विश्वास नही करता', पाठक को भी चक्कर में डाल देता है और उसे अजित के इस कथन में सत्यता की एक झलक मिलने लगती है। इसी प्रकार 'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली रामेश्वर से झूठ बोलकर स्थिति को छिपाती हुई भी कहती है 'मै तुमसे झूठ नही बोलू गी''''इसमें बुरा मानने की कोई बात नही समझती'[१८१] जहां पात्र अपने कथोपकथनों द्वारा बड़ी चतुरता से सत्यता को सफलतापूर्वक छिपा लेते हैं, वहां संवादो द्वारा उनके चरित्रोद्घाटन का प्रश्न ही नही उठता। वर्माजी के उपन्यास इस प्रकार के कथोपकथनों से भरे पड़े हैं।

प्रकृत कथोपकथन

कृत्रिम व्यवहार को छोड़कर वर्माजी के पात्र जब किसी भी स्थिति में अपने प्रकृत रूप में प्रकट होते हैं तब उनके कथोपकथनों में उनके चरित्र का कोई-न-कोई अंग अनायास ही झलक पडता है।

अहम्मन्यता—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्र दयानाथ ने जब अपने पिता रामनाथ को कांग्रेस को अपनाए रखने के अपने अन्तिम निर्णय से अवगत कराते हुए सोचने के

१७८. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० ४१।
१७९. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १०७।
१८०. वही, पृ० १०६।
१८१. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृ० १४३।

लिए और समय लेने से इन्कार कर दिया तो उस समय पिता-पुत्र में जो कथोपकथन हुआ उसमें पिता-पुत्र के सम्बन्ध का आवरण त्याग उन दोनो की अहम्मन्यता नग्न रूप में व्यक्त हो उठी :

"रामनाथ घूम पडे, 'तो फिर अब मेरा निर्णय भी सुन लो। आज से जब तक मै जीवित हूँ, तुम इस घर मे पैर न रखोगे। तुम्हारी बीवी और बच्चे जब चाहे आ सकते है, लेकिन तुम नहीं। रही तुम्हारे अधिकारों की बात —उस पर मै विचार करूँगा। लेकिन इतना तै है कि मेरी जिन्दगीभर तुम्हें पाँच सौ रुपया गुजारा मिलता रहेगा। हर महीने यह रुपया तुम्हारे घर पर पहुँच जाया करेगा। तुम्हें यहाँ आने की कोई जरूरत नही। और जब यह रुपया पहुँचना बन्द हो जाये, तब तुम समझ लेना कि मैं मर गया। तब तुम आ सकते हो।"

दयानाथ उठ खड़ा हुआ, 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य। लेकिन यह पाँच सौ रुपया गुजारे की बात—इसमें से एक पैसे की भी मुझे जरूरत नही। आप समझते है कि आप स्वामी है, आप दाता हैं, आप समर्थ है; और मै हीन हूँ, गुलाम हूँ, असमर्थ हूँ। आप गलती करते हैं। मै गरीबी में रह सकता हूँ बिना उफ किये। मुझे आपके रुपये की कोई आवश्यकता नही—वह आप अपने पास रखें।' यह कहकर उसने रामनाथ के पैर छुए और वह तेजी के साथ कमरे के बाहर चला गया।"[१८२]

दयानाथ की पत्नी राजेश्वरी में भी स्वाभिमान की मात्रा अपने पति से कम नही थी। दयानाथ के जेल चले जाने पर जब रामनाथ उसके बच्चों को घर ले जाने के लिए गया उस समय उसमें और राजेश्वरी में जो संवाद हुआ उससे राजेश्वरी के स्वभाव का यह रूप निखर पडा : "जिस घर में मेरे स्वामी का अपमान और निरादर हो, वहाँ मै आदर पाऊँ, वहाँ मैं सुख से रहूँ, यह मेरे लिए लज्जा की बात होगी।"[१८३]

संयमशीलता—'आखिरी दाँव' की नायिका चमेली को जब उसका रामेश्वर सेठ शीतलदास के बगले से रगरलिया मनाती हुई घसीट लाया तब दोनों के घर पहुँचने पर लेखक ने उन दोनो में जो सवाद कराया उसमे उनकी मन.स्थिति का चित्रण सुन्दर बन पडा है। चमेली अपना संतुलन खो चुकी और रामेश्वर सतुलन को बनाने के लिए भरसक प्रयत्न कर रहा है :

'चमेली—'तुम मुझे दण्ड देने लाए हो यहाँ, दो दण्ड मुझे, जरा देखूँ तो तुम्हारी हिम्मत और ताकत। कौन-सा दण्ड देना चाहते हो'' 'देखूँ—देखूँ।'

---

१८२. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० ३४।
१८३. वही, पृ० १४८।

रामेश्वर—'तू ठीक कहती है—दोष मेरा है। मैंने जुए जाकर गलती की है, मैं जानता हूँ।'

रामेश्वर के इस स्वर से चमेली डर गई—उसने कहा, 'नही, नही, तुमने जो कुछ किया वह ठीक ही किया।'

रामेश्वर ने चमेली की बात काटकर कहा, 'चुप रह, मुझे अपनी बात पूरी कह लेने दे। हम सब पैसे के गुलाम हैं, धन हमारा ईश्वर है, हमारा अस्तित्व है। इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य ; न प्रेम है, न भावना है—जो कुछ है वह धन है। झूठ, अविश्वास, छल-कपट की दुनिया के हम लोग प्रधान नागरिक हैं, हम दोनो में किसी को किसी से कोई शिकायत न होनी चाहिए।'[१८४]

इसी चमेली पर जब सेठ शिवकुमार ने सर्वप्रथम जाल फैलाने की असफल चेष्टा की थी, उस समय चमेली ने जो प्रत्युत्तर दिया था, उसमें चरित्र की उज्ज्वलता की झलक थी—'सेठ ! तुमने मुझे राधा की तरह रण्डी समझ रखा है क्या। अब अगर दूसरी बात मुँह से निकाली तो जीभ खीच लूँगी।'[१८५]

आवेगज कथन

पात्रों के अवचेतन मन में गहरे धंसे हुए भावों को व्यक्त करने के लिए वर्मा जी उन्हें आवेगज स्थिति में लाकर फिर उन्हें बोलने का अवसर देते हैं। इस प्रकार पात्रों के कथोपकथन में वे भाव झलक पड़ते है, जिनको वे पात्र सामान्यावस्था में कभी भी न व्यक्त होने देते। ऊपर से रूखी दिखाई पड़नेवाली 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की क्रांतिकारी महिला वीणा के हृदय में भी किसी के प्रति कोमल भाव हो सकते हैं, इसका परिचय प्रभा के प्रति उसके आवेशपूर्ण शब्दों से ही मिलता है। बिना कोई कारण बताए ही वह कहती चली जाती है : 'नही मरने के लिए मै हूँ—और सब हैं, लेकिन आप। आपके मरने का अभी समय नहीं है। आप अगर विपत्ति में पड़ जाएँगे तो मैं नहीं रह सकूँगी—नहीं रह सकूँगी।'[१८६] 'आखिरी दांव' में चमेली जिस सेठ शिवकुमार की जीभ खींचने के लिए तैयार थी उसके प्रति आभार प्रकट करती हुई वह आवेशपूर्ण स्थिति में ही कह सकती थी : 'सेठ ! तुम इतने भले हो, मैंने यह न सोचा था। आज मेरे साथ तुमने जो उपकार किया है, मैं उसे जन्मभर न भूलूँगी। तुमने मुझे हमेशा के लिए अपना बना लिया।'[१८७]

१८४. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृ० २३८।
१८५. वही, पृ० ४३।
१८६. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० ९३।
१८७. वही, पृ० १०१।

वर्ग-चरित्र

वर्माजी के उपन्यासो में इस प्रकार के कथोपकथनो की भी कमी नही जो विभिन्न राजनीतिक दलो की बैठको, साहित्यिक गोष्ठियो आदि के नाना प्रकार के सदस्यों में आपस में होते है। उन कथोपकथनों में सदस्यो के व्यक्तिगत चरित्र पर चाहे प्रकाश न पडे, उन बैठको में हुई बातचीत में एक समूह-चरित्र निखर आता है। इन सवादो में व्यक्ति-चरित्र चाहे न मिले, वर्ग-चरित्र का तो अच्छा उद्घाटन हो जाता है। उपन्यास 'टेढ़े-मेढे रास्ते' इस प्रकार के सवादो से भरा पड़ा है। उपन्यास के आरम्भ में ही दयानाथ के घर पर हुई कांग्रेस की बैठक में मार्कण्डेय के इस प्रस्ताव का भारी बहुमत से स्वीकृत हो जाना कि लोगों को रुपये देकर जेल जाने के काम पर नौकर रखा जाए'[१८८] पार्टी के उन सदस्यो के चरित्र-विकास की तत्कालीन अवस्था को प्रकाश में ला देता है। प्रस्ताव के पास हो जाने से पहले उसके पक्ष और विपक्ष मे जो तर्क-वितर्क हुआ वह मानो उस पार्टी के मन की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो में सघर्ष हो रहा था।[१८९] उमानाथ की विदेश-यात्रा के कारण प्रायश्चित्त कराने के लिए एकत्रित हुए निरक्षर भट्टाचार्यों की आपस में आवेशपूर्ण बातचीत उनके ज्ञान और सहिष्णुता का दिवाला निकाल देती है।[१९०] उमानाथ के लिए ब्रह्मदत्त द्वारा बुलाई गई बैठको में हुए संवादो में श्रद्धा-विहीन अनियंत्रितता निखर उठती है।[१९१] साहित्यिक गोष्ठियों में हुई चर्चाओ मे, उनमें भाग लेनेवालों की विशिष्टताओ के अतिरिक्त साहित्यिको का स्वभाव प्रतिबिम्बित मिलता है।[१९२] इस प्रकार, इन बैठकों तथा गोष्ठियो में हुए सवादों में प्रतिबिम्बित लोगों की अलग-अलग विशिष्टताएँ मिलकर उस संस्था या वर्ग का चित्र खड़ा करती है।

अन्य पात्रों द्वारा टीका-टिप्पणी

जिस प्रकार वस्तु-जगत् में जो लोग हमारे सम्पर्क में आते हैं, उनके सम्बन्ध में हमारी और हमारे सम्बन्ध में उनकी कुछ धारणाएँ बन जाती हैं, जो समय-समय पर अभिव्यक्ति पाती रहती है, उसी प्रकार औपन्यासिक पात्रो के भी एक-दूसरे के बारे में निश्चित मत बन जाते है और वे यदा-कदा उनकी टीका-टिप्पणी के रूप में प्रकट होते रहते है। किसी पात्र के समझने में उसके बारे में दूसरों की टीका-टिप्पणी काफी सहायक सिद्ध हो सकती है, यदि वह निष्पक्ष भाव से की गई हो। कोई टिप्पणी निष्पक्ष है या पक्षपातपूर्ण, यह परखने के लिए यह जानना

१८८. वही, पृ० २४।
१८९. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० २२-२६।
१९०. वही, पृ० १३०-१३७।
१९१. वही, पृ० २६३-२७२।
१९२. वही, पृ० २५०-२६२।

आवश्यक हो जाता है कि वह किस परिस्थिति में की गई है और उस समय आलोचक पात्र का आलोच्य पात्र से सम्बन्ध कैसा था, मैत्रीपूर्ण, वैमनस्यपूर्ण या दोनो में से कोई नहीं। और फिर यह भी कि जब टीका की गई, उस समय आलोच्य पात्र उपस्थित था या नहीं। किसी पात्र की उपस्थिति में उसके मित्र या सम्बन्धी द्वारा की गई प्रशसा इतनी विश्वसनीय नही होती, जितनी कि उसकी अनुपस्थिति में उसके शत्रुओ द्वारा किया गया उसके किसी एक गुण का उल्लेख। इसी प्रकार, किसी पात्र की अनुस्थिति में उसके शत्रुओ द्वारा की गई निन्दा की अपेक्षा उसकी उपस्थिति में उसके किसी मित्र या सम्बन्धी द्वारा उसके किसी अवगुण का प्रकाशन अधिक विश्वसनीय होगा

निष्पक्ष मत

भगवतीचरण वर्मा के पात्र भी एक-दूसरे के बारे में अपने निश्चित मत रखते है और समय-समय पर उन्हे प्रकट भी करते हैं। पर यदि किसी विशेष कारण से वे अपनी राय को प्रकट करने में असमर्थ हो, उन्हें अपना मत प्रकट करने की हिम्मत न पड़े या उनकी राय माँगी गई हो, तो उपन्यासकार उनकी उस राय को व्यर्थ जाने नही देता, अपितु उसका मूल्य समझता हुआ स्वयं अपने शब्दों में उसे पाठकों तक पहुँचा देता है, इसलिए कि उससे उसके पाठकों को सहायता मिल सके। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के आरम्भ में ही जब रामनाथ अपने छोटे लड़के प्रभानाथ को लेकर बड़े लड़के दयानाथ के यहाँ उसे डांट-डपट लगाने गया तब प्रभानाथ बड़ा उत्सुक था कि वह अपने पिता और भाई की बड़ी मजेदार मुठभेड देखेगा। वह इस मुठभेड़ को मजेदार क्यो समझता था, यह हमें लेखक बता देता है : 'वह अपने पिता को अच्छी तरह से जानता था। दोनों ही चरित्रवान तथा अपने-अपने विश्वासों पर दृढ़ थे, दोनों में ही स्वामित्व का भाव प्रबल था, किसी से दबना दोनो में से एक ने भी नहीं जाना।'[१६३] पाठक को इन दो पात्रों के बारे में प्रभानाथ की यह राय और भी विश्वसनीय प्रतीत होने लगती है, जब लेखक यह और बता देता है कि उन दोनों से उसका समान लगाव था : 'पिता पर उसकी ममता थी, बड़े भाई के प्रति श्रद्धा थी'[१६४] और इसे आधार मानकर ही वह आगे बढ़ता है।

रामनाथ के बारे में उसके छोटे भाई श्यामनाथ की धारणा भी लगभग ऐसी ही थी। प्रभानाथ जब उमानाथ को लेने कलकत्ता जा रहा था तो वह रास्ते में अपने चचा श्यामनाथ के यहाँ रुक गया। श्यामनाथ उसे दो-चार दिन रोक लेना चाहता था पर जब प्रभा ने बताया 'नहीं काका जी ददुआ (रामनाथ) ने लिखा है ? आप तो अपनी सफाई देकर अलग हो जाएँगे, बीतेगी मेरे सिर पर' तब वह भी माथे

---

१६३. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', पृ० १० ।
१६४. वही, पृ० १० ।

पर हाथ लगाये कुछ सोचकर धीरे से बोले, 'अच्छी बात है। भइया का तो लाट-साहबी हुक्म चलता है। तो फिर कल ही सही।'[१९५]

'तीन वर्ष' के नायक रमेश ने वेश्या सरोज के कोठे पर बाँकेलाल से जो व्यवहार किया था उसे वह अपने लिए अपमानजनक समझकर रमेश से बहुत बुरा मान गया था। पर रमेश की अनुपस्थिति मे उन दोनो के मित्र विनोद ने रमेश के बारे में अपनी राय व्यक्त की, उससे पाठक को रमेश की उस अवस्था को समझने में बड़ी सहायता मिलती है : 'बाँके बाबू ! रमेश मनुष्य है, उसके पतन में भी उसका स्वाभिमान है, उसकी अहम्मन्यता है। आप इस समय क्रोध में है, यदि शांतिपूर्वक आप इसपर विचार करेंगे, तो आप उसका आदर करेंगे, आपको उसपर दया आवेगी।'[१९६]

'तीन वर्ष' का पाठक जानता है कि अजित का प्रभा मे न प्रेम है और न वैर। इसलिए जब रमेश को समझाने के लिए अजित प्रभा के बारे मे कहता है कि 'प्रभा की दृष्टि में व्यक्तित्व का मूल्य नही है, उसकी दृष्टि में मूल्य है रुपये-पैसे का' पाठक को यह समझने में देर नही लगती कि रमेश को प्रभा की ओर से निराश होना पड़ेगा।

वर्माजी के पात्र कई बार जब आलोच्य पात्र की उपस्थिति मे ही उसे सम्बोधित करके उसके स्वभाव की किसी विचित्रता या त्रुटि का उल्लेख कर देते है और वह पात्र उनका खण्डन नही करता तो पाठक उस बात को ध्यान से सुनकर याद कर लेता है कि कदाचित् वह बाद में उसके काम आए। 'तीन वर्ष' के आरम्भ मे अजित का जो रूप सामने आता है, पाठक को तो वह विचित्र लग ही रहा था, पर जब वह पात्रो को भी अजीत से कहते हुए पाता है कि वे उसे समझ नही पा रहे, तो उसे विश्वास हो जाता है कि अजित अज्ञेय है। पाठक लीला के इस कथन को छोड भी दे कि 'अजित, तुम्हें नही समझ पा रही हूँ, तुम मेरे लिए एक पहेली हो',[१९८] पर जब अजित का घनिष्ठ मित्र रमेश भी उसे समझने में असमर्थता प्रकट कर दे 'अजीत ,तुम्हें मैं नहीं पहचान पा रहा हूँ'[१९९] तो वह इसकी सत्यता से कैसे इन्कार कर दे।

भ्रामक टीका-टिप्पणियाँ

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रों की एक दूसरे पर की गई कई टीका-टिप्पणियाँ ऐसी भी है कि यदि उनकी तह में छिपे आलोचक पात्र के प्रेरक

१९५. वही, पृ० ५६।
१९६. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० २१२।
१९७. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १०१।
१९८. वही, पृ० ८७।
१९९. वही, पृ० ९९।

(मोटिव) को जाने बिना उन्हे ही आधार मानकर आगे बढ़ा जाये तो वे पथ-भ्रष्ट कर दें। बीजगुप्त के आशंका प्रकट करने पर कि कही कुमारगिरि उन दोनो के बीच में न आ पड़े तो उसे झूठा आश्वासन दिलाती हुई चित्रलेखा कहती है : 'प्रियतम ! कुमारगिरि योगी है और मूर्ख है। उसकी आत्मा मर चुकी है।'[२००] पर पाठक जानते है कि कुमारगिरि के सम्बन्ध में चित्रलेखा की इस राय के पीछे उसका हृदय नहीं, केवल कपट-भाव काम कर रहा था।

कविता-गीत

वर्माजी के औपन्यासिक पात्रो में से गीतकार तो केवल एक है—किशोर, पर उसके अतिरिक्त अन्य पात्र भी यदा-कदा उमग में आकर कोई गाना गुनगुनाने लग जाते हैं। किसी दूसरे के सुनाने के लिए वे ऐसा नहीं करते। वास्तव में होता यह है कि उनके हृदय की भावनाएँ उस गाने के रूप में फूट पड़ती हैं--वह गीत चाहे उनका अपना न होकर किसी अन्य का हो। ऐसी स्थिति में वे पात्र भले ही सायास आत्मनिवेदन न करें, उनके द्वारा गुनगुनाया हुआ गाना उनके हृदय की तत्कालीन भावनाओ को ध्वनित कर देता है।

भावाभिव्यक्ति

विजयसिंह—'टेढ़े-मेढे रास्ते' में क्रान्तिकारी दल की एक गुप्त बैठक हो रही थी और मनमोहन किसी गम्भीर विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए भूमिका बना रहा था। सहसा उसके कानों में विजयसिंह के एक गाने की गुनगुनाहट पडी और वह सहसा रुककर उसे गौर से सुनने लगा। विजयसिंह की आवाज थोडी सी कांप रही थी। मनमोहन ही नहीं, सभी लोग मंत्रमुग्ध होकर उस गाने को सुन रहे थे। विजयसिंह रुक गया, उसने एक ठण्डी साँस ली, फिर उसने मनमोहन की ओर देखा, 'क्यो, अपनी बात कहते-कहते रुक क्यो गये ?' मनमोहन ने झुंझलाकर कहा, "बात किससे कहूँ ? तुम लोग सब के सब एक तरह की मस्ती में गर्क हो, भगवान् जाने इस मस्ती का अन्त क्या होगा ?" विजयसिंह और उसके साथियों में कितनी मस्ती भरी हुई थी और उनकी तत्कालीन मन.स्थिति क्या थी, इसका अनुमान उस गीत से लगाया जा सकता है, जिसे वह गुनगुना रहा था :

"उर की लाली से मुख की कालिख धोलो—
सर आज हथेली पर है बोली बोलो।"[२०१]

रामेश्वर—'आखिरी दाँव' उपन्यास के आरम्भ में ही उसका नायक रामेश्वर

---

२००. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० १९।
२०१. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते',।

अपने खेत से लौट रहा होता है। अनाज कट चुका था और उसी समय संयोग से शहर के एक व्यापारी ने आकर उसके खेत से ही उसका अनाज खरीद लिया था। रामेश्वर प्रसन्न था। उसकी टेंट में पाँच सौ रुपये थे। होली का त्योहार सर पर आ गया था। किस तरह वह अपने मित्रों को दावत देगा, भाँग छनेगी, नाच-गान होगा, रंग-गुलाल खिलेगा ''''''''इन्ही विचारों में मग्न उसने अपने खेतो की मेंड छोड़कर अपने गाँव में प्रवेश किया। गाँव में प्रवेश करते ही उसने अलाप भरी : "खेरा री जी भर फाग, आँगन तोरे आये हैं साजन !"[२०२] और उस अलाप के साथ ही उसके हृदय की सारी मस्ती, समस्त आह्लाद गाँवभर में मुखरित हो गया।

किशोर—वैसे तो फिल्मी गीतकार किशोर का जो रूप हमें 'आखिरी दाँव' में मिलता है, उसी के आधार पर वह एक पथ भ्रष्ट युवक से अधिक नही ठहरता पर राधा और चमेली दो महिलाओं की उपस्थिति मे उसने अपनी जो कविता गाकर सुनाई, उसमें तो उसका शोहदापन पूर्ण रूप से निखर उठता है :

'सजनी तेरा अभिसार करूँ।
जी में आता है मधुबाला हाला बन तुझको प्यार करूँ।
है आज हृदय में कुछ कंपन, है आज प्राण में कुछ क्रन्दन।
इस यौवन का मै चुम्बन से, आलिंगन से, शृंगार करूँ।'[२०३]

विनोद-रमेश—'तीन वर्ष' के पात्र रमेश और विनोद में प्रथम भेंट के समय ही प्रेम के विषय पर जो तर्क-वितर्क छिड़ा उसमें प्रेम के मार्ग की उच्चता दिखाने के लिए विनोद ने कबीर का यह दोहा उद्धृत किया :

'यह है मारग प्रेम का खाला का घर नाहि।
सीस चढ़ावे भुइँ परे ता पर राखे पाँव॥'

और रामेश्वर ने उसके तर्क को काटने के लिए उससे विपरीत अभिप्राय-वाला कवि का ही यह दोहा पेश किया : 'तिरिया विष की खान।' इन पात्रों द्वारा दिये गये ये पद्यात्मक उद्धरण उन दोनो के उस समय के मानसिक झुकाव की ओर स्पष्ट संकेत है कि विनोद रमणी की ओर प्रवृत्त है और रमेश उससे घबराकर भाग रहा है।

पत्र

सहज स्वभाव से लिखे गये पत्रों में उनके लेखक की मनःस्थिति अनायास झलक पड़ती है। जब तक कि लेखक अपने मनोभावों को प्रकट होने से बचाने में विशेष रूप से प्रयत्नशील न हो, पत्र उसके मनोभावों का दर्पण बन जाता है।

---

२०२. वर्मा, 'आखिरी दाँव', पृ० ९।
२०३. वर्मा, 'आखिरी दाँव'।

पत्र का उल्लेखभर

वर्माजी के उपन्यासो में पात्रो द्वारा लिखे गये पत्रों का उल्लेख तो यदा-कदा होता रहता है, पर बहुधा वह उल्लेखमात्र ही रह जाता है। इलाहाबाद छोड़ते समय 'तीन वर्ष' के नायक रमेश ने अजित के नाम एक पत्र लिखा, यह बात तो लेखक हमें बता देता है, पर उस पत्र में क्या लिखा था यह बताने की लेखक कदाचित् कोई आवश्यकता नही समझता।[२०४] 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त ने श्वेतांक के हाथ मृत्युंजय के पास जो पत्र भेजा था, लेखक उस पत्र को खोल कर पाठकों के सामने नहीं रखता, श्वेताक को बीजगुप्त के इस कथन में पत्र के विषय के बारे में सकेत भर कर देना पर्याप्त समझता है : 'श्वेतांक मेरा कर्त्तव्य है कि अपने कटु शब्दो के लिए मृत्युंजय से क्षमा प्रार्थना करूँ'।[२०५]

जब कभी पात्र अपने लिखे पत्र के बारे में संकेत तक भी न करे और वर्माजी उसे पाठको को बताना आवश्यक समझे तो वह अपने शब्दों में उस पत्र का विषय बता देते है। 'टेढे मेढ़े रास्ते' का दयानाथ जिस समय पुनः जेल जाने की तैयारी कर रहा था उसे मार्कण्डेय का एक पत्र मिला। लेखक उस पत्र को खोल कर तो पाठको के सामने नहीं रखता पर उन्हें इतना जरूर बता देता है कि उसमें मार्कण्डेय ने अपने पिता की मृत्यु की सूचना दी थी।[२०६]

लेखक द्वारा इस प्रकार पत्रों के उल्लेख मात्र से कथा-वस्तु के बिखरे सूत्र भले ही मिल जाते हों, पात्रों के चरित्र को समझने में उनसे कोई सहायता नहीं मिलती।

मनःस्थिति का चित्रण

पात्रो की तत्कालीन मनःस्थिति को व्यक्त करने वाले पत्र वर्माजी के समूचे उपन्यास साहित्य में एक-दो ही मिलेंगे। वेश्या सरोज को छोड़ते समय 'तीन वर्ष' का नायक रमेश उसके नाम जो पत्र छोड़ गया था, वह रमेश द्वारा उस स्थान को छोड़ जाने के कारण को तो प्रकाश में ले ही आता है, साथ ही रमेश की उस समय की मनोदशा को भी व्यक्त कर देता है :

> "तुमने मुझ पर बडी कृपा की — इसके लिए धन्यवाद देता हूँ—तुम बडी अच्छी हो। तुम्हारे पास आत्मा है—विश्वास है। तुम्हें छोड़ते हुए मुझे दु ख हो रहा है, पर क्या करूँ, विवश हूँ। और सरोज। पता नही, हम-तुम फिर कभी मिलेगे भी ? शायद नही, इसीलिए अन्तिम बार विदा।"[२०७]

---

२०४. वर्मा, 'तीन वर्ष', पृ० १४८।
२०५. वर्मा, 'चित्रलेखा', पृ० १०६।
२०६. वर्मा, टेढे-मेढ़े रास्ते'।
२०७ [illegible] 'तीन वर्ष' पृ० २४५।

इसी प्रकार, रमेश को अपना आत्म-निवेदन पहुँचाने के लिए सरोज ने 'लीडर' में विज्ञप्ति के रूप में अपना जो पत्र छपवाया था, उसमें सरोज की मनोदशा तो प्रतिबिम्बित है ही, उससे सरोज के चरित्र की इस विशिष्टता पर भी प्रकाश पड़ता है कि वेश्या होने पर भी उसका रमेश से सच्चा प्रेम था, उस के लिए वह जान दे सकती थी .

> 'मै मृत्यु-शय्या पर पड़ी हूँ। तुम्हे एक बार देखना चाहती हूँ, यही मेरी अन्तिम इच्छा है—और मैं यह नही जानती कि कब तक जिन्दा रहूगी। अगर मरने से पहले तुमसे मिल सकती, तो सुख से मर सकूगी।' [२०८]

भ्रामक पत्र

वर्माजी के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में एक पत्र ऐसा मिलता है जिसका 'मोटिव' समझे बिना उसके लेखक पात्र की भावनाओं का मूल्याकन करने में धोखा लग सकता है। वह पत्र है साम्यवादी नेता मोरिसन का जो उसने हिल्डा से छीना-झपटी करते समय अपने मुह पर आई खरोचों के लिए मिस सिम की बिल्ली को उत्तरदायी ठहरा कर उससे ५०० रु० लेने के लिए लिखा था :

> "इस खयाल से कि आपकी बिल्ली मरेगी, आप बेहोश हो गईं। इससे मुझे बहुत दुख हुआ, और इससे अधिक दुःख मुझे इस बात से हुआ कि आपकी नजर के सामने ही हजारों आदमी अधमरे, भूखे, प्यासे, तड़पते हैं और आप उन पर ध्यान नही देती; जबकि एक जानवर पर आप की इतनी ममता है कि उसके मरने के खयाल से ही आप बेहोश हो सकती है। बिल्ली मै छोड़ देता हूँ, इसलिए नही कि मै इस बिल्ली पर रहम कर रहा हूँ, बल्कि इसलिए कि मैं आप पर रहम कर रहा हूँ, आपके दुःखों को मै देख नहीं सकता। रही मेरे खर्च की बात, उसकी चिन्ता न कीजियेगा—उसका मै किसी-न-किसी तरह इतजाम कर लूंगा।"[२०९]

इस पत्र के आधार पर तो मौरिसन एक भोला-भाला देवता ही प्रतीत होगा, भले ही इस पत्र के पीछे काम कर रही उसकी नीयत को जान लेने पर उसके इस हथकडे के प्रति घृणा का भाव जाग उठे।

---

२०८. वही, पृ० २४६।
२०९. वर्मा, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ने', पृ० १०९-११०।

वृन्दावनलाल वर्मा

परिचयात्मक विवेचन

प्रेरणा

लैसली स्टीफन की धारणा है कि ऐतिहासिक कथानक अच्छे उपन्यासों के घातक है। दूसरी ओर, इतिहासकार पालग्रेव का कहना है कि ऐतिहासिक उपन्यास इतिहास के शत्रु होते है। ऐतिहासिक उपन्यास साहित्यकार और इतिहासकार दोनों में से किसी को भी सतुष्ट नही कर पाता, यदि इस कथन में कुछ भी सचाई है तो ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की ओर उपन्यासकार प्रवृत्त क्यों होता है ? हो सकता है कि कोई उपन्यासकार अपने उपन्यासों की कथावस्तु इतिहास से इसलिए लेता हो कि वर्तमान समाज की पृष्ठभूमि पर अपने विश्वासों और मान्यताओं को प्रभावोत्पादक ढग से व्यक्त करने की उसमें सामर्थ्य न हो। यह भी हो सकता है कि वह अतीत के किसी युग-विशेष की सभ्यता और सस्कृति से इतना अधिक प्रभावित हो कि अपने उपन्यासों के सहारे वह उसे फिर से लाना चाहता हो। या ऐसा भी हो सकता है कि उपन्यासकार से किसी ऐतिहासिक घटना या व्यक्ति के प्रति इतिहासकारों द्वारा किया गया अन्याय सहा न गया और वह श्रद्धापूर्ण खोज के बल पर उसके प्रति न्याय करने की भावना से ऐतिहासिक उपन्यास की ओर प्रवृत्त हुआ हो। वृन्दावनलाल वर्मा के अधिकाश उपन्यास इसी भावना से प्रेरित हुए हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना के पीछे यह दृढ़ विश्वास काम कर रहा है कि 'भारत का इतिहास लिखने वाले अग्रेज लेखकों ने शोध के परिश्रम और विद्वत्ता के प्रवाह के साथ हम को न्याय नही दिया।'[1] वर्मा जी का कहना है कि 'हम उनकी श्रमशीलता और गहरी विद्वत्ता को नमस्कार कर सकते है, परन्तु उनके दृष्टिकोण पर हमारी भौह तन जाती हैं।'[2] 'झाँसी की रानी' की रचना का मूलाधार उनका

१-२. वृन्दावन लाल, "ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण", 'नए पत्ते', जनवरी-फरवरी, १९५३, पृ० ४४।

यह विश्वास है कि रानी स्वराज्य के लिए लडी, अंग्रेजो की ओर से झासी पर शासन करते-करते जनरल रोज से विवश होकर नही। पारसनीस के अन्वेषणो को मूल्यवान मानते हुए भी वह उसके इस विचार से सहमत नही कि रानी का शौर्य विवशता की परिस्थिति मे उत्पन्न हुआ था।[3] इस प्रकार, अपने ऐतिहासिक पात्रो के प्रति उपन्यासकार का पहले से ही एक स्थिर दृष्टिकोण[4] बन जाने से उनका चित्रण उतना ऐतिहासिक तथ्यो के बल पर नही हो पाता जितना भावना के तल पर। यह बात 'झाँसी की रानी' ही नही, न्यूनाधिक रूप मे वर्मा जी के अन्य ऐतिहासिक उपन्यासो के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

सामाजिक उद्देश्य

अतीत के चित्रण की ओर वर्माजी शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से ही प्रवृत्त हुए हो, यह बात नही। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में, प्रेमचन्द की तरह वह भी एक आदर्श लेकर चले है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर खडे होकर वर्तमान को समझने और सुधारने की चेष्टा भी उनके उपन्यासों में मिलती है, स्पष्ट उपदेशकता के रूप में चाहे वह व्यक्त न हुई हो। वर्माजी का विश्वास है कि 'ऐतिहासिक उपन्यास से पाठक को और लेखक से समाज को, कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिये। जनमत में दिव्यता की ओर ले जाने वाला सवेग यदि ऐसे उपन्यास के निर्मित्त द्वारा मिल जाए तो लेखक सफल हुआ।'[5] उन्होने लिखा भी है कि 'यदि लेखक ने व्यक्ति के भीतर भरे पुरुषार्थ और सत्सिद्धान्त पर बलिदान हो जाने की शक्ति को जगा दिया तो इतिहास के प्रकाशमान तथ्यों की जैसी व्याख्या होनी चाहिये, वैसी व्याख्या हो गई। भूतकाल में देवताओं की लीलाएँ भी हुई है और राक्षसो की भी। आज भी हो रही हैं। उपन्यास-लेखक दोनों की व्याख्या रोचक ढग से कर सकता है और करे, परन्तु पाठक अन्त में देवताओ के क्रिया-कलापो पर मुग्ध होकर रह जाए और राक्षसो की लीला का तिरस्कार उसका मन कर दे तो उपन्यास-लेखक ने इतिहास की सच्ची व्याख्या की।'[6] कदाचित् इसीलिये वह अपने उपन्यासो में ऐतिहासिक पात्रो के चित्रण तक ही सीमित नही रहे, प्रत्युत् ऐसे पात्रो का निर्माण भी उन्होने किया है जिनके 'नाम काल्पनिक है, परन्तु जिनका इतिहास सत्यमूलक है।'[7] अनेक कालो

---

३. वृन्दावनलाल वर्मा, 'झांसी की रानी'—परिचय, द्वितीय आवृत्ति, १९४८, पृ० १।

४-६. वर्मा, 'ऐतिहासिक उपन्यास और मेरा दृष्टिकोण', 'नए पत्ते', जनवरी-फरवरी, १९५३, पृ० ४४ :

"इतिहास के आधार पर उपन्यास लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है, परन्तु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है।"

७. वर्मा, 'विराटा की पद्मिनी'—परिचय, तृतीयावृत्ति, सं० २००३, पृ० १४।

की सच्ची घटनाओं को उपन्यास में एक ही काल की घटना के रूप में संजोकर और अनेक व्यक्तियों के गुणावगुणों का एक ही पात्र में समाहार करके वर्माजी ने समाज की हृदय हिला देने वाली कहानी कही है। 'विराटा की पद्मिनी' के कुंजरसिह का दासी-पुत्र होने के कारण राज्य के उत्तराधिकार से वचित किया जाना, 'मृगनयनी' में लाखी और अटल के अतर्जातीय विवाह का समाज द्वारा व्यापक विरोध, आदि अनेक समस्याये हैं जो पाठको के हृदय को छू लेती है और जो आज भी पूरी तरह से सुलझ नही पाई। अतीत की कई शाराध्य बातो से पाठको को प्रेरणा भी मिलती है। 'झासी की रानी' को ही ले। आज के युग में जब देशभर में साम्प्रदायिकता का बोलबाला है, पठानों के नेता गुलमुहम्मद के चरित्र से, जिसने रानी की लाश को किसी अंग्रेज का हाथ तक न लगने दिया था, पाठकों को प्रेरणा मिले बिना नहीं रह सकती। अग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध देश की स्वतन्त्रता के लिए हिन्दू-मुसलमानों ने एक-साथ मिलकर अपना रक्त बहाया था, यह जानकारी आज के युग के लिए अमूल्य है।

इतिहासकार का दृष्टिकोण

ऐतिहासिक उपन्यासकार को सबसे बडी कठिनाई होती है अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में, क्योकि पात्रों के लोकविख्यात और इतिहास-सम्मत रूप के विरुद्ध वह उनके चरित्र का विकास नहीं कर सकता। इतिहास उसकी कल्पना के पर काट डालता है और उसे अपने पात्रों के साथ मनमानी नही करने देता है। यह कठिनाई उस उपन्यासकार के लिए और भी बढ़ जाती है, जो उन्हें किसी पूर्व-निश्चित दृष्टिकोण से चित्रित करने का व्रत ले चुका हो। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार के लिए दो ही रास्ते रह जाते हैं। या तो वह स्वतन्त्र खोज द्वारा अपने दृष्टिकोण के अनुकूल ऐतिहासिक सामग्री सकलित करे और उसकी प्रामाणिकता के आधार पर पात्रों के चरित्र का निर्माण करे और या फिर वह पात्रों के चरित्र के उस रूप के उद्घाटन पर बल दे जो इतिहास की पहुच से परे रहकर उनके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहा हो अर्थात् वह पात्रों के बहिर्जग और उसमें व्यक्त उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया में न उलझा रहकर उनके अन्तर्जगत् और उसमें व्याप्त सघर्षों को पकड़ने की चेष्टा करे। अपने दृष्टिकोण का सफल निर्वाह तो उपन्यासकार इन दोनो रास्तों में से किसी एक पर भी चलने से कर सकता है, पर पहली प्रवृत्ति उसकी रचना को 'औपन्यासिक इतिहास' बना देती है और दूसरी उसे 'ऐतिहासिक उपन्यास' बनाने में योग देती है।

बहिरंग चित्रण

वर्माजी के उपन्यासों में पहली प्रवृत्ति ही अधिक रही है। उनके ऐतिहासिक उपन्यासो की लम्बी-लम्बी भूमिकाओं के अतिरिक्त, जिनमें उन्होंने अपनी ऐतिहासिक

खोजो का उल्लेख किया है, उनका पात्रो के वहिरग (ऑब्जेक्टिव) चरित्र-चित्रण की ओर अधिक झुकाव इस बात का परिचायक है कि चरित्र-चित्रण मे उनका दृष्टिकोण इतिहासकार का अधिक रहा है और उपन्यासकार का कम। जेसा कि हम आगे देखेंगे वर्माजी का औपन्यासिक चरित्र-चित्रण सतही ढंग का रहा है, जिसमें पात्रों का केवल व्यक्त—और वह भी सार्वजनिक, पारिवारिक नही—जीवन ही चित्रित हुआ, न कि अतरग (सब्जेक्टिव), व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक। इसीलिए, वह अपने पात्रो की व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अचेतन या अवचेतन कारणों को नही पकड पाए। उदाहरणार्थ, वर्माजी के 'झाँसी की रानी' और अज्ञेय के 'शेखर . एक जीवनी' को ले। दोनों उपन्यासों में लेखको का उद्देश्य एक-सा रहा है—पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना। वर्माजी 'झासी की रानी' उपन्यास के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहते है कि 'रानी का शौर्य विवशता की परिस्थितियों में उत्पन्न नही हुआ था'[८] अर्थात् वह जन्मजात था जो धीरे-धीरे विकसित होता गया। 'शेखर. एक जीवनी' में अज्ञेय भी 'मानवता के सचित-अनुभव के प्रकाश में जीवन की कार्य-कारण-परम्परा के सूत्र सुलझाने' में प्रवृत्त हुए है।[९] दोनों उपन्यासों में रचयिताओं के उद्देश्य में साम्य होते हुए भी उनके दृष्टिकोण के अतर के कारण पात्रों के चरित्र-चित्रण में बहुत बडा अतर है। वर्माजी सतह के ऊपर ही ऊपर रह जाते है और अज्ञेय उससे नीचे ही नीचे।

वर्माजी के चरित्रचित्रण की अधिकांश प्रवृत्तियाँ वही है, जो पात्रो के बहिरग चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकारों की रही है। यहाँ उनकी सभी प्रवृत्तियों का नही, केवल उन्ही का निरूपण किया जाएगा जिनको उन्होंने चरित्र-चित्रण का मुख्य रूप से माध्यम बनाया है।

देशकाल-परिस्थिति-चित्रण

पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया के ठीक-ठीक मूल्यांकन के लिए उस परिस्थिति का ज्ञान तो वैसे ही आवश्यक होता है, जिनमें वह व्यक्त हुई हो, पर ऐतिहासिक उपन्यासो में पात्रो की परिस्थिति और देशकाल के चित्रण का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। अन्य उपन्यासों के पात्र और उनकी परिस्थितियाँ अपने युग की, अत परिचित, होने से पाठक के लिए उनका सकेत-भर पर्याप्त होता है, शेष की वह अपने अनुभव के आधार पर कल्पना कर लेता है। पर ऐतिहासिक उपन्यासो के पात्र, उनका युग और उसकी परिस्थितियाँ पाठकों से बहुत दूर और वर्तमान युग से भिन्न होने के कारण पाठक उन पात्रों के व्यक्त आचार-व्यवहार तथा क्रिया-कलापों को पूरी तरह नही समझ सकता जब तक उपन्यासकार उनके देशकाल और परिस्थिति का विस्तृत

८. वर्मा, 'झाँसी की रानी'—भूमिका, पृ० ४।

९. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी'—भूमिका, चतुर्थ संस्करण, १९५१, पृ० ५-१०।

चित्रण न करे। ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने पात्रो के सीमित परिवेश का चित्रण करके ही नहीं रह जाता, प्रत्युत् उस काल के, उस जाति के, वर्ग और समाज के रीति-रिवाज, मनोवृत्ति और आर्थिक स्थिति का भी चित्रण करता हुआ पाठक को सुझाव देता है कि वह उनके संदर्भ में ही उसके कार्य-कलापो का मूल्य आँके।

समाज-चित्रण

वृन्दावनलाल वर्मा अपने उपन्यासों में स्थित्यंकन व्यापक चित्रपट पर नही करते। उनके स्थित्यंकन के केमरा का 'फोकस' पात्रो के अत्यन्त निकटवर्त्ती परिवेश तक, उनके आसपास के तग घेरे तक ही, सीमित रहता है। इसलिए वर्माजी तत्कालीन जन-जीवन के अतर में प्रवेश नही कर पाते, उनकी दौड राजमहलों, दरबारों और राजा-रानियो तक ही सीमित रहती है।)

मृगनयनी—पर उनके 'मृगनयनी' और 'सोना' नामक उपन्यासों में यह बात नही खटकती। इन उपन्यासों में उनके पात्रों का चरित्र-चित्रण व्यापक पृष्ठभूमि पर हुआ, जिससे प्रमुख पात्रो के चरित्रोद्‌घाटन के साथ तत्कालीन जन-जीवन का भी परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ वह स्थिति लीजिए जब राजा मानसिह रात को वेश बदलकर प्रजा का हाल देखने निकलता है और एक मजदूर के घर का द्वार खट-खटाता है। उपन्यासकार स्थित्यकन इस प्रकार आरम्भ करता है :

> "भीतर वाले ने कॉखते-कूँखते उठकर टटिया खोल दी। बाहर वाला भीतर आ गया। उसके लम्बे-तडगे शरीर और भारी-भरकम साफे को देखकर भीतर वाला डर गया। लम्बे-तड़ंगे ने टटिया के पास जूते खोल दिये और आग के पास आ बैठा। उसने झोंपड़ी में नजर पसारी। एक कोने में चकिया, इधर-उधर मिट्टी और काठ के बर्तन, पीतल की एक थाली, एक लोटा और कुछ नहीं।"[१०]

अपनी ओर से इतना लिखने के पश्चात् उपन्यासकार शेष वर्णन पात्रों पर छोड़ देता है। पाठकों को उस मजदूर परिवार की शोचनीय अवस्था का परिचय पात्रों के कथोपकथन से ही मिलता है :

> "मजदूर गिडगिड़ाकर बोला, 'दाऊ, मेरी गांठ में कुछ नही है। गरीब हूँ। किसी बडे घर को तक लो।'
>
> 'डरो मत। मै चोर-उचक्का नही हूँ।'
>
> 'कौन हो ? कहाँ से आये हो ?'
>
> 'राई-नागदा गांव से आया हूँ।
>
> 'नागदा तो उजड़ गया है। राई में क्या करते हो ?'
>
> 'मजदूरी-किसानी। गूजर हूँ।'

---

१०. वर्मा. 'मृगनयनी', पृ० ३७३।

'गूजर ठाकुर तो हमारी रानी भी है। उन्हीं के पास जा रहे हो क्या ?'

'नौकरी ढूँढने आया हूँ। रास्ता भूल गया हूँ। किले में कैसे जाऊँ ?'

'बतलाये देता हूँ। चलो बाहर, वहीं से दिखलाये देता हूँ।'

'कुछ खाने को है ?'

'अभी तो कुछ नहीं है। हमारे लिए ही नहीं है। इससे कहा कि पीस दे सो यह बहुत बीमार है। मैं पीस नहीं पाऊँगा, क्योंकि बहुत भूखा हूँ।"[११]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि वर्माजी पात्रों के कथोपकथन से उपन्यास के कथानक को गति देने और पात्रों के चरित्र को उद्‌घाटित करने का काम ही नहीं लेते, प्रत्युत् कई बार स्थित्यकन भी पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से ही करा देते हैं।

सोना—'सोना' में उपन्यासकार द्वारा वर्णित उस स्थिति का चित्रण देखिए जिसमें अनूप 'माई का घुडला' बनकर चंपत से सोना का चुराया हुआ बहुमूल्य हार निकलवा लेता है :

"भावना के साथ माता का भजन शुरू हुआ।

जैसे-जैसे भजन की गति बढ़ी, लोगों को फुरेरी आने लगी। जिसके सिर देवता को आना था वह नामी देवता था। जनता उसकी ओर टकटकी लगाकर देखने लगी। उस को 'माई का घुडला' कहते थे।

'माई का घुड़ला' यकायक कापा, हिला और उसने दो-एक चीखे मारी। अनूपसिंह भी हिल उठा। हूकें मारने लगा। देवता आज दो के सिर आ रहा है। उनमें एक कुंवर साहब, राजा के साढ़ू। पहले तो डुंगरिया-निवासी जनता को भ्रम हुआ कि यह कोई दिल्लगी कर रहा है। फिर विश्वास हो गया कि राजदरबार में और देवता की बैठक में मसखरी नहीं कर सकता। सब लोग कौतूहल के साथ देखने लगे।

चंपत को अवसर मिल गया। उसने गाँठ पर गाँठ खोलनी आरम्भ की। वह समझता था कि उसको कोई नहीं देख रहा है, पर अनूपसिंह साँस नीची-सी किए भी कुछ ताड रहा था। भाव आते-आते भी।

जिस नावते— माता के घुडला—को पहले भाव आया था उसकी कंपकंपी और हुंकारों के ऊपर भी अनूपसिंह की हुंकारें उतरने लगीं। नावते की कुछ कम पड गई।

अनूप हुंकारें भरते-भरते, हाथ-पैर फेंकते-फेंकते लोटने लगा और नीचे

११. वर्मा, 'मृगनयनी', पृ० ३७३।

बिछी दरी की पर्तों को मुट्ठियों में बटोरने लगा। भजन की गति बहुत तीव्र हो गई थी।

अनूप एकाएक बैठ गया और चिंघाड़ें मारने लगा, आंखे फटने सी लगी।"[१२]

उपर्युक्त स्थिति-चित्रण से अनूप की बुद्धि-कुशलता का परिचय तो मिलता ही है, तत्कालीन जनता के धार्मिक विश्वासो का भी पता चल जाता है, जिन्हें जाने बिना अनूप के तत्कालीन व्यवहार को पूरी तरह नही समझा जा सकता।

युद्ध-वर्णन

युद्ध-स्थल की विकट परिस्थितियो का चित्रण तो वर्माजी के सभी उपन्यासों में अत्युत्तम हुआ है। स्थानाभाव के कारण अधिक उद्धरण न देकर 'झाँसी की रानी' के अन्तिम युद्ध का एक अंश ही उदाहरणार्थ प्रस्तुत है :

"अंग्रेजों ने थोड़ी देर में इन सबके चारो तरफ घेरा डाल दिया। सिमट-सिमटकर उस घेरे को कम करते जा रहे थे। परन्तु रानी की दुहत्थी तलवारे आगे का मार्ग साफ करती चली जा रही थीं। पीछे के वीर सवारो की सख्या घटते घटते नगण्य हो गई। उसी समय तात्या ने रुहेली और अवधी सैनिकों की सहायता से अंग्रेजों के व्यूह पर प्रहार किया। तात्या कठिन से कठिन व्यूह में होकर बच निकलने की रणविद्या का पारंगत पण्डित था। अंग्रेज थोडे-से सवारों को लालकुर्ती का पीछा करने के लिए छोडकर तात्या की ओर मुड गए। सूर्यास्त होने में कुछ विलम्ब था।

लालकुर्ती का आखीरी सवार मारा गया। रानी के साथ केवल चार सरदार और उनकी तलवारे रह गईं। पीछे से कडाबीन और तलवार वाले दस-पन्द्रह गोरे सवार। आगे संगीन वाले कुछ गोरे पैदल।

रानी ने पीछे की तरफ देखा—रघुनाथसिह और गुलमुहम्मद तलवार से अंग्रेज सैनिकों की संख्या कम कर रहे हैं। एक ओर रामचन्द्र देशमुख दामोदरराव की रक्षा की चिन्ता में बरकाव कर-करके लड़ रहा था। रानी ने देशमुख की सहायता के लिए मुन्दर को इशारा किया, और वह स्वय सगीनबरदारों को दोनो हाथो की तलवारों से खटाखट साफ करके आगे बढ़ने लगी। एक संगीनबरदार की हूल रानी के सीने के नीचे पडी। उन्होंने उसी समय तलवार से उस संगीनबरदार को खतम किया। हूल करारी थी, परन्तु आंतें बच गईं।"[१३]

---

१२. वर्मा, 'सोना', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', ११ जून, १९५१, पृ० ७।
१३. वर्मा, 'झांसी की रानी', पृ० ४९७।

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनके आकृति-वेशभूषा-वर्णन का बड़ा महत्त्व होता है। इसीके माध्यम से उपन्यासकार अपने पात्रों को पाठकों के कल्पना-चक्षुओं के आगे साकार कर दिया करता है। जब तक पात्र की कोई क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं होती, तब तक पाठक बाह्य आकार और रंग-रूप के आधार पर ही उसके चरित्र के सम्बन्ध में अनुमान लगाया करता है। आकृति का चरित्र और स्वभाव से गहरा सम्बन्ध माना जाता है।[१४] पात्रों की आकृति और वेशभूषा के आधार पर लगाया गया अनुमान चाहे उतना ठीक न निकले जितना उसके हाव-भाव और क्रिया-प्रतिक्रिया के सहारे लगाया गया अनुमान,[१५] पर व्यक्ति की आकृति के आधार पर उसकी चारित्रिक विशिष्टताओं का कुछ-न-कुछ अनुमान तो लगाया ही जा सकता है। वस्तुजगत् में भी जब हमारी किसी से पहली बार भेंट होती है तो हम भी उसकी आँखों के रंग और चमक, चेहरे की बनावट, शारीरिक गठन आदि से उसके स्वभाव के बारे में अनुमान लगाने का प्रयत्न किया करते हैं।

आकृतिविज्ञान (फिज्योग्नॉमी) एक प्राचीन विज्ञान है और उसकी सहायता से दूसरों को समझने और समझाने की प्रथा भी कोई नई नहीं। उपन्यासकारों ने अवश्य इससे बहुत कम लाभ उठाया है। लम्बे-लम्बे आकृति-वेशभूषा-वर्णन की प्रवृत्ति तो वर्माजी के उपन्यासों में आरम्भ से ही है, पर ऐसा करते हुए उनका ध्यान पात्र के अंग-प्रत्यंग की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषता की ओर रहा है और उनके वर्णन द्वारा उन्होंने पात्रों की चारित्रिक विशिष्टता को दृष्टि में रखा है। 'गढ़कुंडार' का एक आकृति-वेशभूषा-वर्णन देखिए—

> 'एक सवार की आयु सत्रह या अठारह वर्ष से अधिक न होगी। प्रशस्त ललाट, कुछ लम्बाई लिये गोल चेहरा, आँखें कुछ बड़ी और बादाम के आकार की हल्की काली, नाक सीधी और होठ लाल, ठोड़ी आधार में एक हल्के से गढ़ेवाली और जरा-सी आगे को झुकी हुई और गर्दन सुराहीदार। केश पीछे गर्दन तक लम्बे और बिल्कुल काले और उनपर कहीं-कहीं रेत के कण। भौंहें पतली लम्बी और खिंची हुई और पलकें दीर्घ। सीना चौड़ा और कमर बहुत पतली, बाहु लम्बे और हाथ की उंगली पतली। मूंगिया रंग के कपड़े पहने हुए, छोटी-सी ढाल और तरकस पीठ पर, कमर में तलवार और कन्धे पर कमान। भाल पर लगा रोरी का तिलक किसी समय हाथ पड़ जाने से

१४. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 78.

"There is also theoretical justification for judgements based on physiognomy : growth is largely regulated by the glands of internal secretion, so too is the emotional life. Physical features therefore may logically be expected to reveal peculiarities of temperament."

१५. Ibid. p. 66.

पुछ गया था और माथे पर तिलक लकीर के आकार में बन गया था। इस आरक्त वक्र रेखा ने मुख के हल्के गेहुएँ रंग को और भी तेजोमय बना दिया था।'[१६]

इस वर्णन में उपन्यासकार का अभीष्ट पात्र को तेजोमयी आकृति प्रदान करने का है। अब उसके साथी का वर्णन देखिए, जिसमें भयंकरता का समावेश किया गया है .

'दूसरा सवार तेईस या चौबीस वर्ष का युवक था। पहले सवार की बाल्यावस्था ने अभी बिल्कुल साथ नहीं छोडा था और दूसरा युवावस्था में प्रवेश कर चुका था। रग सावला, लम्बे काले बाल चेहरे की श्यामलता को और भी गहरा बना रहे थे। मस्तक छोटा, आँखें बड़ी, नाक सीधी परन्तु छोटी, भौहे मोटी और गुच्छेदार, ठोडी चौड़ी और आगे को झुकी हुई। बायें कान में मणि-जटित बाली, सीना बहुत चौड़ा, हाथ छोटे परन्तु बहुत पुष्ट, सारी देह जैसे सांचे में ढाली गई हो। आँखें बहुत काली सजग और जल्दी-जल्दी चलने वाली, गले में पडी मोतियों की माला चेहरे के सांवलेपन को दीप्ति दे रही थी। चेहरा गोल, होंठ कुछ मोटे। इसके माथे पर भी रोरी का तिलक था, परन्तु वह पुछा नहीं था। यदि इस सवार के तिलक की लकीर लम्बी तिरछी बन गई होती, तो आकृति कुछ और भयानक हो जाती।'[१७]

ऊपर के दोनों वर्णनों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वर्माजी आकृतिविज्ञान के प्रति उदासीन नही और यह भी कि पात्रो को पाठको की कल्पना में साकार करने-भर के लिए ही वे उनके बाह्यरूप का चित्रण नही करते, अपितु उनकी आकृति के माध्यम से उनकी प्रकृति को भी व्यंजित करने की चेष्टा करते हैं।

वर्माजी के उपन्यास इस प्रकार के आकृति-चित्रणों से भरे पडे हैं, जहा उन्होंने पात्र की आकृति द्वारा उनकी प्रकृति व्यजित करने चेष्टा की है।

अन्तर्द्वन्द्व का अभाव

जैसे कि हम पहले लिख आए है, वर्माजी की चरित्र-चित्रण की पद्धति उपन्यासकार की अपेक्षा इतिहासकार की अधिक है। इतिहासकार की पहुँच पात्र के चरित्र के उस अंश तक ही हो पाती है जो व्यक्त हो। उसकी अव्यक्त चेतन, अवचेतन या अचेतन चेष्टाओं से इतिहासकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार, वर्माजी की उपन्यास-कला की भी समस्त शक्ति पात्रों के व्यक्त रूप को तथा उनके प्रकट आचार-व्यवहार को चित्रित करने में ही लगी रही है। यह नहीं कि जीवन

१६-१७. वर्मा, 'गढ़कुण्डार', ५वी आवृत्ति, १९४६, पृ० २१।

को विविध परिस्थितियो मे अपना रास्ता बनाते हुए उनके पात्रो को कभी किसी दुश्चिन्ता ने न सताया होगा अथवा उनके भीतर कभी द्वन्द्व न छिडा होगा। इसमें सन्देह नही कि युग की परिस्थितियो ने उनके पात्रो को बहिर्मुख बना दिया है, पर आखिर थे तो वे मानव ही। उनके जीवन की परिस्थितियों में ऐसे असख्य कारण निहित रहते हैं कि उनमे मानसिक संघर्ष हो। उनके पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व उठता भी है, पर उपन्यासकार ऐसे स्थलों पर रुकता नही, उनकी ओर सकेत भर करके आगे बढ लेता है, मानो वह अपने पाठकों से कह रहा हो कि 'भई अब पात्र अपने मन का ताना-बाना बुनने लगा है, हमें उसकी एकाग्रता भंग नही करनी चाहिए और फिर उसके व्यक्तिगत जीवन से हमने लेना भी क्या है।'

'झासी की रानी' को ही ले। उसके पति की मृत्यु हुई, अग्रेजो ने झांसी को हडपने के लिए कमर बाध ली, समस्त शासन-भार और प्रजापालन उसके कधो पर आ पडा। फिर झासी पर अग्रेजो का आक्रमण हुआ, एक-एक करके उसके वीर सरदार युद्ध में खेत होते गए, उसे झासी तक छोडनी पड़ी और अन्त तक वह अग्रेज़ों से लडती-भिडती रही। उसे असख्य विपत्तियों का सामना करना पडा, पर कभी उसके मन में द्वन्द्व नही उठा। 'मै झासी नही दूँगी' अपना यह निर्णय घोषित करने से पहले उसके मन में कितनी उत्तेजना रही होगी, अपने विश्वासघाती सरदारो के कुकृत्यो पर उसे कितना मानसिक क्लेश हुआ होगा, ग्वालियर के किले मे अव्यवस्था और विलासिता देख उसे कितनी निराशा हुई होगी—इत्यादि उसकी किसी भी मन:स्थिति का उपन्यासकार परिचय नहीं कराता। एक बार उसके पिता मोरोपन्त के एक स्वगत का उल्लेख कर बैठता है, पर शीघ्र ही पीछा छुड़ाकर आगे बढ़ लेता है:

> "मनू सो गई। मोरोपन्त जागते रहे। उन्होने सोचा, 'मनू की बुद्धि उसकी अवस्था के बहुत आगे निकल चुकी है। अभी तक कोई योग्य वर हाथ नही लगा। दक्षिण जाकर देखना पडेगा।' इसी विचार के लौट-फेर में मोरोपन्त का बहुत समय निकल गया। कठिनाई से अन्तिम पहर में नीद आई।"[१८]

यह मान भी लें कि झासी की रानी को तो जीवन-भर विपरीत परिस्थितियो से जूझना पड़ा, उसे सोचने, कुढ़ने तथा चिंतित होने का अवकाश कहां था। 'विराटा की पद्मिनी' की देवी कुमुद तो ऐसी सघर्षनिरत नही थी। उसके मानसिक संघर्ष के सबल कारण होते हुए भी उपन्यासकार उसके भीतर झांक, उनको पकडने की चेष्टा नही करता। कुमुद से वर मांगा जा रहा है कि उसके प्रेमी कुंजरसिंह का नाश हो। 'ये शब्द उसकी कोठरी में गूंज गए। वारिणी वेतवा की लापरवाही पर उतरा उठे। कुमुद की उस कोठरी में एक क्षण के लिए एक चमक-सी जान पड़ी और शून्य गगन आन्दोलित-सा।'

---

१८. वर्मा, 'झांसी की रानी', पृ० १७-१८।

कुमुद ने कुछ समय पश्चात् शांत स्वर में कहा, 'यह न होगा गोमती, परन्तु मन्दिर की रक्षा होगी, और अलीमर्दान का मर्दन होगा, इसमें कोई सन्देह नही।'[१९] इसी बीच उसके मन पर क्या बीती, उसके प्रति उपन्यासकार नितांत उदासीन रहा।

ऐसे स्थलों पर सबसे अधिक खटकने वाली बात तो यह है कि एक तो उपन्यासकार अपने पात्रों को इतना संवेदनशील चित्रित करता है कि वे छोटी-से-छोटी बात पर भी तुनक उठते है और दूसरी ओर उनमें मानसिक द्वन्द्वों का अभाव दिखाता है। कुछ-एक अवस्थाओं में उनमें अन्तर्द्वन्द्व दिखाता भी है तो रुकता नहीं, पाठको को धकेलकर आगे ले बढता है। इस प्रकार, पाठक पात्रों के कार्यों को ही देख पाता है, उनके भीतरी कारणों को नहीं। उनके उपन्यासो में पात्रो के चरित्र-विकास की विविध अवस्थाओं की झाँकी तो मिल जाती है पर चरित्र-विकास होता हुआ नही दीखता। यहाँ तक कि उनके उपन्यास 'झांसी की रानी' में भी नहीं, जहाँ कि नायिका का धीरे-धीरे चरित्र-विकास दिखाना ही उपन्यासकार का मुख्य ध्येय रहा है।

कथोपकथन

वर्माजी के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की शैली प्रधानतया नाटकीय है और कथोपकथन हैं उसके प्राण। उनके उपन्यासों से कथोपकथन निकाल दिए जाए तो शेष कुछ रहता नही। वर्माजी के उपन्यास कथोपकथनों से भरे हुए तो अवश्य हैं, पर उन सब का समावेश पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए हुआ हो, यह बात नही। कथानक को गति देने, देश-काल और परिस्थिति का चित्रण करने, आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं के संबंध में विविध प्रकार की जानकारी कराने आदि अनेक प्रयोजनो से उनके उपन्यासों में कथोपकथनों को स्थान मिला है। तो भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनके पात्रो का जो स्वरूप पाठको पर प्रकट होता है, उसका श्रेय उनके कथोपकथनों को ही अधिक है।

चरित्रोद्घाटन

झांसी की रानी—झांसी की रानी को ही लें। उसके चरित्र-विकास की, उसके भीतरी शौर्य के उत्तरोत्तर निखार की विविध अवस्थाओं का चित्रण वर्माजी मुख्य रूप से अन्य पात्रों से हुए उसके कथोपकथन के माध्यम से ही कराते हैं। बाल्यकाल में ही उसकी वीर-भावनाएँ उसकी वाणी में फूटी पड़ती थीं। जब नाना साहब के थोडी चोट लग जाने पर सब लोग अत्यधिक घबरा उठे थे तब उसे बड़ा आश्चर्य हो रहा था। इस सम्बन्ध मे अपने पिता मोरोपन्त से उसकी जो बातचीत हुई, उसमें उसके भावी जीवन की उज्ज्वलता की झलक मिल जाती है:

---

१९. वर्मा, 'विराटा की पद्मिनी', पृ० ११२।

"मनू ने कहा, 'इतनी जरा-सी चोट पर ऐसी घबराहट और रोना-पीटना।'

'बेटी, चोट जरा-सी नही है। कितना रक्त बह गया है।'

'आप लोग जो हमको पुराना इतिहास सुनाते है, उसमे युद्ध क्या रेशम की डोरी और कपास की पौनियो से हुआ करते थे ?

'नही मनू। पर यह तो बालक है।'

'बालक है। मुझसे बडा है। मलखब और कुश्ती करता है। बाला गुरु उसको शाबाशी देते है। अभिमन्यु क्या इससे बडा था ?'

'मनू, अब वह समय नही रहा।'

'क्यों नही रहा काका ? वही आकाश है, वही पृथ्वी। वही सूर्य-चन्द्रमा और नक्षत्र। सब वही है।"[२०]

विवाह के पश्चात् रानी बनकर झांसी चली जाने पर स्वराज्य के लिए उस की ललक कितनी बढ़ चुकी थी और कितने संयम से वह उसे अपने भीतर दबाकर उचित समय की प्रतीक्षा कर रही थी, उसकी जानकारी हमे तात्या से हुए उसके कथोपकथन से प्राप्त होती है :

"रानी ने कहा, 'टोपे अभी समय नही आया है। घडा अपूर्ण है—अभी भरा नही है। हम लोगों के आपसी उपद्रवो ने जनता को त्रस्त कर दिया है। उसको थोड़ा सास लेने योग्य बन जाने दो। समर्थ रामदास का दिया हुआ स्वराज्य सदेश, छत्रपति शिवाजी का पाला हुआ वह आदर्श, छत्रसाल का वह अनुशीलन अमर और अक्षय है।'

तात्या जरा अधीर होकर बोला, 'महारानी साहबा, ये बाते कान और हृदय को अच्छी मालूम होती है, पर हिन्दू और मुसलमान जनता तो अचेत-सी जान पड़ती है.........'

रानी ने टोककर दृढ स्वर में कहा, 'तात्या भाई, जनता कभी अचेत नहीं होती, उसके नायक अचेत या भ्रममय हो जाते है।'

तात्या—'तब नाना साहब से क्या जाकर कहूं ?'

रानी—'यही कि कान और आख खोलकर समय की प्रतीक्षा करें। मुझे अभी तो पूर्ण स्वस्थ होने में ही कुछ समय लगेगा, स्वस्थ होते ही अपने आदर्श के पालन में सचेष्ट होऊगी। अपने आदर्श को कभी न भूलना—प्रयत्न की पहली और पक्की सीढी है।'[२१]

स्वातन्त्र्य-संग्राम में झांसी छूट जाने और बनों-जगलों की खाक छानने पर भी रानी में आजादी की उमंग कम न हुई थी, प्रत्युत् उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई थी।

---

२०. वर्माजी, 'झांसी की रानी', पृ० २६।
२१. वही, पृ० १२६-१२७।

देश को अंग्रेजों के पंजे से मुक्त कराके स्वराज्य-स्थापना के लिए वह कितनी बेताब थी, उसका परिचय हमें बाबा गंगादास से हुए उसके कथोपकथन से मिलता है :

रानी—'इस देश को स्वराज्य कैसे प्राप्त होगा ?'

बाबा—'इस प्रश्न का उत्तर तो राजा लोग दे सकते हैं।'

रानी—'नही दे सकते, तभी आपसे पूछने आई हूँ।'

बाबा—'जैसे प्राप्त होता आया है, वैसे ही होगा।'

रानी—'कैसे बाबाजी ?'

बाबा—'सेवा, तपस्या, बलिदान से।'

रानी—'हम लोग कैसे स्वराज्य स्थापित कर पावेंगे ?'

बाबा—'गड्ढे कैसे भर जाते है ? नींव कैसे पूरी जाती है ? एक पत्थर गिरता है, फिर दूसरा, फिर तीसरा और चौथा, इसी प्रकार। और तब उसके ऊपर भवन खडा होता है। नीव के पत्थर भवन को नहीं देख पाते। परन्तु भवन खडा होता है, उन्हींके भरोसे—जो नींव में गड़े हुए है। गड्ढा या नीव एक पत्थर से नही भरी जाती। और, न एक दिन में—अनवरत प्रयत्न, निरन्तर बलिदान आवश्यक है।'

रानी—'हम लोगों के जीवनकाल में स्वराज्य स्थापित हो जायगा ?'

बाबा—'यह मोह क्यों ? तुमने आरम्भ किए हुए कार्य को आगे बढा दिया है। अन्य लोग आयेंगे। वे उसको बढ़ाते जायंगे। अभी कसर है।"[२२]

रानी के राज्य में हिन्दू और मुसलमान दोनो ही प्रसन्न थे और दोनों ही उसपर प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। पीरअली से हुए कुछ पठानो के इस वार्तालाप से इस तथ्य पर बड़ा अच्छा प्रकाश पडता है :

"पीरअली को कुछ पठान मिले। उसने पूछा,

'तुम्हारा कौन मुल्क है खान ?'

'झासा हमारा मुलक है बाबा, तुम्हारा मुलक ?'

'मैं झांसी का ही रहने वाला हूँ।'

'तब हम तुम भाई भाई हैं बाबा।'

'बाई साहब का राज्य है खान'

'बेशक है। और अमारा तुम्हारा।'[२३]

गढ़कुण्डार

'झांसी की रानी' ही नहीं वर्माजी के अन्य उपन्यासो में भी प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताएं उनके संवादों में ही मुख्य रूप से मुखरित होती हैं। 'गढ़-

२२. वर्मा, 'झाँसी की रानी', पृ० ४८३।
२३. वही, पृ० ३५४।

कुण्डार' की हेमवती के नाग से हुए इस कथोपकथन में वीर राजपूत बाला का चरित्र चमक उठा है .

"हेमवती—'इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें पराक्रम दिखलाइए। यहा अकेली स्त्री के पास किसी बल-विक्रम के दिखलाने का अवसर नही है।'

नाग—'एक बार सतोपजनक उत्तर मुझको दे दिया जाए, मै तुरन्त अपने को आहुति करने के लिए उद्यत हूं।'

हेमवती—'आप राजकुमार है, परन्तु यह लक्षण क्षत्रियो का नही है। जाइये।'

नाग—'जाता हूँ, परन्तु आपकी एक हा पर मेरा सपूर्ण भविष्य निर्भर है।'

हेमवती ने नागिन की तरह फुफकारकर कहा—'यदि आप यहाँ से नही जाते हैं, तो मैं यहा से जाती हू। बुन्देला-कन्या न ऐसी भाषा सुन सकती हे और न सह सकती है। और खगार राजा होने पर भी बुन्देला-कन्या का अपमान करने की शक्ति नही रखता।" और वह वहा से दूसरी ओर चल दी।"[२४]

कचनार

उपर्युक्त उद्धरण में 'हेमवती' के चरित्र की जो झाकी मिलती है, उसकी तुलना 'कचनार' के दलीपसिह से हुए कचनार के संवाद से कीजिये :

"कचनार के नेत्रों में तेज बढ़ा।

उसने कहा, 'मेरे साथ भाँवर डालिये। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिये। अपनी जीवन-सहचरी बनाइये। वचन दीजिये। मै आपके चरणों में अपना मस्तक रख दूंगी।',

'तुमने थोडी देर पहले अभी-अभी कहा था कि दासी हूँ।'

'दासी तो हू ही। आपकी और दीदी की, अन्य सबकी सेवा करूंगी, परन्तु मैं ऐसा अगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा उतार कर फेंक दिया।'

'यदि मैं जबरदस्ती करू'।'

'असम्भव है। आप मुझको तुरन्त मरा हुआ पायेगे।"[२५]

मृगनयनी

मृगनयनी और राजा मानसिह के इस कथोपकथन में मृगनयनी के चरित्र की सात्विकता व्यक्त हो जाती है :

२४. वर्माजी, 'गढ़-कुण्डार', पृ० ३४०।
२५. वर्माजी, 'कचनार', पृ० २६।

"मानसिंह उसके निकट आने को हुआ। मृगनयनी और अधिक मुस्कराई।

'और निकट आये तो मैं बहुत छोटी रह जाऊँगी।'

मानसिंह स्थिर हो गया।

'तुम संयम से प्रेम को अचल बनाती हो और मैं अपने विकार से उसको चंचल कर देता हूँ। संयम के आधार वाला प्रेम ही आगे भी टिके रहने की समर्थता रखता है।'

मृगनयनी ने गर्दन टेढ़ी की, उँगली ठोडी पर फेरी और मुस्कान को बखेरा।"[७६]

इस प्रकार, देखते है कि वर्माजी के पात्रो के चरित्रोद्‌घाटन में उनके कथोपकथनों का मुख्य योग रहा है। उनके उपन्यासो के कथोपकथन का उपन्यास के अन्य तत्त्वो से अनुपात देखा जाए तो पता चलेगा कि अपने औपन्यासिक जीवन में उनके पात्र बोलते अधिक है और करते-धरते कम हैं। वे इतिहास-प्रसिद्ध पात्र भी जो जीवन-भर कर्मरत रहे, अपने औपन्यासिक जीवन में बातूनी हो गए दीखते हैं। 'झाँसी की रानी' को ही ले। वैसे तो उसका नाम ही पाठको की नस-नस में वीरता का संचार करने के लिए पर्याप्त है, पर वर्माजी के उपन्यास में उसका शौर्य कथोपकथनों के माध्यम से ही अधिक व्यक्त हुआ है।

अनुभाव-चित्रण

पात्रो के कथोपकथन के बीच व्यक्त होने वाले उनके हाव-भावो का चित्रण तो वर्माजी करते ही रहते है, पर उनके उपन्यासों में पात्रों के अनुभाव-चित्रण का वास्तविक महत्त्व पात्रों की रूमानी भावनाओं और उन पर आधारित पात्रो के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या में है। अपने उपन्यासो में वर्माजी ने जिस युग और वर्ग के लोगों का चित्रण किया है, उसमें एक-दूसरे के प्रति प्रेम-ज्ञापन करने का अर्थ विपत्ति मोल लेना होता था। इसलिए, प्रेमी-प्रेमिकाएँ एक-दूसरे की ओर आकृष्ट होने पर भी अपने व्यवहार को इतना संयत रखते थे कि कोई अन्य व्यक्ति उनकी चेष्टाओं से यह न समझ सके कि वे एक-दूसरे में आसक्त है। पहली दो-चार भेंटों में जब तक कि उन्हे विश्वास न हो जाए कि उनका प्रेमपात्र भी उन्हे चाहता है, उनका व्यवहार इतना संयत होता था कि दूसरे को भी उनकी हृदय-स्थित कोमल भावनाओं का पता न चल सके। पर हृदय की कोमल भावनाएँ प्रकट होने से भला रह सकती हैं, व्यक्त चेष्टाओं के रूप में वे चाहे प्रस्फुटित न हों, उनके अनुभावो के रूप में आँखो में, चेहरे पर झलक मार जाती है। 'गढ़-कुंडार' में हेमवती और नाग की एक भेंट का

७६. 'मृगनयनी', पृ० ३८७।

चित्रण देखिए। एक-दूसरे के प्रति उनके आकर्षण का संकेत अनुभावो से ही मिल पाता है, अपने मुंह से तो वे एक शब्द भी नही निकालते :

"आँगन में पहुँचने पर नाग धरती पर ही लेट गया और तलवार की मूठ का सिराना बना लिया। हेमवती एक कटोरा पानी लाई और उसने कटोरा उसकी ओर बढाया। नाग ने कटोरा लेने के लिए एक हाथ जमीन पर टेककर दूसरा हेमवती की ओर बढ़ाया। चद्रमा उसके सिर के पीछे था, इसलिए उसका प्रकाश बगल मे खड़े सहेचंद और सामने खडी हेमवती पर स्पष्ट पड़ रहा था। उसने एक क्षण अच्छी तरह हेमवती को देखने की इच्छा से आँखे उसकी ओर की, परन्तु मानो परवश दृष्टि दूसरी ओर हो गई। दूसरी बार उसने यह चेष्टा पानी पीते में की। अब की बार वह अपने प्रयत्न में सफल हुआ। धीरे-धीरे देर तक पानी पिया और देर तक दृढ़ता-पूर्वक उसका अवलोकन करता रहा। बडी-बडी आँखें, लबे-लबे पलक, मृदुल तिरछी चितवन उसकी आँखो मे समा गई। हेमवती ने भी उसे अच्छी तरह देख लिया, और शर्म से आँख नीची कर लीं। उसने कटोरा लेने के लिए जरा व्यग्रता के साथ हाथ बढाया। नाग की कलाई से हेमवती की कोमल उंग-लियाँ छू गई।"[२७]

इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' में कुंजरसिंह और कुमुद की एक भेंट उल्लेखनीय है। सयम का बाँध तोड क्षण-भर के लिए कुमुद के होठों पर जो मुस्कान खेल जाती है, उसीमें कुंजरसिंह के प्रति उसका झुकाव प्रतिबिम्बित हो जाता है :

"कुंजरसिंह मन मसोसकर पीछे रह गया था। नरपति के दरवाजे के सामने से निकला। उधर दृष्टि गई। कुमुद को देखा। सचमुच अवतार। कुंजर नेनमस्कार किया। कुमुद जरा-सी—बहुत जरा-सी मुस्कराई, शायद उसे मालूम भी न हुआ हो कि मुस्करा रही हूँ।"[२८]

पात्र की मन.स्थिति तो पात्र के उन हाव-भावों में ही प्रकट हो सकती है जो सहज-स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुए हो। आरोपित अनुभावो में भला उनकी छाया कहाँ मिलेगी। वर्माजी के उपन्यासो में पात्रो के ऐसे अनुभावों के चित्रण की भी कमी नही जो कृत्रिम हों और जिनका आरोप पात्रो ने अपनी असली मनोभावना को छिपाकर दूसरों को धोखा देने के लिए किया हो। राजा मानसिंह के चंगुल से बचने के लिए 'कचनार' की नायिका को अनेक बार ऐसे अनुभावों का आरोप करना पडता है :

"कचनार ने अपना स्त्री-सुलभ हथियार संभाला। घूंघट उघाडा। नेत्रो की बरौनियाँ ऊपर उठाकर तुरन्त जरा झुकाईं। दृष्टि को अधमुंदी

२७. वर्माजी, 'गढ़-कुण्डार', पृ० ६२।
२८. वर्माजी, 'विराटा की पद्मिनी', पृ० ४५।

आँखों के एक कोने में ले गई। सुन्दर होंठों पर उसने सूक्ष्म मुस्कान का लावण्य चढ़ाया और गर्दन मोडकर मधुर स्वर में कहा, 'परसों संध्या समय।'

मानसिंह उछल पड़ा। उसने कचनार की ओर बढ़ना चाहा। कचनार निवारण करती हुई बोली, 'भावर के पहले वर कन्या को स्पर्श नही कर सकता।'

मानसिह झिझक गया।"[२९]

वह स्वयं कहती भी है कि 'स्त्री की बात उसकी ढाल-तलवार है, यह मै अपने लिए अवश्य कह सकती हूँ।'[३०]

यशपाल

परिचयात्मक विवेचन

यशपाल कला को कला के लिए नहीं मानते, उनकी दृष्टि में कला का उद्देश्य जीवन की पूर्णता का यत्न है।[1] साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में उनकी गहरी आस्था है। अपने उपन्यास 'देशद्रोही' की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि 'लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे आदमियों की भाँति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने मे ही है। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही श्रमी की सामाजिक उपयोगिता है।'[2] समाज से स्वतन्त्र लेखक के अस्तित्व को मानने को वह तैयार नहीं। समाज की अनुभूतियों और आदर्शों के चित्रण में ही वह साहित्य की सार्थकता समझते हैं। साहित्य मे सामाजिक आदर्शों के चित्रण में उन्हे आपत्ति तो नही, पर समाज के सदस्यों की अनुभूतियों को वह विशेप महत्त्व देते हैं; क्योंकि उनका विश्वास है कि वे अनुभूतिया असन्तोष और उत्साह उत्पन्न करके आदर्श की सृष्टि करती है। उनकी धारणा है कि 'हमारे यथार्थ का नग्न रूप केवल 'शिश्नोदर' का चीत्कार है। वह श्रेणी-संघर्ष और राष्ट्रों के सघर्ष के रूप में प्रकट होता है। वह जघन्य है, परन्तु वह हमारी सामाजिक स्थिति की वास्तविकता है।'[3] उपन्यासकार का कर्तव्य इस चीत्कार को मिथ्या विश्वास और प्रवंचना की कला के आवरण में छिपा लेना नही, अपितु विवेक और विश्लेपण की प्रवृत्ति द्वारा जनता को उसके प्रति सजग और सचेत रखते हुए समाज की वह अवस्था प्राप्त करना है, जिसमें शिश्नोदर की अतृप्ति और तृष्णा से मनुष्य पशु न बना रहे।

१. यशपाल, 'दादा कामरेड', भूमिका।

२. यशपाल, 'देशद्रोही', भूमिका, तीसरा सस्करण, १९४६, पृ० ४।

३. यशपाल, 'देशद्रोही', भूमिका, पृ० ५।

प्रेमचन्द और यशपाल

यशपाल को प्रेमचन्द-परम्परा का उपन्यासकार कहा जाता है,[४] पर वह यदि प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकार है तो वहीं तक जहाँ तक उनके उपन्यासो के विषय और उद्देश्य का सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नही कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह उनके उपन्यास भी वर्ग-संघर्ष के उपन्यास हैं। उन्होने भी अपने उपन्यासों में धार्मिक विकृतियों और अंध-परम्पराओं पर, रूढिग्रस्त समाज-व्यवस्था और उसके थोथे विधि-निषेधों पर तीखे व्यंग्य कसते हुए पाठकों की सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। प्रेमचन्द की तरह उनके औपन्यासिक पात्र भी शोषक और शोषित दोनों प्रकार के ही हैं और वे क्रमश: मध्य और निम्न-वर्ग में से लिये गये हे तथा उनके वर्ग-वैषम्य और जीवन-व्यापी समस्याओं का मूलाधार अर्थ है और उनकी अन्य सभी समस्याएं आर्थिक अव्यवस्था के ही विविध रूप हैं। प्रतिपाद्य दोनो का नि:सदेह एक ही है; पर जैसा कि हम आगे देखेंगे प्रतिपादन-पद्धति दोनो की अलग-अलग रही है। अपने जीवन के अन्तिम चरण में मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट होने पर भी व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण पूर्णत: साम्यवादी नही बन पाया था जब कि यशपाल अपने उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्धों और उनकी गति का विश्लेषण और प्रतिपादन शुद्ध मार्क्सवादी दृष्टिकोण से करते है। इसीलिए, दोनों के उपन्यासो की पृष्ठभूमि और पात्रों में साम्य होते हुए भी उनके चरित्र-चित्रण में अन्तर पड़ जाता है।

पात्र—वर्ग-प्रतिनिधि और व्यक्ति-चरित्र

प्रेमचन्द के उपन्यास समाज की तथा समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के सघर्ष की कहानी हैं, न कि उसके भीतर व्यक्ति और वर्ग तथा व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष की कहानी। व्यक्ति के लिए प्रेमचन्द के उपन्यासों में कोई स्थान नही। उनके प्रमुख पात्र किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि (टाईप) के रूप में ही चित्रित हुए हैं। यशपाल के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की विशेषता यह है कि उनके पात्र वर्ग-प्रतिनिधि ही नही, व्यक्ति-चरित्र भी हैं। एक ही पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करता है और साथ ही व्यक्ति-चरित्र के रूप में भी विकसित होता रहता है। अपने समाज और वर्ग के गुणावगुणो का तो उसमें समाहार होता ही है, उसके अतिरिक्त उसमें ऐसी विशिष्टताएँ भी रहती है जो उसे उस वर्ग के शेष सभी सदस्यों से अलग व्यक्ति बना देती हैं। 'दिव्या' की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि 'यह (दिव्या) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति और समाज की गति का चित्र है।'[५] यह बात 'दिव्या' ही नही, उनके अन्य उपन्यासों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। वे ऐतिहासिक पृष्ठ-

४. डा० इन्द्रनाथ मदान, 'श्री यशपाल अभिनन्दन-ग्रन्थ', पंजाबी विभाग, पटियाला, पृ० २१।

५. यशपाल, 'दिव्या', द्वितीय सस्करण, १९४७, पृ० ५।

भूमि पर चाहे आधारित न हो, व्यक्ति और समाज की प्रवृत्ति और गति का चित्रण उन सब में मिलता है। प्रत्येक मनुष्य के दो रूप होते है—एक सामाजिक और दूसरा व्यक्तिगत। यशपाल के उपन्यासों में इन दोनों रूपों का चित्रण और उसके विकास का इतिहास मिलता है, इसके लिए उन्हे पात्रो का वहिरग (ऑब्जेक्टिव) ही नही, अतरग (सब्जेक्टिव) चित्रण भी करना पड़ा है।)

यहाँ हम यशपाल के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण की उन्ही प्रवृत्तियों की विवेचना करेंगे, जो उन्हे प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकारो से कुछ अलग कर देती है।

स्थित्यंकन

व्यक्ति और परिस्थिति

मार्क्स का कहना है कि मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व को स्थिर नही करती, प्रत्युत् इसके विपरीत उसकी सामाजिक स्थिति ही उसकी चेतना को प्रेरित करती है।[६] उसका दृढ विश्वास है कि अन्ततः मनुष्य के जीवन की भौतिक परिस्थिति ही उसकी बौद्धिक चेतना का निर्माण और विकास करती है।[७] यशपाल के कई पात्रो का चरित्र मार्क्स के इस सिद्धान्त के आधार पर विकसित हुआ है। यह दिखाने के लिए कि पात्रों के जीवन के विविध मोड उनकी परिस्थितियो के जोर से आए, यशपाल को उनकी स्थिति के चित्रण मे विशेष आयास करना पडा है। अपने पात्रो को वह कदम-कदम पर ऐसी परिस्थिति मे डालते जाते है, जहाँ समाज के आदर्शों की बलि देकर ही वे अपना अस्तित्व बचा पाते हैं। 'मनुष्य के रूप' की सोमा को ही ले। धनसिंह के भाग चलने के निमन्त्रण को जिस सोमा ने पहले यह कहकर ठुकरा दिया था—'ऐसा नही कहते जी। तुम बडे भले आदमी हो' वही सोमा यह खबर पाकर कि उसके सास-ससुर उसे किसी बुड्ढे के हाथ बेचने वाले है, उसके साथ भागने के लिए बेचैन हो उठती है और दूसरे ड्राइवरो के पास धनसिंह को सन्देश भेजती है। भागने के प्रयत्न में जब दोनों रात को पकड़ लिये जाते है और सिपाही उसे धनसिंह से अलग दूसरी कोठरी में ले जाकर धमकी देते है कि यदि वह दारोगा को नाराज करेगी तो चिमटे गरम करके धनसिंह के शरीर से बोटियाँ नोच ली जाएंगी, तब वह अपने सतीत्व की बलि देने के लिए विवश हो जाती है। इस उपन्यास में सोमा का प्रवेश दु:खी विधवा के रूप में होता है और वह जीवन की

---

६. Karl Marx, 'Critique of Political Economy'—Preface.
"It is not the consciousness of men that determines their existence, but, on the contrary, their social existence that determines their consciousness."

७. Ralph Fox, 'The Novel and the People' Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1954, p. 70.

प्रतारणापूर्ण परिस्थितियों में धनसिंह के प्रेम का आंचल पकड़कर आगे बढ़ती है। पर अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उसे पग-पग पर अपने सतीत्व की बाजी लगानी पड़ती है और वह कुछ से कुछ हो जाती है—दुनिया को अपना अंगूठा[८] दिखा सकती है, अपना बदला ले सकती है।[९] इस प्रकार, दिव्या को तथा 'देशद्रोही' के डा० खन्ना को उनकी परिस्थितियां नाना नाच नचाती है। यशपाल की कला की विशिष्टता इसमें है कि वह स्थिति की गम्भीरता और मार्मिकता का इतना प्रभावोत्पादक चित्रण करते हैं कि पाठक को पात्र की विवशता पर विश्वास हो जाता है।

आर्थिक परिस्थितियों का महत्व

अपने पात्रों के परिवेश का चित्रण करते हुए यशपाल उन परिस्थितियों का बड़ा आयासपूर्वक विश्लेषण करते हैं जिन्होंने पात्रों को उस अवस्था तक पहुँचाया होता है। ऐसा करते हुए वह आर्थिक स्थितियो पर विशेष बल देते है। मार्क्सवाद भी व्यक्ति की आर्थिक परिस्थिति पर अधिक बल देता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति को बनाने और बिगाड़ने में उसकी आर्थिक दशा का मुख्य हाथ रहता है। फ्रेडरिक एंगेल्स तो यहा तक मानता है कि "सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रान्तियो के कारण किसी युग के दार्शनिक विचारों में नहीं, बल्कि उस युग की आर्थिक परिस्थितियों में पाये जाते हैं।"[१०] यशपाल ने स्वयं भी लिखा है कि "हमारे यथार्थ का नग्नरूप केवल शिश्नोदर का चीत्कार है।"[११] रुपये के लालच में ही 'मनुष्य के रूप' की सोमा को उसके सास-ससुर बेचने को तैयार हुए थे और उस मुसीबत से बचने के लिए वह भाग निकली थी, जिससे उसकी जीवन-दिशा ही बदल गई। रुपये के लालच से ही 'देशद्रोही' के डा० खन्ना को पठान अगवा करके ले गये थे। यदि उन्हें समय पर रुपया मिल जाता तो खन्ना के जीवन में इतना उलट-फेर न आया होता। 'दिव्या' को भी दास विक्रेताओं ने धन के लोभ में ही हथियाया था। अपनी पार्टी के लिए धन इकट्ठा करने के प्रयत्न में ही 'पार्टी कामरेड' की गीता पत्र बेचा करती थी और इसी कार्य के दौरान में उसका सेठ भावरिया से परिचय हुआ था, जिससे उन दोनो के जीवन में परिवर्तन आ गया था। इस प्रकार, यशपाल के प्रमुख औपन्यासिक पात्रो के चरित्र-विकास में आर्थिक स्थितियो का विशेष हाथ रहा है।

---

८. यशपाल, 'मनुष्य के रूप', पृ० २९८।

९. Zola, Nana, Pocket Books, New York, 1951, p. 395 :

"Her (Nana's) work of ruin and death was accomplished, the fly had taken its flight from the filth of the slums, carrying with it the ferment of social decay, had poisoned those men merely by touching them. It was good, it was just; she had avenged her people, the rogues and the vagabonds, from whom she sprang."

१०. फ्रेडरिक एंगेल्स, 'समाजवाद—काल्पनिक और वैज्ञानिक', हिन्दी संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९४९, पृ० ३७।

११. यशपाल, 'देशद्रोही', भूमिका, पृ० ५।

आकृति-वेशभूषा-वर्णन

यशपाल अद्भुत शब्द-शिल्पी है। पात्रों की आकृति-वेशभूषा के वह ऐसे सजीव शब्द-चित्र खीचते है कि पात्र पाठको की कल्पना में साकार हो जाता है। उनकी प्रवृत्ति पात्रो के ब्योरेवार नख-शिख-वर्णन की नही। उनके वर्णन पात्र के उसी अग से आरम्भ होते हैं, जिस पर सम्बन्धित पात्र या पात्रों की दृष्टि सबसे पहले पड़ी हो और फिर ज्यो-ज्यो अन्य अगो की तरफ ध्यान खिचता गया हो, उनका चित्रण भी होता जाता है। 'पार्टी कामरेड' की गीता से भावरिया और उसके साथियो की जब पहले-पहले रेस्तोरा में भेंट हुई तो पहले उनके कान में उसकी बातचीत के शब्द पडे। उनका ध्यान उसके मुख की ओर गया और अपने साथी से बातचीत के समय व्यक्त होने वाले उसके चपल हाव-भावो को मन्त्रमुग्ध होकर देखने लगे। उसके अन्य अगो की ओर उनका ध्यान बाद में गया। इसलिए, पहले गीता के मुख का वर्णन होता है : "वह हसती तो पतले होठों में श्वेत दात ऐसे जान पडते कि गुलाबी मखमली मटर की फली फटकर मोती झलक आए हो। आँखे भी छुरे के फले जैसी लम्बी-लम्बी, नोकदार, खूब उजली। माथे पर त्योरी चढी दिखती तो ऐसा लगता, नजर सीने में गड़ी। एक अजीब सा चुलबुलापन। लाल गेहुँआ रंग, पतला-पतला, प्यारा लचीला-सा बदन।"[१२]

सोद्देश्य रूप-चित्रण

यह नही कि यशपाल के उपन्यासों में पात्रों के लम्बे-लम्बे नख-शिख-वर्णन हुए ही न हों। उनके स्त्री-पात्रों के रूप-वर्णन तो कई बार इतने लम्बे और चित्ताकर्षक होते है कि ऐसा लगता है मानो उपन्यासकार पात्र के अग-अंग पर रुककर, उसकी छवि निहारता हुआ रस ले-लेकर चित्रण कर रहा हो। सरसरी नजर से पढ़ने पर यदि ऐसा भी प्रतीत होने लगे कि वे स्थल पाठको की वासना को उभारने वाले हैं, तो आश्चर्य नहीं। पर ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि जहाँ यशपाल ने नारी पात्रों के रूप-चित्रण में विशेष आयास किया है, वहाँ वह चित्रण साध्य बनकर नही, किसी-न-किसी सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन के रूप में हुआ है। ऐसे चित्रणों में उसका जो भाव छिपा रहता है, उसकी ओर वर्णन के बाद सकेत करके वह पात्र के प्रति पाठको के दृष्टिकोण को एकदम बदल देता है। 'दिव्या' में पृथुसेन के निद्रोपचार के लिए सजकर आई दासी का रूप-वर्णन देखिए .

> "छिले हुए कदली के समान स्निग्धवर्णा दासी ने निःशब्द पदों से कक्ष में प्रवेश किया। उसका वेश और रूप रुचिर था। ग्रीवा से एक मुक्तावली और नये स्फुटित मालती-कुसुमों की मालायें, गुलाबी कौशेय पट से पीठ

१२. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', दूसरा संस्करण, १९४७, पृ० १०।

पीछे बंधे सुगोल उरोजों पर, झूल रही थी। निरावरण क्षीणोदर का त्रिवली से कटि की ओर उठता हुआ वर्तुल उभार। कटि पर पीत कौशेय शाटक मुक्तावली की मेखला से सम्भलता हुआ। उसके कोमल बाहुओं पर मुक्तावली के अंगद और वलय थे। उन्मुक्त सुगन्धित केश मुक्तावलियों से गुंथे हुए थे। शरीर पर कठोर स्पर्श स्वर्ण आदि धातु नहीं, केवल शीतल, सुखद-स्पर्श मुक्ता थे।"[१३]

उपर्युक्त चित्रण को पढने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उपन्यासकार पाठकों की वासना को उभार कर उन्हें उपन्यास के प्रति आकृष्ट करने का निम्नतम साधन अपना रहा हो। पर इस वर्णन के शीघ्र ही बाद पाठक जब उपन्यासकार के ये शब्द पढ़ता है कि "द्वार से फर-फर कर भीतर आती शीतल वायु में उसके निरावरण शरीर के रोम खड़े थे। स्वामी के विनोद के लिए उसका शरीर निरावण था"[१४] तो इस निरीह, असहाय दासी के प्रति उसकी भावना बदल जाती है। इस नारी के प्रति उसकी करुणा उमड़ आती है। उपन्यासकार का उद्देश्य भी यही है—चिर शोषित नारी के प्रति पाठकों की करुणा उभार कर यह आग्रह करना कि पुरुष नारी के प्रति अपने परम्परागत स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण को बदले। अपने उपन्यासों में यशपाल बार-बार पाठकों के सामने यह प्रश्न ले आते हैं कि क्या नारी केवल भोग की वस्तु है।[१५]

इसी प्रकार, 'देशद्रोही' की नर्गिस के रूप-वर्णन को लें। वहाँ भी उपन्यासकार का उद्देश्य डा० खन्ना में हो रहे मनोवैज्ञानिक परिवर्तन को दिखाना ही है, यह बात इस वर्णन के अन्तिम वाक्य से स्पष्ट हो जाती है :

"अब्दुल्ला के घर की वह कविता की भान्ति सूक्ष्म, सुन्दरी युवती रंगीन रेशमी रूमाल में लिपटे सिर से काली नागिन सी गुंथी, दो वेणियाँ कमर से नीचे लटकाये, चौड़ी आस्तीन का घुटनों तक रेशमी कुरता और सलवार की तंग मोहरी से छुई जाती गुलाबी एड़ियाँ, जरीदार सलीपरों पर रख, काली मखमल की सदरी में अपने प्रतीक्षा-सुपुप्त उरोज दबाए, यौवन से श्रान्त शरीर के लिए उसके कन्धे का सहारा लेती हुई, यात्रा में थक अपनी भारी पलकों को धीरे से खोल, फैली हुई नीली आँखों से उसकी आँखों में देख किसी दिन यदि कहे, 'क्या मुझे छोड़ जाओगे ?'······तो भी क्या डाक्टर अपने जीवन का उद्देश्य देहली जाना ही समझेगा ?"[१६]······

---

१३. यशपाल, 'दिव्या', पृ० ८१।
१४. यशपाल, 'दिव्या' पृ० ८१।
१५. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ३२।
१६. यशपाल, 'देशद्रोही', पृ० ६७।

पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व

यशपाल अपने पात्र के बाहर की परिस्थितियों का चित्रण तो करते ही हैं, पर उन परिस्थितियों की, उसके मन पर जो छाप पड़ता है और उसके फलस्वरूप उसमें जो द्वन्द्व छिड़ता है, उसकी भी वह उपेक्षा नहीं करते। पात्रों के बाहर की परिस्थिति और उनकी वृत्तियों में मचे द्वन्द्व का चित्रण यशपाल अधिकांशत अपने शब्दों में ही करते हैं—स्वयं पात्रों के मन में बैठकर उसमे हो रही उथल-पुथल की विस्तृत रिपोर्ट के रूप में। 'पार्टी कामरेड' के भावरिया ने एक दिन बातचीत के दौरान में गीता से सिनेमा चलने को कहा। गीता ने उसके इस निमन्त्रण को यह कहकर ठुकरा दिया : "यह आपको शोभा देता है ? मै आपको ऐसा नही समझती थी।" इस एक वाक्य की भावरिया के मन में क्या प्रतिक्रिया हुई और इसने उसके चरित्र-विकास को नई दिशा प्रदान करने में कहाँ तक योग दिया, वह उल्लेखनीय है :—

> "सोच वह यही रहा था कि उसका कितना अपमान हुआ। अपमान के प्रतिकार मे वह जान की बाजी लगाए बिना न रहता। परन्तु गीता ने अपमान किया, इस ढग से कि वह विवश था—'यह आपको शोभा देता है ?······मै आपको ऐसा नही समझती थी'—बार-बार ये शब्द उसकी स्मृति में घूम जाते थे।
>
> इस प्रकार कभी किसी ने उसे सम्बोधन नहीं किया था। गीता ने उसे इज्जतदार भला आदमी समझा था, इसलिए विश्वास कर जहाँ कहीं जाने के लिए तैयार थी······गीता का यह विश्वास बना रहता तो अच्छा था······ उसने गीता की नजरो में आदर और विश्वास खो दिया······एक वेदना सी अनुभव हुई।"[१७]

इसी प्रकार, 'दादा कामरेड' में यशोदा के पति अमरनाथ की मानसिक उथल-पुथल की रिपोर्ट भी पाठक को उपन्यासकार से ही मिलती है :—

> "उन्होने सोचा, क्यो न एक दिन वह यशोदा से इस विषय में बात करें ? परन्तु इसके साथ ही खयाल आता, क्या वह मुझे सच्ची बात बतायेगी ? यदि मेरे प्रति उसका वह विश्वास होता तो दूसरे पुरुष के प्रति उसका आकर्षण ही क्यों होता ?
>
> "अन्धेरे में वह दोनो अपने-अपने पलग पर पडे छत की ओर आँखे लगाये रहते। नीद दोनो को ही बहुत देर से आती, परन्तु वह बात न कर सकते। अनेक बार अमरनाथ के होठो तक बात आकर रुक जाती। एक-दो बेर कह डालने के लिए उन्होने पुकार भी लिया—'देखो··· ···' यशोदा ने उत्तर दिया—'जी।' परन्तु फिर अमरनाथ को साहस न हुआ। सोचा क्या

---

१७. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ७३-७४।

लाभ ? कह दिया, 'उदय को अब स्कूल में भरती करा देना ठीक होगा।' यशोदा ने उत्तर दिया—'जैसा ठीक समझे।'"[१८]

अंतर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

यशपाल के उपन्यासो मे ऐसे स्थल भी काफी संख्या में मिल जाते हैं जहाँ वे पात्र और पाठक के बीच में अडे नही रहते, अपितु पात्र के मन की खिड़की खोल, उसके आगे पाठक को खडा करके स्वय अलग हो जाते हैं। इस प्रकार, पाठक पात्रो के मन में हो रहे संघर्ष को अपनी आँखों देख पाता है, उनके अतर्विवादों को अपने कानों सुन पाता है। ऐसे स्थल उन स्थलों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक बन पाए हैं, जिनमें उपन्यासकार पात्रों के मानसिक संघर्ष की रिपोर्ट स्वयं देने लग जाता है और पाठक पात्रों की मनःस्थिति को सुनने की अपेक्षा प्रत्यक्ष देखने के लिए तरस जाता है। पात्रों के मन से पाठकों का सीधा सम्पर्क हो जाने से उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि पात्रों की अधिक गहरी अनुभूतियाँ उन तक पहुँचाई जा रही हैं।

उदाहरणार्थ 'पार्टी कामरेड' की गीता का वह अंतर्विवाद लें, जिसमें वह पार्टी के दफ्तर से लौटकर वहाँ मजहर और रंगा में हुए तर्क की सजीव कल्पनाएँ करने लगती है और समाचार-पत्र में पढी एक बात उसे याद आ जाती है :

"जर्मनी में लडकियो और स्त्रियों ने अपने चुम्बन बेच-बेच कर युद्ध के समय देश की सहायता के लिए रुपया इकट्ठा किया था और जापान मे वेश्यावृत्ति द्वारा देश की सहायता के लिए धन कमाया था। इस देश में ऐसे काम को किसी भी भावना से नहीं सहा जा सकता। क्या यह स्वयम् देश और समाज का पतन नहीं है ? समाजवादी रूस में क्या इसे सहन किया जा सकेगा ? कभी नहीं। परन्तु इस देश में बिना जाने-बूझे पुरुष को पति रूप से स्वीकार कर लेना क्या स्त्री का आत्मसम्मान है? कोई स्त्री विवश हो वेश्या बनती है, कोई विवश हो पतिव्रता·· ···। भावरिया गुण्ड ने क्या नौ रुपये चौदह आने इसका मूल्य दिया था ? जैसे कमला मोजीवाला बनवारी के साथ सिनेमा जाने से इसलिए इनकार न कर सकी कि बनवारी ने उसके भाई की सहायता की थी।······'सेलिंग वन्स कम्पनी' (अपनी संगति का मूल्य वसूल करना)? पास बैठकर दिल बहलाना, मुस्करा कर खुश करना, हाथ मिलाकर दिल बहलाना या कमर में हाथ डालने देना ? प्रयोजन नही है। क्या है स्त्री भी ? उसका मूल्य पुरुष को संतोष देने में ही है ? यदि अपने संतोष के लिए वह कुछ करे तो मैं उसे बुरा न कहूँगी।'

"अपने संतोष की बात मन में आने पर सहसा मेघनाथ और दूसरे

१८. यशपाल, 'दादा कामरेड', पृ० १४७।

कामरेड दृष्टि के सामने आ गये और फिर उनके बीच गुण्डा भाव-रिया……१९"

उपर्युक्त अर्तविवाद मे गीता की गहरी अनुभूतियो की ही अभिव्यक्ति नही मिलती, प्रत्युत् इसमें उसके तब तक के मानसिक विकास की भी झाकी मिल जाती है और साथ ही विभिन्न व्यक्तियो के प्रति उसके दृष्टिकोण का भी पता चल जाता है।

इसी प्रकार, 'दादा कामरेड' की यशोदा का वह अंतर्विवाद है, जो उसके मन में यह जानने पर उठता है कि उसका पति उस पर सदेह करने लग गया है। इस अर्तविवाद में निरीह यशोदा की छटपटाहट की बडी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है :

"यह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं—मुझ पर यह ज्यादती क्यों कर रहे है……आखिर मैंने किया क्या है, यही न एक आदमी से मेरे परिचय का इन्हे पता लगा……मैंने इन्हें यह नही बताया कि मैने कांग्रेस मे काम करने की बाबत बातचीत की है……यह आठ बरस से कांग्रेस में काम कर रहे है, मैने तो कभी इनसे नही पूछा कि वह क्या और क्यों कर रहे है ?… इतनी सी बात पर सदेह ? केवल इसलिए न कि मैं स्त्री हूँ। मानो स्त्री संदेह के काम के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकती।"२०

अपने पात्रों के अर्तविवादो में यशपाल उनकी अचेतन प्रवृत्तियों को पकड़ने की चिन्ता नही करते और न ही उन्हे अधिक लम्बे होने देते हैं। पात्र और पाठक का सीधा सम्पर्क वह अधिक देर तक नही चलने देते। इसीलिए, उनके पात्रो के अंतर्विवादों में वह दुरूहता नही आ पाती जो अनेक मनोवैज्ञानिक उपन्यासो को नीरस बना डालती है।

घटनाओं द्वारा' चरित्रचित्रण

घटना और व्यक्ति—मार्क्सवादी व्याख्या

घटनाएँ तो सभी उपन्यासों में हुआ करती हैं, पर यशपाल के उपन्यासों मे घटनाओं को विशेष महत्त्व प्राप्त है। उनके पात्रों के जीवन में निरन्तर ऐसी घटनाएँ घटित होती रहती है, जिन के लिए वे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष किसी भी रूप से, उत्तर-दायी नही होते, पर जो उनकी जीवन-धारा को बदल कर उन्हें कुछ से कुछ बना देती है। मार्क्सवाद का एक सिद्धान्त यह भी है कि 'व्यक्ति के बाहर भी एक जगत् है,

१९. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ३२।
२०. यशपाल, 'दादा कामरेड', १४३।

जिसका अस्तित्व उससे नितांत स्वतंत्र है।'[२१] प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कभी-न-कभी कोई ऐसी बात हो जाती है, जिसके कारणों को वह समझ नहीं पाता और यह मानने के लिए विवश हो जाता है कि उसके पीछे किसी अलक्षित शक्ति की प्रेरणा ही रही होगी। हम सब लोग सुख की लालसा में कितने ही कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेते हैं। सुख की प्रतीक्षा में कितने ही कष्ट अपनी इच्छा से सह लेते है, पर अनेक बार ऐसा होता है कि लाख प्रयत्न करने पर भी हम अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते। सहसा कोई ऐसी घटना हो जाती है जो हमारी सब आशाओं पर पानी फेर कर हमारे जीवन की दिशा ही बदल डालती है। ऐतिहासिक घटना के कारणों का विवेचन करते हुए एंगेल्स ने स्वयं माना है कि ऐतिहासिक घटना को किसी अलक्षित शक्ति द्वारा प्रेरित भी कहा जा सकता है। उसका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा-पूर्ति में अन्य सभी बाधक बनते है, पर अततः उसका परिणाम ऐसा निकलता है जिसकी कभी किसी ने इच्छा नहीं की होती।[२२]

चरित्र-विकास में घटना का महत्व

यशपाल के औपन्यासिक पात्रों के चरित्र-विकास में इस अलक्षित शक्ति की प्रेरणा रहती है। उनके पात्रों को बनाने और बिगाड़ने में संयोग का विशेष हाथ रहता है। कोई पात्र दाईं ओर न जाकर बाईं ओर निकल जाता है, वहाँ उसे कोई युवती मिल जाती है और दोनों के जीवनसूत्र एक-दूसरे से उलझ जाते हैं। यह केवल संयोग की बात ही थी कि 'दादा कामरेड' का हरीश पुलिस से अपनी जान बचाने के प्रयत्न में रात के समय जिस घर में घुस आया था वह यशोदा का था; पर आगे चलकर यह अकस्मात् भेंट ही यशोदा के दाम्पत्य जीवन में उथल-पुथल मचाने का मूल कारण बनी थी। 'पार्टी कामरेड' के भावरिया की गीता से भेंट भी अचानक ही हुई थी, पर तभी से दोनों के जीवन-सूत्र एक दूसरे से इतने उलझते गए कि अन्य कामरेडों के और प्रतिद्वन्द्वियों के लाख चेष्टा करने पर भी वे दोनों अलग न हो सके। 'देशद्रोही' के डा० खन्ना का अगवा हो जाना भी अकस्मात् ही हुआ था, जिससे उसकी और उसकी पत्नी की जीवन-धारा ही बदल गई। घटनाएँ तो प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी प्रचुरता से मिलती हैं और उनके पात्रों के जीवन में मोड़ ला देने का कारण

२१. Ralph Fox, 'The Novel and the People', p. 68 :

"Marxism is a materialist philosophy. It believes in the primacy of the matter and that the world exists outside of us and independently of us."

२२. Ibid. p. 74.

"This again may itself be viewed as the product of a power, which taken as a whole, works unconsciously and without volition. For what each individual wills is obstructed by everyone else, and what emerges is something that no one willed."

भी वे घटनाएं बनती है। पर उन घटनाओं के कारणों का उपन्यास के किसी भी पात्र से प्रत्यक्ष व परोक्ष सम्बन्ध न हो, ऐसा नही कहा जा सकता। उनकी निर्मला के जीवनव्यापी कष्टों का दायित्व उसके पिता की डाकू के हाथो मृत्यु वाली घटना पर है। यदि उसके पिता की मृत्यु न होती तो वह अच्छे घर में व्याही जाती और उसे तीन लडकों की विमाता न बनना पडता। पर वह घटना किसी अलक्षित शक्ति द्वारा प्रेरित हुई हो, ऐसा उस उपन्यास से प्रतीत नही होता। उस घटना के बीज उसके पिता के चरित्र में निहित मिलते है जो उसकी माँ से लडकर आधी रात के समय घर से बाहर निकल पडता है। यदि वह घर से बाहर न निकलता तो डाकू से उसकी भेंट क्योकर होती। इसी प्रकार, उनके उपन्यास 'गबन' की जालपा के चरित्र को निखार देने का श्रेय गबन वाली घटना को ही है, पर उसका दायित्व उसके अपने गहनो के प्रति मोह और उसके पति की मूर्खता पर था, न कि किसी अज्ञात शक्ति पर।

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

हम पहले कह आए हैं कि यशपाल के उपन्यासो के कई पात्र वर्ग-प्रतिनिधि और व्यक्ति-चरित्र दोनों ही रूपो में चित्रित हुए है। 'मनुष्य के रूप' के कामरेड भूषण और मनोरमा को ही ले। जितनी मनोरमा भूषण की ओर आकृष्ट है, भूषण भी उतना ही उसमें अनुरक्त है। पर उन दोनो के वर्गों में जो वैषम्य है, उनमें सदा से जो संघर्ष चलता आया है, वह भूषण को मनोरमा का समर्पण स्वीकार करने की छूट नही देता। इस रूप में वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। पर व्यक्तिगत रूप में वह मनोरमा के प्रति सच्चा है। वर्गप्रतिनिधि के रूप में वह मनोरमा और उसके वर्ग का अन्त करने के लिए कमर कसे हुए है, पर व्यक्तिगत रूप में वह उसे धोखा देने तक का विचार नही कर सकता। भूषण के चरित्र के ये रूप मनोरमा से हुए उसके इस कथोपकथन में व्यक्त हो पडे हैं:

> वह स्पष्ट प्रश्न कर बैठी—"तुम्हारे व्यवहार में यह परिवर्तन क्यों आ रहा है ? मेरी ऐसी कौन बात देखी तुमने ?"
>
> भूषण ने भी स्पष्ट ही उत्तर दिया—"अपने जीवन के लिए जो आशा और कल्पना मै बना बैठा था, वह निराधार थी। मै साधनहीन हूँ। साधनो के बिना जीवन सम्भव नहीं। पहले भटक कर गलत राह पर चल रहा था। समझ आते ही उस राह को छोड देना उचित है। अब तक मै यह बातें केवल सिद्धान्तों के विनोद और मानसिक सतोष के लिए कहता था। आज इन्हे अपने जीवन में अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, श्रेणी के लिए, जीवन के साधनों के अधिकार के लिए लड़ना चाहता हूँ। मैं तुम्हारा आदर करता हूँ, इसलिए तुम्हें धोखा नहीं देना चाहता।······तुम मेरी श्रेणी के

शत्रु-दल में हो। तुम्हारी श्रेणी से, जरूरत हुई तो तुमसे भी, मैं लडूंगा, परन्तु तुम्हें व्यक्तिगत रूप से धोखा नहीं देना चाहता''''''तुम खुद समझ सकती हो कि मैं अपनी श्रेणी से अलग कैसे हो सकता हूँ।"[२३]

इसी प्रकार, 'पार्टी कामरेड' में पार्टी के दफ्तर में हुआ वह कथोपकथन उल्लेखनीय है जो पार्टी के प्रेस के लिए महिला-सदस्याओं द्वारा अपने आभूषण दान में दे चुकने के बाद हुआ :

"गीता का लौकेट, अनिमा की चूड़ियाँ, मोजीवाला के कान के काँटे और पद्मा की कण्ठी हाथ में ले उसने पूछा—'गर्ल कामरेड्स, यह गहने आपने दिए हैं। आप घर जाकर क्या उत्तर देंगी ?

अनिमा ने उत्तर दिया—'कह दूंगी, खो गए।'

गीता ने उत्तर दिया—'मैं कह दूंगी पार्टी को दे दिया है। जो होगा देखा जायगा।'

मोजीवाला ने भी गीता का समर्थन किया।

सेक्रेटरी ने अनिमा को चूड़ियाँ लौटाने के लिए आगे बढ़ाई—'अगर तुम्हें घर में सच बोलने का साहस नहीं है तो यह चूड़ियाँ हम नहीं लेंगे।' अनिमा का चेहरा लाल हो गया। खड़ी हो उसने कहा—'मैं घर में ठीक बात कह दूंगी—' और बैठ गई।'[२४]

गीता, अनिमा सब एक ही पार्टी की तो सदस्याएँ हैं। एक ही वर्ग का तो वे प्रतिनिधित्व करती हैं, पर उपर्युक्त कथोपकथन में उनकी व्यक्तिगत चारित्रिक विशिष्टताएँ झलक पड़ी हैं, एक ही वर्ग की प्रतिनिधि होती हुई भी वे एक-दूसरे से भिन्न 'व्यक्ति' के रूप में उभर आई हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि इस प्रकार के कथोपकथन स्वाभाविक नहीं बन पाए। उनके पीछे से लेखक की सोद्देश्यता बार-बार झाँककर पाठक का ध्यान अपनी ओर खींच लेती है और उसके निकट उनका मूल्य राजनीतिक युक्तियों से अधिक नहीं रहता।

---

२३. यशपाल, 'मनुष्य के रूप', 'माया', अगस्त १९४९, पृ० ५६।
२४. यशपाल, 'पार्टी कामरेड', पृ० ३८-३९।

पाँचवां अध्याय

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

प्रस्तावना

व्यक्ति-चरित्र का उदय

व्यक्ति के चरित्रचित्रण का मनोवैज्ञानिक आधार

हिन्दी-उपन्यास मे मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय

जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्रचित्रण की निम्नलिखित प्रवृत्तियों का अध्ययन :

परिचयात्मक विवेचन

पात्रो के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

पात्रो का प्रथम परिचय

आकृति-वेषभूषा-चित्रण

अनुभाव-चित्रण

अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण

अतर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

मनोविश्लेषण

- मुक्त आसग (फ्री एसोसिएशन)
- आत्मविश्लेषण
- बाधकता-विश्लेपण

स्वप्न-विश्लेषण

निराधार प्रत्यक्षीकरण-विश्लेषण (हैल्यूसीनेशन ऐनेलिसिस)

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ओव रिकोलेक्शन्स)

प्रतीकात्मक शैली

पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस-हिस्टरी मैथड)

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नॉ-ऐनेलिसिस)

चित्र-विश्लेषण

शब्द-सहस्मृति-परीक्षा

पत्रात्मक शैली

उद्धरण-शैली

कथोपकथन द्वारा चरित्रचित्रण

जैनेन्द्र के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में दुरूहता

अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में अश्लीलता का आभास

प्रस्तावना

व्यक्ति-चरित्र का उदय

अब तक के उपन्यासों में तो थी—व्यक्ति और समाज के संघर्ष की तथा समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष की कहानी, पर यह संघर्ष यहीं तक सीमित न रहा। इसके बाद, व्यक्ति और व्यक्ति में भी संघर्ष छिड़ गया। जिन कारणों से समाज का विघटन हुआ था, उन्हीं कारणों से वर्गों और परिवारों का विघटन आरम्भ हो गया। परिवार एक घनिष्ठ सामाजिक संगठन है। किसी सामाजिक संगठन की दृढ़ता और स्थिरता बहुत कुछ उसके सदस्यों द्वारा स्वीकृत मूल्यों और उनकी मनोवृत्तियों के साम्य पर निर्भर करती है। पारिवारिक संगठन इस नियम का अपवाद नहीं। प्रत्येक परिवार के सुसंगठन के लिए यह अनिवार्य है कि उसके सदस्यों के जीवनोद्देश्य में तथा उनकी रुचियों और महत्त्वाकांक्षाओं में समानता हो। मध्य युग में पुरातन मूल्यों के प्रति दृढ़ विश्वास होने के कारण तीनों प्रकार की एकता सम्भव हो सकी थी। इसीलिए, उस युग के परिवार भी एक ठोस वर्ग के रूप में मजबूत रह सके थे। पर डार्विन, मार्क्स तथा फ्रॉयड के सिद्धान्तों के प्रभाव से तथा वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास के फलस्वरूप सभी पुरातन नैतिक और सामाजिक मूल्यों के प्रति अस्वीकारिता के भाव से तथा नये मूल्यों के अभाव में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का सूत्रपात हुआ। मनुष्य की आस्था अपने परिवेश—समाज, वर्ग तथा परिवार—से हटकर अपने में ही केन्द्रित होती गई। उसकी बहिर्मुखता घटने लगी और वह अंतर्मुख होता गया। उसके जीवन में व्याप्त बाह्य संघर्ष का स्थान मानसिक संघर्ष ने ले लिया।)

व्यक्ति के चरित्र-चित्रण का मनोवैज्ञानिक आधार

डार्विन, मार्क्स और फ्रॉयड की खोजों ने उपन्यासकार में भी नई जाग्रति ला दी। नये-नये आर्थिक और मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों के प्रकाश में उसका दृष्टिकोण बदल गया। जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के बदलते ही उसका लिखना भी बदल गया। फ्रॉयड के सिद्धान्तों ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्‌घाटित

किया था, उससे उपन्यासकार को बड़ी सहायता मिली। अब तक वह अपने पात्रों के मन में हो रही उथल-पुथल का अनुमान उनके अस्त-व्यस्त पहनावे, विविध अनुभावो और व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं से ही थोड़ा-बहुत लगा पाता था और उस अनुमान के आधार पर ही उनकी मनःस्थिति का चित्रण करता था। अपने पात्रों के मन में हो रहे संघर्ष के यथार्थ रूप से वह अब तक अनभिज्ञ ही रहा था। अब उसे पता चला कि बाह्य संघर्ष ही सब कुछ नहीं। वह तो बहुधा मानसिक संघर्ष की प्रतिच्छाया या उसका विकृत रूप होता है। *बाहर की घटनाओं के घटित होने से पहले व्यक्ति-मानस* में ही कई घटनाएँ घटित हो जाती हैं। बाहर के स्थूल संघर्ष में पड़ने से पहले उसे आंतरिक संघर्ष से जूझना पड़ता है। इस जानकारी के बाद उपन्यासकार की दृष्टि में व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष का कोई मूल्य न रहा। 'संघर्ष' और 'घटना' की उसकी परिभाषा भी बदल गई और साथ ही इनके चित्रण का स्वरूप बदल गया। *उपन्यास में बाह्य संघर्ष का स्थान अन्त संघर्ष ने ले लिया। बाह्य स्थूल घटनाओ के* प्रति उपन्यासकार उदासीन होता गया, क्योंकि पात्रो की मनःस्थिति को ठीक-ठीक समझने के लिए उनसे सहायता तो मिलती नही थी, उल्टा भ्रम में पडने की सम्भावना रहती थी। इसलिए, अब वह अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति-मानस में हो रहे संघर्ष के अचेतन कारणो की खोज में मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ। फ्रॉयड एडलर और जुंग के सिद्धान्तो ने तथा स्टेकेल और हैवलॉक एलिस की धारणाओ ने उसे नई दृष्टि प्रदान की। इससे वह बड़े आत्मविश्वास के साथ पात्रों के मानस की चीर-फाड करने और उसके अचेतन की परत-पर-परत खोलने में जुट गया। उसके *चरित्र-चित्रण में कोरे भावुकतापूर्ण अनुमान का स्थान* मनोवैज्ञानिक प्रणालियो ने ले लिया और वह अनुभवी मनोविश्लेषक की तरह मनोविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन-विश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, शब्द-सहस्मृति परीक्षा, इतिवृत्तात्मक आदि विविध प्रणालियो द्वारा अपने पात्रों के अचेतन में पड़ी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों और उनके कारणों को उघाड़ने लगा। अब उसका उपन्यास पात्र और परिस्थिति के संघर्ष *का उपन्यास न रहा और न ही नायक और प्रतिनायक के संघर्ष का, प्रत्युत् वह नायक* के चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) का तथा उसके अन्तर्विवादों (इन्टीरियर मॉनोलॉग) का उपन्यास हो गया।

हिन्दी-उपन्यास में मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

यद्यपि वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास के फलस्वरूप होने वाली सामाजिक मूल्यों में गडबड़ और सम्मिलित परिवारो के विघटन का चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' और 'गोदान' से आरम्भ होकर भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' में अपनी चरम-सीमा को छू जाता है, तो भी समाज के विधि-निषेधों के [illegible] पारिवारिक मर्यादाओं की बाध्यता से मुक्त मूल नैतिकता

के जिज्ञासु स्वतन्त्र व्यक्ति-पात्रों की उद्भावना हिन्दी-उपन्यास में सर्वप्रथम जैनेन्द्र के उपन्यासों में ही मिलती है। वैसे तो प्रेमचन्द ने अपनी उपन्यास-कला के विकास के अन्तिम चरण में और भगवतीचरण वर्मा ने उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करते ही व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार कर ली थी, पर व्यक्ति-मानस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन की, उसकी परत-पर-परत खोलकर उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया के अचेतन द्वन्द्व को पकड़ने की मूलग्राही प्रवृत्ति जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' से ही आरम्भ होती है। यद्यपि जैनेन्द्र से पहले, ब्रजनन्दनसहाय के 'सौंदर्योपासक' (सन् १९१९), कृपानाथ मिश्र के 'प्यास' (सन् १९२३) और अवधनारायण के 'विमाता' (सन् १९३२) नामक उपन्यासों में मानव-मन के अध्ययन के प्रयत्न दृष्टिगोचर होते हैं, पर उनका आधार मनोविज्ञान की अपेक्षा सस्ता भावुकतापूर्ण अनुमान था। इन उपन्यासकारों ने मानव-चरित्र रूपी हिमनग (आईसबर्ग) के जलमग्न अव्यक्त भाग के अस्तित्व को तो स्वीकार किया था और उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता को भी महसूस किया था, पर पश्चिम की नवीनतम मनोवैज्ञानिक उद्भावनाओं से वे लाभ न उठा सके थे।

जैनेन्द्रकुमार

'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी' से लेकर 'सुखदा', 'विवर्त्त', 'व्यतीत' और 'जयवर्धन' तक उनके सभी उपन्यासों में बाहर की स्थूल घटनाओं की उपेक्षा और पात्रों के भीतर होने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म हलचलों के चित्रण की ओर विशेष झुकाव मिलता है। कट्टो, सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, मोहिनी, अनिता और इला से लेकर सत्यधन, हरिप्रसन्न, श्रीकान्त, नरेन्द्र, जितेन, जयन्त और जयवर्धन तक, उनके उपन्यासों के सभी प्रमुख पात्र सामाजिक और पारिवारिक संघर्ष से विमुख, पर अपने भीतर के द्वन्द्वों में खोए हुए से भटकते रहते हे। अपने चेतन मन से वे जो करना चाहते है, वह उनके किए हो नही पाता और जो वे करना नही चाहते, वह उनके लाख बचने पर भी अचेतन प्रेरकों के प्रभाव से हो जाता है। इन पात्रों को दिन-रात बेचैन किये रखने वाले उनके भीतरी अचेतन सघर्ष को पकड़ने के लिए, उनकी मनोवैज्ञानिक उलझनों को उनके यथार्थ रूप में चित्रित करने के लिए तथा उनकी यौन कुंठाओं को उघाड़ने के लिए जैनेन्द्र ने आधुनिक मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों से लाभ उठाया है। उनकी उपन्यास-कला के विकास के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक प्रणालियों के प्रयोग की ओर उनका झुकाव भी बढ़ता गया है। यहाँ तक कि उनके नये उपन्यास 'जयवर्धन' में फ्रॉयड की मुक्त आसंग-प्रणाली (फ्री एसोसिएशन टेक्नीक) का सांगोपांग प्रयोग मिलता है। वास्तव में जैनेन्द्र पहले उपन्यासकार है, जिनकी रचनाओं में हिन्दी-उपन्यास के पाठकों को पात्रों के अंतरंग (सब्जेक्टिव) चरित्र-चित्रण के दर्शन हुए हैं।

इलाचंद्र जोशी

पात्रों के अन्तरग चरित्र चित्रण को विविध मनोवैज्ञानिक प्रणालियों के आधार पर विकसित करने वाले दूसरे उल्लेखनीय उपन्यासकार हैं—इलाचन्द्र जोशी। चरित्र-चित्रण को सामाजिक पूर्वग्रहो और दार्शनिक उलझनो से बचाकर उसे शुद्ध मनोवैज्ञानिक रूप देने का श्रेय जोशी जी को ही है।

फ्रॉयडवादी मनोवैज्ञानिको का विश्वास है कि मनुष्य मूलतः पशु है, पर वह अपनी पाशविक वृत्तियो पर धर्म, सभ्यता और सस्कृति का आरोप करके उन्हें दबाने का प्रयत्न करता रहता है। ऊपर से दबी प्रतीत होने पर भी ये पशु-वृत्तियाँ उसके अचेतन मन में गहरी धसकर भीतर ही भीतर उथल-पुथल मचाती रहती हैं। मनुष्य जब-जब इन्हे बलपूर्वक दबाता है, तब-तब ये अपना रूप बदलकर अभिव्यक्ति पाती रहती हैं, और जब कभी उनके अचेतन मन पर से चेतन मन का नियन्त्रण उठ जाता है—चाहे वह अल्पातिअल्प समय के लिए ही हो—ये वृत्तिया अपने नग्न रूप में नाच उठती हैं। इनसे उत्पन्न दु:खद अनुभूतियो को जब उसका चेतन मन उनके यथार्थ रूप में सहने या स्वीकार करने से इन्कार कर देता है तब ये दमित (रिप्रेसेड) होकर अचेतन में धँस जाती है और उसके भीतर मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को जन्म देने लगती है। ये ग्रन्थियाँ उसके भीतर भीषण संघर्ष उठाती रहती हैं, जिसके कारण उसके लिए अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखना कठिन हो जाता है और वह जीवन भर कस्तूरी-मृग की तरह भटकता रहता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'संन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' की निरजना,' प्रेत और छाया' का पारसनाथ, 'निर्वासित' का महीप आदि उनके उपन्यासो के नायक-नायिकाएँ इसी प्रकार के 'मनोवैज्ञानिक केस' है। उनके अचेतन में भीषण द्वन्द्व छिड़ा रहता है जो उन्हें दिन-रात बेचैन किए रखता है। मनोविज्ञान की विविध प्रणालियों का सहारा लेकर जोशी जी ने अपने पात्रों के मानस की निर्मम चीर-फाड की है और उनकी मनोवैज्ञानिक समस्याओं के कारणों को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया है। इसीलिए, उनके उपन्यासो में फ्रॉयड के मनोविश्लेपण और स्वप्न-विश्लेपण से लेकर सम्मोह-विश्लेपण (हिप्नॉ-ऐनेलिसस), शब्द-सह-स्मृति परीक्षा (वर्ड एसोसिएशन टैस्ट), पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड) तक सभी प्रमुख प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती है, जिनका प्रयोग मनोविश्लेपक अपने पात्रों पर किया करता है।

अज्ञेय

'शेखर : एक जीवनी' को रचना द्वारा अज्ञेय हिन्दी-उपन्यास को मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के एक नये मोड़ पर ले आए। अब तक हिन्दी के उपन्यासकारो की समस्त शक्ति पात्रों के चरित्र के विभिन्न रूपों के उद्घाटन में ही लगती रही थी। [illegible] ाओ के चित्रण में ही उन्होने

अपने कर्तव्य की इतिश्री मान ली थी। विकासमान चरित्र और उसकी अन्तःप्रेरणाओं के चित्रण का कोई ठोस प्रयत्न अब तक हिन्दी में न हुआ था। 'शेखर : एक जीवनी' से पहले का चरित्र-चित्रण चित्रपट पर दिखाई गई 'सिनेमा स्लाइडों' के समान आन्तरायिक था, हिन्दी-उपन्यासों में 'चल-चित्रों' का-सा विकासमान चरित्र और वह भी अन्तर्दृष्टित' (सब्जेक्टिव्ली) दिखाने का श्रेय अज्ञेय को ही है। 'शेखर : एक जीवनी' के रूप में विकासमान चरित्र को ठोस मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि प्रदान करके अज्ञेय ने चरित्र-चित्रण के क्षेत्र मे एक नया युग ला दिया। यह एक सस्मरणात्मक उपन्यास है। अपने जीवन के अन्तिम पडाव पर पहुँचकर फाँसी की कोठरी में बैठा उसका नायक शेखर प्रत्यवलोकन करने लगता है। बाल्यावस्था से लेकर उसके जीवन की घटनाएँ एक-एक करके उसके स्मृति-पट पर उभरने लगती हैं और उन्ही स्मृतियो के निर्मम विश्लेषण द्वारा वह अपने विगत जीवन में कार्य-कारण के सूत्र ढूँढने लगता है। अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' चरित्र के क्रमिक विकास का नही, विकसित चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास है। वह चार सवेदनाओं का 'मनोवैज्ञानिक चित्रण' है, चार पात्रों के चेतना प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनैस) का गत्यकन है।

जैनेन्द्र की भाँति, उपन्यासकार के साथ-साथ विचारक भी होने से, अज्ञेय की भी अपनी निश्चित मान्यताएँ हैं, कुछ-एक पूर्वग्रह भी हैं, जो उनके उपन्यासो और उनके पात्रों के चरित्र-विकास को एक विशेष दिशा प्रदान करते है। दोनों में साम्य यही है कि उनके पात्रों के चरित्र-विकास और चरित्र-चित्रण में उनके जीवन-दर्शन का प्रबल आग्रह रहता है। वैसे दोनों के दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अन्तर है। व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करते हुए भी जैनेन्द्र व्यक्ति के 'अह' को चकनाचूर करके उसे विराट्, व्यष्टि में मिलाना चाहते हैं, पर अज्ञेय व्यक्ति के 'अह' को पुष्ट करना चाहता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो में इस प्रकार का कोई आग्रह नही मिलता। अपने पात्रो का चरित्र-चित्रण इन उपन्यासकारों ने चाहे किसी भी दृष्टिकोण से किया हो, सस्ते भावुक अनुमानों से बचकर ठोस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो को इन सबने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण का आधार बनाया है।

अब हम इन उपन्यासकारों की रचनाओ में मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

जैनेन्द्रकुमार

परिचयात्मक विवेचन

अखण्ड और अद्वैत सत्य तथा उसके व्यावहारिक रूप—समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिंसा—को जैनेन्द्र अपने साहित्य का परम श्रेय मानते हैं।[1] उनका विश्वास है कि समष्टि की उपलब्धि के अर्थ, विश्वभर में बिखर जाने की जो लालसा व्यक्ति के अन्तरतम में विद्यमान है, उसी का शब्दांकित रूप साहित्य है। साहित्यकार के लिए 'स्वान्तःसुखाय' साहित्य-निर्माण हेय न समझते हुए भी जैनेन्द्र उसके 'लोकहिताय' तक पहुँचने में कोई हानि नहीं देखते, पर लोकहित के नाम से क्रान्ति की दुहाई देते फिरना भी उनकी विचार-धारा से मेल नहीं खाता। उनकी धारणा है कि समाज में विकास ताप से नहीं, तप से होगा। इसलिए, उनके विचार में, समाज की आज की रीति-नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य उपन्यास अथवा साहित्य का नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा भी है: 'उपन्यास…… जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य। गति धक्के की नहीं। वह गति जो आदमी उत्तेजनावश नहीं, बल्कि स्वतःस्फूर्ति से करता है। उस गति का वह स्वयं स्वामी होता है। साहित्य को यही गति इष्ट है।'[2]

व्यक्ति-चरित्र

उपन्यास वस्तुपरक हो या भावनापरक, इसके सम्बन्ध में भी जैनेन्द्र का निश्चित मत है कि उपन्यास को यदि जीवन का विकास-साधन बनना है तो यथार्थ उसकी मर्यादा नहीं हो सकता। वास्तविकता का धरातल उससे उठेगा जो स्वयं ऊँचा होगा। वास्तविक होने के प्रयास में उपन्यास अपने को व्यर्थ ही बना डालेगा। इसलिए, अपने पात्रों के चयन में उन्होंने ध्यान रखा है कि वे वस्तु-जगत् के व्यक्तियों की तरह

---

१. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १५।

२. जैनेन्द्र, 'उपन्यास में वास्तविकता', 'वीणा', दिसम्बर, १९४१।

डेढ़-डेढ़, दो-दो मन के न हों, क्योंकि "सच्चे अर्थ में हमें उनसे लाभ तो तभी कुछ होगा जब वे हम से कम मांसल और अधिक मानसिक होंगे, उनमें आत्मा अधिक होगी और पंचभूत कम।"[३] अपने अधिकांश पात्र उन्होंने उस शिक्षित मध्यवर्ग से ही चुने, जिसे आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने अधिक संवेदनशील बना दिया है और जो मूल नैतिकता की जिज्ञासा में समाज के समस्त विधि-निषेध के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाकर उनकी अवमानना तो कर बैठता है, पर अचेतन मन पर पड़े गहरे संस्कारों के कारण जीवन भर मानसिक संघर्ष की चक्की में पिसता रहता है। सत्यधन, श्रीकान्त, हरि-प्रसन्न, जितेन, जयन्त से लेकर सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, अनिता, भुवन-मोहिनी, इला तक उनके सभी पात्र इसी वर्ग के भावना-शरीरी प्राणी हैं जो अपनी भीतरी घुमड़न के कारण वर्ग-प्रतिनिधि पात्रों की मर्यादा लाँघ कर व्यक्ति-चरित्र बन गए हैं।

अचेतन द्वन्द्वों का चित्रण

पात्रों का चरित्र-चित्रण भी जैनेन्द्र ने स्थूल वास्तविकता पर नहीं, उससे ऊँचे पर ही किया है। उनका दृढ़ विश्वास है कि 'जो एकदम वास्तविकता में लिप्त है—वह फिर चाहे कितना भी बड़ा आदमी समझा जाता हो—सफल उपन्यासकार नहीं हो सकता। एकदम जरूरी है कि वह कुछ अबोध भी हो, 'मिस्टिक' हो।'[४] अपने उपन्यासों में वह पात्रों के दृष्टिगोचर व्यक्त रूप में न उलझ कर उनके अतल मानस की ओर प्रवृत्त हुए हैं। उनके विचार में आज के साहित्यकार के लिए सृजन का यही एक अर्थ है : "हमारे अन्दर अनन्त अव्यक्त है। मैला उसमें है, धौला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके शनैः-शनैः उसे बाहर निकाल कर अपने को रिक्त करते जाना—मेरे खयाल में यह बड़ा काम है। इससे अलग सृजन क्या होगा, यह मैं जानता नहीं।"[५] पात्रों के अचेतन अन्तर्द्वन्द्वों को, जिनके कारण वे किसी भी परिस्थिति से अपना मानसिक संतुलन नहीं बैठा पाते और कस्तूरी-मृग के समान जीवन भर भटकते फिरते हैं, उघाड़ने में ही जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की समस्त शक्ति लगी है

---

३. वही।

४. जैनेन्द्र, 'उपन्यास में वास्तविकता', 'वीणा', दिसम्बर, १९४१।

५. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १२।

पात्रों के नामकरण द्वारा चरित्रचित्रण

मानव के मनस्तत्त्व के जिज्ञासु[1] विलबर ह्रूस्टन का ध्यान, जैनेन्द्र जी के उपन्यास 'जयवर्धन' का नायक इस तथ्य की ओर दिलाता है कि "भगवान् के सिवा कोई किसी को नही जानता—सच यह है कि कोई अपने को भी नहीं जानता।"[2] यदि भगवान् के सिवा कोई किसी को नहीं जानता—यहाँ तक कि अपने को भी नहीं, तो इसका कारण यह है कि हम सबका स्रष्टा कोई और ही है, और स्रष्टा के सिवा उस की सृष्टि को जानने का दम और कौन भर सकता है। परन्तु उपन्यास और उसके पात्र किसी और की नही, उपन्यासकार की सृष्टि होते हैं। इसलिए उनके बारे में यदि कोई सब कुछ जानता है तो वह उनका स्रष्टा उपन्यासकार ही है। उपन्यासकार को पता होता है कि उसके पात्रों की मूल प्रवृत्तियाँ क्या हैं और उनका विकास किस दिशा में होना है। अपने पात्रो का नामकरण करते समय उसके सामने प्राय: उनका चरित्र आ जाता है और जाने या अजाने उनके चरित्र की कोई-न-कोई विशिष्टता उनके नामकरण का आधार बन जाती है। इस प्रकार, कई बार पात्रो के नामों से भी उनके व्यक्तित्व का आभास मिल जाता है।[3]"

चरित्रानुकूल नाम

जैनेन्द्रजी के आरम्भिक उपन्यासों में तो यह प्रवृत्ति बडी प्रबल रही है। उनके पात्रों के नाम ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डाल देते हैं। उनके आरम्भिक उपन्यास 'परख' के नायक का नाम है सत्यधन; नाम पढ़ते ही पाठक अनुमान लगाने लगता है कि कदाचित् सत्य को ही यह पात्र अपना असली धन मानेगा। जल्दी ही पाठक को विश्वास हो जाता है कि उसका अनुमान ठीक था, जब वह इस पात्र को अपने जीवन के एक मोड़ पर इस प्रकार निर्णय करते हुए पाता

---

१. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० ६१।

२. वही, पृ० १८।

३. Wellek, 'The Theory of Literature', London, 1949, p. 226-27.

है : "झूठ के बिना वकालत नही, तो मै वकालत करता ही नही, जाओ।"[४] परख में पात्रों के नाम अनायास ही उनके चरित्र के अनुरूप पड गए हों, यह बात नही; प्रत्युत् लेखक को इस बात का गर्व है कि उसके पात्रों के नाम सार्थक है। कट्टो के नाम के बारे में लेखक स्वयं मानता है कि "यह नाम बिलकुल निरर्थक नही है।......कट्टो गिलहरी को कहते है। उसकी ठोडी गिलहरी के मुँह जैसी है, वैसी ही नोकदार। उसके चेहरे से भी गिलहरी का भाव टपकता है। झटपट यहाँ दौड, वहाँ दौड, इधर देख, उधर देख—ये सब भाव उसमे है।"[५] विहारी के नाम की सार्थकता जताने में भी उपन्यासकार नही चूकता : "पर विहारी मर्द है, सच्चा विहारी। इतनी मेहनत से अभी-अभी जिस भविष्य के स्वर्ग को खडा किया था, और जिसे अभी सजा ही रहा था, उसको सत्य ने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला......लेकिन अभी तो उस भविष्य के चकनाचूर ढेर के पास खडा होकर वह सिर सीधा रखकर मुस्करा ही देगा, पीछे फिर चाहे कितना ही रोये।"[६]

जैनेन्द्रजी के और कई औपन्यासिक पात्रों का नामकरण उनके चरित्र के अनुरूप ही हुआ दिखाई देता है; यद्यपि यह कहना कठिन है कि यह सब सायास हुआ है। 'विवर्त्त' की नायिका 'भुवनमोहिनी' भुवनमोहिनी है; उस पर मुग्ध होकर उसका पति तो उसकी प्रशंसा करता ही है—"यह क्या आपने सोचा है, कहर ढाइएगा'[७]—पर वह स्वय भी अपनी सम्मोहिनी से अपरिचित नही। उसे अपनी बुद्धि का, अपने रूप और कौशल का भरोसा है।"[८] उसके बल पर ही तो वह पुलिस के एस० पी० चड्ढा को अपने घर निमन्त्रित करके अपने प्रेमी क्रान्तिकारी जितेन को बचाने का प्रयास करती है और उसमें सफल रहती है। चड्ढा को वह 'अत्यन्त स्पृहणीय और कमनीय जान पडती है और उस का रूप, उसकी कुलीनता, उसकी वाक्चातुरी देखकर वह सहसा पराभूत हो जाता है।'[९] 'सुखदा' का क्रान्तिकारी पात्र लाल भी अपने नाम के अनुरूप ही है। वह लापरवाह भले ही हो, पर 'हीरा आदमी है।'[१०] 'त्याग-पत्र' की नायिका मृणाल के नाम और चरित्र-विकास में भी काफी साम्य देखने को मिला है। कमल-नाल के समान वह आँधियो और लहरो के थपेडो के अनुरूप ही मुड़कर, स्वयं पंक में गहरी धस कर भी समाज-व्यवस्था के कमल को धारण किये रहती है, उसे चोट से बचाए रहती है।'[११] 'व्यतीत' के नायक जयंत का व्यक्तित्व भी उसके नाम

४. जैनेन्द्र, 'परख', पृ० १० ।
५. जैनेन्द्र, 'परख', पृ० २१ ।
६. वही, पृ० ६८ ।
७. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० ४९ ।
८. वही, पृ० १३६ ।
९. वही, पृ० १३६ ।
१०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० १४६ ।
११. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ३७ ।

के अनुसार विजयी ही रहा है; जो भी उसके सम्पर्क में आता है, वह पराभूत हो जाता है। अनिता, सुमति, बुधिया, कपिला आदि का तो कहना ही क्या, चन्द्रकला (चन्द्री) जैसी दर्पपूर्ण नारी भी प्रथम दर्शन में ही हार बैठती है और कुमार को भी जयन्त की विजय स्वीकार करनी पड़ती है "...... और आँखें देखीं नहीं उसकी ? सच कहता हूँ, जयन्त, यह क्या कमाल है तुममें ? भाई, मानता हूँ मात तुम से। क्या जादू डाला है कि......।"[१२]

इसी प्रकार सुखदा, कल्याणी, चन्द्रकला (चन्द्री), सुनीता, जयवर्धन, स्वामी चिदानन्द आदि के नामों में उनके चरित्र की किसी न किसी विशिष्टता की झलक मिल ही जाती है। सुखदा, कल्याणी, सुनीता दूसरों की चिन्ता का कारण चाहे बन गई हों, पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि उनका प्रयत्न सदा इससे उलटी दिशा में ही रहा।

पात्रों का प्रथम परिचय

उपन्यास के रंगमंच पर जब कोई पात्र पहली बार प्रकट होता है तो उस की आकृति-प्रकृति, वेश-भूषा, भ्रूभंगिमा, क्रिया-प्रतिक्रिया पाठक के मन पर एक छाप छोड़ जाती है जिसके आधार पर वह उसके भावी आचार-व्यवहार का अनुमान लगाता रहता है। अपने पात्रों के समूचे चरित्र की जानकारी रखने के कारण उनके सम्बन्ध में उपन्यासकार की अपनी धारणाएँ भी बनी होती हैं, जो अभिव्यक्ति पाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहती हैं। ठीक तो यह रहता है कि उपन्यासकार पात्रों के नाम, आकृति-वेशभूषा आदि के वर्णन द्वारा उन्हें पाठकों की कल्पना में साकार करके स्वयं अलग हो जाए और उन्हें पाठकों पर अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा धीरे-धीरे खुलने दे। पर बहुधा पात्र के बारे में उपन्यासकार की जानकारी अनायास ही उसके परिचय के रूप में फूट पड़ती है और पात्र के प्रति उसकी सहानुभूति या घृणा व्यक्त हो जाती है।

चरित्रोद्घाटन में उपन्यासकार का पूर्वग्रह

अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में जैनेन्द्र जी भी पात्रों के प्रति अपनी धारणाएँ व्यक्त करने का मोह संवरण नहीं कर सके। 'सुनीता' के आरम्भ में ही वह श्रीकांत और हरिप्रसन्न की चारित्रिक विशेषताओं का विस्तृत तुलनात्मक परिचय देने लग जाते हैं : "श्रीकांत खुले मन, पुष्टदेह, सम्पन्न परिस्थिति, सुन्दर वर्ण और धार्मिक वृत्ति का पुरुष था......हरिप्रसन्न वृत्ति से कुछ सन्देहशील, चतुर, कर्मकुशल, तीक्ष्ण-बुद्धि और परिस्थिति से असम्पन्न था",[१३] यद्यपि पाठकों ने अभी तक उन दोनों का

१२. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० ५२।
१३. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० २।

कुछ भी नही देखा होता । पाठकों को पात्रो के बारे में स्वयं कुछ जानने का अवसर प्रदान किये बिना ही वह उन पर अपनी धारणाएं लाद देते है। हरिप्रसन्न तो अभी उपन्यास मे प्रविष्ट भी नही होता कि लेखक अपना पूर्वग्रह व्यक्त करने लग जाता है, यद्यपि उसके कृत्यों में वे सभी चारित्रिक विशिष्टताएँ झलक नही पाती जिनका बखान लेखक पहले से ही करने लग जाता है। 'त्यागपत्र' मे विनोद की माँ का प्रथम परिचय इस प्रकार कराया गया है . "माता अत्यन्त कुशल गृहिणी थी। जैसी कुशल थी वैसी कोमल भी होती तो ? पर नही, उस 'तो' ?—के मुँह में नही बढना होगा······इतना ही हम समझे, माँ जितनी कुशल थी उतनी कोमल नही।"[१४] विनोद की माँ को पाठको पर प्रकट होने का कोई अवसर दिये बिना ही लेखक पाठकों से आग्रह करने लग जाता है कि वे उसकी बात सही मानते हुए 'इतना ही समझें' कि वह कोमल उतनी नही थी, जितनी कुशल; यद्यपि मृणाल को एक बार पीटने के बाद उसके प्रति विनोद की माँ का जो व्यवहार रहा उसमे उसके कोमल हृदय की झलक अनायास ही मिल जाती है[१५]—व्यवहार उस का चाहे कठोर ही रहा हो। 'परख' में 'थोडा कट्टो से परिचय करें' कह कर लेखक एक उस पर परिच्छेद लिख डालता है।[१६]

पात्रो के प्रथम परिचय की इस शैली में उपन्यासकार पाठको पर अपनी धारणाएँ लाद कर उन्हें पात्रो के प्रति पूर्वग्रहवान तो बनाता ही है, साथ ही उपयुक्त समय से पूर्व उनकी चारित्रिक विशिष्टताओ को प्रकाश में लाकर उनके चरित्र-विकास के प्रति पाठको के औत्सुक्य भाव को भी मद कर देता है। इसके अतिरिक्त कई बार पात्रों का चरित्र-विकास उनके प्रथम परिचय से काफी दूर जा पड़ता है और लेखक द्वारा इस प्रकार अपना मत लादना निरर्थक हो जाता है।

उपन्यास में पात्रों का प्रवेश तब तक नही होना चाहिए जब तक कि उनके करने के लिए कोई विशेष काम न हो।[१७] केवल परिचय कराने के लिए पात्रो को उपन्यास के रंगमंच पर ले आना और जब तक पुन. आवश्यकता न पड़े तब तक के लिए उन्हे 'कोल्ड स्टोरेज' मे डाल देना उपन्यास को शिथिल और बोझिल बनाना है। जैनेन्द्र के प्रारम्भिक उपन्यासों में यह देखने में आता है कि वह एक साथ ही कई आवश्यक-अनावश्यक पात्रो का प्रवेश कराके उनका परिचय देने लग जाते है। 'कल्याणी' के आरम्भ में वह वकील साहब के रूप में एक साथ ही उपन्यास के सभी पात्रों का औपचारिक परिचय कराकर पीछा छुडा लेते है।[१८] बाकी, पात्रो को तो

१४. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ६।

१५. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ६।

१६. जैनेन्द्र, 'परख', पृ० २०-२२।

१७. E. M. Forster, 'Aspects of the Novel', p. 51.

१८. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ३।

खैर करने को कोई काम मिल ही जाता है, पर हिन्दी के साहित्यकार श्री 'प्रवाल' का परिचय कराने के बाद उसे 'कोल्ड स्टोरेज' में डाल देते हैं और फिर ऐसा भूलते है कि उपन्यास भर में उसके कही दर्शन नहीं होते।

इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र कई बार पात्र के पाठकों के सामने आने से पहले ही उसकी चर्चा छेड देते है और उसके गुणावगुणों का उल्लेख कर देते है। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न की अवतारणा तो होती है पृष्ठ ९ पर, पर उपन्यासकार उसका गुण-गान प्रथम पृष्ठ से ही करने लग जाता है[१९] और निरतर करता रहता है। सुनीता और उसकी असफल गृहस्थी की बात भी उसके प्रकट होने से पहले ही छिड जाती है।[२०] 'जयवर्धन' में नायक की चर्चा भी उसके उपन्यास के रंगमच पर आने से पहले ही छेड दी जाती है: 'जयवर्धन के बारे मे गुन ही है—उस पर ध्यान देने की जरूरत नहीं'''जरूर उसमें कुछ अंधियारा है।[२१]

कुतूहलोद्दीपक प्रथम परिचय

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों की कथाशैली के विकास के साथ-साथ उनके पात्रों का प्रथम प्रवेश भी सहज स्वाभाविक होता गया है। जीवनी की शैली में लिखे गये उनके उपन्यासों—'सुखदा' और 'व्यतीत'—में तो पात्रों का प्रवेश और उनका प्रथम परिचय और भी स्वाभाविक बन पाया है, क्योंकि यहाँ लेखक पात्र और पाठकों के बीच में न अड़ कर पात्र को स्वय ही पाठकों पर खुलने देता है। सुखदा के प्रथम परिचय में बड़े जोर की पकड है: "अस्पताल में हूँ, अकेली हूँ, बस नौकर एक साथ है। बच्चे हैं, स्वामी है, पर वे सब दूर हैं। उनकी याद करते डर होता है। किस मुँह से याद करूँ? उन्हे अपने ही हाथों मैंने हटा कर दूर कर दिया है, अपने ही हाथों मैंने अपना अभाग्य बनाया है।"[२२] 'व्यतीत' में जयंत के परिचय में भी कम पकड नहीं: "पैंतालीस तो कोई अवस्था होती नहीं। इस वय में बीत कर रह जाने का क्या मतलब है। लेकिन कुछ करूँ, इस बोध से छुट्टी नहीं मिलती है कि मै अब बीते पर ही हूँ, आगे के लिए नहीं हूँ। सोचता हूँ कि यह क्या हो गया।"[२३] इस प्रकार लेखक की प्रत्यक्ष सहायता के बिना ही प्रकट होकर ये पात्र बता देते हैं कि वे अपने भीतर व्यथा का सागर छिपाए हैं।

अपने प्रौढ उपन्यासों में पात्रों का प्रवेश कराने के बाद उनका परिचय कराते समय जैनेन्द्र उन पर अपने मत का आरोप भी नहीं करते। पात्र का संक्षिप्त परिचय

१९. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १, ६, १५।
२०. वही, पृ० ३, ५।
२१. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १०, १३-१६।
२२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६।
२३. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १।

देने के बाद उसे किसी स्थिति में डालकर अपने आप खुलने देते हैं। वस्तुजगत् में भी तो ऐसा ही हुआ करता है। नित्यप्रति हमारी नये-नये लोगों से भेंट होती है। हर बार तो हमारे बीच कोई तीसरा व्यक्ति आकर परिचय नही कराता। हम स्वय ही धीरे-धीरे अपनी वेश-भूषा और क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा एक-दूसरे पर खुलते है। 'सुखदा' मे क्रांतिकारी लाल का प्रवेश बडा सजीव हुआ है। सुखदा के साथ-साथ पाठक भी पहले दूसरे कमरे से हकूमत के लहजे में उसकी आवाज सुनता है—और लगभग साथ ही साथ उसके बूटों की भारी धमक। और शीघ्र उसे कमरे के द्वार पर खडा पाता है—'सिर से पैर तक निर्दोष युरोपियन लिबास मे।'[२४] पाठक स्वय आश्चर्यचकित हो जाता है कि यह व्यक्ति कौन है, पर जल्दी ही सुखदा से उसका जो कथोपकथन होता है, उसमें वह धीरे-धीरे खुलता जाता है। 'व्यतीत' के आरम्भ में अनिता के प्रथम परिचय के रूप में पाठक को केवल यही मिलता है कि एकात खोज कर अन्ती (अनिता) आती है और फूलो की माला जयत (तब तक उसका नाम प्रकट नही होता) के गले में डाल कर कहती है: 'लाओ, मेरा इनाम लाओ।'[२५] यह अन्ती कौन है और इसका जयत से क्या सम्बन्ध है—पाठक अभी इस बारे मे सोच ही रहा होता है कि दोनो में बातचीत शुरू हो जाती है और पाठक उसमें से कुछ पाने के लिए चौकस हो जाता है। पात्रो के प्रथम परिचय की यह शैली अत्यंत सजीव है।

आकृति-वेशभूषा वर्णन

जो लोग समय-समय पर अपना पहनावा वैसा ही रखते रहते है जैसे पहनावे की समाज उनके-से व्यक्ति से आशा रखता है, उनकी वेश-भूषा मे व्यक्तित्व की झाँकी पाना उतना कठिन नही होता जितना ऐसे लोगों के पहनावे में जो समाज के वेश-भूषा-सम्बन्धी नियमों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। इसलिए 'सुनीता' के श्रीकान्त ने जब अपने मित्र हरिप्रसन्न को दूर गगा के किनारे पर भीड मे हर्ष से आँखें फाड़े खडा देखा और पाया कि 'उसके बड़े-बडे बाल है और वह खद्दर का लम्बा-सा कुरता पहन रहा है,'[२६] तो उसने सोचा क्या वह साधु हो गया है। श्रीकात के साथ ही पाठक भी सोचता है कि या तो यह व्यक्ति साधु हो गया होगा, नही तो फिर यह आदमी निराला ही होगा। क्योंकि इस प्रकार की आकृति वाला आदमी या तो साधु हो सकता है या फिर सनकी। इस प्रकार, उपन्यासकार पात्रों की वेश-भूषा के वर्णन द्वारा उनके चरित्र की झलक दिखा दिया करता है।

---

२४. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ५९।
२५. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० २।
२६. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ९।

प्रारम्भ में नखशिख-वर्णन की प्रवृत्ति

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासो के पात्र उपन्यास के रगमंच पर आते समय अपनी पूरी की पूरी पोशाक से लद कर आते थे—और उपन्यासकार रीतिकालीन कवियो की भान्ति सिर से पैर तक के उनके पहनावे का विस्तृत वर्णन कर देता था। भगवतीचरण वर्मा के प्रारम्भिक उपन्यास 'पतन' तक में भी इस प्रवृत्ति का आभास मिलता है।[२७] कदाचित् इस प्रवृत्ति की व्यर्थता को देखकर ही प्रेमचन्द ने कहा था कि 'किसी चरित्र की रूपरेखा करते समय हुलियानवीसी की जरूरत नही। दो चार वाक्यो में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिएँ।'[२८] पर क्या प्रेमचन्द अपने इस सिद्धान्त के पालन में सतर्क स्वय रह सके ? निर्मला के पहले होने वाले पति भुवन-मोहन (बाद के डा० सिन्हा) का प्रथम परिचय कराते हुए वह लिखते हे . 'बिल्कुल माँ को पडा था। वही गोरा चिट्टा रग। वही पतले-पतले गुलाब की पत्ती के से ओठ। वही चौडा माथा, वही बडी-बडी आँखें······ऊँचा कोट, ब्रिजेज, टाई, बूट, हैट उस पर खूब खिल रहे थे······चाल में जवानी का गरूर था, आँखो में आत्म-गौरव।'[२९] पात्रो की शक्लसूरत के इस प्रकार ब्योरेवार वर्णन की परम्परागत शैली जैनेन्द्र के प्रारम्भिक उपन्यासो में भी मिल जाती है। पर जहाँ कही भी इसका प्रयोग हुआ है, सप्रयोजन ही हुआ है'। सुनीता में जब श्रीकान्त की हरिप्रसन्न से प्रथम बार भेंट हुई तब उसने देखा कि "हरिप्रसन्न के बड़े-बडे बाल थे। दाढी भी उग रही थी। खद्दर का एक लम्बा कुरता था, गले में चादर, ऊँची धोती और चप्पल"[३०]—और वह विस्मय में डूबा का डूबा खडा रह गया। यहाँ लेखक को हरिप्रसन्न की प्रवृत्ति का निरालापन दिखाना अभीष्ट है। इसी प्रकार यह बताने के लिए कि सुनीता की बहन सत्या ने अपनी सज्जा से कभी किसी को चौकाया नही, लेखक उसका परिचय यो कराता है : "सादी धोती, सीधी माग, अनबनी बोली, अकृत्रिम व्यवहार—बडी उमर तक इन्ही को यो ही लिये बढ़ती रही है।"

अधिकांशतः सक्षेप-शैली

जैनेन्द्र के उपन्यासो में ऐसे कुछ एक उदाहरण ही मिलेंगे, जहाँ उन्होंने पात्रों की सिर से पैर तक की हुलियानवीसी की है, पर मूलतः उनकी प्रवृत्ति कम से कम शब्दो में पात्रो को पाठकों की कल्पना में साकार करके उनकी तात्कालिक दशा को अभिव्यक्त कर देने की है। कोयले के व्यापारी के साथ रहती हुई 'त्यागपत्र' की नायिका को उसके भतीजे विनोद ने इस वेश में पाया : "देह दुबली थी, मुख पीला

२७. भगवतीचरण वर्मा, 'पतन', पृ० ४३।

२८. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृ० ४८।

२९. प्रेमचन्द, 'निर्मला', पृ० २६।

३०. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १५।

३१. वही,　　पृष्ठ १५७।

था। गर्भवती थी। एक धोती में अपनी सब देह ढाँके बैठी थी।"[३२] पर वही मृणाल जब परिस्थिति-वश अध्यापिका बन गई थी तब वह उसे इस रूप में मिली : "सफेद, बिना किनारे की धोती थी। बाल ढीले जूडे में बँधे थे। आँखो की स्निग्धता विशेषता से निगाह को आकृष्ट करती थी। देह इकहरी और वशीभूत।"[३३] उसके वेश से ही विनोद दोनों बार उसकी स्थिति को समझ गया। 'व्यतीत' के नायक जयन्त से निराश चन्द्री "उससे कुछ इंच पर सिर औंधा किए पडी थी। कपडा हट आया था, बाल बिखर आए थे—बाहे जैसे जयन्त की ओर बढते-बढते आपस में मिलकर उधर ही झिझकी रह गई थी। शरीर मानो समूचा ही हिचकियाँ ले रहा था।"[३४] चन्द्री की इस करुण मूर्ति से उसकी आन्तरिक व्यथा फूटी पडती है। प्रार्थना से उठी सद्य स्नाता 'विवर्त' की नायिका भुवनमोहिनी की शुचिशात मन'स्थिति उसके इस वेश में भी झलक पडती है . 'बाल खुले थे। शरीर पर साडी के अतिरिक्त सिर्फ मामूली अँगिया पहने थी। आभूषण का चिह्न न था।'[३५] 'जयवर्धन' के मनस्वी आचार्य का व्यक्तित्व उनकी इस मूर्ति तक में प्रतिबिम्बित हो उठता है : "पैंसठ वर्ष के जैसे कोई युवा पुरुष समक्ष हों; चेहरे पर शान्ति, शरीर सुता हुआ और सयत बदन पर सिर्फ एक उपरना पड़ा था और घुटने तक की धोती पहने थे।"[३६]

चलचित्र का सा सजीव चित्रण

जैनेन्द्रजी के कुछ एक वर्णनो में तो चल-चित्र की सी सजीवता मिलती है। समूची सज्जा का उल्लेख न करके वह केवल आवश्यक परिवर्तनो की ओर ही ध्यान खीचते चले जाते है। सुनीता ऊँचे स्टूल पर खडी होकर अपने स्टडी रूम की छत के जाले झाडू से साफ कर रही होती है। उसके "सिर पर से साडी हट जाती है। एक आध तिनका-जाला बालो मे उलझ गया है। किसी राग का भूला सा पद गुनगुना रही है।'[३७] बुहारी को बाँस में लगाकर वह मकडियो के जाले मे मार रही है, झाडू छोड़कर वह स्टूल से उतरी। "उतरते-उतरते साडी का छूटा पल्ला स्टूल की एक कील में उलझ गया। उसने जोर से खीच कर वह पल्ला छुडा लिया, जिसमें साडी जरा फट भी गई। एक फैंट देकर उसे कमर में कस लिया।"[३८] श्रीकान्त के साथ किसी और को भी आते पाकर "वह जल्दी में इतना ही कर सकी कि झाडू बँधे बाँस को

३२. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृष्ठ ५० ।
३३. वही, पृष्ठ ८२ ।
३४. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ १४५ :
३५. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ १०६ ।
३६. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृष्ठ ३२ ।
३७ जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ २२ ।
३८. वही, पृष्ठ २३ ।

कोने में टिका दे।' नीची निगाह चलते हुए हरिप्रसन्न की टाँग में जब कुर्सी लगी और वह उस पर बैठ गया तब इतने में सुनीता ने "धोती की फैंट खोल ली और सिर पर पल्ला ले लिया।"[३९] सुनीता के इस बदलते वेश की चलती-फिल्म दिखाकर लेखक मानो उसकी मनोझाकी दिखा रहा हो—कैसे उस की निश्चिन्तता धीरे-धीरे हड़बड़ाहट मे बदलती गई।

साँकेतिक चित्रण

जैनेन्द्रजी के उपन्यासो में ऐसे स्थल भी मिल जाते हैं, जहाँ वे किसी समय-विशेष की पात्र की आकृति-वेशभूषा का चित्रण एक साथ न करके उसे साँकेतिक शैली में दूर-दूर तक बिखेर देते हैं। ऐसे किसी एक स्थल पर का वर्णन केवल अधूरी झाँकी ही देता है। उन स्थलो को मिलाकर ही झाँकी पूरी हो पाती है। उस अविस्मरणीय रात्रि में सुनीता जब हरिप्रसन्न के साथ चलने को हुई तो उसकी उस समय की वेश-भूषा का उसकी और हरिप्रसन्न की बातचीत में ही सकेत मिलता है :

"हरिप्रसन्न की आवाज सुनते ही सुनीता उठ खडी हुई।

बोली, 'चलूँ ? अच्छा चलती हूँ।'

हरिप्रसन्न ने कहा, 'भाभी, ऐसे चलोगी। कपडे तो बदल लो।'

भाभी ने पूछा, 'ऐसे नही चलूँ ? कपडे बदल लूँ ?'

हरिप्रसन्न ने कुछ विस्मित स्वर में कहा, 'ऐसे कपड़े पहन कर क्यो चलोगी भाभी, जो रोज के पहनने के है। आज का दिन और दिन है। वह अपने में अलग है। वह हर दिन जैसा नहीं है। आज के इस दिन को साधारण मत बनाओ, भाभी! इसलिए और वस्त्र पहनो। भाभी, वह पहनो जो अच्छे से अच्छे हो।'

'रेशमी ?'

'हाँ, कम से कम रेशमी।'

सुनीता ने शान्त भाव से कहा, 'अच्छी बात है।'"[४०]

कुछ देर बाद सुनीता जब उसके सामने आई, तब वह देख कर एकदम दंग रह गया : "क्या उसने कल्पना में भी वह रूप पाया है, जो अब सामने है ? वस्त्र क्या व्यक्ति में इतनी प्रभा डाल सकते है ? सुनीता की इस मूर्ति को देखकर वह मन में सहमा-सा रह गया।"[४१] यहाँ लेखक केवल व्यंजना द्वारा पाठक के मन में सुनीता की सुन्दर मूर्ति उभार देता है। सुनीता उस समय क्या कुछ पहने हुई थी, इसका पाठक को कुछ पता नही चलता। पर रात के सन्नाटे में सुनीता जब एक-एक करके

---

३९. वही, पृष्ठ २४।
४०. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १७१।
४१. वही, पृष्ठ १७१।

अपने सभी वस्त्र हरिप्रसन्न के सामने उतार कर फेंकती जाती है, तब पाठक देखता है कि वह उस रात साड़ी पहने थी। उस साड़ी के नीचे जम्पर था और उस जम्पर के नीचे थी बाडी।[४२]

इसी प्रकार, प्रथम भेंट में ही जब क्रान्तिकारी लाल 'एक हाथ से ठोड़ी से सुखदा का चेहरा ऊपर उठा कर कहता है, 'यू आर रीयली ग्रेन्ड, सुखदा'[४३] तो पाठक पर भी सुखदा की तत्कालीन छवि की धाक बैठ जाती है, पर वह यह समझ नही पाता कि आज सुखदा में ऐसी क्या विशेष बात है। पहले तो कोई क्रान्तिकारी उस पर इस प्रकार मुग्ध न हुआ था। उस पर यह भेद तभी खुलता है जब वह सुखदा को अपने घर दर्पण के आगे खड़ी देखता है और वह यह स्वीकार कर लेती है कि उस दिन हरिदा की ओर जाते हुए उसने हल्का-सा 'मेक अप' किया था।[४४]

सफल एकांगी चित्रण

इतना ही नही, जैनेन्द्रजी तो एक कदम और आगे बढ़कर अपने उपन्यास के 'टेलीविजन' मे पात्रो के उन्ही अगोपागों को दिखाते है, जो पाठकों के मन में वे भाव उभार सकने के लिए पर्याप्त हो जिन्हें वे जाग्रत करना चाहते है। उपन्यास-जगत् में तो खैर पाठक को लेखक पर ही निर्भर करना पड़ता हे, पात्रो का पूरा आदमकद चित्र देखना चाहने पर भी वह नही देख पाता और उसे उतना ही ग्रहण करके रह जाना पडता है जितने पर लेखक अपना कैमरा 'फोकस' करता है। पर वस्तु-जगत् में भी सामने के व्यक्ति के अग-प्रत्यग को देखने की सुविधा रहने पर भी बहुधा हम उसे सिर से पैर तक नही देख पाते हैं। समय की कमी या आन्तरिक हड़बड़ाहट के कारण, या फिर औचित्य की दृष्टि से कुछ एक अगो पर ही हम अपनी दृष्टि टिकाये रहते है। यही बात औपन्यासिक पात्रों के लिए भी स्वाभाविक हो सकती है। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न को ही लें। एक तो वह श्रीकान्त के घर में पहली बार आया है और उसे आये अभी कुछ-एक घण्टे ही हुए हैं। दूसरे "अरे ठहरना, मैं तैयार नही हूँ" स्त्री की ऐसी हालत मे तो उसके सामने वह कभी नही पड पाया। ऐसा हरिप्रसन्न भोजन पाने के लिए नीचे गर्दन झुकाये चौके में बैठा हो और परोसने वाली हो सुनीता—तो क्या उससे आशा रखी जा सकती है कि वह उस "अनिन्द्य यौवना"[४५] की छवि आँखो में भर सकेगा। "जरा थाली आगे कीजिए" सुनीता की आवाज को सुनकर सहसा लज्जित-सा होकर उसने सामने को देखा तो पाया कि 'एक बाहु, गोरी-गोरी

४२. वही, पृष्ठ १८१।
४३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ६२।
४४. जैनेन्द्र, 'सुखदा' पृष्ठ ६६।
४५. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ३।

बाँह, देर से एक कटोरी थामे ठहरी है।"[४६] तभी पाठक को भी ज्ञात हुआ कि सुनीता की बाहें गोरी-गोरी थीं। हरिप्रसन्न को जब पता लगा कि श्रीकान्त के यहाँ कोई नौकर नही और सुनीता को ही सब काम अपने हाथ से करना पड़ता है तो वह एकदम गर्म हो गया : "--पत्नी दासी नही है।"[४७] तभी उसकी गम्भीर मुद्रा और बहस करने मे तत्परता देख श्रीकान्त ने कहा कि "यह शिकायत तो तुम उन्हीं से करना" पर "अब यह गले से दुपट्टा उतारो', गर्म न रहो और ठीक से बैठो।"[४८] तभी पाठक हरिप्रसन्न के गले में अभी तक पड़ा दुपट्टा देख पाता है, पर इसके अति-रिक्त और कुछ नहीं। सिनेमा जाने के लिए तैयारी करते समय सुनीता ने 'धानी रेशमी साडी पहनी और वह दर्पण के सामने गई।' दर्पण में से उसकी झलक मिल सकती थी—'उसने चोटी ठीक कर ली, माथे पर बिन्दी बैठा ली और चेहरे को एक निगाह ठीक देख कर पास कर लिया।'[४९] आवेश में आकर पूरी रफ़तार से कार चलाती हुई 'विवर्त्त' की नायिका भुवनमोहिनी के 'माथे के आगे से और गर्दन के पीछे लटकती लहराती उसकी थिरकती लटें और कन्धे पर से रह-रह कर फरफराहट से फहराती उसकी साडी की परतें'[५०] क्या उसे मोहिनी बनाने में पर्याप्त नहीं। 'व्यतीत' का नायक जयन्त चन्द्री के साथ टैक्सी में न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। जहाँ भी वे पहुँचते, वे दो ही रहते। शेष, सब लोग, सब चीजें जैसे उन्हें दृश्य बन जाते। अनुभूति का एक क्षण जो जयन्त के लिए अमर बनकर त्रिकालजयी हो गया, वह यह था कि—'चन्द्री की उंगलियाँ मेरे (जयन्त के) हाथो में थी···बारीक-बारीक वे उंगलियां।'[५१] जब नायिका की पतली-पतली उंगलियाँ ही नायक की अनुभूति को अमरता प्रदान करने के लिए पर्याप्त हों तो उसे नायिका के अन्य अंग-प्रत्यंगों को देखने तक की भी फुर्सत कहाँ होगी।

इम्प्रैशनिज़्म

कई बार हम किसी को देखते हुए भी नही देख पाते। व्यक्ति हमारे सामने है, हम उसे देख भी रहे होते हैं; पर मन न जाने कहाँ होता है कि पूरी तरह देख नही पाते, पर जो कुछ भी देख पाते है, उसमें क्या उस व्यक्ति की झलक के अति-रिक्त हमारी अपनी मनःस्थिति प्रतिबिम्बित नहा होती। सुनीता जब दर्पण के सामने चेहरे को सही करके लौटी तो अचानक हरिप्रसन्न से उसका सामना हुआ। हरिप्रसन्न

४६. जैनेन्द्र, 'सुनीता' पृष्ठ ३५।
४७. वही, पृष्ठ ३१।
४८. वही, पृष्ठ ३१।
४९. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ४४।
५०. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ १०।
५१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ७८।

पर उसकी छवि का ऐसा प्रभाव पडा कि वह मंत्रमुग्ध रह गया · 'उस समय रेशमी साडी की धानी आभा ही कापती हुई झलमल-झलमल उसकी आँखो में रह गई और उसके कानों में साडी की तरल पर्तों को छूकर जाती हुई समीर की सरसराहट भरने लगी।'[५२] न चोटी दीखी और न माथे पर की बिन्दी। हरीश दादा के मकान पर जिस स्थिति में सुखदा की भेंट क्रातिकारी लाल से हुई थी, उसमें असमजस में पडी वह उडती निगाह से यही देख सकी कि सिर से पैर तक 'यूरोपियन लिबास' में एक भरे पूरे शरीर का स्वल्पवान पुरुष[५३] उसके सामने खडा है। स्थिति सुलझने से पहले वह इससे अधिक न देख सकी थी। अपनी अँधेरी कोठरी मे मिलने आई अनिता को लौटते समय 'व्यतीत' का नायक जयत उसे डगडग लेकर दहलीज के बाहर छोड आया और स्वयं दरवाजे में से उसे जाते हुए देखता रहा। पर वह जो देख सका वह केवल यही था : 'नही, वह फूटी नही। मुँह को हाथो में नहीं लिया। सीधी चाल से सिर ऊँचा किए चलती चली गई।'[५४] लौटती हुई अनिता के किसी अग या वस्त्र विशेप पर जयत की दृष्टि नही टिकी। वह उस समूची को ही आँखो में भरता रहा और वह अनिता उसे कभी भूल न पाई। इस प्रकार के स्थलो पर लेखक 'फोटो-ग्राफिक' शैली की बारीकियो में न पड कर 'इम्प्रैशनिज्म' को ही अपनाता है।

अनुभाव-चित्रण

किसी स्थिति में पड़ते ही व्यक्ति की प्रतिक्रिया एकदम प्रकट नहीं हो जाया करती। ज्यों-ज्यो और जिस-जिस रूप में वह उससे प्रभावित होता जाता है, त्यो-त्यो और उसी रूप में उसकी मनोदशा भी बदलती जाती है। स्थिति में पड जाने के पश्चात् और प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले व्यक्ति के अग-प्रत्यगों में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन होते है, उनमें व्यक्ति की बदलती हुई मनःस्थिति प्रति-बिम्बित हो उठती है।[५५] व्यक्ति को समझने के लिए इन बाह्य शारीरिक परिवर्तनों पर आँख रखना उतना ही आवश्यक हो जाता है, जितना उसकी प्रतिक्रिया को जानना।

औपन्यासिक पात्रों पर भी यह बात समान रूप से लागू होती है—जैनेन्द्र जी के पात्रो पर तो विशेप रूप से, क्योंकि उनके पात्र हम और आपकी तरह डेढ़-डेढ़, दो-दो मन के नही। वे हम से कम मासल और अधिक मानसिक है।[५६] उनके

---

५२. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ४६।

५३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ५६।

५४. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ १८।

५५. Stagner, 'Psychology of Personality', p. 239.
Allport, 'Personality · A Psychological Interpretation', p. 485.

५६. जैनेन्द्र कुमार, "उपन्यास में वास्तविकता", 'वीणा', दिसम्बर १९४१।

अधिकाँश पात्र बहिर्मुख न होकर अतर्मुख हैं और यही कारण है कि जैनेन्द्र जी के उपन्यासों तक पहुँचने पर हिन्दी-उपन्यास के पाठक को पहली बार ऐसा लगता है कि उसका पाला ऐसे पात्रों से पड़ रहा है जो अपने अंतस्तल में कही गहरे बहुत कुछ छिपाये हुए हैं, पर उसे पाने के लिए उसे उन पात्रों के नही अपने मन की गहराइयो को मापना होगा। यहाँ आकर उसे ऐसा लगता है कि वह चला तो था पात्रो को परखने, पर परखा स्वय ही जा रहा है। जैनेन्द्रजी के पात्रों के अन्दर ही अन्दर खिचडी पकती रहती है। उनमें प्रतिक्रियात्मक उबाल तो बहुत ही कम आता है। उनके मन मे घटनाएँ घटित होती है और मन में ही उनकी प्रतिक्रिया होकर रह जाती है, बाहर उसकी भाप तक भी नही आती। तो भी यदा-कदा आंतरिक भाव जोर मार कर उनके अगप्रत्यंगों में एक रेखा खीच जाते है जो एकाध क्षण से अधिक नही टिक पाती। यदि उस क्षण यह रेखा पकड में आ गई तो पात्रो की मन:स्थिति का कुछ अनुमान लग गया, नही तो उनकी रहस्यमयता उन्हीं में समा गई। इसलिए इनके पात्रो को समझने में उनके अनुभावो का अध्ययन काफी सहायता देता है।

तात्क्षणिक मनोदशा का चित्रण

'सुनीता' का हरिप्रसन्न सत्या को पढ़ाने का जिम्मा लेने से कतराता था। वह विचार में डूबा बैठा था कि सत्या चुपचाप उसके पास आ गई और बंधे हुए स्वर में बोली—'मुझे जीजी ने भेजा है—पढ़ने के लिए भेजा है।' सुनकर हरिप्रसन्न इतना घबराया कि 'जल्दी-जल्दी हाथ की उँगलियाँ आपस में मलने लगा।'[५७] जिस रात सुनीता को हरिप्रसन्न के साथ जाना था उस साँझ सत्या उसके पास थी, जब किसी बहाने भी वह उसे न टाल सकी तो उसे कहना पडा कि वह सिनेमा देखने नही, और कहीं जा रही है। तब ज्यों ही सत्या ने सहानुभूतिपूर्ण उच्छ्वास में पूछा—'जीजी, कहाँ जा रही हो', 'सुनीता की आँखों में एक-एक मोती बन आया।'[५८] और उसने कहा—'सत्या मेरी बहन, तू रहने दे। मै क्या बताऊँ कि कहाँ जा रही हूँ।' सुनीता के इन शब्दो से अधिक उसकी विवशता का हाल उसके आँसू बताते हैं।

इसी प्रकार, उस रात जब श्रीकात घर पहुँचा तो उसने देखा कि जीने में बाहर बडा ताला पडा है। उसकी समझ में कुछ नही आया। एक-दो मिनट वह वही खडा रहा फिर 'दायें हाथ से सिर को खुजलाता हुआ[५९] लौट पडा, मानो उसके सिर पर जोर से चोट पड़ी हो और वह उस चोट के स्थल को खुजला रहा हो।' श्रीकात के इस प्रकार दाएँ हाथ से सिर को खुजलाने की ओर यदि ध्यान न रहे तो सुनीता

५७. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १०६।
५८. वही, पृष्ठ १६१।
५९. वही, पृष्ठ १७०।

और हरिप्रसन्न के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रति उसकी अनुदारता उपन्यास भर में और कही भी नही मिल सकेगी। कल्याणी ने वकील साहब के घर आकर भी जब अपने मरने की बात छेड़ी तो उन्होंने कहा कि वह इस तरह की बात सुनना नही चाहते। तब कल्याणी का चेहरा गिर गया और वह धीमे से बोली—'आप मेरा विश्वास नहीं करते। अच्छा—' यह 'अच्छा' उसने इतने उच्छ्वसित भाव से कहा कि वकील साहब उसके लिए तैयार नही थे।'[६०] और इस उच्छ्वास में ही मानो उसकी व्यथा को थोड़ा बहुत मार्ग मिला। 'व्यतीत' के नायक जयत ने जब श्रीमती कपिला के काम-काजी साधारण और अनलंकृत हाथो को अपने होठों से छुआ कर कहा—'तुमार आशीश चाई' तब वह न जाने कैसी सघन अनुभूतियो से भर गई कि 'उसकी बरोनियाँ फैल आई', देह जैसे कटकित हो उठी हो। साधारणता चेहरे पर से लुप्त हो गई और वहाँ दिव्यता आ छिपी।'[६१] क्षण भर ही वह इस भाव में विभोर दीखी और क्षण बीतते 'यहाँ से वहाँ तक उस पर डर लिख आया।' कही वह पहला क्षण उपेक्षा मे निकल जाए तो कपिला के चेहरे पर भय की रेखा ही दीखेगी और जयत के प्रति उसकी भावना को समझ सकना कठिन हो जाएगा।

इसी प्रकार, सिनेमा हाल में बैठे-बैठे राना और मीरा के चरित्र पर हो रही चर्चा के बीच जब सुनीता ने मीरा का पक्ष लेकर कहा—'मै तो राना के साथ रो ही सकती हूँ। पर मीरा के साथ भी मुझे इजाजत दे दो कि मैं रोना चाह लूँ—' तो श्रीकात ने सुनीता के हाथ को अपने हाथ में लेकर भावावेग में कहा—'सुनीता।' तभी सुनीता ने क्षमा माँग ली। श्रीकात ने फिर इतना ही कहा—सुनीता। और धीमे से अपनी गोद में से उठाकर उसका हाथ उसी की गोद मे रख दिया।[६२] श्रीकात द्वारा सुनीता के हाथ को अपने हाथ में लेने और फिर उसे उसी की गोद मे धीमे से रख देने में उसके तत्कालीन मनोभाव अभिव्यक्ति पा जाते है। ट्रेन उलटने के बाद 'विवर्त्त' का क्रान्तिकारी जितेन जब भुवनमोहिनी के यहाँ आ गया तो अखबार पढ़ते-पढ़ते उसके मन में जो खलबली मची, उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह 'जोर-जोर से सिगरेट के कश खीचता हुआ कमरे में टहलने लगा—और अलमारी के शीशे के सामने जाकर अपने को पूरी तरह देखने लगा।'[६३] लगभग इसी तरह के अनुभाव त्यागपत्र में मृणाल का पत्र पाकर सुशीला के भाई[६४] तथा सुखदा से प्रथम भेंट के समय क्रान्तिकारी लाल[६५] के प्रकट हुए थे।

---

६०. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ४५।

६१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ १५६।

६२. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ ५६।

६३. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ २३।

६४. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृष्ठ २३।

६५. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ५१।

मुख-इंगित (फेशियल एक्सप्रेशन्स)

ऐसे अवसर बहुत ही कम आते हैं—जब जैनेन्द्र जी के औपन्यासिक पात्रों के मनोवेग उनके हृदय के ज्वालामुखी को फोड़कर धमाके के साथ निकल पड़ें। ऐसा तभी हो पाता है जबकि पात्रों के भरसक रोकने पर भी उनके मनोवेग बरबस उमड पडते हैं। तो भी पात्र समूचे नहीं उबल पडते, बल्कि शीघ्र ही वे प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। उनमें प्रतिक्रियात्मक विस्फोट तो क्षण भर के लिए होता है पर उसको नियन्त्रण में लाने के लिए पात्र को जो जोर लगाना पड़ता है, वह कुछ क्षण के लिए उसके चेहरे पर आंतरिक संघर्ष की छाया छोड जाता है, जिसे देखने से पात्र के भीतर का थोडा-बहुत हाल ज्ञात हो जाता है। वकील साहब से कल्याणी के पति डा० असरानी जब कल्याणी द्वारा अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा करके पूजा-पाठ में लगे रहने की बात बढ-चढ़ कर करते रहे; तो पहले तो वह सब सुनती रही, निगाह को मेज पर उसी तरह एक-टक बांधे अचल भाव से बैठी रही। पर जब वह बन्द नहीं हुए तो कल्याणी एकदम फूट पडी—'बस हुआ। अब आप चुप रहिये', बड़े जोर से ये शब्द कहकर वह 'कांप आई।' अपना उद्वेग उससे नहीं सँभल सका। "क्या चाहते हैं आप? यह कि मैं मर जाऊँ?" कहते-कहते उसके "होंठ कांप कर नीले पड़ गये।"[६६] उन दोनों के लिए यह अप्रत्याशित था पर इससे उन पर जो प्रकट हुआ, उससे वे गुम-सुम, स्तब्ध भाव से देखते और सुनते रह गए। उसकी वाणी कुछ और तीखी हो गई और वह पति की ओर देखकर बोली—"तुम साफ-साफ यह क्यों नहीं कह देते हो कि तुम क्या चाहते हो? मुझे तिल-तिल करके जलाना चाहते हो—सो वह हो तो रहा है।—अच्छा तो मै अभी अपनी सब मूर्तियाँ तोड़ देती हूँ," यह कहकर ज्यो ही वह झपट कर चल पडने को हुई कि वकील साहब ने उसे रोक दिया और "वह क्षण भर उसे देखती की देखती रह गई"[६७] और फिर सहसा धप से अपनी कुर्सी में गिर गई। कुछ देर शून्य में निगाह गाड़े देखती रही और फिर उच्छ्वास के साथ बोली—"मैं क्या···"यह कहते-कहते मुँह हाथों से ढक कर फफक-फफक कर रोने लगी।"[६८] इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक विस्फोट को देखने पर भले ही कल्याणी एक बाघिन प्रतीत हो, पर उसके अनुभाव से विश्वास हो जाता है कि वह बाघिन नही, बिंधी हिरणी है, बिध कर ही मानो बाघिन बन उठी हो।[६९]

क्रांतिकारी गंगासिंह के प्रति सुखदा की सहानुभूति जब एक-दम अपने पति के प्रति घृणा के रूप में फूट पड़ी और वह अपना संतुलन खोकर पति को भला-बुरा कह बैठी तो उसे स्वयं ही अपने से डर लग आया। उसके मन में पति के प्रति ऐसा विद्वेष पैदा हो रहा था, कि वह स्वयं उससे सहम गई और गुस्से से फफकती हुई

६६. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ४३।
६७. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ४४।
६८. वही, पृष्ठ ४४।
६९. वही, पृष्ठ ४४।

कमरे से बाहर निकल गई।[७०] 'व्यतीत' की चन्द्री को लेकर जयंत गया तो कश्मीर 'हनीमून' के लिए था पर अंतिम दिन तक भी वह अपने को उसे न साप सका, बल्कि लौटने से पहली रात वह उसे डेरे में सोई छोड स्वय बाहर चाँदनी में निकल गया। जब वह चुपचाप लौटा तो चन्द्री ने उसे आवाज दी। जयत ने उसे आश्चर्य से देखा और कहा कि वह उठ क्यों गई, सो जाए। सुनकर चन्द्री ने "दो-एक क्षण उसे देखा। कैसी निगाह थी। फिर एकाएक लिहाफ कंबल एक ओर फैंक कर वह खडी हो गई —आँखों मे कड़कती बिजली, बदन तना जैसे कमान।[७१] जयत ने धीमे से कहा—"चन्द्री सर्दी लग जाएगी।" तभी चन्द्री ने दाँत मिसमिसा कर झटके से तन के तनिक से अन्तिम वस्त्र को भी उतार कर उसके मुँह पर जोर से फैंका। वस्त्र को जल्दी से हाथो में रोक जयंत ने आगे बढ़कर चन्द्री को हाथों में उठाया और हठात् बिस्तर में दुबका दिया। लगा था, प्रतिरोध वह करेगी। प्रतिरोध उसने किया भी, किन्तु जैसे रहने को नही, मिटने को वह हुआ था। और फिर बिस्तर में वह शान्त हो गई।[७२] कामदेव के शर से बिंधी इस नवविवाहिता के मनोभाव उसकी प्रतिक्रिया में इतने प्रतिबिम्बित नहीं मिल सकते, जितने उसके चेहरे पर लिखे मिलेंगे।

बनावटी मुख-इंगित

जैनेन्द्र जी के पात्रों को समझना तब और भी कठिन हो जाता है जब वे आंतरिक भावो को दबाकर चेहरे पर सायास विपरीत भाव ले आने का प्रयत्न करते हैं। फिर भी आधे क्षण के लिए ही सही, असली भाव बरबस उनके चेहरे पर झलक मार जाता है और यदि उस क्षण उनके चेहरे की ओर ध्यान न रहे तो उनको समझने में भूल होने की सम्भावना रहती है। वकील साहब के घर से लौटते समय मोटर चलाते-चलाते कल्याणी हँसकर कह रही थी कि उसकी सारी व्यस्तता एक प्रपंच है। पर जब वह हँसती हुई यह कह रही थी, उसकी 'निगाह में कातरता की झलक दीख आई थी', पर पलक बीतते हठात् दीखावह मुस्करा भी रही थी।[७३] इसी प्रकार, जब बेतहाशा हँसते-हँसते आँखो में आँसू भरकर कल्याणी अपनी कहानी सुना रही थी कि जब वह कुछ दिन गायब हो गई तो किस प्रकार उसके पति डा० भटनागर के घर उससे लडने चले गये थे, तो कभी-कभी सहसा यह आभास मिल जाता था कि "उसके भीतर हँसी से दारुण कुछ और है।"[७४] इसी

७०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ २७।
७१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ११२।
७२. वही, पृष्ठ ११३।
७३. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ३८।
७४. वही, पृष्ठ २९।

प्रकार, 'विवर्त्त' की नायिका भुवनमोहिनी ने जितेन की ओर से पुलिस अफसर चड्ढा का ध्यान हटाने के लिए जब उसे अपने यहा निमन्त्रित किया तो उसके साथ हुई बातचीत में वह अपने आतरिक भावों को चेहरे पर न प्रकट होने देकर उसके विपरीत भावों का आरोप करती रही। एक बार "क्षण के लिए वह भीतर से विचलित हुई पर सँभल गई।" दूसरी बार, "उसके हँसते हुए चेहरे पर तीक्ष्ण व्यंग का भाव"[७५] चड्ढा को दीखा। चड्ढा आतरिक संदेह के पक्का हो जाने पर भी उस भाव को चेहरे पर आने से सफलतापूर्वक बचा गया।[७६] ऐसे स्थलों पर लगता है कि पात्र भीतर से कुछ और है। "एक चेहरा है जिसे ओढ़ लेने से काम बनने में मदद मिलती है, एक रग जो वास्तविकता को अन्यथा दिखा सके। चमक ऊपरी है, भीतर जाने क्या है।"[७७]

इस प्रकार देखते हैं कि जैनेन्द्र जी के पात्र जो कुछ भी थोड़ा-बहुत समझे जा सकते हैं, उसका काफी श्रेय उन पात्रो के चेहरों पर खिच जाने वाली भाव की रेखा को है—वह रेखा भले ही क्षण भर से अधिक न टिके पर वह पात्रों के मन का भेद खोल जाती है। जैनेन्द्र जी के पात्र भी इस बात को अच्छी तरह जानते है। शिमला के स्टेशन पर ट्रेन के चलते समय हाथ जोड़े विदा देती चन्द्री का चेहरा 'विवर्त्त' के नायक जयंत के ध्यान से जल्दी नहीं उतरा। यह आकर्षण चन्द्री के चेहरे के सौंदर्य का इतना नहीं था, जितना कि उस चेहरे पर खिची भाव-रेखा का था। उस समय जयत के शब्दों में जैनेन्द्र इस तथ्य को और स्पष्टता देते हुए लिखते है : "उमर पर चेहरे सभी सुन्दर होते हैं। लेकिन फिर भी कोई याद रह जाता है। शायद याद क्षण रहता है। क्षण ही आकृति के सौंदर्य को भाव का सौंदर्य दे जाता है। आकृति शरीर के साथ चली जाती है, लेकिन जो शरीर में है नही, सिर्फ भाव को दर्शाने के लिए रूप में रेखा ले उठी है, वह सहज ही कैसे चली जा सकती है? वह मन पर ठहर जाती है और धोना मुश्किल हो जाता है।"[७८]

अन्तर्द्वन्द्व

नियतिवादी पात्र

द्वन्द्व पात्रों के भीतर और बाहर दोनों ही हो सकता है—अन्दर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों में और बाहर दूसरे पात्रो से, समाज से या भाग्य आदि अति-मानवी शक्तियों से। जैसा कि हम देख चुके हैं, जैनेन्द्र जी के पात्र मासल कम और मानसिक अधिक हैं। भाग्य से होड़ लेकर अपना पुरुषार्थ दिखाने की लगन उनमें है

७५. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', १३४-१३५।
७६. वही, पृष्ठ ३२।
७७. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृष्ठ ३६।
७८. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ६८।

नहीं ; उल्टे, वे तो नियतिवादी है । स्थिति को उसके यथातथ्य रूप मे वे ननु-नच किये बिना स्वीकार कर लेते है । 'त्यागपत्र' की नायिका को जब उसके पति ने स्वय यह कह कर छोड़ दिया कि वह उसका पति नही है, तब वह सच्ची पतिव्रता नारी के नाते उस पर अपना भार नही डाले रहती, "पति मुझे नही देखना चाहते, यह जानकर मैने उनकी आँखो के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया ।"[७९] परख की कट्टो के शब्दों मे पात्र जब यह मान लें कि "अनहोनी घट नही सकती, होनी टल नही सकती । जो हो गया, हो गया । उसे मिटाना अब बस से बाहर की बात है"[८०] तो वे बाह्य सघर्ष के प्रति उन्मुख हो कैसे सकते है ? जैनेन्द्र जी के सभी पात्र नियति के बहाव में बहते है । श्रीकात की चिट्ठी पर सोचती हुई सुनीता भी यही स्थिर करती है : "मुझे स्वय कुछ नही रहना है नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म, बिसार देना है ।"[८१] सुखदा भी 'विधि के दुर्लेख'[८२] को अपनी आँखों के सामने देखती है, और मानती है कि "जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त निर्णय समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालकों के निर्णय की भाँति है ।"[८३] "जो व्यक्ति है, वह वही नही है । पापी, पापी नही है, पुण्यात्मा पुण्यात्मा नही हैं ; चोर, चोर नही है; डाकू, डाकू नही है तथा वेश्या, वेश्या नही है । सब वे है जो उन्हे होना बदा है । यह न मान लिया जाये कि यह कह कर मै अपने को क्षमा करती हूँ । आशय यही है कि किसी के लिए किसी को दोप मै दे नही पाती ।" 'विवर्त्त' की मोहिनी भी जितेन को ढाढस बँधाती हुई कहती है : "घबराओ नही ! जो हुआ हो गया । होनहार कब टला है ।"[८४] 'व्यतीत' का नायक जयंत भी भाग्य के हाथो लाचार है : "एकाएक जगह छोडने का निश्चय कैसे बन गया, क्यों बन कर डिग न सका, आज भी मैं जानता नही हूँ । सिवा इसके कि अभाग्य साथ चलता है, और क्या कहूँ ।"[८५] यही शिकायत 'जयवर्धन' के पात्रों को है । एक ओर आचार्य कहते हैं "दड भी ईश्वर का है, जयवर्धन बेचारे का नही है, इसी से मै उसे अपनाये हुए हूँ... ईश्वर से तो लडाई चल नहीं सकती, भई ।"[८६] दूसरी ओर विल्बर हूस्टन के आश्चर्य प्रकट करने पर कि क्या जयवर्धन भाग्यवादी हो सकता है, जयवर्धन कहता है : "मैने कभी नही पाया, विल्बर, कि कुछ मेरे वश का है, तिनका तक उसके हिलाए हिलता है ।"[८७]

७९. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृष्ठ ६२, 'कल्याणी' ?
८०. जैनेन्द्र, 'परख', पृष्ठ १०३ ।
८१. जैनेन्द्र, 'सुनीता' पृष्ठ १४४ ।
८२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ ६ ।
८३. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृष्ठ १८ ।
८४. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ २६ ।
८५. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृष्ठ ४० ।
८६. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृष्ठ ३४ ।
८७. वही, पृष्ठ ११२ ।

ऐसी स्थिति में अपने बाहर जूझने के लिए, संघर्ष-निरत होने के लिए, जैनेन्द्र जी के पात्रों को कुछ रहता ही नहीं। बाह्य संघर्ष के कारण होते हुए, भी वे उनके प्रति आंख मूद लेते है, उदासीन हो जाते हैं।

सामाजिक संघर्ष का अभाव

शेष रही, समाज से संघर्ष की बात। जैनेन्द्र जी के पात्र समाज में रहते हुए भी उससे कटे हुए से अलग दिखाई देते हे। समाज के नाम पर उनका वास्ता पडता है पति या पत्नी के किसी मित्र या प्रेमी से। जैनेन्द्र जी की नायिकाओं के प्रेमी और पति एक न होकर अलग-अलग दो पुरुष होते हैं। जिनसे उनका प्रेम हो जाता है, उनसे विवाह नहीं हो पाता और जिन से विवाह हो जाता है उन्हें वे मनसा-वाचा कर्मणा समर्पित नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार का घोर संघर्ष उनमें हो सकता था। यदि कोई और पात्र होता तो ऐसी अपवाद-जनक स्थिति में या तो अपने जीवन-साथी को मार देता या स्वयं मर जाता, नहीं तो पागलखाने में जरूर होता।[८८] पर जैनेन्द्र जी के पात्रों के साथ ऐसा कुछ भी नहीं होता। और तो और, इस विषय पर उनके चेतन मन में विशेष संघर्ष भी नहीं छिड़ता, क्योंकि वे स्थिति को साधारण मानते हुए उससे मानसिक संतुलन बैठा लेते हैं। वास्तविकता प्रकट होने पर पति उदार हो जाते हैं और 'विवर्त्त' के नायक नरेश की तरह पत्नी को ढाढ़स बँधाते हुए कहते हैं : 'मुँह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नहीं। प्यार का हक सब को है। तुम्हारा, मेरा, उसका, सब का'[८९] और उसका मार्ग प्रशस्त करते हुए कहते हैं : 'अगर मैं सौ फीसदी तुम्हारा हूँ, तो एक फीसदी भी मुझे अतिरिक्त गिनती में न लोगी।'[९०] सुनीता को श्रीकांत ने भी तो अपनी चिट्ठी में यही बात लिखी थी : 'सुनीता, तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुमको गलत नहीं समझ सकता। तब तुम से मैं चाहता हूँ कि······मेरे खयाल को अपने से तुम बिल्कुल दूर कर देना।'[९१] सुखदा के पति का भी तो उसे यही कहना था : 'मेरी अपेक्षा तुम्हे तनिक भी इधर से उधर करने की नहीं है। तुम को न रहने

---

८८. Andre Tridon, 'Psycho-Analysis and Love', Perma Books Edn., 1949 p. 39 :

"The unsuccessful lover...... may be in extreme cases, a pitiful individual to contemplate......It may, if the adrenal cortex, productive of anger and violence chemicals, has been sufficiently stimulated by suffering, provoke attempts at vengeance, cause hatred, murderous cravings which, if indulged in, land the patient in jail, if repressed with difficulty, land him in a sanitorium."

८९. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृष्ठ ३३।

९०. वही, पृष्ठ ७३।

९१. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृष्ठ १३५।

देकर मै क्या पाऊँगा ? तुम को पाऊँगा तो तभी जब तुम तुम हो।'[६२] ... 'मै हूँ, यही तुम्हारी दिक्कत है। है न सुखदा। आज तुम से कहता हूँ कि मुझे अपने मे मान लो। इस तरह की बातों में मेरा अलग से विचार मत किया करो।'[९३]

इस प्रकार, जैनेन्द्र की नायिकाएँ पर-पुरुष से प्रेम करने पर भी अपने पतियों में बाह्य अथवा आंतरिक संघर्ष नही उठा पाती। जब पति स्थिति की यथार्थता को स्वीकार करके उससे मानसिक संतुलन बैठा ले, तो उनमें द्वन्द्व हो कैसे ?

अचेतन संघर्ष

जैनेन्द्र जी की नायिकाओं को भी बाहर संघर्ष के लिए कुछ नही रहता। लोकापवाद की उन्हे चिन्ता नहीं; समाज तो मानो उनके लिए अस्तित्व ही नही रखता। शेष रहे पति, वे उनके मार्ग में अड़ते नही, प्रत्युत् उन्हें प्रोत्साहन ही देते रहते है। तो फिर द्वन्द्व किस से हो ? जैनेन्द्र जी की नायिकाओं में बाह्य संघर्ष न सही, अंतर्द्वन्द्व तो है ही। मानसिक यातनाओं के कुण्ड में वे तिल-तिल कर जलती रहती हैं। पर क्यो ? माना कि जिससे उनका प्रेम हो गया वह उनका पति न बन पाया और जो उनका पति बना उससे उन्हें प्रेम न हो सका। पर जब उनका पति स्वय ही उनके और उनके प्रेमी के बीच मे से हट कर उनका मार्ग प्रशस्त कर दे, और यह केवल कथनी ही नही करनी में भी ला दे, तो फिर उनमे अंतर्द्वन्द्व क्यों हो ? संघर्ष सदा परस्पर विरोधी तत्त्वो में होता है, और वे तत्त्व जितने अधिक सशक्त और अकाट्य होगे, उतना ही भीषण उनमें द्वन्द्व युद्ध होगा। पर जो स्त्री बिना किसी प्रकार के संकोच के विश्वासपूर्वक अपने प्रेमी से कह सकती हो : 'मैं सब कुछ तुम्हारी हूँ और पति की केवल पत्नी,'[६४] वह भी यदि मानसिक यातनाएँ भोगती रहे और घुल-घुल कर मरती रहे तो भला क्यो ?

कुछ भी हो, सच यह है कि पतियों से आश्वासन पाकर भी जैनेन्द्र की नायिकाएँ आश्वस्त नही हो पातीं। पातिव्रत धर्म के परम्परागत संस्कार उनके अचेतन मन में इतने गहरे धंसे है कि वे पति के प्रति उदासीन होने के विचार-मात्र से अपने को भीतर ही भीतर अपराधी पाती हैं और अपने को पति से तोड़ कर एकदम अलग नही कर पाती। हरीश दादा द्वारा आयोजित क्रांतिकारी दल की बैठक में भाग लेने के लिए घर से चलते समय पति को सुखदा ने ये शब्द कहे थे : 'स्त्री के भी हृदय होता है और वह भी दायित्व रखती है। मैं इस सभा में जाऊँगी, तुम रोक नही सकते।'[६५] जिस सुखदा को अपनी निर्णायक बुद्धि पर इतना विश्वास था, अब उसी सुखदा को हरीश से कहते पाते है : 'मै तो साथ हूँ, पर पदाधिकारी न बनावे।

---

६२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ५२।
६३. वही, पृ० ५३।
६४. जैनेन्द्र, 'विवर्त', पृ० २७।
६५. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ३१।

और अभी 'उन' से पूछना भी ·····?'[९६] ता आश्चर्य होता है। इसी प्रकार, प्रभात जब उससे महिलाओ की एक सभा की अध्यक्षता करने की स्वीकृति लेने आया तो अपने आप को वहाँ जाने के लिए विवश पाते हुए स्वयं स्वीकृति दे कर अ त में उसे अनायास ही कह उठती है : 'अच्छा, उनसे पूछ लो',[९७] यद्यपि वह जानती है कि पति ने उसे पूरी छुट्टी दे रखी है। सुखदा जो कुछ दिन दल के मकान में अकेली रही, उनमें अपने उन्हीं संस्कारो के कारण उसे ऐसा लगता रहा मानो वह नरक की यातना भोग रही हो। वहाँ वह सच्चे मन से पति का आह्वान भी करती रही : 'आज चौथा दिन है, निश्चय आज स्वामी आएँगे। कहाँ गए है, क्यों गए है, नही जानती······पर उन्हें *आज आ जाना ही होगा नहीं तो सब कुछ मेरे लिए निपिद्ध बन जाएगा।* उन्हे आना है, आना है, आना है।'[९८] इसी प्रकार, 'विवर्त्त' की नायिका भुवन मोहिनी पर जब जितेन ने जोर डाला कि वह अपने पति पर उसका भेद न खोले, तब यह जानते हुए भी कि पति को उस पर विश्वास है और उसने उसे स्वतन्त्रता भी दे रखी है, पति के प्रति विश्वासघात करने की बात सोचते ही मानो उसे बिच्छू डक मारने लगते हों।[९९]

विवेक-बुद्धि और यौन प्रवृत्ति में द्वन्द्व

जैनेन्द्र जी के पात्रों के, विशेपतः उनकी नायिकाओ के, अचेतन मन में उनकी विवेक-बुद्धि (कान्शिएंस) तथा यौन (सेक्स) प्रवृत्ति में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है और वही अजाने में उनके भाव और विचार को प्रभावित करके उनकी विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओ को प्रेरित करता रहता है। उनकी नायिकाएँ भरसक चेष्टा करने पर भी अपने पति को समर्पित नही हो पातीं। उनके अचेतन में कही यह भाव गहरा धंसा रहता है कि स्त्री के भी हृदय होता है और वह भी कुछ दायित्व रखती है। उसके बुद्धि होती है और वह निर्णय भी कर सकती है, तो वह पति की गुलामी क्यों करे।[१००] उनके भीतर की अहंता उन्हें उकसाती रहती है कि 'वे देखें और दिखाएं कि वे क्या हो सकती हैं और क्या हैं।'[१०१] पर वे प्रेमी को भी तो समर्पित नहीं हो पाती थीं, कदाचित् इसलिए कि उनकी विवेक-बुद्धि उन्हें पति के प्रति विश्वासघात करके उन्हें अपनी ही नजरों में गिरने नही देती थी। यद्यपि लम्बे मानसिक संघर्ष में उनकी विवेक-बुद्धि ही प्रबल रहती है, तो भी अंततोगत्वा उनकी यौन प्रवृत्ति उनकी इस विवेक-बुद्धि पर विजय पा जाती है। सुनीता

---

९६. जैनेद्र, 'सुखदा,' पृ० ३३।
९७. वही, पृ० ५५।
९८. वही, पृ० १३७।
९९. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० ३६।
१००. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ३१।
१०१. वही, पृ० २८।

का हरिप्रसन्न के प्रति, सुखदा का क्रांतिकारी लाल के प्रति, विवर्त की नायिका भुवनमोहिनी का जितेन के प्रति समर्पण तथा 'व्यतीत' की नायिका अनिता का जयत से रात के उच्छृंखल व्यवहार के लिए क्षमा मागते हुए कहना--"जयंत, रात की बात भूल जाना। मै सुध में न थी। अब सुध में हूँ। कहती हूँ, मै यह सामने हूँ। मुझ को तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि चाहो ले सकते हो"[१०२]—अंत में उनकी विवेक-बुद्धि पर उनकी यौन प्रवृत्ति की विजय घोषणा ही तो है। 'सैक्स' की प्रवृत्यात्मक उत्तेजना ने उन्हें अपनी संकीर्णताओं से निकाल कर दूसरे से मिलने के लिए मजबूर कर दिया। किसी दूसरे की अपेक्षा को स्वीकार कर लेना अहं भाव की पराजय है; दूसरे के प्रति समर्पण मे अहं चूर-चूर हो जाता है।[१०३]और यही जैनेन्द्रजी को अभीष्ट भी था। उनका विश्वास है कि 'कोई भी एकाकी नही' है और किसी का कोई अलग स्वत्व नही है'...[१०४] 'एक से दो होने की अपेक्षा, आवश्यकता,...मनुष्य के भीतर तक व्याप्त है। न कहो विवाह, कहो प्रेम। लेकिन आदमी अपने में अपने को पूरा नही पाता। दूसरे की अपेक्षा उसे है ही।'[१०५]

पर जैनेन्द्र जी के पुरुष पात्र अपने को अपूर्ण पाकर दूसरे की अपेक्षा रखते हुए भी अपने अहं में डूबे रहते है—न स्वय किसी को समर्पित हो पाते है और न किसी के समर्पण को स्वीकार ही कर पाते हैं। 'सुनीता' का हरिप्रसन्न गिरता-गिरता एकदम बच जाता है। 'कल्याणी' का प्रीमियर जीवन भर अविवाहित रहता है। 'सुखदा' के कात का और विवर्त्त' के नरेश का अहंभाव अपनी पत्नी के प्रति उनकी उदारता का रूप धारण कर लेता है। 'व्यतीत' का जयत भी अपने को अपने में लिए चलता गया, कहीं पूरी तरह देकर खतम न हो सका।[१०६]

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

इस प्रकार के पात्रों के भीतर मच रहे द्वन्द्व को पकड में लाना कोई सरल काम नही, क्योंकि द्वन्द्व उनके चेतन में इतना नही चलता जितना कि उनके अचेतन मन

१०२. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १६६।

१०३. Andre Tridon, 'Psycho-Analysis and Love', p 46—47 ·

"There is a natural source of conflict between them, for the ego urge is selfish, aiming as it does at the conservation of the individual and its personal up-building, while the sex urge, whose aim is to assure the continuance of the species, is altruistic. By altruism I mean that one human being must before finding the complete gratification of his sex urge, join his body to that of the opposite sex, whose sex urge he helps to gratify, the result of that cooperation being the creation of a third human being "

१०४. जैनेन्द्र 'कल्याणी', पृ० ६० ।

१०५. जैनेन्द्र, 'सुनीता'' पृ० ५ ।

१०६. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० ६६ ।

में। वे पात्र दूसरो के लिए तो पहेली हैं ही, स्वय अपने लिए भी पहेली बने हुए हैं; करना कुछ चाहते हें और कर कुछ और बैठते हैं। अंत तक वे नही समझ पाते कि वे जो करना चाहते हैं, ठीक वही उनके करने से क्यों नहीं हो पाता; वे उससे क्यों दूर हटते हैं, जिसके पास होना चाहते हैं? क्यों उसे पास बुलाते है, जिससे दूर रहने में उनका भला है?—स्वभाव के भीतर यह विरोध डाल कर उन्हें यहा क्यों पैदा कर दिया गया है कि श्वास पाते रहे और कुछ भी न कर सके।[१०७] वास्तव में उनके अचेतन में मच रहा द्वन्द्व ही जो उनकी पकड से बाहर है, उनके भाव, विचार और आचार को प्रभावित करता रहता है और उनमें आवेगज तनाव पैदा करके परिस्थिति से उनका संतुलन नही बैठने देता।[१०८] ऐसे पात्र यदि स्वयं भी अपनी भीतरी ग्रन्थि खोलना चाहे तो न खोल सकेंगे। इन पात्रों को धीरे-धीरे पाठकों पर खोलने के लिए, जान पडता है, जैनेन्द्र जी को विशेष आयास करना पडा है और उन्होने जाने या अजाने मनो-विश्लेषण के लिए वही प्रणाली अपनाई है जिसे मनोविश्लेषक अपनाया करता है: मुक्त आसग (फ्री ऐसोसिएशन), बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टेन्स) संक्रमण-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव ट्रांस्फ़ेंस), स्वप्न-विश्लेषण आदि। उपन्यास में इन प्रणालियो का प्रयोग यथावत् तो हो नही सकता, इसलिए वे जैनेन्द्र जी के उपन्यासो में औपन्यासिक सुविधा के लिए रूपातंरित हो कर प्रयुक्त हुई हैं। इन प्रणालियों के अतिरिक्त लेखक ने पात्रो की कला-कृतियों—कविता, गीत, लेख, भाषण, चित्र, आदि—के माध्यम से भी उन के आतरिक द्वन्द्व को ध्वनित[१०९] किया है, यद्यपि प्रतीकात्मकता की पुट सर्वत्र दिखाई देती है।

इस प्रबन्ध के पहले अध्याय के (ग) भाग में हम मनोविश्लेषण की विविध प्रक्रियाओं का निरूपण कर आए हैं। यहा हम देखेंगे कि जैनेन्द्र जी ने अपने उपन्यासों में इन प्रणालियों का कहां तक और किस रूप में प्रयोग किया है।

मनोविश्लेषण

मुक्त आसंग प्रणाली (फ्री एसोसिएशन मैथड)

'जयवर्धन' में सांगोपांग मुक्त आसंग प्रणाली

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में ऐसे पात्र तो हैं ही जिनके अचेतन में बहुत कुछ सक्रिय

१०७. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ७२।

१०८. Ruch, 'Psychology and Life', p. 527-528:

"The conflict, though unconscious, continues to influence the individual's thought, feeling and behaviour and is the cause of his emotional tension and inability to adjust."

१०९. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 93:

"The artist is for Freud a 'neurotic' who seeks and finds in art a 'substitutive gratification' of his thwarted desires."

है। शेष रही मनोविश्लेपक की बात। उनके सभी उपन्यासो में एक पात्र तो अवश्य ऐसा मिल जाएगा जो अपने या प्रधान पात्रो के अचेतन को पकड में लाने के लिए सचेष्ट रहता है और उन्हे खुलने में अधिकाधिक सहयोग देता रहता है। 'जयवर्धन' का विल्बर हूस्टन तो स्पष्ट रूप से अपने मनोविश्लेपक होने की दुहाई देता है : "मै उसके (पश्चिम के) पास आपका निजत्व ले जाना चाहता हूँ।"[110] "···मुझे आपका कर्मविवरण नही चाहिए, वह तो उजागर है ही आया हूँ तो अतरग लेने आया हूँ।"[111] "मै जीवन का विद्यार्थी हूँ और उसी के नियमों की शोध में हूँ।[112] जयवर्धन और इला भी उसे इसी रूप में स्वीकार करके अपना सहयोग देते रहते है : "मैने इला से कहा है कि तुम (हूस्टन) बाहरी नही हो, सत्य की खोज में हो, इसलिए एक तरह से अपने हो—इला कही रोक पैदा न करेगी, मेरे पास कुछ छिपा नही, सब खुला है[113] इन दोनो पात्रों और हूस्टन में इस प्रकार का समझौता हो जाने के बाद मनोविश्लेषक हूस्टन का काम कुछ सरल हुआ और वह धीरे-धीरे उन्हें मुक्त आसग की स्थिति में ले आने लगा। '१२ मार्च—'को हूस्टन ने अपनी डायरी मे इला के बारे मे यह लिखा

> "मैने कहा, 'ठहरो, तुम भूल मे हो, जय के लिए तुम अलग नही हो···
>
> बीच में बोली, 'नही मैं भूल में नही हूँ, क्योकि मै जानती हूँ एक भूल मैने की थी।"
>
> मै सप्रश्न हुआ, उसने मेरी ओर देखा जैसे भीतर तक देख लेना चाहा; फिर जाने किस अवज्ञा से बोली, बोलते समय उसकी आँखे मुझ से हट गईं थीं, मानो वे बन्द ही हो गई थीं, बहुत दिनो की बात है, बीस, शायद बाईस वर्ष पहले की, सागर का तट था···"[114]

इस प्रकार सकेत मिल जाता है कि हूस्टन इला को मुक्त आसंग की स्थिति में ले आया है और उसका मुक्त आसग आरम्भ हो गया है, तथा हूस्टन बिना दखल दिए ध्यान से सुन रहा है। लगभग तीन पृष्ठ तक इला अपने मन में जो में आता रहा, बताती रही। उसके बाद सकेत मिलता है, मुक्त आसग की समाप्ति का :

"उसकी आखें खुली' जैसे उसने अब पहचाना कि यह बाईस बरस बाद की आज है, कि बात मुझ विल्बर हूस्टन से हो रही है, जैसे उसे आयास पड़ा, इतने बहुत से वर्षों को जो वर्त्तमान हो आये थे, क्षण में जो सूखा पार कर आना था, अत मे पार मिला, स्वस्थ बनती सी वह बोली :

११०. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १८।
१११. वही, पृ० २३।
११२. वही, पृ० ४५।
११३. वही, पृ० १०५।
११४. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १२८।

"तब से कभी मैने उन्हें अवश नही पाया'''अपनी ओर से चेष्टा की है, धृष्टता की है, निर्लज्जता की है, पर नही, कुछ नही हुआ'''पूछती हूँ, यह प्रेम है ?"

मैंने कहा, 'आप अशात न हो'

सुनकर वह मुस्कराई, न ही उस मुस्कराहट में चंचलता थी, वह एकदम शिष्ट थी और संयत, **जैसे जो सुनाया वह पट पर दीखा था, देखकर वर्णन के रूप में ही कह सुनाया गया था, यों वह अलग थी, यह अलग था ।**[११५]

इसके पश्चात् हूस्टन की डायरी में यह लिखा मिलता है, मानो वह पाठको के लिए इला के उस मुक्त आसग की व्याख्या कर रहा हो :

"सुनकर मैं चमका, जैसे कडक कर बिजली की एक कौध भीतर तक चीर गई । ये सब मर्यादाओं और प्राण-प्रतिज्ञाओं के रहते भी **जैसे नर के प्रति इस नारी में प्रश्न हो कि वह मातृत्व से वंचित क्यों है,** उसका सारा ज्ञान उसकी धमनियों में रमे और रक्त में धडकते इस प्रश्न का शमन कर रहा हो, तो **जय ने जो इला का मान रखा, सो ही क्या उसे नारी का अपमान मालूम हो रहा था ?**[११६]

इसके बाद दूसरा मुक्त आसग आरम्भ हुआ, जो प्रलाप के समान आठ[११७] पृष्ठ तक फैलता गया । हूस्टन ध्यानपूर्वक चुपचाप सुनता रहा और, जब कभी वह बीच में रुकने को हुई, सौजन्यपूर्ण प्रश्नों से मुखरित करता रहा : "**उत्सुकता के लिए क्षमा कीजिए ; पर क्या मै पूछ सकता हूँ** कि आपका पहला परिचय किस प्रकार हुआ ?"[११८]

ऊपर के उद्धरणों से—विशेषत मोटे छापे अंशों से—यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्र जी यहाँ मुक्त आसंग प्रणाली का सागोपांग प्रयोग कर रहे है—इला पात्र है तथा विल्वर हूस्टन मनोविश्लेपक । दोनो ही अपने-अपने कर्तव्यों[११९] का सतोषजनक ढंग से पालन करते हैं । इस प्रकार के स्थल 'जयवर्धन' में एक नही', अनेक मिलेगे ।

अन्य उपन्यासों में मुक्त आसंग प्रणाली

'जयवर्धन' के से पूरे मनोविश्लेपणात्मक न सही, पात्रो को धीरे-धीरे मुक्त आसंग की स्थिति में ले आने वाले स्थलों की जैनेन्द्र जी के अन्य उपन्यासो में भी

११५.(क)वही, पृ० १३०-१३१ ।

(ख) K. Horney, 'Self-Analysis', p. 101.

११६. (क) जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १३२ ।

(ख) K. Horney, 'Self-Analysis', p. 123.

११७. जैनेन्द, 'जयवर्धन', पृ० १३२-१४० ।

११८. वही, पृ० १३४ ।

११९. यही प्रबन्ध, पृ० ७१ ।

कमी नही । पूरा विलवर हूस्टन नही, तो कम से कम उसका-सा एक पात्र उनके उपन्यासो में अवश्य मिल जाएगा ।

सुनीता की जिज्ञासा—'हरिप्रसन्न के भीतर से गाँठ खीच निकालने में उपलक्ष्य तो सुनीता को भी बनना पडा था ।'[१२०] उससे प्रथम भेट के समय से ही सुनीता को ऐसा प्रतीत होने लगा था कि हरिप्रसन्न की बातों में कही कुछ कठिन सा है—जैसे कही कुछ रहस्य है, अज्ञात है, जिसे खोजना होगा ।[१२१] सुनीता की जिज्ञासा प्रखर से प्रखरतर होती गई . 'क्या अतस्थ अभाव है और क्या तज्जनित प्रेरणा जो उसे दुनिया में यो बेखू टे घुमाए जा रही है ? किस रिक्तता को लेकर वह यो भटकता-भटकता अपनी पूर्णता की खोज में है ? यह भेद क्या मै पाऊगी ?'[१२२]

'त्यागपत्र' में मृणाल को मुखरित करने वाला है उसका भतीजा प्रमोद, जिसे लगभग चार पृष्ठो तक फैली अपने विगत जीवन की कथा सुनाने के बाद वह कहती है : 'प्रमोद, मै न जाने क्या-क्या बकती रही । कहनी-अनकहनी न जाने क्या-क्या कह गई हूँ । दुनिया में मेरे एक तुम हो कि जिस से दुराव मुझ से नही रखा जाएगा ।[१२३]

'कल्याणी' में मुक्त आसंग—'कल्याणी' के वकील साहब भी मनोविश्लेपक से कम नही । वह जानना चाहते है कि 'कल्याणी असरानी के स्वभाव में जो मृत्यु तत्त्व का एक स्पष्ट खिचाव नजर आता है, वह यदि प्रतिक्रिया है तो किन घटनाओं की प्रतिक्रिया है'''व्यवसाय में वह सावधान है, कर्त्तव्य में तत्पर'''फिर भी एक अशांति एक दमन, एक विचिकित्सा जो उनमें दिखाई देती है, वह क्या है ? और वह क्यो है ?'[१२४] यह वकील साहब अपनी इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए कल्याणी को कई बार मुक्त आसंग की स्थिति में ले आते है । ऐसा एक स्थल देखिए :

> "बोली—'आप ईश्वर को नही मानते है न, इसी से सहज ही कोई बात आपकी समझ में नही आती । मै क्या करूँ ?
>
> मैने कहा—'हो सकता हे, वह मेरे समझने योग्य न हो । जाने दीजिए ।'
>
> हस कर बोली—'बात बेशक यही है । आप नही समझेगे । फिर भी आप जो पूछने लगते है और समझना चाहते है, उसके लिए बल्कि मै कृतज्ञ ही हूँ । असल में, मै खुद बताना चाहती हूँ । कुछ-की कुछ समझी जाने से मुझे सुख नही । वह भी मुझे क्या समझते है लेकिन'''खैर । सुनिए—

---

१२०. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १८६ ।
१२१. जैनेन्द्र, 'सुनीता'. पृ० ३६ ।
१२२. वही, पृ० ६२ ।
१२३. जैनेन्द्र, 'त्यागपत्र', पृ० ६६ ।
१२४. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ६० ।

मै चुपचाप सुनने लगा।

'विवाह से पहले में···खुद थी। विवाह बिना मै रह सकती थी।···मेरा पत्नीत्व और मेरा निजत्व, ये परस्पर कैसे निभें ?'

कहकर उन्होने मुझे ऐसे देखा जैसे मैं हूँ ही नही। जैसे मेरे अभाव में दीवार के सामने भी यह सवाल इसी प्रकार रखा जा सकता है।"[१२५]

इस प्रकार 'कल्याणी' का मुक्त आसंग आरम्भ हुआ और हमें बीच-बीच में सकेत मिलता रहा कि वह अभी चल रहा है - "प्रश्न में उत्तर की अपेक्षा न थी। सो वे आप ही कहती गई"[१२६] 'कहते हुए वे थोडी हँस आईं, लेकिन क्या अब भी उन्हे मेरा ध्यान था।'[१२७] यद्यपि इस मुक्त आसग में कल्याणी अपने अचेतन में गहरी नही पैठ पाती तो भी उसका प्रयत्न तो यही रहा है कि अपने भीतर को बाहर ला दे, जिससे वह कुछ की कुछ न समझी जा सके।

आत्म-विश्लेषण (सेल्फ एनेलिसिस)

'सुखदा' और 'व्यतीत' के आत्मकथा-शैली में होने के कारण उनमें मनो-विश्लेपक की आवश्यकता रहती ही नही। इन उपन्यासों में आत्मविश्लेपण की शैली अपनायी गई है। आत्मविश्लेपक और मनोविश्लेपक के ढंग में कोई अन्तर नहीं पडता, क्योकि प्रणाली दोनों की ही मुक्त आसग की है।[१२८] मनोविश्लेपक के पास होने पर पात्र उसे अपने मन में जो कुछ आता है, सुनाता जाता है और आत्मविश्लेपण में वह अपनी सहस्मृतियों को 'नोट' करता जाता है—लिखकर या मस्तिष्क में ही। आत्मविश्लेपण में अपनी सहस्मृतियो को लिख कर 'नोट' करना अच्छा समझा जाता है।[१२९] इस दृष्टि से सुखदा और जयंत के मुक्त आसंग लिखित रूप में होने से बढ़िया ही माने जाएँगे।

सुखदा का आत्मविश्लेषण

सुखदा चीड के वृक्षों से घिरे पर्वतीय प्रदेश के एक अस्पताल में पडी है। समय उसके पास बहुत है और भीतर व्यथा की भी कमी नहीं। इसलिए वह अपनी

---

१२५. जैनेन्द्र, कल्याणी, पृ० ३२।
१२६. वही, पृ० ३२।
१२७. वही, पृ० ३३।
१२८. Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 186.
१२९. Ibid., p. 187 :
'It is advisable to jot down findings, and the main path leading up them, even though they have been arrived at without taking notes."

कहानी लिखने लग जाती है कि 'ऐसे कुछ घड़ियाँ तो कटेंगी, नहीं तो काटने को आती हैं।[१३०]

निस्संकोच वर्णन—आत्मविश्लेपक को यह न भूलना चाहिए कि अपने मन में उठे किसी भी भाव या विचार को किसी कारणवश अभिव्यक्त करने से रोक लेना उसके हित में न होगा।[१३१] पर औपन्यासिक पात्रों का आत्मविश्लेपण उनके अपने हिताहित के लिए न होकर अपने को पाठक के लिए बोधगम्य बनाने के लिए होता है। इसलिए, उपन्यास मे वे अपने किसी भाव या विचार को व्यक्त होने से बचा जाते है तो पाठको के लिए उनके दुरूह हो जाने की सम्भावना रहती है। सुखदा भी एक स्थल पर पहुँच कर जरा रुकती है और फिर शीघ्र ही पुनः लिखने लग जाती है : 'सच कहूँ—लेकिन अब कहने बैठी हूँ तो लज्जा किस बात की करूँ ? विवाह से पहले मैंने सोचा था कि विवाह जहाँ होगा उनकी आमदनी सात सौ, आठ सौ रुपये होनी चाहिये···।'[१३२] प्रसंग आने पर वह अपनी किसी बात को भी गुप्त नहीं रखती। यहाँ तक कि यह भी बता देती है . 'पाठक की सहानुभूति चाहती हूँ, क्योंकि यह सच है कि हरिदा की ओर जाते हुए मैंने हल्का सा मेक-अप किया था।'[१३३]

मुक्त आसंग के बीच में युक्तियुक्त चिन्तन का अभाव—आत्मविश्लेपक को एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि मुक्त आसग के बीच में, जहाँ तक हो सके, वह तर्क-वितर्क से बचता रहे। आत्मविश्लेपण में तर्क-वितर्क के लिए स्थान तो है और काफी है—पर बाद में, क्योकि बीच मे आकर वह सहस्मृतियों के स्वतः प्रवाह को रोक देता है।[१३४] सुखदा की इस आत्मकथा में दार्शनिक स्थलो की भी कमी नही, पर वे प्रायः आसंग के बीच में न आकर आरम्भ में या अन्त में ही आए हैं, विशेषतः आरम्भ में।[१३५] छठे परिच्छेद के पहले मुक्त आसग के अत में वह लिखती है : 'आज हर तरह से अपना पूरा समर्पण पति को कर देने के आग्रह से बँधी थी। बाकी सब कुछ को अपनी जिन्दगी से मिटा डालने को उद्यत थी। लेकिन जितना ही भीतर से चाहती थी कि यह हो, उतना ही बाहर से वह दुष्कर होता जाता था।'[१३६] फिर अगले आसग से पहले उसी सूत्र को पकडते हुए लिखती है : 'आदमी की यह विवशता किस लिए है ? किस नियम के वह अधीन है—स्वभाव

---

१३०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६।
१३१. Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 248
१३२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० १५-१६।
१३३. वही, पृ० ६६।
१३४. Karen Horney, 'Self-Analysis,' p 249.
१३५. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६, १२, १४, ३५, ५०, ५७, ६५, ६६, ७८, १११।
१३६. वही, पृ० ७१।

के भीतर विरोध डाल कर हमें क्यों यहाँ पैदा कर दिया गया है कि त्रास पाते रहे और कुछ भी न कर सके ? अपने को देखकर आज मुझे बिल्कुल समझ में आ गया है कि जो वह (व्यक्ति) है, वह नही है । पापी, पापी नही है; पुण्यात्मा, पुण्यात्मा नही है'''सब वे है जो उन्हे होना बदा है ।'[१३७] सुखदा में इस प्रकार के और भी कई स्थल मिलेंगे, पर वे उसके मुक्त आसंग में बाधक नहीं बने है ।

'व्यतीत' में मुक्त आसंग

पैतालीसवें जन्मदिन पर, 'व्यतीत' के नायक जयंत के गत-जीवन की घटनाएँ चल-चित्र के समान एक-एक करके उसकी आँखों के सामने नाच उठती हैं और वह उन्हें बताता जाता है । जयंत के मुक्त आसंग बीस-बीस पृष्ठ तक अबाध फैलते गए है, दार्शनिक झमेलों में पड़ने की मानो उसे फुर्सत ही न हो । इन बीस-बीस पृष्ठों में जब कभी बौद्धिकता ने जोर मारा भी तो वह शीघ्र ही उस पर काबू पाकर आगे बढ़ लिया है । ये दार्शनिक प्रसंग उसके मुक्त आसंग में बाधक नही, प्रत्युत् उसकी व्याख्या करके पाठक के लिए सहायक ही बनते है । स्थानाभाव से लम्बे-लम्बे आसग तो यहाँ उद्धृत नहीं किए जा सकते, पर विश्लेषणात्मक दार्शनिक प्रसंग देखिए :

"अब कुछ मेरी ठीक तरह समझ नही आता । एक पढ़ना होता है, हुनर सीखना, विज्ञान सीखना होता है, चीजो को समझना-गुनना होता है । इसमें से दुनिया के काम-काज चला करते है और बहुत सी तरक्कियाँ हुआ करती है । मगर एक दूसरी चीज भी होती है, जिसका काम-धाम में शुमार नही है । कहते है, लोग इस दूसरी चीज से बनते नही हैं, बिगडते हैं । यह मन जो है, धोखा दिया करता है, फुसलाता रहता है, और उसकी एक बेर सुनी कि फिर कहीं का नही छोड़ता । लेकिन मुझे मालूम नही है । शायद ठीक ही हो । शायद यह दो चीजें उल्टी हो । एक धर्म हो और दूसरा पाप हो, एक साधना हो और दूसरी वासना हो, एक शिखर की ओर ले जाती हो, दूसरी पाताल में गिरा जाती हो । प्रेम केवल बहक हो और ज्ञान-विज्ञान असलियत हो ।"[१३८]

"आज सोचता हूँ, अनिता कौन थी ? पुरी कौन थे ? लेकिन कौन किस का क्या होता है ? मन से मान लेने की ही बात है । कानून तो नियम रखता है और वहाँ दस्तावेज होते हैं । लेकिन व्यक्ति के अन्तर को किसने पहचाना है । कारण, नियम तो स्थिर है, मन स्थिर नहीं है । पिता-पुत्र कहते हैं, पति-पत्नी कहते हैं, इसी प्रकार और नाते रिश्ते हैं । इनको घेर

१३७. वही, पृ० ७२ ।
१३८. जैनेन्द्र, 'व्यतीत' पृ० ५ ।

कर परिवार बनता है। लेकिन क्या उन सब के नीचे सार सत्य क्या केवल मन का स्नेह ही नही है ? लगता है, उस स्नेह की निश्चयता के आगे, उससे विहीन, शेष सब व्यवहार-छाल और छिलके के मानिंद ही है।"[१३९]

"अपने सम्बन्ध में, मै कोई सम्मति नहीं दे सकता। तो भी जान पड़ता है कि मुझ में पौरुष कम है। नही तो स्त्रियाँ ऐसे मुझ से क्यो व्यवहार कर निकलती हैं, जैसे बच्चे मोम से करते हैं; जी होता है इस अधिकार को इन्कार कर दूँ। लेकिन यह मेरी स्वीकृति माँगता कब है ! एकदम आकर आच्छन्न कर देता है। इन्कार भीतर में अपने को भूल जाता है और स्त्री सब-कुछ हुई चली जाती है। श्रीमती नीला बधावर को अपने डैनो में मुझे ले लेने में कोई दिक्कत न हुई। बहादुरी का तमगा अब भी मेरे पास है, लेकिन कही न रही मेरी कप्तानी और मर्दुमी।"[१४०]

"ठीक ही होता है। सबको वह मिलता है जो योग्य है। इतना बडा ब्रह्मांड अनियम से नही चल सकता। ग्रह और नक्षत्र, सूर्य और चन्द्र, पृथ्वी और पिंड सब अपनी कक्षा में और मर्यादा में है। विनियम कुछ नही है और यह उचित है कि मै नीला बधावर के घर में हूँ, जहाँ चन्द्री के अभाव में मेरी ओर भी ध्यान का अभाव है। यह सर्वथा नियमित है। नीला को काम रहते हैं, क्योकि बडा घर है, और बार-बार आकर मेरे आराम में खलल भी पडता है।[१४१]

बाधकता-विश्लेषण (ऐनेलिसिस ऑव रेजिस्टैंस)

मुक्त आसंग में यद्यपि पात्र से यह आशा की जाती है कि उस समय उसके मन में जो कुछ आए उसे पूरे का पूरा, किसी अश को छोडे बिना, कहता जाए; तो भी देखा गया है कि भरसक चेष्टा करने पर भी पात्र उन स्मृतियो या अनुभूतियो को, जिनसे उसे व्यथा होती हो या लज्जा आती हो, या तो छोड जाता है, या उनके वर्णन में आनाकानी करता है और या फिर उन्हे छोड़ने से एकदम इन्कार कर देता है। मनोविश्लेषक ऐसे विषयो को बडा महत्त्व देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन विषयों का पात्रों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारणों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मनोविश्लेषण का उद्देश्य बाधकता (रेजिस्टैंस) को तोड़कर पात्रों को उन दु.खद स्मृतियो, इच्छाओ तथा अनुभूतियो के सम्मुख ले आना है; क्योंकि जब तक वह चेतन में

१३९. वही, जैनेन्द्र, व्यतीत पृ० १०० ।
१४०. वही, पृ० १४० ।
१४१. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १४९ ।

अपनी समस्याओं के प्रति जागरूक नहीं होगा, उनका यथार्थ रूप जानेगा नहीं, तो उन्हें हल कैसे कर सकेगा।[१४२]

जयवर्धन और इला की बाधकता

'जयवर्धन' की इला के जिन मुक्त आसंगों का उल्लेख पीछे किया गया है, उन के लिए मनस्तत्त्व के जिज्ञासु हूस्टन को कोई थोड़ा प्रयत्न नहीं करना पड़ा। अपने परस्पर सम्बन्धों की चर्चा से जयवर्धन और इला दोनों ही कतराते थे। अपनी प्रथम भेंट के अन्त में हूस्टन ने जब जयवर्धन से यह पूछा : 'विवाह तो आपने किया नहीं है', तो उसने हूस्टन का हाथ अपने हाथ में लिया और धीमे से दबाकर छोड़ दिया, कुछ उत्तर नहीं दिया।[१४३] हूस्टन की अगली भेंट इला से हुई और उसमें बात चलते-चलते जब यहाँ तक पहुँची—"तो आपके बीच में क्या है ?" तो इला ने उसे दार्शनिक ढंग से टालते हुए कहा"···क्या आप सुनने की आशा रखते हैं। बीच में है नितान्त शुद्ध ब्रह्म·· लेकिन क्या मैं अब आपसे क्षमा मांग सकती हूँ ?"[१४४] और साथ ही मदाम को भी बुला भेजा। लेकिन जब फिर भी हूस्टन न माना, तो इला ने कहा : 'पर क्या प्रेम की व्याख्या में आपके साथ मुझे पड़ना होगा ? आपकी उम्र कम नहीं है—और मैं बादामी कम नहीं हूँ[१४५]।' इसी बीच मदाम भी आ गई और एकांत भग होने से उनकी बात चल न सकी। एक बार और भी हूस्टन को असफलता मिली। इस बार तो जब उसने बात चलाने का हठ किया, इला तन गई और बाद में हूस्टन ने भी अपनी हठधर्मी स्वीकार करते हुए डायरी में लिखा : "हठात् नारी के मर्म का उद्घाटन चाहने वाला मैं कौन था। उसकी रक्षा में कातर हो-हो आई इला यदि सहसा ही महामाननीया और अति दुर्लंघनीया बन आई हो तो इसमें विस्मय क्या।"[१४६]

स्पष्ट है कि अभी तक मनोविश्लेपक हूस्टन तथा पात्र इला में समझौता नहीं हो पाया है और इला अपनी दु.खद तथा लज्जास्पद स्मृतियों तथा अनुभूतियों को उस पर प्रकट नहीं कर पा रही है, क्योंकि मनोविश्लेषक के प्रति विश्वास न होने पर भरसक चेष्टा करने पर भी पात्र उसके सामने खुल नहीं पाता।[१४७] पर जब जयवर्धन

---

१४२. Ruch, 'Psychology and Life', p. 528.
Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 136.

१४३. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० २४।

१४४. जैनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० २५।

१४५. वही, पृ० २८।

१४६. वही, पृ० १०२।

१४७. Karen Horney, 'Self-Analysis', p. 136 :

"With the best will in the world a patient cannot express himself freely and spontaneously if he has an unsolved resentment in his heart toward the person to whom he reveals himself."

ने इला को समझा दिया कि हूस्टन तो सत्य की खोज मे है, इसलिए वह उसमें रोक पैदा न करे[१४८], तब से हूस्टन के प्रति उसकी भावना मे परिवर्तन आ गया और तभी वह मुक्त आसंग की स्थिति में आ सकी।

ऊपर के उद्धरणो से पता चल गया होगा कि इला की बाधकता को तोडने के लिए हूस्टन को कितना प्रयत्न करना पड़ा और कितने धैर्य से काम लेना पडा—यहाँ तक कि अपमान भी सहना पडा। पर यहाँ देखने वाली बात यह है कि अपने पारस्परिक सम्बन्धो की चर्चा करने से इला ज्यो-ज्यो कतराती गई, त्यो-त्यो हूस्टन की इस विषय में जिज्ञासा प्रखर से प्रखरतर होती गई और अततः वह उसकी बाधकता को तोडने में सफल हो गया।

सुखदा की बाधकता

इसी प्रकार की बाधकता का परिचय हमें 'सुखदा' में भी तो मिलता है। उस के मुक्त आसंग के प्रारम्भिक शब्द—"अपने भीतर देखूँ, लेकिन भीतर क्या पा लूंगी?"—इस ओर स्पष्ट सकेत करते हैं कि अपनी कहानी लिखने का दृढ सकल्प कर लेने के बाद भी उसका संकोच एकदम नही हट गया। हरीश दादा के पास जाते समय उसने हल्का-सा मेक-अप किया था, किया तो था कदाचित् हरीश को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए, पर उसका प्रयोग सयोगवश हो गया लाल पर। अपने आकर्षण के इस भेद को वह तब तक छिपाये रखती है जब तक कि घर लौट नही आती। घर लौटकर जब वह दर्पण में अपना मुख देखती है, तभी इस विषय में उसकी बाधकता टूटती है: "(पाठक की सहानुभूति चाहती हूँ, क्योकि यह सच है कि हरीश दादा की ओर जाते हुए मैने हलका-सा मेक-अप किया था[१४९])" उसकी इस स्वीकारोक्ति का कोष्ठक में होना ही यह बताता है कि इसे पहले आना चाहिये था और अब यह काफी बाद में जोड़ दी गई है। बीच-बीच में उसके ये शब्द भी उसके भीतर की बाधकता के द्योतक है: 'सच कहूँ? लेकिन अब कहने बैठी हूं तो लज्जा किस बात की।'[१५०] यद्यपि आपबीती लिखने का उसका दृढ निश्चय उसकी बाधकता को अधिक देर टिकने नहीं देता, तो भी इन स्थलो के महत्त्व से इन्कार नही किया जा सकता। एक में हरीश के प्रति उसके अपने आकर्षण की ओर संकेत है और दूसरे में गृहस्थी के प्रति उसकी ऊब का आभास मिलता है।

'कल्याणी'

कल्याणी का भी वकील साहब पर एकदम विश्वास नहीं जम पाया था। उस

१४८. जनेन्द्र, 'जयवर्धन', पृ० १०५।
१४९. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ६६।
१५०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० १५-१६।

की आतरिक व्यथा तो उमड पडने को उद्यत रहती थी, पर मानो विश्वास का पात्र न पा रही हो। वकील साहब से यह तो वह कह देती है कि 'मन का बोझ कब तक सहा जा सकता है ? और मैं किसी से उस मन को खोल नही सकती—मै डाक्टर से भी तो कुछ कह नही सकती···'

"कहते-कहते वह एकाएक रुक गई। जैसे अन-कहनी कहने के किनारे जा लगी हो। अनन्तर एक भरी साँस खीच कर बोली—'सब भाग्य है और क्या'।[१५१] पर जब वकील साहब ने पुन: प्रश्न द्वारा बात आगे बढ़ानी चाही तो एक बार फिर वह मुक्त आसंग की स्थिति में पहुँच गई—'मै तो अपने से ही नाराज हूँ। सोचती हूँ, मैने अपना यह क्या कर डाला।'—कहकर वह ऐसे देखने लगी जैसे कहीं न देख रही हो। उन आँखों में जैसे दृष्टि ही न हो।" यह समझते हुए कि अब तो उसका मुक्त आसंग आरम्भ होने वाला है, वकील साहब ने ज्यों ही उसे पूछा—'क्यों-क्यों, बात क्या है ?' एकदम बाधकता आन उपस्थित हुई और हठात् सम्भलती हुई वह बोली—'कुछ नहीं, कुछ नही' और फिर 'अतिव्यस्त भाव से घड़ी की ओर देखकर कहा—'ओह आठ हो गया। मै भूली। मुझे एक जगह जाना है। अच्छा तो आप···' कहती हुई वह उठ खडी हुई और वहा से चल दी।"[१५२] इस प्रकार, कल्याणी अपनी आतरिक बात को प्रकट करने से अपने को बचा गई। और कितनी ही बार लगातार ऐसे बचाती रही। यह तो वकील साहब का धैर्य था कि उसे वह मुक्त आसंग की स्थिति में ले ही आए।

अंतर्विवाद (इन्टीरियर मॉनोलॉग)

विशुद्ध अन्तर्विवाद का अभाव

अन्तर्विवाद तथा चेतना-प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनैस), जो आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास के 'स्टाइलिस्टिक[१५३] साथी हैं, जैनेन्द्र जी के उपन्यासों में शायद ही मिलें। यह नहीं कि उनके पात्र एकान्त में बैठकर विगत जीवन की घटनाओं का स्मरण और मनन नहीं करते, प्रत्युत् उनके पात्र तो मासल कम और मानसिक अधिक है। पर बात यह है कि पात्रो के अचेतन तक पहुँचने के लिए उनके उपन्यासो में अधिकतर मुक्त आसंग-प्रणाली ही रूपान्तरित होकर प्रयुक्त हुई है। उनके पात्र अपने मन को खुला छोड़ देते है और अपने सामने बैठे व्यक्ति को अपने मन में जो कुछ हो रहा है, बताते जाते हैं, मानो वे सब कुछ अनुभव कर रहे हो। पर अन्तर्विवाद में तो पात्र न बोलता है और न ही उसे सुनने वाला होता है।

१५१. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० १७।
१५२. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० १८।
१५३. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 125.

उपन्यासकार 'रिपोर्टर' के रूप में

जैनेन्द्र जी के पात्र एकान्त मनन तो करते है, पर वहाँ हमारा सम्पर्क सीधा उनके मन से नही हो पाता। लेखक हमारे और पात्र के बीच अड़ा रहता है, मानो वह अपने महत्त्व को न घटने देना चाहता हो। हमें ऐसा प्रतीत नही होता कि हम पात्रों के मन में जो हो रहा है, उसे अपनी आँखो से देख रहे हैं और पात्रो के साथ एकात्मीयता स्थापित करके उनके साथ-साथ स्वय भी अनुभव करते जा रहे है। यह तो वही रूढ शैली है जिसका प्रयोग प्रेमचन्द-प्रभृति उपन्यासकार करते आए है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के अतर्विवाद से यह बहुत दूर है। 'सुनीता' से एक उद्धरण देखिए :

"उसका (सुनीता का) हृदय उसे बताता था कि यह आदमी हरिप्रसन्न जितना है, उतना ही नही है···उसमें वेदना है···किस को लेकर वह वेदना है ?··· इस बारे में भी जैसे उसके मन में कुछ पता था। फिर भी मानो उसका पूरी तरह लेखा-जोखा वह खोज लेना चाहती थी।

वह सोचती थी कि उसकी बहन सत्या बुरी लड़की नही है और इस हरिप्रसन्न में जो प्राणों की बेचैनी है, उसको भी एक लगाम की जरूरत है···'

'मुझे शका नही कि मेल ठीक हो, तो गृहस्थ हरिप्रसन्न समाज के लिए बहुत उपयोगी हरिप्रसन्न होगा'—उसने सोचा। 'लेकिन वह कहाँ-कहाँ रहता है ?···क्या उसका भेद मै पाऊँगी ?···

'लेकिन नही,' सुनीता सोचती है, 'हरिप्रसन्न निष्प्रयोजन निष्फल नहीं होने दिया जायगा—मैं जब अनायास उसकी भाभी बनी हूँ, तो मैं देखूँगी कि वह प्रयोजनयुक्त···होकर यहाँ रहता है।'

'वह सोचती, स्त्री फिर किस लिए है, यदि पुरुषो को प्रयोजनदान, फलदान में नियोजित नही करती।

अपने स्त्रीत्व से लाचार बनी वह देखती है कि परम-पुरुष का अभीप्सित वह नही है[१५४]

इस प्रकार, उसके मन में उठ रहे विचार की रिपोर्ट देता-देता लेखक अन्त में कहता है "आदि-आदि उसने सोचा है।" उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक पाठकों को इतनी स्वतन्त्रता नहीं देना चाहता कि वे पात्रो के मन से सीधा सम्पर्क रखें, और वह बार-बार 'उसने सोचा', 'वह सोचती है' आदि वाक्यो द्वारा पाठकों पर उनकी विवशतापूर्ण स्थिति प्रकट करता जाता है, मानो उन्हे कह रहा हो 'तुम्हें मेरी रिपोर्ट पर ही निर्भर रहना होगा।'

१५४ जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ६२-६३।

उपन्यासकार द्वारा बार-बार हस्तक्षेप

इस प्रकार के स्थलों से उनके इसी इतिहास-शैली (प्रथम पुरुष) में लिखे उपन्यास—परख, सुनीता, विवर्त्त—भरे पड़े हैं। अब विवर्त्त से एक उद्धरण लीजिए :—

'मोहिनी निष्प्रयोजन पलंग से उठी और कुर्सी में आ बैठी; बैठी सोचती रह गई। इस व्यक्ति (जितेन) पर उसे दया आई। कितना बोझ अपने मन में लेकर यह उसकी शरण में आ पड़ा है। कितना उसने विश्वास किया। उस विश्वास के प्रति उसमें कृतज्ञता उठती थी। किन्तु विश्वास के साथ आरोप क्यों ? शर्त उसके साथ यह क्यों कि मै अपनी ओर से विश्वास दूसरे को न दे सकूँ। जानती है, वह (उसका पति) आनन्दी स्वभाव के पुरुष हैं, तुच्छता कहीं उनमें नहीं। वह कभी उससे कुछ नहीं पूछेंगे—वह सम्भ्रम में पड गई। क्या कह दे कि स्वामी के प्रति, अविश्वासिनी मुझे नहीं बनना है ? अब जितेन तुम देख लो, रहना है रहो, जाना हो जाओ। यह भुवनमोहिनी वही है, लेकिन पत्नी भी है, इससे वह स्वामिनी भी है, अधिष्ठात्री है।[१५५]...

यहाँ मोहिनी एक ऐसी मन.स्थिति में पहुँच जाती है कि अचेतन उससे बहुत दूर नहीं रहता। यहाँ लेखक यदि स्वयं अलग रहकर मोहिनी को उस पर ही छोड़ देता, अपने को पाठक पर न लादता, तो कदाचित् यहाँ एक अच्छा अन्तर्विवाद मिल सकता था। पर बार-बार दखल देकर लेखक ने यहाँ ऐसी खिचडी बना दी है कि कई बार यह पता लगाने में भी कठिनाई होती है कि यह लेखक कहता है या मोहिनी सोचती है। सर्वनाम 'वह' का प्रयोग यहाँ मोहिनी के लिए भी हुआ है और उसके पति के लिए भी। मोहिनी के लिए 'वह' का प्रयोग लेखक करता है और पति के लिए 'वह' का प्रयोग करती है मोहिनी।

'सुनीता' में से एक अन्तर्विवाद

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पाया जाने वाला अन्तर्विवाद तो नहीं, पर उसकी-सी शैली में बना एक छोटा-सा अन्तर्विवाद सुनीता में मिलता है,[१५६] 'वह सोचने लगी, 'अगली रात तक ही मानो उसका जन्म है' कहकर लेखक उससे अलग हो जाता है :—

'वह सोचने लगी कि अगली रात तक ही मानो उसका यह जन्म है। क्या अगली रात पुनर्जन्म ही नहीं ले लेना होगा ?—वे लोग कौन हैं ? वे क्या चाहते हैं ? अपनी जानों को हथेली पर रखकर वे लोग क्या चाहते हैं ? ...किन्तु सच, परिवार ही क्या व्यक्तित्व की परिधि है ? क्या मैं इसी में

१५५. जैनेन्द्र, 'विवर्त्त', पृ० ३९।

१५६. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १४४।

बीतू ? क्या इसे तोड कर, नाँघ कर, एक बडे हित मे खो जाने को मैं न बढ़ूँ ? उस विस्तृत हित के लिए जीऊँ, उसी के लिए मरूँ तो क्या यह अयुक्त है, अधर्म है ?···ओ मेरे स्वामी, तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? भलाजी, तुमने ऐसी चिट्ठी मुझे किस लिए लिखी ?···क्या इसीलिए कि मुझे परख में डालना चाहते हो ?···

कल रात ····वह क्या जीवन है ? वहाँ उत्सर्ग ही व्यक्ति का लक्ष्य बनता है, सचय से व्यक्ति वहाँ पराङ्मुख होता है। मै उससे इन्कार कर सकती हूँ ? मै, सच, कैसे इन्कार कर सकती हूँ ?···लेकिन कल रात मुझे कहाँ जाना होगा ?···ओ स्वामी तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? मुझे बताओ, इस तुम्हारी चिट्ठी का क्या यही आशय मैं पाऊँ कि मुझे स्वय कुछ नही रहना है, नियति के बहाव में बहते ही चलना है, धर्म-अधर्म बिसार देना है ?[१५७]

बीच में लेखक के थोडा-सा दखल देने के बाद 'इस स्थिति में आकर वह उसी समय हरिप्रसन्न की तरफ जाने को उद्यत हुई। कहेगी, कि···'सुनीता का भाव-प्रवाह फिर चल पड़ता है और लगभग एक पृष्ठ तक चलता ही रहता है।[१५८] यहाँ वाक्य भी छोटे-छोटे और सरल है और पाठक को भी सन्तोष होता है कि वह सुनीता के अचेतन तक चाहे न पहुँच सका हो, पर उसके मन से तो उसका सीधा सम्पर्क है ही, पर लेखक को यह सह्य नहीं। अन्त तक पहुँचने के शीघ्र ही बाद 'इसी तरह की बातें उसके मन में उठने लगीं' कहकर वह पाठक के भ्रम (इल्यूजन) पर कुठाराघात करके उसे काट फैकता है।

स्वप्न-विश्लेषण

फ्रायडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि हमारे अचेतन प्रेरक, जो जाग्रतावस्था में प्रकट नही हो पाते, कई बार स्वप्न में अभिव्यक्ति पा जाते है ; और यदि वे प्रेरक इतने दु:खद या असामाजिक हों कि सुषुप्तावस्था में भी हम उन्हे स्वीकार न कर सकते हो तो वे स्वप्न में सीधे न व्यक्त होकर रूप बदल कर आते हैं। इसलिए उनका कहना है कि किसी व्यक्ति के स्वप्न के विश्लेषण द्वारा उसे अव्यवस्थित रखने वाले अचेतन कारणों को पकडा जा सकता है।

उपन्यासकार भी अपने पात्रो की असगत प्रतीत होने वाली चेष्टाओं के अचेतन कारणो को व्यक्त करने के लिए उपन्यास में पात्रों के स्वप्नो का समावेश किया करता है, पर वह मनोविश्लेषक की तरह स्वप्न का पूरा-पूरा ब्यौरा न देकर, केवल उन्ही तथ्यो का उल्लेख करता है जो उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए पर्याप्त हो।

१५७. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० १४४-१४५।
१५८. वही, पृ० १४४-१४५।

इस तथ्य को जानते हुए ही मनोविश्लेषण-प्रणाली के प्रवर्त्तक सिगमंड फ्रायड ने मनोविश्लेषकों को सचेत करते हुए कहा था कि कवियो द्वारा वर्णित स्वप्नों पर विचार करते हुए वे यह न भूलें कि उन्होंने अपने ब्योरे में से वह सब कुछ निकाल दिया होगा, जिसे वे अनावश्यक या असंगत समझते होंगे।[१५९]

सुखदा का स्वप्न

जैनेन्द्र जी ने भी अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक उलझनों के अचेतन कारणों की ओर सकेत करने के लिए अपने उपन्यासो में स्वप्न और निराधार प्रत्यक्षीकरण (हैल्यूसीनेशन) को माध्यम बनाया है। एक दिन सुखदा जो पति को जली-कटी सुना कर सोई तो उसने एक 'भयानक स्वप्न' देखा, जिसका उल्लेख उसने इस प्रकार किया :—

"सोई न थी, पर जगी हुई भी न थी। उस हालत में मैंने अनुभव किया कि कोई मेरा तकिया टटोल रहा है। मेरे मन में अनिश्चय न था। मैं और भी सोई बन गई, यानी मैने अपने को भी न जानने दिया कि मै सोई नही हूँ। उस हाथ ने तकिये के नीचे कुछ रखा। सोई हुई मुझको जाने किस ने बता दिया कि वह पत्र है। फिर हाथ हट गया और कोई वहाँ से चला गया। वह कदम-कदम चला। दरवाजे पर पहुँचा, दरवाजे को आहिस्ता से छूकर उसने हटाया। मै नींद में से एकाएक जोर से चीख उठी। चीख सपने में से आई थी और मैं सुध में न थी—नींद में थी। नीद की बेसुधी ने ही बताया कि आदमी ठहर गया है, ठिठका है, आ नही रहा है। और सपने में मैंने दो-तीन बार चीख खींची।"[१६०]

पर अपने पति को उसने इस स्वप्न का जो ब्यौरा दिया, वह इस प्रकार है : 'कोई आया, उसने मेरा तकिया उठाया, वहाँ टटोला, फिर हट कर लौटा तो उसके हाथ में···उफ···वह मेरी तरफ बढा।[१६१]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि सुखदा द्वारा अपनी कहानी में दिए गये ब्योरे में तथा उसने स्वप्न का जो ब्योरा अपने पति को दिया, उसमें काफी अन्तर है, मानो उस स्वप्न में कुछ ऐसा है, जिसे वह पति पर प्रकट नही होने देना चाहती। यह हम जानते ही हैं कि उस रात सुखदा देर करके हरीश दादा के पास से आई थी तो पति-पत्नी में काफी झड़प हो गई थी। सारी रात पति का बिस्तर खाली पडा रहा था।

१५९. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 370 :

"In considering dreams reported by a poet one may often assume that he has excluded from the report those details which he perceived as disturbing and which he considered unessential."

१६०. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ४८।

१६१. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ४८।

वह बाहर कुर्सी पर लेटा रहा था। सुखदा ने चाहा वह उठे, जाए और उसे ले आये। उसे अपने पर बहुत गुस्सा आ रहा था और पति पर भी कि वह 'स्त्री की बात लेता है, मन नही।'[१६२] उसे हरीश पर भी क्रोध आ रहा था, पर हठात् वह भीतर से उसके लिए तिरस्कार न लाती थी। पर रह-रह कर उसे जान पडता था कि 'क्राति' के सिवाय अब उसके लिए और राह नही।'[१६३] एक बजे के बाद उसे कुछ ऊँघ आ गई थी और तभी वह स्वप्न देखकर चीख उठी थी।

विश्लेषण

जब कोई व्यक्ति अपने प्रेमी के बारे में, जिस पर वह बुरी तरह से मुग्ध हो, या किसी शत्रु के बारे में जिस पर वह क्रुद्ध हो, सोचते-सोचते सो जाए तो उस के अवचेतन पर पडे हाल ही की अनुभूतियो के सस्कार[१६४] अपनी तीव्रता के कारण स्वप्नावस्था मे स्मृति-छाया के रूप में अभिव्यक्ति पा लेते है। इस प्रकार के स्वप्न निरे निराधार प्रत्यक्षीकरण की कोटि के होते है।[१६५] उस रात सुखदा पति पर गुस्से तो थी ही और हरीश की ओर आकृष्ट भी थी। उसे यह भी दिखाई देता था कि 'क्रान्ति' के सिवा अब उसके लिए और कोई राह नही। यहाँ क्रान्ति शब्द साभिप्राय है—शायद लेखक का सकेत गृहस्थ जीवन के प्रति क्रान्ति की ओर रहा हो। ऐसी क्रान्ति सुखदा जाग्रतावस्था में तो कर ही नही सकती थी, स्वप्न में भी वह ऐसा करने की शायद ही सोच सकती। इसीलिए, सम्भव है कि उसकी इस भावना ने स्वप्न में यह रूप धारण किया हो कि उसका पति स्वय उससे तंग आकर घर छोड़ रहा है और जाने से पहले उसके नाम एक पत्र लिखकर उसके तकिये के नीचे रख रहा है। पति के रात के व्यवहार को देखते हुए सुखदा इसे सम्भव भी समझ सकती थी। पर पति के उसे इस प्रकार छोड जाने पर अपने को अरक्षिता तथा उन लोगों के रहम पर पाकर, जिनमें उसकी कोई गिनती नहीं, उसकी चीख निकल गई हो। हरीश को पाने की उसकी इच्छा ने तो स्वप्न में उसके पति के स्वयं घर से निकल जाने का रूप धारण कर उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया, पर अपनी विवेक-बुद्धि (कॉन्शेन्स) की डाँट-डपट ने तथा तज्जनित प्रत्यावर्त्तन (रिग्रेशन) की प्रकृति ने उस की चीख निकाल दी। इस प्रकार, जैनेन्द्र जी स्वप्न द्वारा सुखदा की मूल समस्या—

---

१६२. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ४८।

१६३. वही, पृ० ४८।

१६४. 'Prasastapadabhashya', V. S. S. Benaras, 1895, p. 184.
"Sansakarapatava."

१६५. Sinha, 'Indian Psychology : Perception', p. 318-319.
"There are many dreams which are not excited by peripheral nerve-*stimulations* but by the *intensity* of the subconscious impressions left by a recent experience.... These dreams are purely hallucinatory in character."

उसके अचेतन मन में चल रहे उसकी 'कॉन्शेन्स' और 'सेक्स' भावना में संघर्ष का आभास दिला देते है।

निराधार प्रत्यक्षीकरण (हैल्यूसीनेशन)

स्वप्न के अतिरिक्त जैनेन्द्र जी ने पात्रो के निराधार प्रत्यक्षीकरण (हैल्यूसीनेशन) के आधार पर भी उनके अचेतन में चल रहे सघर्ष की झलक दिखाई है। 'मनोमात्रा प्रभव'[१६६] स्वप्नों के समान निराधार प्रत्यक्षीकरण भी निरे मनो-रचना[१६७] ही होते हैं। इनमें व्यक्ति उद्दीपन (स्टिमुलस) के अभाव में भी उसे प्रत्यक्ष कर लेता है। इनमें अन्तर केवल यह है कि स्वप्न में निराधार प्रत्यक्षीकरण सुषुप्तावस्था में होता है और 'हैल्यूसीनेशन' में वह जाग्रतावस्था में ही हो जाता है। जाग्रत अवस्था का प्रत्यक्षीकरण स्वप्न के प्रत्यक्षीकरण की अपेक्षा स्पष्ट होता है।[१६८] इस क्रिया में अधिकतर दृष्टि तथा ध्वनि-सम्बन्धी प्रत्यक्षीकरण ही पाया जाता है।[१६९] मानसिक रोगग्रस्त व्यक्तियो में यह क्रिया साधारण परिस्थिति में भी पाई जाती है।

कल्याणी का निराधार प्रत्यक्षीकरण

जैनेन्द्र जी के उपन्यास 'कल्याणी' की नायिका भी 'हैल्यूसीनेशन' के रोग का शिकार है। उसे जो निराधार प्रत्यक्ष हुआ उसका ब्योरा उपन्यास में इस प्रकार मिलता है :—

> "कोई एक महीने से गुसलखाने से सिसकी की आवाज उन्हे सुन पडती थी। जैसे कोई मुँह दाबकर रोता हो। साँझ का अँधेरा गाढ़ा होता कि आवाज शुरू हो जाती। पहले तो वह सुनती रही और टालती गई। सोचा, होगा कुछ। कहीं मन का भ्रम ही न हो। पर चीज वह टाले न टल सकी। जैसे वह आवाज उठती हो तो अन्दर कलेजे को पकड़ लेती हो। कई बार झटपट वह वहाँ गई। पर देखे तो कहीं कुछ नही, पहुँचने पर सब सुनसान दीखता था। वह लौट आती और अपनी घबराहट पर हँसना चाहती। ऐसे

---

१६६. Madhava Saraswati, 'Mitabhashini', p. 68.

१६७. Sinha, 'Indian Psychology : Perception', p. 314 :

"*Hallucinations are pure creations of the mind. And some dreams are* also pure creations of the mind."

१६८. Frank Padmore, 'Apparitions and Thought Transference', p. 186.

"*A dream is a hallucination in sleep, and a hallucination is only a waking* dream, though it is probable that the waking impression, seeing that it can contend on equal terms with the impression derived from the external objects, *is more vivid than the common run of dream.*'

१६९. शशिलता सिन्हा, 'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', पृ० १५७।

कई दिन निकल गये। हठात् उधर से ध्यान मोड़ना चाहा। पर रह-रह कर सिसकी भरती किसी स्त्री की वह आवाज कानों पर आती ही थी। सुनकर जी में हौल चढ़ती। कुछ सूझना नही था। एक रोज आधी रात बीते वह सपने से चौक कर जगी। सन्नाटा था। बत्ती मद्धम जल रही थी। सपने सिर में घूम रहे थे। तभी सुनती क्या है, कि जैसे गुसलखाने मे कुछ फुस-फुस आवाजे हो रही हो। कमरे में वह अकेली थी। मारे डर के वह वहीं की वहीं गड़ी सी रही। पर कान चौकन्ने थे। और चेतना उद्दीप्त थी। कुछ देर मे वह आवाजें जरा प्रबल हुईं। जैसे किसी स्त्री और पुरुष में बहस छिड़ी हो। बहस जरा में बखेड़ा बन आई। अब कुछ साफ सुनाई देने लगा—

एक पुरुष-कण्ठ ने कहा—चुप नही रहेगी क्यो? स्त्री कण्ठ ने उत्तर दिया—मैं नही रहूँगी चुप। कभी नही रहूँगी। मुझे मार क्यो नही डालते? लेकिन चुप मैं नही रहूँगी। मैं···

"नही रहेगी? मुझे गुस्सा न दिला।"

"जो मन में है पूरा क्यों नही कर डालते हो? लो, मुझ को मार डालो। पर समझ रखना, चुप मैं मरने के बाद न रहूँगी।"

"नहीं रहेगी?"

"नहीं, नही, नही, रहूँगी।"

"देख, मैं फिर कहता हूँ।"

"नही, नहीं, नहीं। हाँ, घोटो गला—"

"नही, ? तो ले, मत रह चुप—"

उसके बाद कुछ आवाज भर्राई सी निकली। छटपटाहट सुनाई दी और धीमे-धीमे सब शान्त।

कल्याणी तो जैसे इस पर पत्थर बन आई थी। मति-गति उसकी खो गई थी। इतने में पथराई आँखो से देखती है कि एक आदमी उसी तरफ से आकर उसके कमरे में से आर-पार चला जा रहा है। उनकी घिग्घी बँध गई। डर के मारे चीख भी न सकी। क्षण मे वह आदमी जाने कहाँ बिला गया। उन्हे पसीना छूट चला था। कुछ पल बाद होश हुआ, तब जोर से वह चीखीं। लोग जग आये, पर तब तक सब लुप्त हो चुका था। कल्याणी आँखे फाड़े जमा हुए उन सब नौकर चाकरों को देखती रह गई। कुछ भी मुँह से न बतला सकी।

उसके बाद उनका कहना है कि कई बार वह स्त्री उन्हे दीखी है। इधर तीन रोज से वह पीछा ही नही छोड़ती। जब उसका गला घोटा जा रहा था और आँखें निकल पड़ रही थी, उसकी वह मूर्ति बार-बार सामने आ खड़ी होती है। गुसलखाने मे कल्याणी नहीं जाती, पर वह कमरे मे आ जाती है।

मन से वह दूर नहीं होती। छरहरे बदन की, अतिशय सुन्दरी, अभी जैसे सयानी उमर भी नही है। गर्भवती है। अब भी वह इस घर में रहती है और रोज मिलती है। कल्याणी बचती है पर कहाँ बचे ? उसकी फटी आँखे, कातर मुद्रा···।" (कल्याणी—पृ० ७३—८५)

'हैल्यूसीनेशन' की पृष्ठभूमि

कल्याणी के इस प्रत्यक्षीकरण की व्याख्या में पडने से पहले उसे इस स्थिति तक पहुँचाने वाले अचेतन कारणों को पकडना होगा। कल्याणी के जीवन में लेखक आरम्भ से ही मृत्यु-तत्त्व का प्रभाव दिखाता है। वह विश्वास कर लेना चाहती है कि शीघ्र मर जाएगी : "मै अधिक काल नहीं जीऊँगी। ऐसा जीना कठिन और व्यर्थ है"[१७०]—"आप मानिए या न मानिए, मैं आपसे कहती हूँ कि इस बार मै नही बचूँगी[१७१]···इस वर्ष के आगे मै नही जीऊंगी।"[१७२] कल्याणी गर्भवती है। गर्भवती स्त्री ज्यों-ज्यों प्रसव के निकट पहुँचती जाती है, उसके बचपन के दबे हुए डर पुनः उभर आते है। यदि वह अपने को अजाने में ही पकडी गई समझती हो, यह महसूस करती हो कि गर्भोत्पन्न शारीरिक विकृति से उसका आकर्षण कम हो रहा है और बच्चा होने पर उसकी स्वतन्त्रता में भी बाधा पड़ेगी तो वह यह विश्वास कर लेना चाहती है कि प्रसव के समय या तो वह मर जाएगी और या बच्चा मर जाएगा। यदि वह अपने को किसी प्रकार अपराधिन पाती हो तो उसका यह विश्वास और भी पक्का हो जाता है। ऐसी स्त्री प्रसव को मृत्यु-दण्ड समझ बैठती है।[१७३] कल्याणी भी इसी प्रकार की स्त्री है। दूसरों के प्रति अपने आकर्षण को वह मन्द नही होने देना चाहती, उसकी नित्य नई तथा अतिरिक्त सज्जा इसका प्रमाण है। समाज में अपने स्वतन्त्र विहार में वह बच्चों को बाधा समझती है, इसलिए उसकी दोनों लडकियाँ कान्वेण्ट में ही रहती है।[१७४] कल्याणी में निराधार मृत्यु भय के घर कर जाने का सबसे बड़ा कारण यह है कि पर-पुरुषों से सम्बन्ध रखने के कारण वह

---

१७०. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० १७।

१७१. वही, पृ० ३६।

१७२. वही, पृ० ४५।

१७३. Simone De Beauvoir : 'The Second Sex', Parshley's English translation, Oxford, 1953, p. 484 :

"Pregnancy seems to them (those who see themselves essentially as erotic objects) no holiday, no enrichment at all, but rather a diminution of the ego......When the woman approaches her term, all her childish terrors come to light again, if through feeling of guilt she believes she is under her *mother's curse*, she persuades herself that she is going to die."

१७४. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ७५।

भीतर ही भीतर अपने को पति तथा समाज के प्रति अपराधिन पाती है। इस विषय मे वह वकील साहब से प्रश्न भी करती है. "जो उस समाज के नियम को भंग करता है, उसका क्या होना चाहिए ?—मै पूछती हूँ कि दुराचारिणी स्त्री को क्यों नही मर जाना चाहिए ?"[१७५] "मै पापिष्ठा हूँ, मुझे मत छुओ। मुझे कोढ़ क्यों न हुआ ? धर्म के लायक मै नही हू।"[१७६] इसलिए यह विश्वास कर लेना चाहती है कि प्रसव के समय उसे अपराधो के दड-स्वरूप मृत्यु मिलेगी। मृत्यु का वह चेतन में स्वागत भी करती है, क्योकि इस प्रकार वह गृहस्थ-जीवन की नित्यप्रति की कलह से भी छूट जाएगी। इस प्रकार, कल्याणी की गर्भस्थिति, अपने को आकर्षण का केन्द्र बनाए रखने की उसकी प्रवृत्ति, विवाहित जीवन से उसका असामंजस्य तथा उसकी अपराध-भावना सब मिलकर उसमें धीरे-धीरे मृत्यु के अकारण भय (फोबिया) को विकसित करते रहते है, जो बाद मे उसके निराधार प्रत्यक्षीकरण का मूल कारण बनता है।

व्याख्या

'हेल्युसीनेशन' की आरम्भिक अवस्था में तो वह अपने प्रत्यक्षीकरण के सत्य होने की बात को सायास टालती रही · "उसने सोचा कि होगा कुछ। कही मन का भय ही न हो,"[१७७] पर बाद में ज्यो-ज्यो उसका रोग बढ़ता गया, वे आवाजे उसके टालने की भरसक चेष्टा करने पर भी न टली और उन्हे असत्य मानने की उसकी चेष्टा को झँझोडने लगी। तब हार कर वह उन्हे सत्य मानने के लिए मजबूर हो

१७५. Stagner, 'Psychology of Personality', p 383 ·
"A comparison of Col. 2 (fears reported by adjusted wives) with Col. 6 (fears reported by unadjusted wives) shows a decided excess of some fears for the maladjusted group."

१७६. Ibid, p. 384.
"Because such behaviour was contrary to her own moral standards (or Super-Ego demands), she resisted the temptation, but found it necessary to develop many defences. Those included ..the fear of death (punishment for her bad thoughts.)"

१७७. McDougall, 'An Outline of Psychology', p 373 :
"The hallucinated patient in an early stage of his trouble may dismiss by an effort the phantom figures or the voices whispering of threats and persecution. And so long as he can do this, he does not believe them real, inspite of their sensory vividness But *in a more advanced stage of the disorder, he cannot dismiss them, the phantom or the voice is insistent, resists his best efforts to dismiss it, it is then he begins to believe in its reality. And the most complete proof of the reality of any object is the resistance offered by it to our bodily efforts to move or change it. Solidity is the over-whelming evidence of reality.*"

गई। मैक्डूगल के शब्दों में किसी वस्तु की यथार्थता का हमारे लिए सबसे बड़ा प्रमाण है उसे हटाने या बदलने की हमारी प्रत्येक शारीरिक चेष्टा में उस द्वारा उत्पन्न बाधकता।[१७८] कल्याणी के 'हैल्यूसीनेशन' को प्रारम्भिक अवस्था से विकसितावस्था में ले आने में शायद एक कारण उसकी शराब पीने की आदत भी हो, जो उसने अपनी निराशा को भूल जाने के लिए डाल ली थी : "मुझे शायद इस वक्त नशा है। पर नशा मैंने किया है और क्या करूँ ? एक वह (पति) हैं जो बड़ी हिम्मत दिखाकर मुझे छोड़ कर चले गये हैं। एक ये (देवलालीकर) हैं, जिन्हें मैं पक्का जानती हूँ कि इन्होंने स्त्री की हत्या की है। एक आप हैं जो किसी को कुछ सहारा नहीं देंगे। फिर मैं क्या करूँ ? नशा करती हूँ, तो कौन कहने वाला है कि क्यों करती हूँ ?"[१७९]

तात्कालिक कारण

कल्याणी के उस रात के प्रत्यक्षीकरण का, जिसमें उसे पहले बहस और बाद में किसी स्त्री के रुद्ध कण्ठ से निकली आवाज सुनाई दी, और फिर उसने एक आदमी को अपने कमरे में से गुजरते देखा—तात्कालिक कारण उसके परदेसी पति का वह पत्र था, जिसमें उसने उसे सब प्रकार से अपराधी ठहराकर बताया था कि वह अदालत की सहायता से अपना अधिकार प्राप्त करेगा :—

> "तुम जानती हो तुम्हारी क्या हालत थी, जब मैंने तुमसे विवाह करके तुम्हें बचाया। तुम्हारा कुलीन विवाह असम्भव था। माँ-बाप को तुम गलग्रह थीं। मैंने तुम्हारा उद्धार किया···तुम्हारे कुल तक पर तो धब्बा था···तुम समझती हो तुम कमाती हो ? लेकिन आज तुम मुँह भी उठा सकती हो तो मेरी बदौलत···कानून हिन्दू स्त्री को हक नहीं देता। पैसे पर अधिकार मेरा है।···तुम्हारा ट्रस्ट भी नाजायज है, क्योंकि मैं कहूँगा कि मेरे दस्तखत फर्जी हैं।···तुम रह सकती हो, पर मातहत बनकर ; नहीं तो नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम्हें सहायकों का सहारा है पर मुझे देखना है कि वे कौन हैं और क्या कहते हैं।"[१८०]

उस रात, बहुत सम्भव है, कि वह पत्र की बात सोचते-सोचते निराशापूर्ण स्थिति में ही सोई हो। कमरे में वह वैसे भी अकेली सो रही थी, जिससे उसके भय को और भी प्रश्रय मिला होगा और अर्ध-जाग्रतावस्था में उसने यह प्रत्यक्षीकरण किया।

---

१७८. McDougall, 'An Outline of Psychology', p. 373.
१७९. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ६५-६६।
१८०. वही, पृ० ७०।

विश्लेषण

इस प्रत्यक्षीकरण में हत महाराष्ट्रीय स्त्री की आवेगज अनुभूति कल्याणी की अनुभूति के समान होने से कहा जा सकता है कि उस प्रत्यक्षीकरण में कल्याणी की 'ईगो' ही उस स्त्री के रूप में प्रकट हुई होगी।[१८१] कल्याणी स्वय भी तो कहती है कि "वह सुन्दरी युवती मुझे बार-बार देखती है, बार-बार खीचती है। सोचती हूँ कि वह हम सबकी प्रतिनिधि है।"[१८२] कल्याणी के पति ने उसे पीटा तो कई बार था ही, पर वह इस विचार को न सह सकने के कारण कि उसका पति उसके प्रति हिंसक भाव रख सकता है, उसे दमित (रिप्रेस) किये हुए थी। उसके ये शब्द--'हाँ' वह (उसकी पिटाई की घटना) झूठ है। नही वह कुछ नही। मै उसको सही नही कह सकती, तो वह गलत नही तो क्या है? और यदि मेरी गलती पर कुछ उन्होंने कह-सुन लिया तो क्या यह याद रखने की बात है[१८३]—इसका प्रमाण है। उसके पति की उसके प्रति हिंसक भावना ने, जिसका वह दमन करती रही थी, इस प्रत्यक्षीकरण में महाराष्ट्रीय पुरुष का रूप धारण किया। दोनो में संघर्ष हुआ और अंत में उस स्त्री की मृत्यु के रूप में कल्याणी का मृत्यु-भय (डैथ फोबिया) प्रकट हुआ। इस प्रकार, कल्याणी के इस निराधार प्रत्यक्षीकरण के रूप में जैनेन्द्र जी उसके अचेतन में सक्रिय 'कांशेन्स' तथा 'सेक्स' भावना के सघर्ष की एक झलक दिखा देते है।

जैनेन्द्र के औपन्यासिक चरित्र-चित्रण में दुरूहता

विषय की गूढ़ता

मूलग्राही विचारधारा

हिन्दी-उपन्यास जगत् में जैनेन्द्र जी एक पहेली के रूप में आये। हिन्दी के वह पहले उपन्यासकार हैं, जिसने अपने पाठकों को बँधी-बँधाई, घिसी-घिसाई सामाजिक नैतिकता की सकीर्णता से निकाल कर मूल नैतिकता तक पहुँचाने के लिए उन्हे गहरे आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त किया। जैनेन्द्र जी तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी-उपन्यास के पाठक में सामाजिक मूल्यो को परखने वाली अपनी निर्णायक बुद्धि पर जो एक प्रकार का निश्वास हो गया था उसे उनके उपन्यासों ने एकदम झँझोड दिया और आग्रह किया कि वह अभी और गहरे पैठे। अपने चिरपोषित नैतिक मूल्यो को इस प्रकार

---

१८१. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 299-300.
"If I do not know behind which of the person which occur in the dream I am to look for my ego. I observe the following rule: that person in the dream who is subject to an emotion which I experience while asleep, *is the one that conceals my ego*"

१८२. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ८८।

१८३. वही, पृ० २८।

भुठलाया जाता देख पाठक को बेहद झुंझलाहट हुई और वह कोसते-कोसते यह कहना चाहने लगा कि लेखक क्या उलूल-जलूल लिखता जा रहा है, पर वह ऐसा कह नही पाया। लेखक द्वारा प्रतिपादित मूल्यो की सत्यता को सदिग्ध समझते हुए भी वह यह महसूस करने पर मजबूर हो गया कि लेखक द्वारा दी गई चुनौती में सच्चाई जरूर है। 'कल्याणी' के प्रकाशित होने के कुछ ही देर बाद आकाशवाणी के दिल्ली-केन्द्र से प्रसारित एक समीक्षा में अज्ञेय जी मानो जैनेन्द्र के पाठकों का प्रतिनिधित्व कर रहे हो : "मैं फिर कहना चाहता हूँ कि उसके (कल्याणी के) पढ़ने से बेहद झल्लाहट होती है और मै मानता हूँ कि वह झल्लाहट सब कुछ न होकर भी इस बात का सबूत जरूर है कि लेखक ने कही बहुत गहरे पर चोट की है।"[१८४] पर सभी पाठक तो ऐसे स्पष्टवादी नहीं हो सकते। सदियो से पड़े सस्कार एकदम कैसे धुल सकते है। इसलिए जैनेन्द्र जी से भी वही आशा की गयी जो उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकारो से की गयी थी। उनके उपन्यासो में किसी विशिष्ट चिन्तन-धारा के आधार पर समस्याओ का निरूपण खोजा जाने लगा, पर निराशा ही हाथ लगी। चारों ओर से आवाजें उठने लगी : जैनेन्द्र के उपन्यास पहेली है, "इस प्रहेलिका पर हम सोचते ही रह जाते हैं। कुछ पार नही मिलता, कुछ भेद नही पाते।"[१८५] — "विचार-मौलिकता का जो सक्रिय और स्पष्ट स्वरूप हम एक मौलिक विचारक और कलाकार की कृति में देखने को उत्सुक रहते है, उसकी आंशिक पूर्ति भी इन उपन्यासों द्वारा नही होती। हम एक करुण भावना से दूसरी करुण भावना में भटकते रहते हैं।"[१८६] इस प्रकार लेखक की आत्मा से, उसकी विचारधारा से, सायुज्य स्थापित न कर सकने के कारण उसके पात्रो और उनकी विशिष्ट स्थितियो से जिनका एकात्मीकरण नही हो पाता, उनके लिए ये उपन्यास दुर्बोध बने रहते हैं।

अचेतन की खोज में

जैनेन्द्र जी के उपन्यासों की दुरूहता यदि पाठकों की मान्यताओं के उनकी विचारधारा से मेल न खा सकने से ही हो, तो जो बिना किसी प्रकार के पूर्वग्रह के उनके उपन्यासों को पढ़ें, उन्हें यह शिकायत नही होनी चाहिए। पर वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। श्री प्रभाकर माचवे के लिए भी, जिनके बारे में कहा जा सकता है कि उन्होने जैनेन्द्र और उनके साहित्य को निकट से देखा और पढ़ा है, "जैनेन्द्र एक ऐसी उलझन है, जो पहेली से भी अधिक गूढ़ हो। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे।"[१८७] यही नहीं, जैनेन्द्र जी स्वयं भी अपनी इस रहस्यमयता से अपरि-

१८४. 'भारती', अगस्त १९४१, पृ० ६५।

१८५. पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, "आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ उपन्यास", 'सरस्वती', मार्च, १९५२।

१८६. नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००७, पृ० १७३।

१८७. प्रभाकर माचवे, "श्री जैनेन्द्रकुमार—एक व्यक्तित्व', 'हंस', नवम्बर, १९३६।

चित नही। इसी को लक्ष्य करते हुए अपने आलोचकों के प्रति उन्होंने एक बार लिखा भी था—"गहन गहराई में उतर कर चलना ऐसा सरल नही होता जैसे ऊपर मैदान में चलना। लिखना क्यों है? अपने भीतर की उलझनों को सुलझा पाने के लिए भी तो वह है। वहाँ भीतर बडी चकरी अँधेरी गलियाँ है, वहाँ प्रकाश हो जाए तो बात ही क्या। इससे वहाँ पैठ कर राह खोजने वाले की गति कुछ धीमी या कुछ दुर्बोध या कुछ चकरीली सी हो जाए तो क्षम्य मानना चाहिए। यह उसके लिए गर्व की बात नही, लाचारी की बात है।"[१८८]

तो क्या उनके उपन्यासो की रहस्यमयता का कारण जैनेन्द्र जी उतने नही, जितना कि उनके विषय—मानवमन—की अपनी गूढ़ता है? पात्रो की मानसिक अनुभूतियो का चित्रण तो हिन्दी-उपन्यास में जैनेन्द्र जी के आने से पहले भी होता था, पर वे अनुभूतियाँ पात्रो के चेतन मन की होती थी, शायद इसी लिए वे मानवी भाषा में, जो चेतन मन की ही एक उपज है, स्पष्ट अभिव्यक्ति भी पा जाती थी। पर जैनेन्द्र जी पात्रों के चेतन में नहीं अटके रहते, प्रत्युत उसे चीर कर उनके अचेतन की परत पर परत खोलने लग जाते है। तो क्या अचेतन का उसी प्रकार स्पष्ट रूप नही पकड़ में आ सकता, जिस प्रकार चेतन का? मनोविश्लेषण-प्रणाली के प्रवर्त्तक सिग्मंड फ्रॉयड ने अचेतन की व्याख्या करते हुए एक बार लिखा था कि उसकी भीतरी प्रकृति हमारे लिए उसी प्रकार अज्ञेय रहती है, जिस प्रकार बाह्य जगत् की वास्तविकता; अचेतन मन द्वारा उपलब्ध सामग्री में उसकी उतनी ही अधूरी झलक मिलती है, जितनी हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् की।"[१८९] मनुष्य के चेतन व्यापारों में प्रतिबिम्बित अचेतन को समझ सकना साधारण लोगों के नही, मनोविश्लेषको के ही बस की बात है। हम लोग तो कभी ही उसमें झाँक पाते होगे। अपनी चेतन कल्पनाओं और विचारो की भाषा मे ही हम इसे थोडा-बहुत जो कुछ भी हो समझ पाते हैं। जब यह अचेतन, कल्पनाओ और विचारों की भाषा में भी पूरा समझा नहीं जा सकता तो उसे स्पष्टतया समझाया कैसे जा सकेगा और वह भी शब्दों की ससीम भाषा में। "बुद्धिनिर्मित ये शब्द सतह की लहरों को गिनते है, गहराई को वे कहाँ नापते हैं? क्या वे उसको तनिक भी पाते है, जो अन्तर्गत है? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दो में आता है?"[१९०]

---

१८८. जैनेन्द्र कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १०६।

१८९. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 27:
"Its inner nature is as unknown to us as the reality of the external world, and it is just as imperfectly reported to us through the data of unconsciousness as is the external world through the indications of our sensory organs" (S. Freud).

१९०. जैनेन्द्र कुमार, 'कल्याणी', पृ० ८०।

पाठकों के लिए आयास-साध्य

तो क्या अस्पष्ट अभिव्यक्ति की यह लाचारी, जिसका जैनेन्द्र जी ने उल्लेख किया है, उनकी ही नही, सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो की लाचारी है ? यदि यह सच है तो मानना होगा कि सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में थोडी बहुत अस्पष्टता जरूर रहती है। जोसेफ फ्रैंक ने जब एक बार कहा था कि—'मनोवैज्ञानिक उपन्यास साधारण अर्थ में नही पढ़े जा सकते, उनके पुनर्पठन की अपेक्षा रहती है।'[१६१] तो कदाचित् उसका यही आशय था कि एक बार पढने से वे समझ में नही आते। सच तो यह है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास केवल लेखक से नही, पाठक से भी आयास की अपेक्षा करता है।[१६२] और यही माँग जैनेन्द्र जी के उपन्यास भी अपने पाठको से करते है। यह बात उन्होने उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करते ही खोल दी थी—'मैने जगह-जगह कहानी के तार की कडियाँ तोड दी हैं। यहाँ पाठक को थोडा कूदना पडता है। और समझता हूँ, पाठक के लिए यह थोड़ा आयास वांछनीय होता है—अच्छा ही लगता है।'[१६३] उनका यह कथन कथानक पर ही नही, पात्रों के चरित्र-चित्रण पर भी लागू होता है।

"जैनेन्द्रपन"

जैनेन्द्र जी के उपन्यास यदि आयास-साध्य ही हों तब तो कोई बड़ी बात नही, बिना किसी पूर्वग्रह के थोडा आयासपूर्वक पढने से उनके उपन्यास स्पष्ट हो जाने चाहिएँ। यदि ऐसा नही होता, तो मानना पडेगा कि उनके उपन्यासो की रहस्यमयता उनकी मूलग्राही विचारधारा के कारण या उनके उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक होने के कारण ही नही, उनकी उपन्यास-कला के वैशिष्ट्य के कारण, उसमें व्याप्त 'जैनेन्द्रपन'[१६४] के कारण, भी हो सकती है। तो फिर यह 'जैनेन्द्रपन' क्या है ?[१६५]

---

१६१. Edel, 'Psychological Novel', p. 108 :

"A stream of consciousness novel cannot be 'read' in the usual sense—it can only be re read." (Joseph Frank)

१६२. Ibid., 100-101 :

"We are asked to 'see' into the characters, to make deductions from such data as may be offered us—and at the same time to live for ourselves the experience with which we are confronted on the printed page. This is asking a great deal of the reader"

१६३. जैनेन्द्र कुमार, 'परख', पृ० ५।

१६४. S. H. Vatsyayan, "Hindi Literature", 'Contemporary Indian Literature', Sahitya Akademi, New Delhi, 1957, p. 80 :

"Another writer who cannot easily be placed in the general movement of Hindi Literature is Jainendra Kumar, whose novels and short stories constitute one of the most significant literary contributions of his period."

१६५. देखिये—'आरती', अगस्त, १६४१, पृ० ६५।

शैली-प्रदर्शन

नयी शैलियों के प्रति मोह

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला की पहली विशेषता है चरित्रोद्घाटन की नई-नई प्रणालियों के प्रति उनका मोह। 'परख' से लेकर 'जयवर्धन' तक उन्होने बदल-बदल कर चरित्र-चित्रण की कई प्रणालियों को अपनाया है। 'परख', 'सुनीता' और 'विवर्त' में उन्होने प्रेमचन्द की तरह, परम्परागत वर्णनात्मक शैली (उपन्यासकार द्वारा प्रथम पुरुष में वर्णन) अपनाई है। 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' की शैली जीवनी की रही है। उपन्यास का एक पात्र प्रथम पुरुष में धीरे-धीरे नायिका के जीवनवृत्त और उसके चरित्र-विकास पर प्रकाश डालता रहता है। 'जयवर्धन' की शैली देखने को तो डायरी की है, पर वास्तव में, वह 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' वाली शैली का ही एक रूपान्तर है, क्योंकि इसमें नायक-नायिका का वृत्त एक ही पात्र की डायरी में लिखा मिलता है, भिन्न-भिन्न पात्रों की डायरियो में नही। 'सुखदा' और' व्यतीत' में 'आत्मकथा' शैली का प्रयोग हुआ है—नायक अथवा नायिका उत्तम पुरुष में आपबीती सुनाते हुए स्वयं ही अपने को खोलते चलते है।

इतिहास शैली : इस प्रकार, नई-नई शैलियों के प्रति आकर्षण के कारण जैनेन्द्र जी उपन्यासकार की सहजोपलब्ध स्वतंत्रता का उत्तरोत्तर त्याग करके अपने लिए सीमाओं का निर्माण करते रहे है। इतिहास-शैली, लेखक द्वारा प्रथम पुरुष में पात्रों को उद्घाटित करते रहना, आज चाहे कितनी ही रूढ समझी जाए, सर्वोत्तम रही है। यह शैली उपन्यासकार को एक साथ 'स्रष्टा' और 'कथाकार' दोनो ही बनाकर उसके काम को सरल बना देती है। हम यदि एक-दूसरे के लिए—और बहुधा अपने लिए भी—एक पहेली है, तो इसलिए कि जो हमारा स्रष्टा है, हमारे बारे में सब कुछ जानता है, वह मौन है—कुछ बताता नही और हम जो एक-दूसरे के स्वभाव की व्याख्या करने का दम भरते हैं, कुछ जानते नही, केवल अनुमान के आधार पर ही दौड़ लगाते है। इसलिए इस शैली में और चाहे कोई दोष आ जाए, पात्रो का चरित्र-विकास अस्पष्ट नही रह सकता, क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी लेखक आवश्यकता पडने पर कभी भी उनके विकास की टूटी कडियाँ जोड़ सकता है। 'परख', 'सुनीता' और 'विवर्त' में जैनेन्द्र जी ने यह शैली अपनाई तो है, पर बडे संकोच के साथ। यदि वह अपने अधिकारो का पूरा-पूरा लाभ उठाकर पात्रो की विविध क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रेरकों में एकसूत्रता ले आते, तो वे पहेली न बने रहते। यहाँ भी वे 'सिरजनहार' की बराबरी करने का मोह नहीं छोड़ सके है—'सृष्टि ही तो दीखती

है, स्रष्टा कहाँ दीखता है।'[१६६] तो फिर अपनी सृष्टि, उपन्यास, मे वह क्यो दिखाई दें।

आत्मकथा-शैली : 'सुखदा' और 'व्यतीत' की आत्मकथा-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होते हुए भी अपनी सीमाओं में जकडी हुई है। आत्मविश्लेषण प्रणाली की मजबूरियाँ ही इस शैली की मजबूरियाँ है। आत्मविश्लेषण में पात्र को अपनी ही विश्लेषण-शक्ति पर निर्भर करना होता है, क्योंकि उसकी सहायता के लिए कोई मनोविश्लेषक तो वहाँ होता नही। इसी प्रकार आत्मकथात्मक उपन्यासो में पात्र को अपने चरित्र-प्रकाशन के लिए स्वय ही सब कुछ करना पडता है, उपन्यास-कार उसकी कोई प्रत्यक्ष सहायता नही कर सकता। आत्मविश्लेपण साधारण व्यक्ति के बूते की बात नही। इसके लिए कई वर्षों का अभ्यास और साधना अपेक्षित है। मनोविश्लेषक की सहायता के बिना यदि कोई मुक्त आसग कर सके, तो यही बहुत होता है। यह काम तो सुखदा और जयंत दोनों ही अच्छी तरह कर लेते है, पर इतने से ही तो काम नही चल जाता। माना कि उनके द्वारा दिए गए मुक्त आसगों के ब्योरे में उनकी मनोवैज्ञानिक उलझनो के अचेतन कारण निहित है, पर उन्हे पकड तो वही सकेगा जो अचेतन मन की भाषा समझने की विद्या में विशारद हो। सुखदा और जयंत में यदि अपनी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारण पकडने की सूझ होती तो वे असहाय होकर इस प्रकार न कहते : 'अब भी मै क्यों यह नही समझ पाती कि व्यक्ति जो चाहता है, ठीक वही उसके करने से क्यों नही हो पाता।'[१६७] 'एकाएक जगह छोडने का निश्चय कैसे बन गया, क्यो कर बन कर टल न सका, आज भी मै जानता नही हूँ। सिवा इसके कि अभाग्य साथ चलता है, और क्या कहूँ?'[१६८] जब पात्र अपने अचेतन प्रेरकों को बता सकने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दे और उपन्यासकार अपनी ओर से कुछ भी न बता सकने के लिए मजबूर हो तो पाठक के पल्ले क्या पडेगा। वह तो झल्ला कर ही रह जाएगा। पाठक अनु-भवी मनोविश्लेपक हो तो भी शायद ही वह पात्रो को पूरा-पूरा समझ सकेगा, क्यो कि पात्रो द्वारा दिए गए स्वल्प विवरण पर ही उसे सन्तोप करना पड़ेगा। पात्रो से प्रश्नोत्तर द्वारा और कुछ पाने की सुविधा, जो मनोविश्लेषक का सहजाधिकार माना जाता है, उपन्यास के पाठक को कहाँ?

---

१६६. (क) जैनेन्द्र, 'सुनीता', प्रस्तावना, पृ० ३।

(ख) Allen, 'Writers on Writing' p. 137.

"The artist should be in his work, like God in creation, invisible and all-powerful; he should be felt everywhere and seen nowhere." (Gustava Flaubert to Mile de Chautepia."

१६७. जैनेन्द्र, 'सुखदा', पृ० ७२।

१६८. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० ४०।

मनोविश्लेषण-शैली . 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' और 'जयवर्धन' की प्रणाली तो आत्मकथा-शैली से भी अधिक चक्करदार है । 'सुखदा' और 'जयवर्धन' को तो अपने-आप को ही जानना-समझना है; पर प्रमोद, वकील साहब और हूस्टन को पहले दूसरो को—क्रमश. मृणाल, कल्याणी, जयवर्धन और इला को—समझना है, और फिर पाठको को समझाना है । उनकी सब से बडी कठिनाई यह है कि यह सब कुछ उन्हे स्वानुभूति नही, कोरे अनुमान के बल पर करना पडता है । अपने को समझने की अपेक्षा दूसरो को समझना जितना अधिक कठिन है, उतने ही अधिक अस्पष्ट हो गए हैं ये उपन्यास—'सुखदा' और 'व्यतीत' से । 'त्यागपत्र' के प्रमोद, 'कल्याणी' के वकील साहब तथा 'जयवर्धन' के विलबर हूस्टन को न्यूनाधिक रूप में एक मनोविश्लेपक का काम करना पडता है और अपने पात्रो की मनोवैज्ञानिक समस्याओ के अचेतन कारणो को समझने के लिए मुक्त आसग, बाधकता विश्लेपण, स्वप्न-विश्लेपण आदि प्रणालियो का प्रयोग करना पडा है, जिनके बिना मनोविश्लेपक का गुजारा नही । मनोविश्लेपण-प्रणाली में उपर्युक्त और पर्याप्त सामग्री के सकलन के लिए मनोविश्लेपक और पात्र का प्रतिदिन का सम्पर्क कम से कम दो तीन वर्ष तक चलता रहता है। तब कही, मनोविश्लेपक अपने को इस स्थिति में समझता है कि कुछ अनुमान लगा सके ।'[१९९] पर 'त्यागपत्र' का प्रमोद होश पकडने पर केवल तीन-चार बार मृणाल से मिलता है और वह भी कुछ घण्टों के लिए । 'कल्याणी' के वकील साहब का भी कल्याणी के पास आना-जाना उसकी गर्भावस्था तक ही रहता है और वह भी प्रति दिन नहीं, कभी-कभी ही । 'जयवर्धन' का 'हूस्टन' तो सप्ताह भर में जयवर्धन के निजत्व को पा लेना चाहता है । एक तो व्यावसायिक मनोविश्लेपक न होने के कारण इन्हे अपने पात्रो को मुक्त आसंग की स्थिति में लाने में बड़ी कठिनाइयो का सामना करना पडा, यहाँ तक कि अपमान भी सहना पड़ा । दूसरे, ये अपने पात्रों के मुक्त आसंगों, उनके निराधार प्रत्यक्षीकरण तथा स्वप्न की उचित व्याख्या करने में भी असमर्थ रहे हैं । ऐसी स्थिति में, जब प्रधान पात्र अपना सन्तुलन खो बैठा हो, मनोविश्लेपक पात्र सुस्पष्ट व्याख्या कर सकने में असमर्थ हो और लेखक बीच में दखल न दे सकता हो, पाठक से ही आशा रखना कि वह मनोविश्लेपककी-सी योग्यता रखे, क्या उसके प्रति अन्याय करना न होगा ?

स्वनिर्मित सीमाएं

इस प्रकार, नई-नई शैलियों के मोह में पड पर जैनेन्द्र जी द्वारा उपन्यासकार के सामान्य अधिकारो का उत्तरोत्तर त्याग करके अपने लिए सीमाओं का निर्माण

१९९. Ruch, 'Psychology and Life', p. 531 :

"Psycho-analysis has also been criticised because it has an intensive method of therapy that requires a great deal of time and money. Daily contacts over a two or even three year period are not at all uncommon."

करते चलना भी उनके पात्रों की दुरूहता का एक कारण हो सकता है। पर कहा जा सकता है कि अकेले जैनेन्द्र जी ने ही तो इन प्रणालियों का प्रयोग नही किया, लगभग सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में इन्हे अपनाया जाता है। यहाँ यह बता देना अनावश्यक न होगा कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार उपन्यास में दिखाई चाहे न दे, उसमे अपने प्रवेश के अधिकार को वे इस प्रकार तिलाजलि कभी नही देते, जैसा कि जैनेन्द्र जी करते है। 'शेखर एक जीवनी' से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी। इसके अतिरिक्त, जब भी कोई उपन्यासकार किसी ऐसी प्रणाली का प्रयोग करता है, जिसका सम्बन्ध अचेतन के प्रकाशन से हो, तो उसके उपन्यास में उचित टीका-टिप्पणी का समावेश पाठको की दृष्टि से उतना ही आवश्यक होता है, जितना कि मनोविश्लेषण प्रणाली में पात्र (सब्जेक्ट) की सहायता के लिए उसके अचेतन प्रेरको की व्याख्या। इसलिए, यह मानना होगा कि जब तक पाठको का, अचेतन तक पहुँचाने वाली प्रणालियो की प्रक्रिया पर सहज अधिकार नही हो जाता, उपन्यासों में उचित व्याख्या के समावेश द्वारा उसे समझाने का दायित्व उपन्यासकार पर ही रहेगा। उपन्यासकार अपने इस दायित्व से कतराएगा तो उसके पात्र पहेली से दीखेगे।[२००] कदाचित् यही कारण है कि आन्द्रेजीद की तरह आजकल उपन्यासकार अपनी कृतियो के साथ टिप्पणियाँ भी जोड देते है।

पाठक किसी उपन्यास को केवल पढता ही नहीं, साथ-साथ अनुभव भी करता जाता है, और जहाँ उसकी अनुभूतियाँ किसी एक भी पात्र की अनुभूतियो से मेल खा जाती है और उस पात्र से उसका सायुज्य स्थापित हो जाता है, वह रस-विभोर होकर वाह-वाह कर उठता है।[२०१] जैनेन्द्र जी भी इस तथ्य को स्वीकार करते है 'साहित्य की कसौटी वह सस्कारशीलता है, जो हृदय-से-हृदय का मेल चाहती है और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्र मुदित करता है, वह साहित्य खरा है। संकुचित करता है, वह खोटा।'[२०२] पर साहित्य द्वारा चित्र के मुदित अथवा संकुचित होने का प्रश्न तो तभी उठेगा यदि वह पात्र के लिए बोधगम्य हो।

---

२००. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p 131

"It may be that interpretation and comment are indispensable accompanists of experimental writing, at least until the means of such interpretation becomes a part of the reader's own mental equipment."

२०१. Edel, 'Psychological Novel', p. 108 :

"Perhaps the only generalisation possible then is that in a novel which uses internal monologue .. .. the author succeeds only when the reader achieves a certain state of identification or relationship with the sole mind that is offered to him on the pages of the book."

२०२. जैनेन्द्र कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १३३।

बेहद व्यंजकता (सब्जैक्टिवनैस)

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला की एक और विशिष्टता है, उसकी व्यजकता। हिन्दी में वह पहले उपन्यासकार है जो अपने पात्रों के चरित्र-विकास के लिए घटनाओं पर निर्भर नही करते, प्रत्युत् उसके लिए जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतियों का सहारा लेते है। क्षुद्र-से-क्षुद्र सकेत भी उनके उपन्यासों में उतना ही महत्त्वपूर्ण हो गया है, जितनी कि प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यासो में बडी-से-बडी घटना। इसी प्रकार, उन के पात्रों के पास साफ-साफ कहने को बहुत कम है, सकेत करने को ही अधिक है। इन इंगितों को व्यक्त करने वाली पात्रों की भाषा इतनी अधिक सरल है कि वक्र हो उठी है। उनके छोटे-छोटे अनगढ़ वाक्यों में बेहद व्यजकता है। एक बार उन्होने स्वयं भी कहा था:—"कोई कथन सीधे अपने शब्दार्थ में और कोई घटना अपने सीमित अर्थ में सार्थक नही होती। सबका अर्थ विस्तृत है—इससे सब कुछ मात्र संकेत रूप में सूचक-इंगित रूप में ही अर्थकारी है।"[२०३] "जैनेन्द्र जी की शैली और भाषा अपनी जिज्ञासा और समन्वय बुद्धि के एकीकरण में एक सकोचशील भाषा है। उनका अभिप्राय स्पष्ट है, किन्तु संकोच, अभिप्राय को ग्रहण करने के लिए कुछ रुक-रुककर चलने को कहता है—वे अभिप्राय की रास को हल्की खीच देकर चलते हैं, ढील देकर नही, उनकी गति में एक चिन्तनशीलता है, चिन्ता के प्रति एक सजग मृदुता, एक कोमल समझौता। शैली की इस व्यजकता के कारण वह एक पहेली सी लगने लगती है। जैनेन्द्र जी इस पहेली को कही तो खोल देते है और कही उसे पहेली ही बनी रहने देकर जिज्ञासा जगा जाते है।"[२०४] पाठक बहुधा उनके इगितों को समझ नही पाता और पात्रों का चरित्र-विकास उसके लिए अस्पष्ट रह जाता है।

प्रच्छन्न दार्शनिकता

जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला में एक और उलझन है उनकी दार्शनिकता। वैसे तो प्रत्येक उपन्यासकार का जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण होता है जो जाने या अजाने उसकी कृति को एक रंग दे देता है।[२०५] वास्तव में, उच्च कोटि की रचना पाठक का मनोरजन ही नही करती, उसके बौद्धिक विकास के लिए खाद्य भी प्रदान करती है।[२०६] पर जैनेन्द्र जी की उपन्यास-कला की उलझन यह है कि उनका जीवन-दर्शन

२०३. वही, पृ० ११२।

२०४. शांतिप्रिय द्विवेदी, "जैनेन्द्र के विचार—एक समीक्षा", 'हस' पृ० ८३९।

२०५. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 131.

२०६. Ibid., p. 169:

"If one thing is proved with certainty by the whole history of literature down to our time, it is that the self-preservative instinct of humanity rejects such art as does not contribute to its intellectual nutrition." (John Addington Symonds).

उनकी रचनाओं में आसानी से नहीं मिल पाता। वह स्वय भी इस बात को जानते है : "पाठक पुस्तक में मुझे मुश्किल से पाएगा। यह नहीं कि मै उसके प्रत्येक शब्द में नही हूँ, लेकिन पुस्तक के जिन पात्रो के माध्यम से मै पाठको को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर उन पात्रो के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हे सामने करके मै ओट में हो जाता हूँ।"[२०७] अपने पाठकों पर जैनेन्द्र जी अपने जीवन-दर्शन का आरोप नही करना चाहते। इस दृष्टि से कि पाठक उन्हे उपदेशक न समझ बैठे, वे पात्रो के जीवन की तुच्छातितुच्छ गतियो को लेकर ही अपना आशय व्यंजित कर देते है। इस ओर उन्होने एक बार सकेत भी किया था : "बडी से बडी वस्तु अनुपयोगी और छोटी से छोटी घटना भी व्यक्ति और ग्रन्थ के जीवन में विराट् आशय बन सकती है। तुच्छ इस सृष्टि में कुछ भी नही।[२०८] इसलिए, पाठको की दृष्टि में उनके पात्रों के जीवन की क्षुद्रातिक्षुद्र घटनाओ को भी यथेष्ट महत्त्व न मिल सकने से यदि प्रतीत होने लगे कि 'नैतिक आदर्शों को उनके उपन्यासों में कोई स्थिर मान्यता प्राप्त नही'—उनका दर्शन सामाजिक जीवन से पलायन का दर्शन है[२०९], तो आश्चर्य न होना चाहिए। इसी प्रकार, यदि उनके 'उपन्यासो का अन्त भी निष्कर्ष-विहीन'[२१०] दिखाई दे, तो भी कोई बडी बात नहीं। यह आशका लेखक को पहले से ही थी : "इस प्रकार, असम्भव नही कि कला का उपास्य विलुप्त ही रहे और पडित-जन की बुद्धि शास्त्र-विच्छेद द्वारा यही पहुँचे कि कला का सिंहासन तो उपास्य-शून्य है और वहाँ निर्बुद्धिता के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।"[२११]

अपर्याप्त मनोवैज्ञानिक व्याख्या

जैनेन्द्र जी के औपन्यासिक पात्रो के अचेतन में सक्रिय सघर्ष की एकरूपता और उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उनका विकास की समान शिक्षा ग्रहण कर लेना, हमें यह सोचने के लिए विवश कर देता है कि क्या, वास्तव में ही, उनके उपन्यासो में नैतिक आदर्शों को स्थिर मान्यता नही मिल पाई है और क्या सच ही उनका अन्त निष्कर्ष-विहीन रहा है ? और मानसिक संघर्ष मे से गुजरने के बाद सुनीता का हरिप्रसन्न के प्रति, सुखदा का लाल के प्रति, भुवनमोहिनी का जितेन के प्रति आत्म-समर्पण, तथा 'व्यतीत' की नायिका अनिता का जयन्त के प्रति उच्छृंखल होने के बाद क्षमा माँगते हुए कहना 'जयन्त, रात की बात भूल जाओ। मैं सुध में न थी। अब

---

२०७ जैनेन्द्र, 'सुनीता', प्रस्तावना पृ० ३।
२०८. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ११३।
२०९ नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य', पृ० १६०।
२१०. राजकिशोर वर्मा, "उपन्यास का भविष्य", 'पारिजात', जनवरी, १९४७।
२११. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ३७।

सुध में हूँ। कहती हूँ, मै यह सामने हूँ। मुझ को तुम ले सकते हो[२१२]—इस बात की ओर स्पष्ट सकेत है कि उनके उपन्यासो का अन्त एक ही निष्कर्ष में होता है। जैसा कि हम पहले लिख चुके है, जैनेन्द्र जी के पात्रों के, विशेषतः स्त्री-पात्रो के, अचेतन में उनकी विवेक-बुद्धि (कान्शेन्स) तथा यौन (सैक्स) की प्रवृत्ति में निरन्तर घोर सग्राम छिड़ा रहता है, जो उनके अजाने में उनके भाव, विचार और आचार को प्रभावित करके परिस्थिति से उनका सन्तुलन नही बैठने देता। उनकी नायिकाओ के भरसक चेष्टा करने पर भी उनकी विवेक-बुद्धि उन्हे अपने पति के प्रति पूर्णतया समर्पित नही होने देती और जब उनकी यौन प्रवृत्ति उन्हे प्रेमी की ओर झुका ले जाती है और करीब ही होता है कि वे उसे समर्पित हो जाएँ, उनकी विवेक-बुद्धि—सामाजिक संस्कारिता रूपी 'कान्शेन्स'—उन्हे पति के प्रति विश्वासघात करके अपनी ही नजरों में गिरने नही देती तथा उनका समर्पण सहसा बीच में ही रुक जाता है। इस प्रकार, एक लम्बे मानसिक सघर्ष में उनकी विवेक-बुद्धि उनकी यौन प्रवृत्ति पर छाई रहती है और वे प्रेमी तथा पति दोनो से ही कटी-कटी रहती है। अपने में सिमटकर वे अपने को शून्य[२१३] बना लेती है और वह शून्य उन्हे भीतर ही भीतर काटता रहता है। 'नितात एकाकी रहकर किसी को कैसे सुख मिल सकता है', 'ताड के पेड़ की तरह ऊँचा तनकर वे अकेली न खडी रह सकी।'[२१४] 'उनके भीतर तक व्याप्त एक से दो होने की अपेक्षा[२१५]—उनकी यौन प्रवृत्ति[२१६]—अतत' उन्हे प्रेमी के प्रति समर्पित होने के लिए मजबूर कर देती है और इस प्रकार, वे अपने क्षुद्र अहकार को तोडकर 'विराट् मे विदेह बनने'[२१७] के लिए मचल उठती है, मानो अपने स्रष्टा का अनुभूत तथ्य—ऐक्य-बोध ही सबसे बडा ज्ञान-लाभ है'''आत्मार्पण मे ही आत्मोपलब्धि है, आग्रहपूर्ण सग्रह मे लाभ नही,[२१८]—उन्होने पा लिया हो और उनके भीतर का बिछुड़ा खण्ड अखण्ड से ऐक्य को तडप उठा हो।[२१९] पर जैनेन्द्र जी के उपन्यास और उनके पात्र अपने स्रष्टा के जीवन-दर्शन को इतना सुनने कहाँ देते है। उनके 'पात्रों का तर्क उनके ही भीतर सन्निहित रहता है'[२२०] और उनके सकेत-सूत्र उपन्यास भर मे बिखरे ही नही रहते, प्रत्युत नाना प्रकार के रूप धारण करके पाठको को भरमाते रहते है।

२१२. जैनेन्द्र, 'व्यतीत', पृ० १६६।
२१३. जैनेन्द्र, 'कल्याणी', पृ० ८१।
२१४. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ५-६।
२१५. जैनेन्द्र, 'सुनीता', पृ० ५-६।
२१६ Andre Tridon : 'Psycho-Analysis and Love'. p 46-47.
२१७ जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० १८८।
२१८. वही, पृ० ११२।
२१९ वही, पृ० १८७।
२२० वही, पृ० १७५।

इसलिए समूचा उपन्यास पढ चुकने पर भी उसके हाथ कुछ नही आ पाए, पात्र उसे पहेली-से लगे और उपन्यास निष्कर्ष-विहीन दीखने लगे तो कोई आश्चर्य नही।

इस प्रकार, पात्रों के अचेतन को पकड मे ले आने के प्रयत्न में जैनेन्द्र जी द्वारा अपनाई गई गूढ आत्मचिंतन प्रणाली और उसमें आवश्यक व्याख्या-सूत्रों का अभाव, चरित्रोद्घाटन की नई-नई शैलियो के मोह में पडकर उनके द्वारा उपन्यासकार के सहज अधिकारो का उत्तरोत्तर त्याग करके अपने लिए सीमाओ का निर्माण, आवश्यकता से अधिक व्यंजकता के समावेश द्वारा पाठको को भरमाते रहना, उपदेशात्मकता से बचने के प्रयत्न में अभिप्राय की रास को, ढील नही, हल्की खीच देकर चलना आदि कई विशिष्टताएँ मिलकर उनकी उपन्यास-कला में एक ऐसा 'जैनेन्द्रपन'[२२१] ला देती है, जिससे पूरी तरह परिचय पाए बिना पाठक उपन्यास के पात्रों से अपना सायुज्य स्थापित नहीं कर पाते, और वे उस साहित्यानन्द की प्राप्ति से वचित रह जाते है, जिसे जैनेन्द्र साहित्य का प्राण मानते हे[२२२]; उपन्यास उन्हे उलझन नजर आने लगते है और पात्र लक्ष्य-भ्रष्ट।

२२१. वात्स्यायन, 'आरती', अगस्त, १९४१, पृ० ६५।
२२२. जैनेन्द्र 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृ० ४३।

इलाचन्द्र जोशी

परिचयात्मक विवेचन

इलाचन्द्र जोशी का विश्वास है कि आज विश्व में जो उथल-पुथल मची हुई है, उसका मूल कारण यही है कि हम अपने अन्तर्जीवन की पूर्ण उपेक्षा कर के बाह्य जीवन को ही सब कुछ समझ बैठे है और इस सत्य के प्रति आँखे मूँद लेते है कि व्यक्तियो के अन्तर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य जीवन के रूपको के रूप में—विश्वव्यापी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियो के प्रतीक बन कर—प्रकट होते रहते हैं। परिणामस्वरूप हम अपनी जीवनगत समस्याओ का वास्तविक रूप नही समझ पाते और उनके समाधान के लिए जो उपचार अपनाते है, वे भी व्यर्थ सिद्ध होते है। अपने उपन्यासो में जोशी जी निरतर इस तथ्य के अनुसंधान में जुटे रहे हैं कि अज्ञात चेतना के पाताल लोक मे स्थित अतल नरक के विश्लेषण द्वारा बाह्य जीवन-तत्त्वो के साथ उन नारकीय (किन्तु मूल) जीवन-तत्त्वो का समुचित सम्बन्ध स्थापित करके मानव-जगत् में किन उपायो से अपेक्षित स्वर्ग की स्थापना की जा सकती[1] है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने अपने उपन्यासो में जीवन में घटित होने वाली विशेष घटनाओ को लेकर उन्हे कुछ विशेष पात्रो के जीवन-सूत्रो में पिरोकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यक्ति जो है वह वही नही है। उसके बाहरी रूप के भीतर कितनी परतो के नीचे उसका असली रूप छिपा रहता है और यदि रात-दिन के जीवन की तुच्छता का पर्दा हटाकर किसी साधारण समझे जाने वाले व्यक्ति के भीतर हम एक भी झलक देख सके तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहे।[2] इसके साथ साथ उन्होने इस तथ्य को भी उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति के जीवन में जो भी घटनाएँ घटित होती है, वे अकारण भाग्यवश नही घटित होती, उन घटनाओ के बीज पहले से ही व्यक्ति

१. जोशी, 'प्रेत और छाया', भूमिका, पृ० ११।
२. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० १६३।

मानस मे छिपे रहते है ; उन छोटी-छोटी घटनाम्रों की ओट में पर्वतोच्च विशाल मानसिक प्रवाह ठाठे मारता रहता है। साथ ही उन्होने यह भी बताने की कोशिश की है कि जीवन की छोटी-से-छोटी घटना भी उपेक्षणीय नही। बडी-बडी बातों से तो मनुष्य की ऊपरी सतह का परिचय मिलता है, पर छोटी-छोटी बातें उसके मर्म में छिपी हुई विशेषताम्रो को प्रकाश में लाती है।' 'इन्ही छोटी-छोटी बातों' पर गौर करते रहने से जीवन के बड़े-बडे महत्त्वपूर्ण, किन्तु उलझे हुए रहस्य सुलझते चले जाते है।[3]

पात्र-चयन-परिधि

इस प्रकार जोशी जी को अपने उपन्यासो के लिए ऐसे नायक और नायिकाओ की आवश्यकता पडी जो देवताओ के समान बाहर और भीतर एक समान न होकर मनुष्य की भाँति बाहर कुछ और भीतर कुछ हो। उन्होने अपने उपन्यासो के नायक के रूप में चुना पारसनाथ के-से व्यक्तियों को जिनके 'मुख की अभिव्यक्ति यद्यपि एक बाहरी मुखडा होता है तथापि वह मुखडा ऐसा अकृत्रिम जान पड़ता है कि कोई भी उसे देख कर धोखे में आ सकता है, उनके उस मुखडे के नीचे उनका जो असली व्यक्तित्व सैकड़ों काले साँपो की तरह सयुक्त कुण्डली-चक्र रचे हुए है, वह प्रारम्भ में छिपा ही रह जाता है।'[4] उनकी नायिकाएँ भी नन्दिनी जैसी स्त्रियाँ ही बनी, जिनके 'सौम्य, शान्त और शिष्ट मुखडे के नीचे उनका भयंकर लोम-हर्षक रूप' छिपा रहता है।[5] ऐसे ही पात्रो के जीवनवृत्त को लेकर वह बता सकते थे कि उनके जीवन की असगतियों का मूल उनके अपने ही मन की अतल गहराइयों में है, न कि बाह्य परिस्थितियों में, वल्कि उनके मन में पड़ी हुई पक्की गाँठों में है। प्रेमचन्द की तरह जोशी जी को अपने कथानायक समाज के धनी-शोपक वर्ग या निर्धन-शोषित वर्ग से चुनने की आवश्यकता न थी; क्योंकि उन्हे पात्रो की समस्याओं का मूल बाह्य आर्थिक परिस्थितियों में नही, उनकी मानसिक परिस्थितियों में दिखाना था। वास्तविकता तो यह है कि आर्थिक रूप से दृढ होते हुए भी उनके पात्र मानसिक रूप से बेहद कमजोर हैं।

नायक-नायिकाएं : "मनोवैज्ञानिक केस"

जिस ध्येय को लेकर जोशी जी ने अपने उपन्यासों की रचना की थी, उसके लिए ऐसे पात्रो की आवश्यकता न थी जो देव तुल्य चारित्रिक निष्ठा वाले दृढ़ पुरुष

---

३. जोशी, 'सन्यासी', भारत भण्डार, चतुर्थ सस्करण, प्रयाग, पृ० ३६१।
जोशी, 'जहाज का पंछी', पृ० ४६१।
४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २७।
५. वही, पृ० १६७।

हों, क्योंकि वे जानते हैं कि देवता बनकर पूजा पा जाना आसान है, पर मनुष्य बन पाना कठिन है।[६] उन्हेतो वे पात्र चाहिए थे, जो मनुष्य हों—मनुष्य की सभी कमजोरियो को लिये हुए—स्वभाव से ढुलमुल और इतने सवेदनशील हो, कि छोटी-से-छोटी घटना भी उनके चेतन को चीर कर अचेतन में एक ग्रन्थि बनकर गहरी धस जाए और वहा से उनके आचार-विचार और व्यवहार को निरन्तर प्रभावित करती हुई किसी भी परिस्थिति से उनका संतुलन न बैठने दे। उनके सभी पात्रो के मन में कोई न कोई ऐसी गाँठ पड जाती है जो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक विराट् परिवर्तन लाकर उन्हे जीवन भर बेपेंदे का लोटा बनाए रखती है। 'पर्दे की रानी' की नायिका निरजना की ग्रन्थि यह है कि वह कभी अचेतन में भी भूल नही पाती कि वह एक वेश्या माता और खूनी पिता की लडकी है।[७] 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ के अचेतन में यह बात एक ग्रन्थि के रूप में धसी हुई है कि उसकी मा वास्तव में व्यभिचारिणी है और वह उसकी जारज सन्तान है।[८]

इस प्रकार उनके सभी नायक-नायिकाएँ 'मनोवैज्ञानिक केस' ठहरते हैं। जोशी जी को इस बात का गर्व भी है कि उनके कथा-नायक चारित्रिक दृढ़ता वाले न होकर दुर्बल स्वभाव वाले ढुलमुल व्यक्ति हैं।[६]

मनोविश्लेषक पात्र

इन मनोवैज्ञानिक केसों को जो बाहर कुछ और भीतर कुछ और हों, ठीक-ठीक समझ सकना कोई सरल काम नही। उनकी समस्याओं के वास्तविक स्वरूप को प्रकाश में लाने के लिए, उनकी मानसिक ग्रन्थियो को उघाड़ने के लिए, जोशी जी को ऐसे पात्रों की आवश्यकता पडी जो मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से पूर्णतः परिचित हों और मनोविश्लेषक की-सी दक्षता से उन पात्रों की मानसिक प्रवृत्तियो के विश्लेषण द्वारा उनके अचेतन में धसी दु.खद-अनुभूतियों को उनके चेतन में लाकर इस रूप में व्याख्या करे कि वे असह्य न बनी रह सकें। 'पर्दे की रानी' के गुरु जी, 'जिप्सी' का नायक रंजन, 'निर्वासित' का महीप आदि न्यूनाधिक रूप में मनोविश्लेषक का काम भी करते हैं।

इस प्रकार, जोशी जी के उपन्यासों में मोटे रूप से तीन प्रकार के पात्रों को स्थान मिला है। पहले वे जो मनोवैज्ञानिक केस है, दूसरे वे जो उनकी मनोवैज्ञानिक उलझनों को जन्म देकर तिरोहित हो जाते हैं और तीसरे वे है जो मनोविश्लेपक की भाँति उनकी मानसिक उलझनो की व्याख्या करके उनके वास्तविक रूप को प्रकाश

६. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृ० ४४७।
७. जोशी 'प्रेत और छाया', पृ० १६५।
८. वही, पृ० ३७।
६. जोशी, 'जिप्सी'—उपसंहार, पृ० ७०६।

में लाते है । वास्तव में, इनके पहले और तीसरे वर्ग के पात्र ही महत्त्वपूर्ण हैं । उनमें भी अधिक महत्त्वपूर्णहै—तीसरा वर्ग मनोविश्लेपको का, जिनके द्वारा की गई व्याख्याओ के अभाव मे—वे व्याख्याए चाहे थिगली ही प्रतीत हों—जोशी जी के नायक-नायिकाएँ पहेली बन जाने और उनके उपन्यास गोरखधंधा प्रतीत होने लगते ।

पात्रों का प्रथम परिचय

नाटकीय प्रवेश

जोशी जी के उपन्यासों मे पात्रो का प्रथम प्रवेश नाटकीय ढग से होता है । प्रेमचन्द की भाँति वह पात्रों को पाठको के सामने लाने से पहले स्थिति के निर्माण में नही जुटे रहते। उपन्यास खुलते ही एक या अनेक पात्र इसी प्रकार किसी परिस्थिति से उलझे हुए दिखाई देते है, जिस प्रकार पर्दा उठते ही रंगमच पर नाटक के पात्र । 'मुक्ति-पथ' खोलते ही पाठक उपन्यास के नायक राजीव को अमीनाबाद पार्क में एक बैंच पर बैठे हुए पाते है । 'प्रेत और छाया' खुलते ही पारसनाथ और उसके साथी एक कुख्यात होटल में वार्तालाप-मग्न मिलते हैं । 'निर्वासित' का आरम्भ भी नाटकीय ढग से बिना किसी प्रकार की भूमिका के होता है । पाठक देखता है कि काग्रेस के एक बडे जलसे में स्टेज के नजदीक भीड़ मे बैठा हुआ एक युवक (महीप) सामने खड़ी एक स्वयसेविका (नीलिमा) की ओर एकटक देख रहा है । 'पर्दे की रानी' का आरम्भ भी इस प्रकार नाटकीय शैली में होता है . "मेरी सगिनी चन्द्रप्रभा ने आकर मुझ से कहा—आज एक बहुत ही सुन्दरी लडकी होस्टल में भरती होने आई है । ऐसा जान पडता है कि वह किसी राजा की लडकी है' ।"[१०]

प्रेमचन्द और जयशकर प्रसाद की भाँति जोशी जी अपने उपन्यासों के सभी पात्रों का प्रवेश उपन्यास के आरम्भ में नही करा देते, क्योकि उनके उपन्यासों की घटनाएँ एक दूसरे से असम्बद्ध हैं—उनमें सम्बन्ध केवल इतना है कि एक ही पात्र उन विभिन्न स्थितियो में पडता है—और लेखक का उद्देश्य पात्रों को विभिन्न स्थितियो में डालकर उनकी मनौवैज्ञानिक समस्याओ को उघाडना है । इसलिए, कोई भी पात्र किसी भी समय उपन्यास मे प्रवेश पा सकता है । उनके उपन्यासों के अन्त तक भी उनमें नए पात्रो का प्रवेश होता रहता है । 'प्रेत और छाया' में मंजरी का प्रवेश ८वें पृष्ठ पर हुआ तो नदिनी का ६१वे पृष्ठ पर और हीरा का ३५७वे पृष्ठ पर हुआ । 'जहाज का पछी' में करीम चाचा का प्रवेश १२९वें पृष्ठ पर होता है, दीप्ति का २२४ वें पृष्ठ पर, बेला का २४६ वे पृष्ठ पर, लीला का ३५८वें पृष्ठ पर और स्वामी जी का ५०९ वें पृष्ठ पर ।

---

१०. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ७ ।

नखशिख वर्णन-शैली

इस प्रकार, पात्रों को पाठकों के सामने लाकर जोशीजी उनकी आकृति-प्रकृति का, वेशभूषा, का परिचय कराने की ओर बढते है। पात्रों का, विशेषत नायक-नायिकाओ का, परिचय कराते समय जोशी जी सक्षेप-शैली से काम न लेकर उनकी आकृति-प्रकृति तथा वेश-भूषा का ब्योरेवार चित्रण करने लग जाते है, जो कई बार एक अच्छे खासे नखशिख-वर्णन के निकट ठहरता है। वह पाठकों को छूट नही देना चाहते कि वे उनके पात्रो को जिस रूप में चाहे समझ ले, प्रत्युत् वे इस प्रयत्न में रहते है कि प्रथम प्रवेश से ही पाठकों के मन पर पात्रो के बारे मे वैसी ही छाप पडती रहे, जैसी वे चाहते है। इसलिए वे पात्रो की आकृति और वेश-भूषा का ब्योरेवार वर्णन तो करते ही है, साथ ही यह बताना भी नही भूलते कि उन पात्रो का अन्य उपस्थित पात्रो पर क्या प्रभाव पडा है। ऐसा करने मे उनका प्रथम परिचय अनावश्यक रूप में लम्बा हो जाता है और पक्षपातपूर्ण भी प्रतीत होने लगता है। उससे पाठकों का पूर्वग्रह बढ जाने की सम्भावना भी रहती है।

'पर्दे की रानी' में निरजना का प्रथम परिचय इस प्रकार का है "जिस लडकी को घेरकर होस्टल की सब लडकियाँ खडी थी, वास्तव मे उसका रूप ऐसा अद्भुत, अपूर्व और अनुपम था कि स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, किसी के लिए भी उसके प्रति उदासीन रहना असम्भव था, मेरा यह ध्रुव विश्वास है। उसकी आयु उन्नीस या बीस वर्ष के लगभग होगी। वह नीले रग की रेशमी साडी पहने थी। यद्यपि होस्टल की लडकियों के लिए भडकीले रग की साडी पहन कर जाने वाली लडकियाँ ही थोडा बहुत कौतूहल उभाडने को यथेष्ट थी, तथापि उस नवागत लडकी की विशेषता उसकी साडी से कोई सम्बन्ध नही रखती थी। उसका अनिर्वचनीय सौंदर्य-मण्डित व्यक्तित्व सब साधारण विशेषताओ के ऊपर था। मै स्वय एक नारी हूँ, इसलिए उस आश्चर्य-जनक अप्रत्याशित नारी-रूप का वर्णन कैसे करूँ, मेरी समझ मे नही आता। प्रथम दृष्टि में मुझे ऐसा लगा जैसे वह मायाविनी बिजली की सौ-सौ उद्दीप्त तरगों को अपने मुख पर किसी मत्र-बल से निश्चल अवस्था मे बाँधे हुए है; जैसे किसी भी समय इच्छा करने पर बटन दबाते ही उसके मुख की वे सब तडित-तरगे एक साथ हिल्लोलित होकर प्रचड प्रलय-प्रकाश से जगमगा उठेगी"[११]

एक दूसरा उदाहरण लीजिये—उनके उपन्यास 'जहाज का पछी' से। दीप्ति का प्रथम परिचय इन शब्दो में कराया गया है: "मुझे दीप्ति का व्यक्तित्व, जाने क्यों, बहुत ही प्रिय लगता था। वह बडी ही हँसमुख, ढीठ, स्वस्थ और सुन्दर लडकी थी। अपनी माँ से उसने थोडी सी मोटाई पाई थी और अपने पिता से लम्बाई। उसका गोरा-सा चेहरा भी उपयुक्त अनुपात में गोलाई लिये हुए लम्बा था। एक परवर को लम्बा चीरने पर जो दो फाँकें बन जाती है, वैसी ही बढी और तनी हुई उसकी दो उज्ज्वल

११. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ७-८।

आँखे दो सुडौल भौहों की छत्रछाया के नीचे अठखेलियाँ करती थी। नाक लम्बी, उभरी हुई और कुछ नुकीली थी। दाँतों की दो सफेद पंक्तियाँ सीधी और सामंजस्य-पूर्ण थीं। ओठों की दो पतली रेखायें ६३ के अंक की तरह आमने-सामने रखे हुए दो समान आकार वाले धनुषों की तरह अंकित सी जान पडती थी। पर उसका वास्तविक सौंदर्य उसके मुख की इस सुन्दर सजावट और बनावट पर निर्भर नहीं करता था। उसके कुण्ठारहित उदार और भावपूर्ण अन्तर की जो अव्यक्त छाया उसके चेहरे पर पडती थी, वह किसी विशेषज्ञ दर्शक पर गहरा प्रभाव छोडे बिना न रहती।"[१२]

आकृति-वेशभूषा वर्णन

आज के युग में जबकि सामाजिक मूल्य गडबड़ा गये हैं, केवल आकृति अथवा वेशभूषा के आधार पर किसी व्यक्ति के चारित्रिक गुणों के संबंध में कुछ भी अनुमान लगाना भ्रामक हो सकता है, तो भी किसी व्यक्ति से सर्वप्रथम भेंट के समय उसकी आकृति और वेशभूपा के आधार पर अनुमान लगाने के अतिरिक्त उसे समझने का और कोई उपाय भी नही रहता। आकृति और वेशभूपा के आधार पर लगाया गया अनुमान कितना भ्रामक होता है, इसका सुन्दर उदाहरण जोशी जी के उपन्यास 'जहाज का पंछी' में मिलता है। उपन्यास के नायक की सच्चरित्रता का तथा धन के प्रति उसके वैराग्य का किसी को पता नही चलता और सबकी दृष्टि उसकी आकृति और वेशभूपा पर जा अटकती है और वे उसके 'सिर के रूखे-सूखे, अस्त-व्यस्त बाल, घनी घास से भरी क्यारियों की तरह दो गलमूंछें और उन गलमूंछों के अगल-बगल और नीचे फैले हुए, एक हफ्ते से न छीले गये, फसल कट जाने के बाद शेष रह जाने वाले सूखे खूंटों की तरह छितराये हुए दाढ़ी के कडे बाल, क्षय रोग के रोगियों की तरह मुरझाया हुआ दुबला-पतला, धुले हुए कपडों की तरह रक्तहीन सफेद चेहरा, धँसी हुई आँखें, गढ़े पड़े हुए गाल और गालों की ओर उभरी हुई नुकीली हड्डियाँ, तिस पर कई दिनों से धुलने की सुविधा न होने से मैला कुर्ता और मैली धोती'[१३] को देखकर तत्काल अपनी जेब को सँभालते हुए सरक कर उससे दूर हट जाते हैं। क्योंकि उसकी इस वेशभूपा से वे उसे गिरहकट के अतिरिक्त और कुछ मान ही नहीं सकते। इसी वेशभूपा के कारण वह जिस भादुडी महाशय के घर से निकाल दिया था, वहाँ जब वह दूसरी बार स्वस्थ शरीर और उजले कपडों को पहने रसोइए की नौकरी के लिए पहुँचा, तब उसका बडा स्वागत हुआ। यह घटना जहाँ एक ओर आकृति और वेश-भूषा के महत्त्व को सामने लाती है, वहाँ प्रारम्भिक अवस्था में उस व्यक्ति की अपने शरीर और वेशभूपा के प्रति उदासीनता के रूप में और बाद में

१२. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृ० २२४।
१३. जोशी, 'जहाज का पंछी', ११।

अपने स्वास्थ्य-सुधार के प्रति उसके विशेष प्रयास और उसकी उजली वेशभूषा, जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के क्रमिक विकास को भी व्यक्त करती है।

प्रेमचन्द का-सा वर्णन

पात्रों के आकृति और वेशभूषा-वर्णन में इलाचन्द्र जोशी प्रेमचन्द के समकक्ष ही ठहरते है। अपने उपन्यासो के किसी भी पात्र की आकृति और वेशभूषा के बारे में वे अपने पाठको को छूट देना नही चाहते कि वे मन-चाहे रूप में उनकी कल्पना करें। वे अपने पात्रों का ब्योरेवार नखशिख-वर्णन करके पाठको को मजबूर कर देते है कि वे उन पात्रों की कल्पना उसी रूप में करें, जिस रूप मे लेखक चाहता है। अपने पात्रो की वेशभूषा का वे कितने विस्तार से वर्णन करते है, इसका अन्दाजा तो उपर्युक्त उद्धरण से ही लग गया होगा, फिर भी एक और उदाहरण प्रस्तुत है। 'प्रेत और छाया' की मजरी का वर्णन वह इस प्रकार करते है : "लडकी का कद लम्बा है, और मोटाई उस कद के अनुपात में न होने पर भी वह बहुत दुबली भी नहीं दिखाई देती थी। उसकी साड़ी ने उसके सिर का केवल आधा भाग ढक रखा था। गहरे काले और चिकने बालों के बीच में एक पतली किन्तु सुरुचि से सँवारी हुई माँग उसके सारे व्यक्तित्व को एक तीखापन प्रदान कर रही थी, पर उसका सिरा बहुत नुकीला न होकर कुछ गोलाई लिये हुए था और आश्चर्य की बात है कि उस गोलाई के कारण उसकी नाक की सुन्दरता घटने के बजाए और अधिक बढ़ी हुई मालूम होती थी।"[१४] उनके उपन्यासो से वेशभूषा-वर्णन के ऐसे असंख्य उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो रीतिकालीन नखशिख-वर्णन की याद दिलाते है और जिनके आधार पर वे प्रेमचन्द बल्कि पूर्व प्रेमचन्द-युग के उपन्यासकारों के निकट ठहरते है। 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी के निम्नलिखित वर्णन की काव्य-छटा दर्शनीय है, मानो लेखक स्वय उसकी रूप-सुधा का पान करने के लिए रुक गया हो : "वह एक हरे रंग की चमकदार रेशमी साड़ी पहने थी। सिर के बीचों-बीच माँग इस सफाई से निकाली गई थी कि न एक बाल इधर था, न एक बाल उधर। उसके ऊपर सिंदूर की एक हलकी-सी गुलाबी रेखा ऊषा के अरुण राग की तरह खिल रही थी, जैसे घोर अन्धकारमय जीवन के बीच में नव-जीवन का प्रकाश-पथ दिखाती हो। माँग के दोनों ओर सुसामजस्यपूर्ण रूप से लहराते हुए बाल उसके सारे व्यक्तित्व को एक कलात्मक शालीनता प्रदान कर रहे थे। उसके मुख का गोरा रंग (शायद लोशन और पौडर आदि के प्रयोग से) निखर कर उज्ज्वलतर हो उठा था। कपाल के बीच में एक छोटी-सी गोल बिन्दी सौभाग्य-पूर्णा की तरह चमक रही थी। उसका सारा मुखमण्डल स्वास्थ्य, सौदर्य और शृंगार से दिप रहा था।"[१५]

---

१४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० ४७।
१५. वही, पृ० २१२-२१३।

वेशभूषा में पात्रो का मनोविन्यास प्रतिबिम्बित

नित्यप्रति की सहज-स्वाभाविक वेशभूषा के बदले जब कोई व्यक्ति विशेष सजधज में दिखाई पडता है, तो उसकी वेशभूषा में यह परिवर्तन उसकी मन स्थिति के परिवर्तन का भी द्योतक होता है। बनने-सवरने मे उत्साह या वेशभूषा के प्रति लापरवाही मन की दो विभिन्न स्थितियो, प्रसन्नता और नैराश्य, के भी प्रतीक हो सकते है। साथ ही, जिस दूसरे व्यक्ति से मिलने के लिए वेशभूषा में उत्साह अथवा अनुत्साह व्यक्त हो उसके प्रति भी उस पात्र के रुख का पता चल सकता है। "निर्वासित' की नीलिमा को जब महीप के आने की सूचना मिली तो वह अभी बिस्तर पर ही लेट रही थी। सूचना पाकर वह उसी प्रकार पलंग से सीधे ड्राइग रूम में प्राय. दौडी चली आई थी। उसके सिर के घुँघराले बाल और सोने के समय के झीने रेशमी कपडे अस्त-व्यस्त थे, उसकी सुन्दर अलसाई हुई बडी-बडी भावव्यजक आखो में एक स्निग्ध मादकता छाई हुई थी, रात में गाढ़ी नीद का उपभोग करने के कारण उसके गोरे उजले मुख पर एक ऐसी चिकनाई आ गई थी, जो उस अरुणाई को एक मोहक मधुरिमा प्रदान कर रही थी।" इतने में बाहर बडे जोरो से कार का हार्न बजा। हार्न की आवाज से ही यह जान कर कि ठाकुर साहब आए है, नीलिमा तत्काल प्रायः दौडती हुई भीतर चली गयी और फिर जब वह पुनः ड्राइंग रूम में आई तो कपडे बदल कर आई थी और उसके मुख पर स्निग्ध गम्भीर छाया और स्वाभाविक मुद्रा वर्तमान थी। 'नीलिमा' का महीप के सामने साधारण पहनावे में, अस्त-व्यस्त वेश में प्रकट हो जाना, पर ठाकुर साहब के सामने नहा-धोकर शृंगार-प्रसाधन करके मुख पर गम्भीरता का भाव बनाकर ही जाना, इन दोनो व्यक्तियों के प्रति उसके भिन्न-भिन्न रुखो का द्योतक है। 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ के साथ सैर के लिए चलते समय नन्दिनी का और 'पर्दे की रानी' के इन्द्रमोहन के साथ प्रदर्शनी देखने के लिए चलते समय निरजना का विशेष उत्साह और रुचि से साज-शृंगार, उन दोनों महिलाओं के उन पुरुषो के प्रति आकर्षण का परिचायक है।

पात्रों की बाह्य रेखाएँ : सुनिश्चित

जोशी जी पात्रों की आकृति, वेशभूषा का वर्णन उपन्यास में उनके प्रथम प्रवेश के समय कर रहे हो या विभिन्न परिस्थितियो में, उनकी आदत बाह्य स्वरूप का ब्योरेवार चित्रण करके पात्रो को बहुत अधिक सुनिश्चित और सुनिर्दिष्ट रूप में पाठको के सामने ले आने की है। उनका यह वर्णन चाहे कितना ही प्रभावोत्पादक या रुचिकर हो, इतना पूर्ण होता है कि पात्रों के बारे में और कुछ जानने के लिए कोई शेष नही रहता। उनके वर्णन में लेखक कोई भी स्थान रिक्त नही छोडता, जिसमें कि पाठक अपनी रुचि के अनुसार रग भर सके ; बल्कि वह तो लेखक की रुचि को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। पात्रो की आकृति की अत्यधिक

सुस्पष्टता उन्हे पाठकों के पास लाकर भी उनके मन से दूर डाल देती है। पर जहाँ आकृति और वेशभूषा कुछ भी उभारदार न बना कर उसे पाठको की कल्पना पर छोड दिया जाए, वहाँ भी पाठकों का मन अधिक गम्भीर होकर रम पाता है। महान् पात्र सब लगभग ऐसे ही होते है, जो पाठक की रुचि और कल्पना को बाँधते नही, उन्हे स्फूर्त ही करते है, इसलिए उनके प्रति पाठको की उत्सुकता निरतर बनी रहती है।[१६]

अनुभाव-चित्रण

स्थिति में पडने के पश्चात् और मनोभावों का प्रतिक्रियात्मक विस्फोट होने से पहले मनुष्य के आतरिक भाव उसकी भ्रूभगिमा तथा उसकी अन्य मुद्राओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते रहते है। इसलिए, किसी व्यक्ति की क्षण-विशेष की मनोदशा जानने के लिए उसके अनुभावो में होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनो का अध्ययन इतना आवश्यक हो जाता है, जितना शायद उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया का भी नही।[१७] व्यक्ति के शब्द तो धोखा भी दे सकते है, पर उसके अनुभावो की भाषा धोखा नही दे सकती। इसलिए, जिसके पास पैनी दृष्टि हो और हो अनुभावो की भाषा का ज्ञान, उसके लिए किसी का कुछ भी गुप्त नही रह सकता।[१८]

मुख-इगित (फैशियल एक्स्प्रेशन्स)

जोशी जी चरित्रचित्रण की इस प्रणाली से अपरिचित नही, पर वे समस्त शारीरिक चेष्टाओ के अंकन में न अटके रह कर मुखाकृति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। उनका विश्वास है कि 'व्यक्ति की भीतरी सुन्दरता या कुरूपता का आभास उसके मुख पर सब समय झलकता रहता है।'[१९] इसीलिए तो उनके उपन्यास

१६. जैनेन्द्र, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पूर्वोदय प्रकाशन, देहली, १९५३, पृ० १८१-१८२।

१७. Adler, 'Der sinn des Lebens', Vienna, Leipzig, Rolf Passer (Social : Interrest . a Challenge to Mankind) p. 50 :

"These (movements of the body) speak a language which is usually more expressive and discloses the individual's opinion more clearly than words are able to do."

१८. Freud, "Fragments of an Analysis of case of Hysteria" ('Dora'), 1905, 'Collected Papers', Vol. III, p. 94 :

"He that has eyes to see and ears to hear may convince himself that no mortal can keep a secret. If his lips are silent, he chatters with his *finger-tips ; betrayal oozes out of him at every pore.*"

१९ Allport, 'Personality · A Psychological Interpretion', p, 481 :

"Richly supplied with nerves and *striated* muscles the face is capable of the most varied expression . Not only is it the region where most impressions are received, but its exposure to the outer world makes it *the station for signals of rejection, threat, or invitation to others.*"

'निर्वासित' की नीलिमा को जब ठाकुर साहब खून से लिखा गया धीराज सिंह का पत्र सुनाता है तो वह "अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को अपनी आँखों में बटोर कर स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखती रहती है। चिट्ठी में वर्णित उस लोम-हर्षक और भेदभरी बात की सचाई (या झुठाई) का पता लगाने का एकमात्र उपाय उसके लिए यही था कि ठाकुर साहब के मुख के बदलते हुए भावों पर गौर किया जाए।"[२०] पर किसी की मनोदशा को उसके चेहरे पर से पढ लेना कोई सरल काम नहीं, इसके लिए अनुभवी आँखें चाहिएं। इस क्षेत्र में अपनी असफलता स्वीकार करता हुआ धीराजसिंह कहता है "दूसरों के मन के भाव का आभास जान लेने का दावा करने का साहस कम-से-कम मुझे तो नहीं होता। जब तक मौखिक शब्दो द्वारा किसी बात का प्रस्फुटन स्पष्टतया न हो तब तक केवल मात्र इंगित और भावाभास से किसी के मन की यथार्थ बात को जान लेने की कल्पना करना अपने मन की भ्राति को बढ़ावा देना है।"[२१] 'प्रेत और छाया' की हीरा भी पारसनाथ की उस व्यगपूर्ण मुस्कान को न समझ सकी थी जो उसके चेहरे पर उस समय व्यक्त हुई थी जबकि हीरा ने उसकी इस आशंका को बिल्कुल निराधार बताया था कि नन्दिनी के अधीन रह कर उसका व्यक्तित्व नष्ट हो रहा है। "हीरा को यदि मानव-स्वभाव की विकृतियों का गहरा ज्ञान होता और यदि उसने मनुष्य के मुख पर विभिन्न अवस्थाओ और विविध रूपों में उभरने और विलीन होने वाली रेखाओं का अध्ययन करना सीखा होता तो पारसनाथ की उस मुस्कान की आड़ में वह देखती कि एक लोमहर्षक और नारकीय प्रतिहिंसा अपनी कुटिल डाढ़ो को दिखा रही है।"[२२]

मुख-अध्ययन (फेस-रीडिंग)

यह स्थिति तो उन पात्रों की है, जो कोरे 'मनोवैज्ञानिक केस' हैं, जिनमें अन्तर्दृष्टि की कमी है; पर दूसरे वर्ग के पात्र जो न्यूनाधिक रूप से मनोविश्लेपक का भी काम करते हैं, मुख-अध्ययन (फेस-रीडिंग) में प्रवीण हैं। दूसरों की गोपनीय भावनाओं को समझने के लिए ये उनके मुख का ही ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हैं और इसी से एक-दूसरे को काफी कुछ समझ भी लेते हैं। 'पर्दे की रानी' के इन्द्रमोहन की "गम्भीर मुखाकृति में अकस्मात् जो एक अनोखा आंतकोत्पादक भाव स्फुट हो पड़ा था उसमें निरंजना ने अपनी प्रारम्भिक भेंटो में ही उसकी मूल प्रकृति का आश्चर्यजनक आभास पा लिया था।"[२३] 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ ने नन्दिनी का दरवाज़ा खटखटाया। जब दरवाज़ा खुला, नन्दिनी उसके सामने खड़ी थी। "प्रथम

---

२०. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ २८३।

२१. वही, पृष्ठ ६५।

२२. जोशी, 'प्रेत और छाया'- पृष्ठ ३७०।

२३ जोशी, 'पर्दे की रानी', पृष्ठ ५४।

क्षण मे पारसनाथ ने उसके मुख पर चरम विस्मय की भ्रांति का भाव देखा, उसके बाद दूसरे ही क्षण वह भाव कोमल विषाद के एक हल्के से आवरण के रूप में बदल गया और उसके बाद ही तत्काल वह हल्का सा शरत्कालीन बादल भी हट गया और निर्मल शुभ्र प्रसन्नता के प्रकाश से उसका सारा मुख प्रभासित हो उठा।"[२४] 'निर्वासित' के ठाकुर साहब के यहाँ प्रीति-भोज के पश्चात् नीलिमा और रूपा के हाव-भावो, उनकी मुद्राओं और चेष्टाओ पर महीप और धीराज एक-टक आँखों से और एकात मन से गौर करते रहते है; जैसे उन दोनो के जीवन और मरण की समस्या उन्ही मुद्राओं और चेष्टाओ पर निर्भर करती हो। ऐसे ही रूपा और नीलिमा करती हैं। एक बार रूपा की दृष्टि का अनुसरण करते हुए नीलिमा की दृष्टि भी धीराज की ओर चली गयी। धीराज के म्लान और उदास मुख पर न जाने कौन-सी भयावह और रहस्यात्मक छाया उसने देखी कि वह सहम सी गयी।[२५]

आँख : मन का दर्पण

मुखाकृति में भी जोशी जी ने विशेष रूप से आँखों का चित्रण किया है। कहते है, आँखे आत्मा की खिड़की हैं और मन का दर्पण। मन में प्रयत्न से छिपाकर रखा हुआ गुप्तातिगुप्त भाव भी आँखों में झलक उठता है। कदाचित् इसीलिए जोशी जी के पात्र दूसरों को समझने के लिए उनकी आँखों को विशेष ध्यान से देखते है। 'पर्दे की रानी' की शीला जब निरंजना से इन्द्रमोहन की उदारता की चर्चा कर रही थी तो उसने देखा कि निरजना भावमग्न होकर सुन रही है, उस समय 'उसकी आँखों से कभी एक पुलकपूर्ण भाव झलक उठता था, कभी एक तीव्र वेदना व्यक्त होती थी और कभी एक विचित्र व्यंग का आभास।'[२६] 'प्रेत और छाया' की नन्दिनी जब अपने पति के विरुद्ध आग उगल रही थी, तब पारसनाथ को ऐसा जान पड़ा जैसे 'उसके अन्तर की सारी घृणा एकत्रित होकर उसकी आँखों में समाकर उस व्यक्ति के विरुद्ध विस्फुटित होना चाहती हो।'[२७] इससे पहले जब पारसनाथ एक बार नन्दिनी के यहाँ गया था तो उसे देखते ही नन्दिनी की आँखों में 'संकोच, वेदना और प्रसन्नता के भाव एक साथ व्यक्त हो उठे थे।'[२८]

सुषुप्तावस्था के अनुभावों का चित्रण

जोशी जी, पात्रों की जाग्रतावस्था के ही अनुभावों का चित्रण नही करते, उनकी सुषुप्तावस्था में उनके चेहरे की रेखाओ और उनमें होने वाले परिवर्तनो के

२४. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० १६१।
२५. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ १०५।
२६. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृष्ठ १५१।
२७. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २७२।
२८. वही, पृष्ठ १९३।

माध्यम से भी उनके हृदय की व्यथा को उद्घाटित करते है। मनोवैज्ञानिको ने सुपुप्तावस्था की मुद्राओं और उनमें होने वाले परिवर्तनो का काफी गहरा अध्ययन प्रस्तुत किया है। जान्सन और वेगेट का विश्वास है कि जिस मुद्रा मे कोई सोता है, वह भी उसकी एक स्थायी वैयक्तिक विशिष्टता होती है।[२९] अनेक अस्पतालो के रोगियो की सुपुप्तावस्था की मुद्राओ की उनकी दैनिक रिपोर्ट से तुलना द्वारा एडलर तो इस परिणाम पर पहुँचता है कि मनुष्य का मानसिक रुझान स्थायी रूप से उसकी सुपुप्तावस्था और जाग्रतावस्था की दोनो मुद्राओ द्वारा अभिव्यक्ति पाता रहता है।[३०] अपनी खोजों के आधार पर वह यहाँ तक बता देता है कि कौन-सी मुद्रा चरित्र की किस विशिष्टता को व्यक्त करती है। जोशी जी सुपुप्तावस्था की अन्य मुद्राओ की उपेक्षा करके पात्रो के चेहरे पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। 'जिप्सी' का नायक भी सोई हुई मनिया के पास बैठ कर उसके मुख पर व्यक्त होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनो का अध्ययन करता है "वह प्रगाढ निद्रा में मग्न थी, किन्तु उसके कपोल की नसे, पलको का स्नायुतन्त्र, होठो की त्वचा जैसे किसी अज्ञात अनुभूति से प्रतिपल नई-नई चेष्टाओ के साथ चालित हो रहे थे। कभी वह अपनी भौहो को सिकोड़ती थी, जैसे किसी निर्मम पीडा से कराहना चाहती हो।"[३१]

मुख-अध्ययन का महत्व

जोशी जी जाग्रतावस्था की शारीरिक चेष्टाओं-मुद्राओं का चित्रण कर रहे हों या सुपुप्तावस्था की चेष्टाओ का, उनके अध्ययन का प्रधान केन्द्र पात्रों का चेहरा ही रहता है और वह मुखाकृति मे होने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तनों के चित्रण में इतने लीन हो जाते है कि शेष शारीरिक मुद्राओं की उन्हे सुध ही नहीं रहती। तो क्या यह मान लेना होगा कि केवल 'मुखाकृति' के अध्ययन के बल पर व्यक्ति की मनःस्थिति का ठीक-ठीक अनुमान लगाया जा सकता है? इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों ने काफी मनोरंजक खोजे की हैं कि मनुष्य के शरीर का कौन-सा भाग

---

२९ Johnson and Weigand, Proc. Penna. Acad. Sci., 1927, 2, p. 43-48.

"The way a person sleeps is a very stable personal characteristic—as stable as its strength of grip or his speed and accuracy in mental Arithmetic."

३०. Adler, 'Problems of Neurosis: a Book of Case-histories', Vegan, Paul, Trench, London, p. 152:

"By comparing the sleep postures of patients in various hospitals with the reports of their daily life, I have concluded that the mental attitude is consistently expressed in both modes of life, sleeping and waking.'

३१ जोशी, 'जिप्सी', पृष्ठ ६३।

उसकी भीतरी भावनाओं को, उसके आवेगो को, समझने मे सबसे अधिक सहायक होता है। ब्लैक नामक एक मनोवैज्ञानिक ने एक अभिनेता की अनेक प्रकार की आवेगज मुद्राओ के पूरे-कद के चित्रो का अध्ययन किया और अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आवेगो का सर्वाधिक शुद्ध अन्दाजा तो तभी लग पाता है, जबकि सारा शरीर चेहरे रहित दिखाई देता हो।[३२]

कतिपय मनोवैज्ञानिकों की यह खोज भी कम रोचक नही कि मनुष्य के मनोवेग चेहरे के ऊपरी आँखों वाले भाग मे अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं या नीचे के मुख वाले भाग मे। इस बारे में, हनावाल्ट नामक मनोवैज्ञानिक बडी छानबीन के बाद इस परिणाम पर पहुँचा है कि मनोवेगो को स्पष्टतया प्रतिबिम्बित कर सकने में स्थायी रूप से न तो नीचे मुख वाले भाग को श्रेष्ठतर कहा जा सकता है और न ही ऊपर के आँखो वाले भाग को ; तो भी अधिकतर नीचे का भाग सुख और प्रसन्नता की स्थिति को स्पष्टतर ज्ञापित करता है और ऊपर का भाग भय, वेदना और विस्मय की स्थिति को जल्दी उघाडता है।[३३] इस दृष्टि से, जोशी जी जब अपने पात्रो के अचेतन में सक्रिय भय, हिंसा और घृणा की प्रवृत्तियों को उनके चेहरे के ऊपरी भाग—विशेषत आखों—द्वारा व्यक्त कराते है, तब तो ठीक है; पर जब वे "आँखो में सकोच, वेदना और प्रसन्नता के भाव एक-साथ व्यक्त"[३४] कराने लगते है, तब बात कुछ बन नही पाती।

अन्तर्द्वन्द्व

अचेतन संघर्ष

जोशी जी के पात्र जीवन भर सघर्ष की चक्की में पिसते रहते है, पर यह संघर्ष उन्हे अपने बाहर की शक्तियो से नही, अपने भीतर की प्रवृत्तियों से करना होता है। द्वन्द्व उनके जीवन का एक अनिवार्य अग बन गया है, पर द्वन्द्व उन्हें किसी दूसरे

---

३२. W. H. Blake, "A Preliminary Study of the Interpretation of Bodily Expressions, 'Teachers College contrib to Educ'., 1933, p 574.

३३. (क) Ruch, 'Psychology and Life', p. 183.

"Interestingly enough, neither the lower half nor the upper half of the face was consistently superior in expressing emotion in recognizable patterns. However, the lower half was consistently more revealing in the expression of happiness and mirth, while the upper half was more revealing in the expression of fear and surprise"

(ख) N G. Hanawalt "The Role of the Upper and the Lower parts of the face as a basis for Judging Facial Expressions" II. In Posed Expressions and 'Candid Camera Pictures'. Journal of Psychology, 1944, 31 · p 23-36.

३४ जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १६२।

से नही, अपने से ही करना पडता है।[३५] परिणामत: वे यातनाओं की भट्ठी में तिल-तिल करके जलते रहते है। जीवन भर वे इतने व्यग्र रहते है कि क्षण भर के लिए भी उन्हें चैन नही मिलता। जैसा कि हम पहले लिख आए है, जोशी जी के अधिकांश पात्र 'मनोवैज्ञानिक केस' है। उनकी समस्या यह है कि सामर्थ्य और साधन होते हुए भी वे वह नहीं कर पाते जो करना चाहते हैं, और जो नही करना चाहते वह उन से हो जाता है। आरम्भ से ही जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण में एक ऐसी विकृति आ जाती है, जो किसी भी परिस्थिति से उनका सन्तुलन नहीं बैठने देती और उनको उत्तरोत्तर बेचैन किए रखती है। अत्यधिक सवेदनशील होने के कारण छोटी-से-छोटी घटना भी उनमें इतनी अधिक दु:खद अनुभूतियों को जन्म दे देती है कि वे उनके लिए असह्य हो उठती है और दमित होकर उनके अचेतन मे अनेक प्रकार की ग्रथियों का निर्माण कर देती है। मनुष्य का सचेत ठगता रहता है। विशेषत: उस यथार्थ को जो समाज द्वारा निषिद्ध और अस्वीकार्य हो, पर इस प्रकार, अपने आप को ठगने में लाभ की अपेक्षा हानि की सम्भावना ही अधिक रहती है। उसे यथारूप स्वीकार करने में ही भलाई है। इन पात्रों का चेतन मन जब तक सबल रहता है, ये दुःखद अनुभूतियाँ उनके अचेतन में दबी रहती हैं, पर ज्यों ही किसी कारण चेतन का अंकुश उठ जाता है, उनके अचेतन में सोई पडी ये अनुभूतियाँ अपने नग्न रूप में उभर आती हैं और उनके व्यवहार में एक विस्फोट ला देती हैं। इस प्रकार इन पात्रों के चेतन और अचेतन में लगातार संघर्ष छिडा रहता है, जिसमें कभी चेतन जीत जाता है और कभी अचेतन। जब उनके अचेतन पर चेतन का अंकुश रहता है, तब तक वे साधारण सामाजिक मनुष्य की भाँति शिष्टतापूर्वक व्यवहार करते रहते है, पर चेतन के ढीला पडते ही अचेतन उसके अकुश को उठा फेंकता है और उनकी छिपी हुई समस्त घृणित और कुत्सित प्रवृत्तियाँ अपने नग्न रूप में नाच उठती हैं और परिस्थिति से उनका सतुलन बैठते-बैठते रुक जाता है। एलडर का विश्वास है कि जीवन में गलत दृष्टि अपनाने से व्यक्ति के चेतन और अचेतन में लगातार संघर्ष छिडा रहता है।[३६] जोशीजी के सभी पात्रों के मन में आरम्भ से ही कोई-न-कोई ऐसी गाँठ पड जाती है, जो जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को विकृत कर देती है।

'पर्दे की रानी' की निरंजना के हृदय में शीला के प्रति सच्ची ममता वर्तमान है, तिस पर भी वह उसके सर्वनाश के लिए तुली रहती है। वह नहीं चाहती कि शीला के पति को हथिया कर शीला के सर्वनाश का कारण बने। पर जो वह करना नही

३५. जोशी, 'जहाज का पछी', पृष्ठ ४६५।

३६. Adler, 'Sinn des Lebens', (Social Interest: a Challenge to Mankind), p. 170:

"If one proceeds correctly one will always find the self, the whole, while from an incorrect view a conflict may seem to be present such as between the conscious and the unconscious."

चाहती वही उससे होता चला जाता है। अपने स्वभाव की इस विचित्रता पर उसे स्वय आश्चर्य है।[37] जब तक उसका चेतन मन यह भूला रहता है कि वह एक वेश्या माता और खूनी पिता की संतान है, तब तक तो वह ठीक रहती है; पर ज्यो ही यह विचार किसी बहाने से उसके मन की ऊपरी सतह पर आ पहुँचता है, उसका सारा व्यक्तित्व एक भीषण भूकम्प के-से आन्दोलन से अस्त-व्यस्त हो जाता है और उसके मन मे तत्काल यह राक्षसी इच्छा जाग उठती है कि किसी को काट खाऊ।[38] 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ न तो जीवन भर स्वयं किसी नारी को समर्पित हो पाता है और न ही किसी दूसरे के समर्पण को स्वीकार कर पाता है। उसके मन मे यह बात गाँठ बनकर पैठी हुई है कि उसकी माँ व्यभिचारिणी है और वह उसकी जारज संतान है। जब तक यह बात उसे याद नही रहती, वह किसी भी नारी के जीवन से बडी तेजी के साथ उलझता जाता है, पर ज्यों ही यह बात उसके चेतन पर उभर आती है, वह उस नारी में अपनी व्यभिचारिणी माँ की प्रतिच्छाया पा, उससे पीछा छुड़ा कर भाग निकलता है। जीवन भर वह एक-से-दूसरी और दूसरी-से-तीसरी नारी की ओर भटकता रहता है और उसका भटकना तब तक नही रुकता, जब तक कि उसका पिता मरने से पहले उसे यह प्रमाणित नही कर जाता कि उसकी माँ व्यभिचारिणी न होकर जीवन भर पतिव्रता ही रही थी।

फ्रॉयड के 'प्लेजर' और 'रीऐलिटी' सिद्धान्त

जोशी जी के पात्र फ्रायड द्वारा प्रतिपादित 'सुख सिद्धान्त' और 'यथार्थ सिद्धांत' के पारस्परिक संघर्ष के भी अच्छे उदाहरण हैं। मनुष्य किसी भी अनुभूत सुख को नही छोडना चाहता। वह चाहता है कि उसका सुख अमर हो जाए, उसकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति तत्काल ही हो जाए—उसका परिणाम चाहे कुछ भी निकले। यह उसकी उन मूल प्रवृत्तियों की माँग होती है, जिन पर उसकी विवेक-बुद्धि का अकुश नही रहता। पर उसकी विवेक-बुद्धि, जो उसकी सामाजिक नैतिकता की माग होती है, उसे किसी उच्चतर सुख की आशा बंधाकर उसकी असामाजिक इच्छाओं की पूर्ति को टालती रहती है। विवेक-बुद्धि का अकुश जब भी कभी किसी कारणवश उठ जाता है—चाहे क्षण भर के लिए ही उठे—मनुष्य की पाशविक वृत्तियाँ नग्न नर्तन के लिए मचल उठती हैं। इस प्रकार मनुष्य की मूल पाशविक प्रवृत्तियो और उसकी विवेक-बुद्धि में निरन्तर सघर्ष चलता रहता है।[39] जोशी जी के पात्रो की तो इच्छापूर्ति की लालसा

३७. 'जोशी, पर्दे की रानी', पृष्ठ १६४।

३८. वही, पृष्ठ १७३-१७४।

३९. Freud, 'Beyond the Pleasure Principle', *International Psycho-analytical Press*, 1924, p 5:

"Under the Influence of the instinct of ego for self-preservation, it (pleasure principle) is replaced by the 'reality principle', which without giving up the intention of ultimately attaining pleasure yet demands and enforces the postponement of satisfaction, the renunciation of manifold possibilities of it, and the temporary endurance of pain, on the long and circuitous road to pleasure."

सदा जीवन की कठोर यथार्थताओं से टकराकर बिखरती रहती है। समाज के विधि-निषेधो तथा उसकी नैतिकता के संस्कारो की तह पर तह उनके मन पर इतनी पक्की जमी हुई है कि जब कभी उनका चेतन मन किसी वासना की पूर्ति के लिए अधीर हो उठता है तो उनकी विवेक-बुद्धि—जो सामाजिक नैतिकता का ही एक रूप है—उससे टकरा जाती है और उनकी पाशविक वृत्तियो का नग्न नर्तन सहसा बीच में ही रुक जाता है। इस प्रकार उनके जाने या अजाने, उनके चेतन अथवा अचेतन में उनकी मूल प्रवृत्तियो तथा विवेक-बुद्धि में निरन्तर सघर्ष चलता रहता है, जो उन्हे व्यग्र किये रखता है और उनके भरसक चाहने पर भी परिस्थिति से उनका मेल नही बैठने देता।

'निर्वासित' की नीलिमा अपनी बहन और माँ से चोरी महीप को अपने यहाँ चाय पर आमन्त्रित तो कर लेती है, पर एकान्त में उससे मिलने के लिए साहस नही बटोर पाती। क्योंकि वह अन्तरात्मा की प्रतारणा सह सकने में अपने को असमर्थ पाती है। इसीलिए जब नौकर ने उसे महीप के आने की सूचना दी तो यद्यपि उसकी सैक्स भावना जो उस समय उसके चेतन मनमें थी, उससे कहलवा देती हैं कि उन्हे बुला लाओ, पर भीतर मन ही मन वह कह रही होती है 'उन्हे लौट जाने को कह दो।'[४०] विदा के समय भी जब महीप नीलिमा से भाग चलने का प्रस्ताव करता है, तो उस 'विचित्र पागलपन के से प्रस्ताव को मानने के लिए उसके मन का एक अज्ञात कोना विचलित हो उठता है।' यह उसकी मूल यौन प्रवृत्ति की माँग थी पर सहसा उसकी विवेक-बुद्धि—समाज के विधि-निषेधो की माँग—उस पर विजय पा लेती है और वह अत्यन्त आकुलता से बोल उठती है: "नही महीप, यह सम्भव नही।" "तुम नही जानते मेरी विवशताओ को, मै असख्य बधनो से बंधी हुई हूँ—चाहे वे बन्धन अपने ही मन के क्यो न हो, मै जाती हूँ।"[४१] 'प्रेत और छाया' का नायक पारसनाथ मंजरी से प्रेम करता था और उसके सामीप्य-लाभ के लिए तरसता था। पर मंजरी की माँ की मृत्यु वाली काल-रात्रि मे जब मजरी ने अपने दोनो हाथों से पारसनाथ के दोनो घुटने पकड लिये तो उसके मन मे एक तीव्र द्वन्द्व मच उठा। उसका हाल विचित्र हो उठा 'एक ओर उसे सुख की अनुभूति बरबस पुलकित कर रही थी, जिसकी प्रतीक्षा वह इतने दिनों तक अत्यन्त अधैर्य के साथ करता आया था और दूसरी ओर मृत-नारी के मुख का विकट व्यग्यपूर्ण (काल्पनिक या वास्तविक) भाव आतक से उसके रोएँ खडे कर रहा था।'[४२] वास्तव में, यह उसकी नैतिक भावना, उसकी विवेक-बुद्धि, ही थी जिसके भय से वह मंजरी के समर्पण को स्वीकार करने में, अपनी वासना की तत्काल पूर्ति में, हिचकिचा रहा था।

---

४०. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ १६८।

४१ वही, पृष्ठ १३६।

४२ जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १२५।

इस प्रकार, जोशी जी के पात्रों के चेतन और अचेतन में तथा चेतन-अचेतन दोनों की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो मे निरन्तर द्वन्द्व-युद्ध होता रहता है, जिसे उघाड़ने के लिए वह विविध मनोवैज्ञानिक प्रणालियो का प्रयोग करते है।

मनोवैज्ञानिक व्याख्या (इन्टरप्रेटेशन)

व्याख्या मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का एक अनिवार्य अग है। जब कोई उपन्यास-कार किसी ऐसी प्रणाली का प्रयोग करता है जो उसके पात्रो के अचेतन को प्रकाश में लाती हो तो इसके उपन्यासो मे व्याख्यात्मक अशो का समावेश आवश्यक हो जाता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में व्याख्या उतनी ही अनिवार्य है जितनी मनोविश्लेपण में। जिस प्रकार पात्रों के अचेतन मे दबी अनुभूतियो के उनके चेतन में आ जाने भर से उनकी मनोवैज्ञानिक उलझन नही सुलझ जाती, प्रत्युत् समस्या के कारणों का वास्तविक स्वरूप पात्र को समझाने के लिए मनोविश्लेपक द्वारा व्याख्या की भी जरूरत पडती है, उसी प्रकार उपन्यास के पात्रो की मानसिक ग्रथियों के अचेतन कारणो के वास्तविक स्वरूप को पाठकों पर व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार द्वारा व्याख्यात्मक टिप्पणियो का समावेश आवश्यक हो जाता है। इनके अभाव में पात्र और उनका चरित्र-विकास पाठको के लिए पहेली बना रहता है। इसलिए, जब तक उपन्यास में व्यक्त पात्रो की अचेतन अनुभूतियो की व्याख्या पाठको की योग्यता का एक अग न बन जाए, पात्रो की अचेतन कठिनाइयों की व्याख्या का उत्तरदायित्व उपन्यासकार पर ही रहेगा।[४३]

जोशी जी के उपन्यासो मे इस प्रकार की व्याख्याएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। वास्तव मे व्याख्यात्मक अश उनके उपन्यासों का प्राण है। उनके बिना पात्रो के आचार-विचार और व्यवहार में कार्य-कारण के सूत्रों को ढूँढ निकालना साधारण पाठको के बूते की बात नही।

निरंजना की अचेतन प्रवृतियाँ

उनके उपन्यास 'पर्दे की रानी' की नायिका निरजना इन्द्रमोहन के भयकर रूप से परिचित होने पर भी उसे अपनी ओर आकर्षित करने की भरसक चेष्टा करती है और दूसरी ओर शीला को हृदय से चाहती हुई भी निरन्तर उसके विनाश की ओर अग्रसर रहती है। उसकी इन परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो मे मेल बैठाना पाठको के लिए दुष्कर हो जाता, यदि उपन्यास के अत वाला, निरजना के गुरु मनमोहन जी का यह व्याख्यात्मक अंश न जुडा होता : 'जो व्यक्ति तुम्हारा रक्षक बनकर भी भक्षक बनने पर उतारू था, तुम्हे एक वेश्या की बेटी समझकर अत्यन्त हीन दृष्टि से देखता था, (अपनी लडकियो तक को उसने कभी तुम्हारे पास नही आने दिया) और साथ ही

४३. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p. 131.

तुम्हारे सौदर्य के प्रति आकर्षित होकर छल, बल और कौशल से तुम्हारा कौमार्य नष्ट करने की प्रबल इच्छा रखता था, उसके लडके के भीतर लालसा की आग भड़का कर उसे जीवन भर अतृप्ति की आंच में तडपाते रहने की प्रवृत्ति जान में या अनजान में तुम्हारे भीतर घर कर गई थी ······केवल उसे जला-जलाकर विनाश के पथ की ओर ले जाकर ही तुम्हारी प्रतिहिंसक वृत्ति ने सन्तोप नही किया, बल्कि उसके भीतर दबे हुए शैतान को पूर्ण रूप से उभाड कर अपने अज्ञात में तुमने उसे हत्या के लिए उकसाया। इस बात से तुम्हारा अन्तर्मन यह सन्तोष भी प्राप्त करना चाहता था कि केवल तुम्हारे पिता ही खूनी नही थे, बल्कि संसार के प्रत्येक पुरुप के भीतर यह भावना निहित रहती है ····वह तुम्हारे सामने तुम्हारी माता के प्रतीक के रूप में आई थी। जब से तुमने सुना कि तुम्हारी माता एक वेश्या थी और उसने तुम्हारे पिता को धोखा दिया, तबसे निश्चय ही तुम्हारे मन में तुम्हारे अनजान में अपनी उस वेश्या माता के विरुद्ध विद्रोह की भावना जड पकड़ गई होगी, जिसने तुम्हारे पिता को खूनी बनने के लिए बाध्य किया। चूँकि अपनी माता के समान ही स्नेहशील शीला को तुम्हारे अतर्मन ने माता के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया होगा, इसलिए उसके विरुद्ध तुम्हारा वह हिंसक भाव पूर्ण रूप से कारगर हुआ।"[४४]

पारसनाथ की मानसिक ग्रन्थि

'प्रेत और छाया' का पारसनाथ जीवन भर बेपेंदे के लोटे की तरह भटकता रहा। अपने जीवन में आई अनेक नारियों को वह हृदय से चाहता हुआ भी उनके प्रति समर्पित न हो सका और न ही उनके समर्पण को स्वीकार कर सका। अपने इस असाधारण जीवन की व्याख्या वह स्वय मंजरी को दी हुई सफाई के रूप में इस प्रकार करता है : "तुम्हें याद होगा, मैंने एक दिन तुमसे कहा था कि मै अपनी माँ के पति का बेटा नहीं, बल्कि उसके प्रेमी का लडका हूँ। मुझे इस बात का अन्देशा था कि मेरी बात सुनकर तुम उसी वक्त से मुझसे घृणा करने लगोगी, पर तुमने अपने विशाल हृदय की गहरी संवेदना का परिचय देते हुए कहा था—'नही, तुम कतई घृणा के योग्य नही हो, कोई भी दुःखी आदमी घृणा के योग्य नहीं हो सकता।'······इस बात से तुम्हारी महानता का परिचय अवश्य मिला, पर उससे मेरे समान क्षीण-हृदय किन्तु प्रबल अनुभूतिशील प्राणी की आत्मग्लानि कुछ भी कम नहीं हुई। आत्मग्लानि की वह भावना कैसी सर्वनाशी और आत्म-शोषी थी, इसकी कल्पना आज मै स्वय नही कर सकता, कोई दूसरा क्या कर सकेगा। इस भावना ने सारे संसार को मेरे लिए भयंकर रौरव नरक में परिणत कर दिया था, और वह नरक में निवास करने वाले प्रेतो और छायाओ के सदृश मै जीवन बिताया करता था, और जाग्रतावस्था में रहने पर भी सब समय निद्रा-विचरण के रोगी का-सा आचरण किया करता था ····एक जरा सी बात ने मेरे सारे व्यक्तित्व को ऐसे भयंकर रूप से डांवाडोल कर दिया ····वर्षों बाद

४४. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृष्ठ २१६-१७।

जब मुझे इस बात का निश्चित प्रमाण मिल गया कि मैं जारज नहीं, बल्कि अपनी माँ के पति का ही पुत्र हूँ, तो मेरी सारी भावधारा ही एकदम पलट गई।"[५०]

सुनन्दा की यौन-प्रवृत्ति

'मुक्ति-पथ' की विधवा सुनन्दा, जो लोकलाज और कुल-मर्यादा सब कुछ को तिलाजलि देकर मुक्ति-निवेश की स्थापना के लिए राजीव के साथ घर से निकल भागी थी और जिसने दिन-रात अथक परिश्रम द्वारा मुक्ति निवेश को सुदृढ बना दिया था, वही सुनन्दा जब ढाई वर्ष में ही उससे उकताकर दूर भागने के लिए तैयार हो उठती है, तो पाठकों को उसके इस आचरण पर आश्चर्य होता है। उसके इस व्यवहार के कारणों को जानने की प्रमिला की उत्सुकता के रूप में मानो पाठको की उत्सुकता ही व्यक्त हुई है। सुनन्दा उसका उत्तर इस प्रकार देती है : "तुमसे क्या छिपाऊँ रानी, अवश्य ही इतने दिनो तक मेरे मन में कही न कही यह इच्छा दबी हुई थी कि मेरे भीतर के जलते हुए रेगिस्तान में, जहाँ चिनगारियो की तरह उडते हुए बालू के कणों के सिवा और कुछ नहीं है, वहाँ कही एक कोने में अगर तनिक हरियाली छा जाती। तब शायद जीवन कुछ दूसरे ही रूप में सामने आया होता। लखनऊ छोडकर जब उनके साथ यहाँ आई, तब अस्पष्ट, एकदम अस्पष्ट-सी, आशा भी मेरे मन में वर्तमान थी कि शायद उस हरियाली के छाने का समय आ गया है। पर······आज ढाई वर्ष बीत चुके है, और भीतर वही दिगंत-प्रसारित जलती हुई रेत आँधियो के वेग से धाँय-धाँय, साँय-साँय की आवाज से उडी चली जा रही है। कई पीढियो से बजर पडी हुई जमीन तुम्हारे राजीव बाबू के दुर्दम कर्मोद्यम से आज लहलहा रही है। पर मेरे भीतर की जमीन एकदम सूखी और सूनी पडी है। बालू केवल बालू। पानी की बूँद भी कही नहीं है—हरियाली की कौन कहे।'[५१]

नीलिमा का अपसाधारण (एब्नोर्मल) व्यक्तित्व

'निर्वासित' की नीलिमा एक रात बड़े उत्साह से महीप के साथ अपनी माँ से दूर भागने के लिए हठ करने लगी थी और अपनी अस्वाभाविक और अपसामान्य मनोदशा के कारण असाधारण घटनाचक्र के फेर में पड़कर महीप को अपना 'हस्बैंड' बताने पर उसने जो एक नई उलझन अपने और साथ ही महीप के मन में उत्पन्न कर दी थी, अपनी माँ से मिलने के बाद उस सबसे वह केवल दो दिन में मुक्त हो गई थी। उसमें आया इतना विशाल और तीव्र परिवर्तन पाठको को आश्चर्य में डाल देगा, यह बात जोशी जी अच्छी तरह जानते थे, इसलिए वह नीलिमा की उस रात की मन स्थिति की बड़े मनोयोग से व्याख्या करते हैं जो सात पृष्ठ घेर लेती

५०. जोशी, 'प्रेत और छाया', ४१६-४१७।
५१. जोशी, 'मुक्ति-पथ', पृ० ३८६-८७।

है ।[५२] यहाँ स्थानाभाव के कारण इतनी लम्बी व्याख्या तो नही दी जा सकती, पर उसका एक अंश प्रस्तुत किया जाता है :—

'स्टेशन पहुँचते ही जब ताँगे की गति रुकी, तब सहसा नीलिमा के मन की अति-प्राकृत दशा की गति भी स्थगित हो गई। उसका जो असाधारण व्यक्तित्व कुछ अजीव से मनोवैज्ञानिक कारणों से उस दिन उभर उठा था, वह बड़ी तीव्र गति से विलीन होने लगा—जैसे कोई विमान आकाश में मीलों ऊपर स्टेटास्फेयर में—उडान भरने के बाद सहसा सीधा नीचे उतरने को बाध्य हुआ हो और उस उद्देश्य से बड़ी तेजी से गोते खाता चला जा रहा हो। उस गोताखोरी की मध्यावस्था में उसके मन की आंखें जिस अजीव ढंग से बदलते हुए संप्रेक्षणों—'पर्सपेक्शनो'—में वास्तविक तथा काल्पनिक दृश्यों को देख रही थी, उनकी अनुभूति नीलिमा को विचित्र और विभ्रा-मक लग रही थी। जब महीप टिकट खरीदने गया और नीलिमा व्यस्त यात्रियो की भीड के बीच में एक स्थान पर खड़ी रही, तब उसे (नीलिमा को) अचानक ऐसा लगा कि उसका जो विमान कुछ ही क्षण पहले 'स्टेटाफायर' में उडान भर रहा था, वह पृथ्वी पर टकरा कर चकनाचूर हो गया है। उसकी माँ ने न जाने टेलीपेथी की किस चुम्बक-शक्ति से 'राकेट' से भी तीव्र गति से चलने वाला कौन अस्त्र उसके उस मनोविमान पर फैंका था। क्योकि उस दिन सध्या से ही उसका दूसरा व्यक्तित्व उभरा हुआ था जब वह एक विस्फोट के साथ सहसा विलीन हो गया, तब तत्काल बिजली की तरह उसकी आंखो के आगे सर्वत्र माँ का ही रूप विभासित हो उठा और एक मात्र माँ की ही चिन्ता ने सजीव रूप धारण करके उसके सारे मन को चारो ओर से तूफानी बादलो की तरह छा दिया। यही कारण था कि महीप जब टिकट खरीद कर उसके पास पहुँचा तब वह चीख मार उठी। उसका प्रतिदिन के जीवन का वही साधारण व्यक्तित्व कराह उठा, जिसमें एक पल के लिए भी माँ के स्नेह-बन्धन से मुक्त होने का साहस कभी नहीं हुआ, कभी इच्छा ही नही हुई। उसकी सारी बहिरात्मा गुहार मार उठी—'माँ ! माँ ! माँ !' जिस माँ से जीवन में पहली बार भयंकर विद्रोह करके वह चली आई थी, उसके सहस्र कर अपने को चारों ओर फैलाकर विकृत और विकल अनुभव के साथ जैसे कह रहे थे—'आ जा बेटी, आ जा। तेरे लिए इस जीवन में एकमात्र इन्ही हाथो में आश्रय है। एकमात्र माँ की गोद ही ऐसा स्थान है जहाँ नाना विरोधी और विपम चक्रों से भरे इस जीवन में तू अपने चिर दिन के अभ्यास के अनुसार सहूलियत से बैठ सकती है और आराम से करवट ले सकती है। इसे छोड़कर इतनी देर तक तू व्यर्थ के किन भ्रामक स्वप्नों, महत्वाकाक्षा की किन मरीचिकाओं से भरे लोक में भटकती रही ? आजा, बेटी आ जा।"[५३]

[illegible] [illegible]', पृ० २७५-२८१।

[illegible] [illegible]', पृ० २७६-७७।

लम्बी-लम्बी तर्कपूर्ण व्याख्याएँ

व्याख्यात्मक अंश तो सभी मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में हुआ करते है, बल्कि ये इन उपन्यासों का एक अनिवार्य अग भी हुआ करते है; पर जोशी जी के उपन्यासों में व्याख्याएँ लम्बी होकर व्याख्यानों का रूप धारण कर लेती है, मानो ये व्याख्याएँ ही साध्य हों, कुछ-एक मनोवैज्ञानिक समस्याओ की व्याख्या के लिए ही उनके विशालकाय उपन्यासो की रचना हुई हो। इसलिए यह विचारणीय हो सकता है कि इस प्रकार की सागोपाग व्याख्याओ के लिए उपन्यास अधिक उपयुक्त हो सकता है या मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ। मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी ये लम्बी-लम्बी तर्कपूर्ण व्याख्याएँ ठीक नही बैठती, क्योकि फ्रॉयड के मतानुसार मनोविश्लेषण का तर्कपूर्ण खडन-मण्डन और शिक्षण से कोई साम्य नही, प्रत्युत् उसका उद्देश्य तो केवल व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों की कार्य-कारण परम्परा को उसके चेतन में ले आना है।[५४] इसलिए फ्रायड की धारणा है कि पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो की कार्य-कारण परम्परा के सम्बन्ध में अपने अनुमानों को पात्र पर व्यक्त करना, जैसा कि 'पर्दे की रानी' का मनमोहन और 'निर्वासित' का महीप करता है, मनोविश्लेषण-प्रणाली की सबसे बड़ी भूल होगी। मनोविश्लेपक को व्याख्याओ का केवल उस सीमा तक और उस रूप में प्रयोग करना होता है कि पात्र अपनी दमित अनुभूतियो को स्वय अपनी चेतन स्मृतियों में ला सके। 'पर्दे की रानी' के मनमोहन की तरह मनोविश्लेपक अपने पात्र से यह कभी नही कहता कि उसका इस या उस प्रकार सोचना गलत है, प्रत्युत वह उसे इस योग्य बनाता है कि वह अपनी मानसिक उलझनो के कारणों को ग्रहण कर सके।[५५]

स्वप्न-विश्लेषण (ड्रीम ऐनैलिसिस)

जोशी जी के पात्रो के अचेतन में दबी पडी दुखद अनुभूतियाँ जो उनकी मनोवैज्ञानिक समस्याओं को जन्म देती है, बीच-बीच में उनके स्वप्नो तथा दिवा-स्वप्नो में भी अभिव्यक्ति पाती रहती है, पर वहाँ ये अनुभूतियाँ अपने वास्तविक रूप में न प्रकट होकर रूप बदल कर ही आती हैं। इनके पात्रो के स्वप्नों में प्राय: वे सभी संघटन (मैकेनिज्म) मिल जाते है, जिनका उल्लेख फ्रायड ने किया है। यहाँ स्थानाभाव से उनके पात्रो के सभी स्वप्नों को न लेकर उदाहरण के लिए कुछ-एक स्वप्नों को ही लिया जा सकेगा।

---

५४. Freud, 'de Saussure', M. P., p. 147-151.

५५. Freud, 'Introductory Lectures on Psycho-analysis', trans. Joan Riviere, Allen & Unwin, p. 237-38.

स्वप्न-संघटन (ड्रीम मैकेनिज्म)

उनके उपन्यास 'जहाज़ के पंछी' का नायक जब लीला के यहाँ से भी भागने की सोच रहा था, तब उसने रात को यह स्वप्न देखा : "बचपन में जिस घर में, जिस पडौस में, जिस युग में और जिस वातावरण में मैं रहता था, उससे सम्बन्धित एक ऊट-पटाँग और अर्थहीन-सा स्वप्न था वह। स्वप्न के अधिकांश पात्र न जाने कब मर चुके थे। अधिकांश बातें वे अपने युग की कर रहे थे, पर बीच-बीच में एक-आध अस्पष्ट बात मेरे वर्तमान वातावरण से सम्बन्धित कर बैठते थे। पर वे क्या कहते थे और क्या करते थे, यह मै किसी भी तरह ठीक से याद नहीं कर पाता था। कभी लगता था जैसे बचपन के युग के किसी मेले में हम लोग जा रहे है। उस मेले के राग-रग और हुल्लड़ में कभी सभी पुराने लोग सम्मिलित दिखाई देते थे, कभी इस युग के लोग पर मेरे साथ उनमें से कोई भी बात नहीं करता था—जैसे मै उनके बीच में होने पर भी न था। लीला न जाने कहाँ से उसमें शरीक हो गई थी। मैं बार-बार उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता, पर वह जैसे मुझे पहचान ही नही रही थी--या मुझ तक उसकी दृष्टि पहुँच ही नही पाती थी। वह प्रसन्न दिखाई देती थी और मेले कें हुल्लड के बीच में अपना भी उल्लसित स्वर मिला रही थी। अन्त में एक बार बड़ी मुश्किल से उसने मेरा स्वर पहचाना और फिर मुझे देखकर घबराई हुई-सी मेरी ओर दौडी आई। आते ही बोली, 'चलो, यहाँ से भागो। इस मेले में निश्चय ही कोई बहुत बडा उपद्रव होने वाला है।' और बिना मेरे चलने की प्रतीक्षा किये ही वह जलूस से उल्टी दिशा की ओर तेजी से भागने लगी। उसके लिए चिन्तित होकर मैं भी उसके पीछे दौड़ा। इस बीच सचमुच दंगा शुरू हो गया। मै उसके लिए बुरी तरह घबराया हुआ उसे इधर-उधर खोजने लगा, पर उसका कही पता नही लगा। अन्त में एक स्थान पर उसे देखकर मैं उस का साथ देने के लिए दौड ही रहा था कि सहसा मेरी नीद उचट गई।"[५६] इस स्वप्न में अभिव्यक्ति पानेवाली पात्र की अचेतन अनुभूतियों की विकृति में कई स्वप्न-संघटन काम कर रहे है।

'कन्डेन्सेशन मैकेनिज्म'[५७] द्वारा उसके बचपन के घर, पड़ौस और आसपास का वातावरण बचपन में देखे हुए किसी मेले की भीड़-भाड़ और विभिन्न अवस्थाओं के परिचित व्यक्ति सब घुलमिल कर एक ही स्वप्न में प्रकट होते है और उनके साथ ही आ जाती है लीला भी। लीला के प्रवेश करते ही बचपन के सभी दृश्य पृष्ठभूमि में चले जाते है और केवल लीला और वह ही रह जाते हैं। यहाँ विस्थापन-सघटन (डिस्प्लेसमेन्ट मैकेनिज्म)[५८] काम करने लगता है। नायक की अपनी भावनाएँ

---

५६. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ४५०-४५१।

५७. Freud, 'Interpretation of Dreams', trans. by A. A. Brill, Allen & Unwin, p 270.

५८. Dalbeiz, 'Psycho analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 82.

स्वप्न में उससे कट कर लीला की भावनाओं के रूप मे प्रकट होती है। भागना चाहता है वह, पर स्वप्न में देखता है कि लीला घबराई हुई सी भाग रही है और वह उसके पीछे-पीछे दौड रहा है। इसके अतिरिक्त जिस रूप में यह स्वप्न उपलब्ध है, यह वही नही है, जो वास्तव में उसने देखा था। जागने पर तो वह स्वप्न को एक दम भूल गया था। 'अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयत्नों के बाद स्वप्न के एक अस्पष्ट से आभास को ही वह अपने सचेत मन तक लाने में सफल हुआ था' और वह अस्पष्ट-सा आभास वही है जिसका वर्णन यहाँ किया गया है। फ्रॉयड ने इस स्वप्न-सघटन को 'सेकण्डरी एलेबोरेशन'[५६] की सज्ञा दी है।

नाटकीकरण-स्वप्न-संघटन

'प्रेत और छाया' की मजरी की माँ जब एक भयानक रात्रि में मृत्यु-शैया पर पडी हुई थी और पारसनाथ डाक्टर के साथ दवाई लेने गया हुआ था तब मजरी हताश भाव से फर्श पर घुटने टेक कर दोनो हाथों के सहारे खटिया के डंडे पर निश्चेष्ट अवस्था में आँख बन्द करके बैठ गई। अपने भविष्य की चिन्ता करते-करते उसे अचानक नींद आ गई और उसने स्वप्न देखा कि 'वह प्रेत और छायाओं के किसी घोर दु:स्वप्नलोक में किसी दुर्गम पहाडी पथ पर एकाकी चली जा रही है—किसी अज्ञात रहस्यमय अनिर्दिष्ट स्थान में बसेरा ढूँढने के लिए; जैसे समय बहुत कम है और चलने में शीघ्रता न करने से अनन्त अंधकारमयी काल-रात्रि उसे घेर कर अपने विकराल जबड़ों से डस लेगी। वह हाँफती हुई, ठोकरें खाती हुई केवल चली जा रही है, कहाँ पहुँचने पर उसे विश्राम मिलेगा, इसका कुछ भी ध्यान उसे नहीं है। यहाँ नाटकीकरण सघटन (ड्रैमेटाईजेशन मैकेनिज्म)[६०] ने काम किया है। नींद आने से पहले की मंजरी की दुश्चिन्ताएँ ही इस स्वप्न में नाटकीय ढग से

५६.(क) Dalbeiz, 'The Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud,' p. 120-121 :

"Freud gives the name of 'secondary elaboration' to the process whereby the dreamer's mind, in proportion as it draws near to the waking thought, introduces a more or less artificial order into its oneiric production. In order to make the exact nature of secondary elaboration understood, Freud quotes the following passage from Havelock Ellis · 'As a matter of fact, we might even imagine the sleeping consciousness as saying to itself: Here comes our master, Waking Consciousness, who attaches such mighty importance to reason and logic and so forth. Quick, gather things up, put them in order—any order will do—before he enters to take possession."

(ख) Freud, "Interpretation of Dreams", 'Basic Writings of Sigmund Freud', trans by Brill, The Modern Library, New York, 1938, p. 463.

६०. Dalbiez, 'The Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 88.

प्रकट हुई है। पहाड़ जिस पर कि वह चली जा रही है, उन मुसीबतों का पहाड़ है जिनका उसे सामना करना है। उसका एकाकीपन द्योतक है, उसके असहाय जीवन का और उसका बसेरा ढूँढते रहना विशाल जीवन में किसी से भी वैवाहिक सम्बन्ध न गाँठ सकने की ओर संकेत है।

इसी प्रकार, जोशी जी के पात्रों के स्वप्नों में फ्रॉयड द्वारा वर्णित सभी स्वप्न-संघटन काम करते हुए दिखाई देते हैं।

हैल्यूसीनेशन

जोशी जी के उपन्यासों में उनके पात्रों के अचेतन में पड़ी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियाँ उनके निराधार प्रत्यक्षीकरण (हैल्यूसीनेशन) के रूप में भी अभिव्यक्ति पाती है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ जब भी मंजरी से मिथुन करने की स्थिति में आता है, मंजरी की मृत माता की विकराल प्रेतात्मक छाया उसकी आँखो के सामने आ खड़ी होती है और वह स्पष्ट देखने लगता है कि उसकी मुखाकृति से वही पहले की सी दिल दहलाने वाली बीभत्सता, विकट व्यंग्य और निष्ठुर परिहास व्यक्त हो रहा है। पारसनाथ जानता है कि यह 'उसका भ्रम है, 'हैल्यूसीनेशन' है और उसके अन्तस्तल में जमी हुई पापवृत्ति और भय की भावना की काल्पनिक प्रतिच्छाया के सिवा वह और कुछ नही है। पर यह सब जानते हुए भी वह जैसे कुछ भी नहीं समझ पाता था और भय की वह काल्पनिक छाया जीवित और प्रत्यक्ष सत्य की तरह उसकी आत्मा को बुरी तरह जकड़ लेती थी।'[६१]

पूर्व-वृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड)

इस प्रबन्ध के पहले अध्याय के (ग) भाग में हम पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली का निरूपण कर आए है। यह बड़ी उपयोगी प्रणाली है। इसका उचित प्रयोग किया जाय तो यह मनोविज्ञान और साहित्य दोनों की कसौटी पर पूरी उतर सकती है।[६२] इसमें मनोवैज्ञानिक, पात्र की वर्तमान अवस्था को समझने के लिए उसके पूर्ववृत्त और उसकी विगत अनुभूतियों को एकत्रित करता है। इसके अतिरिक्त इसमें वह पात्र पर किए गए अपने विभिन्न प्रयोगों का वर्णन, उसके मनोविश्लेषण द्वारा निकले निष्कर्ष तथा विभिन्न प्रकार के आँकडों को भी सम्मिलित करता है।

पूर्ववृत्त : अपनी ज़बानी

जोशी जी के उपन्यासों में इस प्रणाली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है,

६१. (क) जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० १८१-२६३।

(ख) McDugall, 'An Outline of Psychology', p. 373.

६२. G. W. Allport, 'Personality : A Psychological Interpretation', p. 305.

विशेषतः उनके उपन्यास 'जहाज का पंछी' मे । इस उपन्यास में पहले तो ऐसे पूर्ववृत्त आते है, जो पात्रो की अपनी जबानी कहे गये है । जैसे करीम चाचा की 'आप बीती कहानी',[६३] जो लगभग तेरह पृष्ठ तक चलती रहती है । इसके बाद आता है करीम चाचा के पास रहने वाले हरीपद का पूर्ववृत्त उसके अपने शब्दों में, जिसकी जानकारी के अभाव में उसके खेमी को भगा ले आने के प्रेरक भाव को समझ सकना कठिन हो जाता ।[६४] इसके बाद आता है उस 'चश्मानशीन अभागिन युवती' फ्लोरा का किस्सा, छोटी उमर से ही शारीरिक, आत्मिक, नैतिक और आर्थिक शोषण का शिकार बनने के कारण जिसका सत्त्व निचुड़ चुका था ।[६५] तत्पश्चात् पूर्ववृत्तों की बाढ़ आ जाती है । पहले तो एक-एक करके मिस साइमन के चकले में वेश्या का काम करने वाली लड़कियों—अमला, सुजाता, जुलेखा, सुखिया आदि—का वृत्त मिलता है । इन वृत्तों से यह तो पता चलता ही है कि किन-किन विवशताओ के कारण इन लडकियो ने यह घृणित पेशा स्वीकार किया और साथ ही वेश्यावृत्ति के कारणों पर भी काफी प्रकाश पड़ता है ।[६६] यहाँ तक पात्रों के पूर्ववृत्त उनके अपने शब्दों में मिलते है ।

यदि यह मान लें कि पात्रों ने बिना किसी प्रकार के घुमाव-फिराव के अपने पूर्व इतिहास का ठीक-ठीक वर्णन किया है, तो भी कहना न होगा कि उन्होने आपबीती जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही बताई होगी और यह आवश्यक नही कि जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण ठीक ही रहा हो । इसलिए इन पूर्ववृत्तो की विश्वसनीयता भी विचारणीय हो सकती है ।

पूर्ववृत्त : दूसरों की जबानी

इस उपन्यास के अंतिम चरण में जितने भी पूर्ववृत्त मिलते है वे एक मानसिक अस्पताल के विभिन्न रोगियों के हैं, जो 'न जाने कितनी आशाओ पर पानी फिरने से, कितने अरमानो के कुचले जाने से, अपना मानसिक सतुलन खो बैठे है' ।[६७] अधिकांशतः ये उनके सम्बन्धियों से सुनी-सुनाई बातों पर आधारित है । ये पूर्ववृत्त पात्रों की अपनी जबानी नही कहे गए । जैसे बीना का पूर्ववृत्त कुछ तो उसके चाचा ने बताया था जब वह उसे भरती कराने आया था और कुछ स्वयं बीना ने बताया था ।[६८] इसलिए इन पूर्ववृत्तों की विश्वसनीयता और भी संदिग्ध हो उठती है ।

---

६३. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ १३८-१४७ ।
६४. वही, पृष्ठ १८२-१८५ ।
६५. वही, पृष्ठ २०२-२०४ ।
६६. वही, पृष्ठ ३०८-३१८ ।
६७. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ३०८-३१८ ।
६८. वही पृ० ५२० ।

इन पूर्ववृत्तो से एक और बात प्रकाश में आती है कि इन स्त्री पात्रो के पागलपन का मूल उनकी अतृप्त सैक्स-प्रवृत्ति में है और पुरुष पात्र अधिकाशतः आर्थिक कठिनाइयो के कारण अपना मानसिक संतुलन खो बैठे हैं।

चित्र-विश्लेषण

कलाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति में अनायास ही अभिव्यक्ति पा लेता है। आज जब व्यक्ति के लिखावट में उसके व्यक्तित्व की झाँकी पाने के प्रयास किए जाते है तो उसकी स्वतः निसृत चित्रकारी में उसके चरित्र को ढूढ़ने के प्रयोगों की सफलता में संदेह न करना होगा। जोशी जी ने भी अपने उपन्यासों में विशेषकर 'प्रेत और छाया' में, पात्रों की निरुद्देश्य चित्रकारी के माध्यम से चरित्रचित्रण की प्रणाली का प्रयोग किया है। नंदिनी द्वारा बनाए गए चित्रों के आधार पर ही तो पारसनाथ उसके हृदय में धधकती विद्वेष की भयकर अग्नि की लपटो को देख सका था। यद्यपि नन्दिनी ने अपने पति बजौरिया जी का एक 'सीधा सादा (किन्तु कलात्मक) रेखा-चित्र अंकित करना चाहा था, परन्तु उसके हाथों पड़ कर वह व्यग-चित्र बने विना न रह सका। उसमें बडी ही भोंड़ी और बीभत्स आकृति प्रकट हो पडी थी। केवल बीभत्स ही नही, बल्कि भयावह भी, मानो अपने पति के प्रति उसकी समस्त बीभत्स और भयावह भावनाएं उस चित्र के रूप में प्रस्फुटित हो पडी हों।' इसी प्रकार, नन्दिनी द्वारा खीचे गए नौकरानी के चित्र से जो पिछले चित्र की आकृति से कुछ कम बीभत्स नही था पारसनाथ आसानी से यह अनुमान लगा सका था कि 'वह निश्चय ही अपनी नौकरानी से घृणा करती है—भयकर रूप से। नन्दिनी ने उसे जो 'सैल्फ पोर्ट्रेट' दिखाया था, उसमें उसके अनजान में ही उसका अपना गुप्त व्यक्तित्व प्रकट हो उठता है।' नन्दिनी के अवचेतन मन की जो अनुभूतियाँ रेखाओं के रूप में उसके चित्रो में फूट पड़ी थीं, उनकी सचाई को पहचान कर ही पारसनाथ उन तीनों चित्रों में प्रतिबिम्बित पति तथा नौकरानी के प्रति नन्दिनी की गुप्त भावनाओं को समझ सका था।

इस प्रकार, जोशी जी अपने पात्रो के चरित्रचित्रण के लिए उनके द्वारा अनायास खीचे गए रेखाचित्रो का भी सहारा लेते हैं। पात्रों के स्वतःनिसृत चित्रों में उनकी मानसिक प्रवृत्तियों को खोजना तो मनोविज्ञान की एक विशेष प्रणाली है, जिस पर वेह्लर आदि मनोवैज्ञानिको ने अच्छा परिश्रम किया है। इनकी धारणा है कि व्यक्ति की मन.स्थिति को समझने में स्वतःनिसृत रेखाचित्रों का, वे कितने ही अनापशनाप क्यों न लगते हों, और बातचीत के दौरान में अनापशनाप खिची हुई रेखाओं का, विशेष महत्त्व है।[६६]

---

६६. T. S. Waehner, "Interpretation of Spontaneous Drawings and Paintings, 'Genet. Psychol. Monogr., 33, 3-70.

शब्द-सहस्मृति परीक्षण (वर्ड एसोसिएशन टेस्ट)

व्यक्ति के चरित्राध्ययन की एक प्रणाली शब्द-सहस्मृति-परीक्षण भी है। इसमें पात्र को एक शब्द-शृंखला पढ़ाई या सुनाई जाती है और उसे कहा जाता है कि प्रत्येक शब्द के पढ़ने या सुनने के पश्चात् उसके मन में प्रतिक्रिया के रूप में जो पहला शब्द आता हो, उसे बताए। तत्पश्चात् पात्र द्वारा बताए गए शब्द के विश्लेषण द्वारा उसके व्यक्तित्व के बारे में अनुमान लगाया जाता है।[७०]

जोशी जी ने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए अपने उपन्यास में इस प्रणाली का भी प्रयोग किया है। 'प्रेत और छाया' की मंजरी ने पारसनाथ से ज्योंही 'फिलास-फर लड़की से चित्रकार का विवाह' की बात छेड़ी, 'विवाह' शब्द सुनते ही पारसनाथ का मुँह अत्यन्त गम्भीर हो आया। यहाँ तक कि उस पर एक हल्की-सी कालिमा पुत गई, पता नहीं क्यों, यह शब्द वर्षों से उसके अन्तर्मन के लिए हौआ बना हुआ था।[७१] 'न चाहने पर भी उसके मन में यह इच्छा जाग उठी कि एक सबल झटके से मंजरी के स्नेहपाश से अपने को छुडा कर, अपने भीतर और बाहर के दम घोटने वाले वातावरण से मुक्त होकर कहीं भाग निकले। किसी ऐसे अज्ञात शून्य एकाकी और निपट निर्जन स्थान में जा पहुँचे जहाँ न किसी व्यक्ति का बन्धन हो, न समाज का, न निज का दबाव हो, न पराए का—हो केवल अनन्त सूनापन और इच्छा की बाधाहीन, अटूट और उन्मुक्त गति।'[७२] पारसनाथ ने अपने माता और पिता के वैवाहिक जीवन का जो रूप देखा था उसने उसके अचेतन में एक ऐसी गाँठ डाल दी थी कि वह 'विवाह' शब्द तक से भी घृणा करने लग गया था।

शब्दों की प्रतिक्रिया

जो शब्द पात्रों के भीतर दुःखद अनुभूतियों को उद्दीप्त करते है, उनके प्रति व्यक्ति की प्रतिक्रिया शीघ्र प्रकट नहीं होती[७३] और उसका संकोच बढ जाता है। इसलिए जब मंजरी ने अचानक 'विवाह' शब्द का उल्लेख किया तो पारसनाथ का 'भीतर ही भीतर खून सूखने लगा और कुछ क्षण तक चुप रह कर वह मरे मन से, निर्जीव स्वर में ही उसका उत्तर दे सका था', पर जब तक उसकी शाब्दिक प्रति-

---

७०. Stegner, 'Psychology of Personality', p. 38.

७१. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १७१।

७२. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृष्ठ १७७।

७३. H. D. Carter, "Emotional Factors in Verbal Learning: IV Evidence from Reaction Time", 'Journal of Educational Psychology', 1937 : 28 . p. 101-108 .

"Reaction times were significantly longer for unpleasant words than for pleasant or neutral words."

क्रिया व्यक्त नहीं हुई थी, तब तक उसकी आवेगज मन स्थिति की झलक उसके चेहरे पर मिलती रही थी।

'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र के लिए 'नीरू' शब्द जादू का असर रखता था। बडी कठिनाई के बाद इस जादू का कारण कहीं उसके आगे स्पष्ट हुआ था: 'उसके नाम का पहला अक्षर 'नृ' है और छुटपन में उसकी माँ उसे 'नीरू' कह कर पुकारा करती थी। नीरू की पुकार से उसके शंकित मन को ऐसा लगा, जैसे उसकी माँ की आत्मा उस महिला के स्वर में उसे सावधान कर रही हो।' [७४]

'गगा-यमुना में आसू-जल' यह पक्ति सुनते ही 'जहाज का पंछी' की लीला की आँखों से आँसू उमड़ आये थे। इस सम्बन्ध में यह स्वय कहती है: "जब कभी मै पत जी का यह गीत खास कर 'गंगा-यमुना में आँसू-जल' यह पंक्ति सुनती हूँ तब न जाने क्यों, मेरे भीतर से भावों का उच्छ्वास पूरे जोरों से उमड़ने लगता है और मेरी आखों से उसी समय आँसू निकल जाते हैं।"[७५]

इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी अपने पात्रों के आवेगों को व्यक्त करने के लिए शब्द-सहस्मृति-परीक्षण का भी प्रयोग करते हैं।

अन्तर्विवाद (इन्टीरियर मोनोलॉग)

अपने पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने अपने उपन्यासों में अंतर्विवादों का भी प्रयोग किया है। अन्तर्विवाद पात्र का ऐसा मानसिक वार्तालाप होता है जिसे न तो कोई बोलने वाला होता है और न ही कोई सुनने वाला।[७६] इसका उद्देश्य पात्र के मनोजगत् से पाठक का सीधा सम्पर्क कराना होता है। इसमें उपन्यासकार अपने आप को पात्र और पाठक के बीच से निकाल कर अलग हो जाता है और पाठक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह पात्र के मन की खिड़की में से झाँककर उसके समस्त मानसिक संघर्ष को अपनी आँखों से देख रहा हो।

'निर्वासित' के दूसरे भाग के छठे परिच्छेद में महीप की अभूतपूर्व उद्विग्नता को व्यक्त करने के लिए जोशी जी उसके अन्तर्विवादो का उल्लेख करते है, जिनमें से एक नीचे उद्धृत किया जाता है:[७७]

> "इसलिये अब समष्टिगत जीवन में सच्ची शाति और सच्चे कल्याण की स्थापना के उद्देश्य से अहिंसात्मक विचारों के प्रचार के प्रयत्न व्यर्थ हैं; ...इसके अलावा, अकेले मेरे या मेरे ही जैसे कुछ छिटपुट व्यक्तियो के असंगठित प्रयत्नों से किस फल की आशा की जा सकती है, जब इस ओर

७४. जोशी, जिप्सी', पृष्ठ ४२६।

७५. जोशी, 'जहाज का पंछी', पृष्ठ ३७८।

७६. Edel, 'The Psychological Novel', p. 80.

७७. जोशी, 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६।

महात्मा गांधी के समान महापुरुष के संगठित प्रयत्न निष्फल सिद्ध होने के लक्षण प्रकट हो रहे हैं । इसलिए लौट चलो अपने पिछले कवि-जीवन के स्वप्नो की ओर । सम्भवतः कवि के अन्तर्जीवन के वे स्वप्न विश्वव्यापी अंधकार और अशान्ति के इस युग में प्रकाश की कुछ क्षीण किरणें प्रस्फुटित करने में समर्थ हो । व्यक्तिगत जीवन क्या वास्तव में उतना उपेक्षणीय है जितना विश्व-विनाश के लिए मन्त्रणा करने वाले महानेता और उनके महादल बता रहे है ? विश्व-शाति का मूल उद्देश्य ही यह है कि मानव का व्यक्तिगत जीवन सुखी और व्यवस्थित हो, सच्ची लोकसेवा का ध्येय ही यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों, विचारो और स्वप्नो के क्षेत्र मे स्वतंत्र हो । तब अणु-बम से विश्व का पूरा विनाश होने के पहले जितना भी थोड़ा अवकाश मिलता है, उसमें क्यों न व्यक्तिगत जीवन की रास ढीली कर दी जाय ? क्यों न दमित अतर्जगत् के स्वप्नो की पिटारी का ताला तोड कर उन्हे पागल विश्व के आगे निपट नग्न रूप में बिखेर दिया जाय ? ठीक है । ठीक है । मुझे यही करना होगा । इसी में त्राण है; नही तो धीराज की तरह आत्म-विनाश ही एकमात्र उपाय है । मै जानता हूँ कि दुनिया मुझे भगोडा कहेगी, पर भगोड़े क्या सचमुच उतने ही हेय हैं, जितना कि उन्हे दुनिया समझती है ? सभी क्रातिकारियो को अपने अतिम ध्येय की सफलता के उद्देश्य से जीवन-भर एक स्थान से दूसरे स्थान में भागते रहना पडा है, मार्क्स और लेनिन से लेकर सुभाष बोस तक का यही हाल रहा है । मेरे और उन लोगों के भगोड़ेपन में केवल इतना ही अंतर है कि उन लोगो का ध्येय इसी प्रत्यक्ष जीवन में किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक सफलता प्राप्त करने का रहा है, और मेरा ध्येय इस प्रत्यक्ष जीवन से परे एक वास्तविक किन्तु अप्रत्यक्ष जीवन में व्यक्तिगत तथा समष्टिगत आध्यात्मिक सफलता प्राप्त करने का है ।"[७८]

उपर्युक्त अन्तर्विवाद और इसी प्रसंग में महीप के जिन अन्य अन्तर्विवादों का 'निर्वासित' में उल्लेख मिलता है वे साधारण कोटि के ही कहे जा सकते हैं । वे उस प्रकार के अन्तर्विवाद नही जिनका प्रयोग [illegible] विचारो और अनुभूतियों को व्यक्त [illegible] मन के निकटतम हो । इस दृष्टि से [illegible] से भिन्न रूप धारण कर लेते हैं, क्यो[illegible] और पात्रों के मन में जो विचार और [illegible] उसे प्रकट करता जाता है । महीप के [illegible] मनोवैज्ञानिक अन्तर्विवादों से अलग कर देन[illegible] ।

७८. जोशी. 'निर्वासित', पृष्ठ ३५५-३५६ ।

७९. Edel 'Psychological Novel', [illegible]

सम्मोह-विश्लेषण (हिप्नो-ऐनेलिसिस)

जोशी जी ने अपने उपन्यासो में सम्मोहन प्रक्रिया का भी सहारा लिया है। पर उनके उपन्यासो मे इस प्रक्रिया का प्रयोग पात्रों के अचेतन में दबी पडी अनुभूतियों को प्रकाश में लाने के लिए इतना नही हुआ, जितना कि एक पात्र का दूसरे पात्र को सम्मोहित करके उन्हें अपनी इच्छानुकूल चलाकर स्वार्थसाधन के लिए। उनके प्रेमी अथवा प्रेमिका पात्र प्रायः एक-दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए इस क्रिया का आश्रय लेते हैं। उनके उपन्यास 'जिप्सी' का नायक नृपेन्द्र जिप्सी मनियाँ को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उस पर सम्मोहन क्रिया का प्रयोग करता है और उसे सम्मोह-निद्रा की अवस्था में लाकर आत्मविश्वासपूर्ण दृढ आदेशों और संसूचनाओं (सज्जेशन) द्वारा उसके विद्रोही भावों को जीत लेता है। जब मनिया सम्मोहन निद्रा में आ जाती है तब वह एक कुशल सम्मोहक की तरह उससे कहता है :—

> "तुम्हारा छुटकारा तभी मिलेगा जब मै चाहूँगा। मै चाहे काल होऊँ या कुछ और पर हर हालत में तुम्हारा प्यार चाहता हूँ—मुझे प्यार करो। उसी में डूब जाओ और उसी में अपनी सारी जिन्दगी खपा दो। बोलो, करोगी मुझे प्यार ?"
>
> "हाँ।"
>
> "फिर बोलो प्यार करोगी और खुश रहोगी ?"
>
> "हाँ, प्यार करूँगी और खुश रहूँगी।"
>
> "अब तो मै काल की तरह नही लगता।"
>
> "नही।"
>
> "तब नींद से उठ बैठो।"[८०]

मनिया पर सम्मोहन का यह पहला प्रयोग था और मनिया पर इसका प्रभाव भी यथेष्ट पड़ा।

दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले पात्र

कहना न होगा कि इस प्रकार दूसरों के प्रभाव में आकर वे लोग ही सम्मोहित होते हैं, जिनमें मनोबल का अभाव होता है और आत्म-विश्वास की कमी, जिन्हें दूसरों की राय के मूल्य को अतिरंजित करके देखने की आदत हो और अपनी राय की सच्चाई पर सन्देह रहता हो।[८१] सम्मोहन-क्रिया के आरम्भिक प्रयोगों में मनिया

---

८०. जोशी, 'जिप्सी', पृ० १५।

८१. Adler, 'Menschenkenntnis', Leipzig: Hirzel, 5th edn. Zurich: Rascher, 1947, ('Understanding Human Nature', New York, Greenberg, Publishers Inc., 1927), p. 52:

"In general, those who are especially susceptible to suggestion and hypnosis are inclined to overestimate the opinions of others, that is, to have a low opinion of the correctness of their own views."

पर इसीलिए प्रभाव पड सका था कि उसमें आत्म-विश्वास की कमी थी और वह नृपेन्द्र को अपने से श्रेष्ठतर समझती थी। पर ज्यो-ज्यों मनिया में आत्म-विश्वास की मात्रा बढती गई, त्यो-त्यों सम्मोहन-क्रिया का प्रभाव कम पडने लगा। पन्द्रहवे परिच्छेद में नृपेन्द्र ने जो प्रयोग किया उसका केवल आधा ही प्रभाव मनिया के अन्तर्मन पर पडा था।

सम्मोहन क्रिया के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि किसी पात्र पर सम्मोहक का प्रभाव उसी मात्रा मे पडता है, जिस मात्रा में पात्र के हित सम्मोहक के आश्रय मे सुरक्षित रह सकते हों। किसी पात्र की हानि सोचकर उस पर स्थायी प्रभाव डालने का प्रयास निश्चित रूप में व्यर्थ सिद्ध होता है।[८२] अपनी असफलता के कारणो पर प्रकाश डालता हुआ नृपेन्द्र स्वयं इस बात को स्वीकार करता है :

> *"तब मेरी सफलता का कारण यह था कि तब मैं मनिया की सच्ची मगल-कामना से प्रेरित होकर—सच्चा आत्मिक बल पाकर उसके मन को प्रभावित करने को उद्यत हुआ था; पर आज मै उसकी वास्तविक कल्याण-कामना से प्रेरित न होकर, अपनी स्वार्थ-हानि की आशंका से ईर्ष्यादग्ध होकर, कृत्रिम मानसिक बल के प्रयोग से 'हिप्नॉटाइज' करने चला था।"*[८३]

दृढ इच्छा-शक्ति वाले पात्र : सम्मोहक

जोशी जी के अन्य उपन्यासो में भी पात्र एक-दूसरे को प्रभावित करने के लिए सम्मोहन-क्रिया का प्रयोग करते है। 'निर्वासित' के ठाकुर लक्ष्मीनारायणसिंह भी इस कला में दक्ष हैं। उनमें एक ऐसी दृढता है जो दूसरो की इच्छा-शक्ति को—विशेषकर दुर्बल इच्छाशक्ति वाले व्यक्तियो की इच्छाओ को—कुचल कर उसके स्थान पर अपनी इच्छा का आरोपण करने की क्षमता रखती है।[८४] ठाकुर साहब की तीव्र इच्छाशक्ति का आकर्षण रूपा के लिए ऐसा प्रबल सिद्ध हुआ कि उसका प्रतिरोध करना उसके लिए सम्भव नही रहा और कोई दूसरा चारा न देखकर उसने अपनी क्षीण इच्छाशक्ति को उस प्रचंड प्रवेगशील इच्छाशक्ति के आगे अर्पित कर दिया।[८५] इस प्रकार जीवन भर रूपा अपनी इच्छा के विरुद्ध ठाकुर साहब की ओर

८२.(क) Adler, 'Menschenkenntnis', Leipzig : Hirzel, 5th edn., Zurich : Rascher, 1947, ('Understanding Human Nature', New York, 1927), p. 52 :

"The degree to which an individual may be influenced depends, among other factors, upon the extent to which his rights seem safe guarded by the man excercising the influence."

(ख) Dr. Tracy : 'How to use Hypnosis', Arco Pub. Co., London, p. 8.

८३. जोशी, 'जिप्सी', पृ० १४६।

८४. जोशी, 'निर्वासित', पृ० ९८।

८५. वही, पृ० ९९-१००।

आकृष्ट रही और अपने इच्छित व्यक्ति धीराज सिंह के प्रति उदासीन। अपनी इस स्थिति से छुटकारा पाने का और कोई उपाय न देखकर अन्त में उसने आत्म-हत्या कर ली।

'प्रेत और छाया' में भी 'हिप्नॉटिज्म' का उल्लेख मिलता है। पारसनाथ जब बिना कुछ खाए-पिये ही नन्दिनी के यहाँ से जाने लगा तो "वाह, यह कैसे हो सकता है, बिना खाए आप नहीं जा सकते", यह कहकर नन्दिनी यों उठी जैसे बल-पूर्वक उसका रास्ता रोकने के लिए खडी हुई हो, और आँख के एक अनोखे घूर्णन से पारसनाथ की ओर देखने लगी। पारसनाथ को जैसे बिजली की एक झलक मे मंजरी की याद आई। पर उसने बरबस मन की आँखें मूँद ली, और एक उत्सुक, मोहक और पागल दृष्टि से नन्दिनी की ओर देखा। उस एक झलक में उसने नन्दिनी के मुख पर किस रूप का आभास पाया! जादूगरनी! कुछ भी हो, वह नन्दिनी की उस रहस्य-मयी दृष्टि के मोहक आकर्षण का प्रतिरोध न कर सका, और 'हिप्नॉटाइज' किए गए व्यक्ति की तरह चुपचाप एक कुर्सी पर जा बैठ गया। नन्दिनी शासन की छडी की तरह अपनी तर्जनी को पारसनाथ की ओर हिलाती हुई और अपनी रहस्यमयी दृष्टि में रहस्यमय मुस्कान झलकाती हुई, शासन के नकली स्वर में बोली—"देखिए, मेरे जाने तक उठिएगा नहीं?" यह कह कर वह नीचे चली गई।[८६]

संगीत द्वारा सम्मोहन

'पर्दे की रानी' में तो संगीत द्वारा सम्मोहन का भी एक उदाहरण मिलता है। इन्द्रमोहन द्वारा बजाए गए प्यानो की संगीत-लहरी का निरंजना पर जो प्रभाव पडा उसका वर्णन वह स्वयं इस प्रकार करती है: "मैंने यह स्पष्ट अनुभव किया कि पहले मेरे मन के अतल गह्वर में एक अनोखी मथन-क्रिया चलने लगी, जिसके परि-णामस्वरूप प्रेम और घृणा, राग और द्वेष, पीडन और प्रतिहिंसा तथा और भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ एक-एक करके उमड कर ऊपर को आने लगी, और उन सबके मिश्रण से एक निराले घूर्णित जाल ने मेरे मन की ऊपरी सतह को चारों ओर से छा दिया। शीघ्र ही वह जाल टूट गया और धीरे-धीरे एक चिदानन्दमयी अनुभूति ने मेरे शरीर का अस्तित्व ही लोप कर दिया और मेरा 'मैं' अतीन्द्रिय 'ईथर' के साथ एकाकार होकर उसमें पूर्ण रूप से घुलमिल गया। मेरी मोहाविष्टता इस सीमा को पहुँच गई थी कि इन्द्रमोहन जी उस समय जैसा कुछ निर्देश मुझे देते, उसे मैं कदापि न टाल पाती। ऐसी पूर्ण विवशता मुझ में आ गई थी। पर दैवयोग से उस चरम-क्षण में मेरी लाज रह गई—मै बच गई।"[८७]

---

८६. जोशी, 'प्रेत और छाया', पृ० २३८-२३९।
८७. जोशी, 'पर्दे की रानी', पृ० ५८-५९।

'हिप्नॉटिज्म' : जोशी जी की दृष्टि में

यहाँ सम्मोहन क्रिया के बारे में जोशी के विचारों का उल्लेख करना असंगत न होगा। 'जिप्सी' मे वह लिखते है : "हिप्नोटिज्म' की जो कला वास्तविक रूप से प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है वह किसी के सिखाए से आयताधीन नही होती, कुछ विशिष्ट बाह्य नियमों के यथारूप पालन से वह सच्चे रूप में फलित नही होती। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कुछ विशेष असाधारण क्षण ऐसे आते है जब अन्तश्चेतना का कोई विशेष सुप्त भाग सहसा स्वतः जाग्रत हो उठता है। और इस उदात्त अवस्था में वह इच्छित व्यक्ति पर जैसा भी प्रभाव डालना चाहता है, उसमे निश्चित रूप से सफल होता है। तब जो भी आदेश उसके भीतर से निकलता है उसे अमान्य करने की शक्ति किसी विरले योगनिष्ठ व्यक्ति मे ही होती है।"[८८] जोशी जी के इस उद्धरण के सदर्भ में जब हम उनके इसी उपन्यास के नायक नृपेन्द्र को यह कहते पाते हैं तो आश्चर्य होता है : "तब क्या सिलविया भी हिप्नोटिज्म की कला में प्रवीण है ? निश्चय ही यही बात है। केवल इतना ही नही, उसका अभ्यास इस कला में इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि उसने मनिया के अन्तर्मन में बहुत गहरी खुदाई करके अपना अभीष्ट बीज बोया है।"[८९]

मनोविश्लेषण

जैसा कि हम पहले लिख चुके है, जोशी जी के उपन्यासो के प्रमुख पात्र मनोवैज्ञानिक 'केस' है। उनके अचेतन में कोई न कोई ऐसी गाँठ पड जाती है जो उनके विचार और व्यवहार को प्रभावित करती हुई किसी भी स्थिति से उनका सतुलन नहीं बैठने देती। उनका चेतन मन जो कुछ चाहता है, वह कर नही पाता, और जिससे बचना चाहता है, वह हो जाता है। क्यो हो जाता है, यह वे नही जान पाते। इस प्रकार, वे पात्र जीवन-भर कस्तूरी-मृग की तरह भटकते रहते है। इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों के कारणों को व्यक्त करने के लिए जोशी जी ने फ्रॉयड की मनोविश्लेषण-प्रणाली का भी प्रयोग किया है।

मनोविश्लेषण का उद्देश्य

फ्रायड के अनुसार मनोविश्लेषणात्मक इलाज का सार इसी में है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों को उनके विगत जीवन की उन घटनाओ की स्मृति में परिवर्तित कर दिया जाए, जिनके कारण वे ग्रन्थियाँ पड़ी है।[९०] जीवन के प्रति

---

८८. जोशी, 'जिप्सी', पृ० ५५ :

८९. वही. पृ० १४५।

९०. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud'. p. 206:
"The essence of analytical cure consists in resolving morbid habits by reducing them to the memory of events from which they sprang."

गलत दृष्टिकोण को जन्म देने वाले कारणों की जानकारी गलती को दूर कर देती है। व्यक्ति की आदत उसकी स्मृति में बदल जाती है और उसका अचेतन व्यवहार (ऑटोमैटिज्म) चेतन से हार मान लेता है।[६१] इसी सिद्धान्त को ध्यान मे रखते हुए जोशी जी पहले इन पात्रों के मनोवैज्ञानिक इतिहास के पुनर्निर्माण द्वारा विगत जीवन की उन घटनाओं की खोज करते हैं, जो उनकी मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो का कारण हो और फिर उन्हे पात्रो की स्मृति में लाकर उनके चेतन मन में ले आते है। तब उनके पात्रो को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब वे सत्य को पा गए है और उनका जीवन भर भटकना उनके अचेतन पर पडे हुए पर्दे के कारण था। इस बारे में 'निर्वासित' के महीप के प्रति, जो उस उपन्यास में मनोविश्लेपक का भी काम करता है, धीराज के ये शब्द उल्लेखनीय है : "आपकी बातों से मेरे भीतर की जो बन्द आँखें खुली है, वे उस दहकते हुए सत्य को अब प्रत्यक्ष देखने लगी हैं, जिसके ताप का अनुभव मै अपने अज्ञात में इतने दिनो तक करता रहा था, पर जिसे देख नही पा रहा था।"[६२] मनोविश्लेपण के अन्त में किसी पात्र का इस प्रकार अनुभव करना मनोविश्लेपण की सफलता का द्योतक होता है।

मुक्त आसंग प्रणाली (फ्री एसोसिएशन्)

फ्रॉयड से पहले और उसके समय में भी मनोवैज्ञानिक, व्यक्ति के अचेतन तक पहुँचने के लिए सम्मोहन-क्रिया का प्रयोग करते थे। सम्मोह-निद्रा में अपने पात्र को यह विश्वास दिला कर कि वह छोटी उमर का है, वे धीरे-धीरे प्रश्नों द्वारा उसके विगत जीवन की उन घटनाओ और अनुभूतियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेते थे जो उसकी मानसिक ग्रन्थियों का कारण होती थी। पर क्योंकि पात्र के अचेतन में दमित सामग्री उसकी सम्मोह-निद्रा में ही आ सकती थी, उसके चेतन में नही; इसलिए उसकी मानसिक गाँठ कुछ समय के लिए ही खुल पाती थी, सदा के लिए नहीं। इसीलिए फ्रायड ने सम्मोहन-क्रिया को न अपना कर मुक्त आसंग प्रणाली का आविष्कार किया। जोशी जी ने भी अपने उपन्यास 'जिप्सी' में सम्मोहन क्रिया की विफलता दिखाई है।

मुक्त आसंग की प्रणाली में, पात्र को आराम से लेटा कर कहा जाता है कि वह अपनी आलोचनात्मक शक्ति को दबाकर अपने विगत जीवन की घटनाओं और अनुभूतियो को अपनी स्मृति में लाता जाए और जिस रूप में कोई घटना या कोई बात उसकी स्मृति में आए, वह अपनी ओर से कुछ मिलाए बिना उसे कहता जाए।

---

६१. Dalbeiz, 'Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 208 :
"Apprehensions of the causes of error frees from error. Habits dissolve in memory. Automatism yields to consciousness."

६२. जोशी, 'निर्वासित', पृ० १०३ :

फ्रायड का विश्वास है कि इस प्रकार स्मृतियों के स्वत. परिवर्तित प्रवाह मे व्यक्ति की अचेतन ग्रन्थियो के कारणो की खोज की जा सकती है।

जोशी जी के उपन्यास 'निर्वासित' का धीराज, महीप-रूपी मनोविश्लेपक के पास अपने हृदय का बोझ हल्का करने के लिए स्वय ही व्याकुल हो उठता है। धीरे-धीरे उसके मुख की अभिव्यक्तियो में परिवर्तन होने लगता है। उसकी आँखें चमक उठती है और उसके मुख पर एक उत्तेजनापूर्ण आवेगमय भाव की प्रतिच्छाया व्यक्त हो जाती है। धीराज की मुखाकृति को देखते हुए महीप को यह समझने मे देर नही लगती कि वह हृदय खोल कर बाते करने की मानसिक स्थिति मे है। इसलिए उसके मन की बातें जानने का कौतूहल होते हुए भी महीप एक चतुर मनोविश्लेपक की तरह उसे उकसाता नही, केवल जिज्ञासु भाव से उसकी ओर देखता रहता है। धीराज क्षण भर के लिए चुप रहा और फिर मुक्त आसग के रूप मे उसकी वाग्धारा वह निकली जो अगले तीन पृष्ठों तक प्रवाहित होती रही।[६३] उसे यहाँ स्थानाभाव के कारण दे सकना कठिन है।

बाधकता (रेजिस्टेन्स) विश्लेषण

उसके बाद जब पुन महीप ने धीराज से पूछताछ आरम्भ की तो उसने देखा कि '*यद्यपि धीराज अपने मन की बहुत गाँठें उसके आगे खोलने के लिए आरम्भ से ही उत्सुक रहा, तथापि वह अभी तक अन्तर की बहुत-सी बाधाओ को पार नही कर पा रहा है।*'[६४] इस प्रकार, मुक्त आसंग में अपनी सहस्मृतियाँ मनोविश्लेपक को सुनाते-सुनाते पात्र का रुख बदल कर कही और भटक जाना इस बात का द्योतक होता है कि उसके अचेतन से कोई ऐसी घटना उभर कर उसकी स्मृति में आ रही है, जिसे वह या तो अत्यधिक दुःखद होने के कारण दबा देना चाहता है और या वह घटना इतनी अनैतिक और असामाजिक है कि वह लज्जा अथवा भयवश उसे कहने में सकोच करता है और उस बात को छिपाने के लिए मनोविश्लेपक का ध्यान दूसरी ओर फेर देना चाहता है। पात्र की इस स्थिति को फ्रॉयड ने बाधकता (रेजिस्टेन्स) कहा है।[६५] ऐसी स्थिति में मनोविश्लेपक का पहला काम यह होता है कि वह पात्र की इस संकोच वृत्ति को हटाए और उसका विश्वास प्राप्त करके उसे मन की गोपनीय बात को प्रकट करने के लिए कहे। फ्रॉयड का विश्वास है कि व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक समस्याओ का कारण उसके विगत जीवन की उन घटनाओ में निहित रहता है, जिन्हे वह मनोविश्लेपक से छिपाने का प्रयत्न करता है। इसलिए फ्रायड पात्रों की बाधकता को हटाकर उनकी गुप्त बाते जान लेने पर विशेप बल देता है।

---

६३. जोशी, 'निर्वासित', पृ० ८२-८५।

६४. वही, पृ० ८६।

६५. Dalbeiz, 'Psycho analytical Method and the Doctrine of Freud', p. 54

उसकी धारणा है कि इस बाधकता को हटाए बिना पात्रो के अचेतन को पा सकना असम्भव है।

'निर्वासित' का महीप मनोविश्लेषक के कर्तव्यो से अनभिज्ञ नही; वह धीराज सिह से कहता है 'देखिए, ठाकुर धीराजसिंह, आपने जब अपने व्यक्तिगत जीवन की कुछ गुप्ततम बातें मेरे आगे प्रकाशित करने की कृपा की है तब दूसरी बातों के सम्बन्ध में इस तरह का अर्थहीन सकोच न आपको सुहाता है, न यह उचित ही है। आप यदि मेरे प्रश्नों का उत्तर दें तो बहुत सम्भव है कि आपके मन को शान्ति पहुँचे और यह भी सम्भव है कि मै भी अपनी समझ के अनुसार आपको इस विषय में कुछ सलाह दे सकूँ।'[६६] महीप का यह कथन ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार एक मनोविश्लेषक अपने पात्र की बाधकता को हटाने के लिए उसे कहता है। महीप के इस कथन से धीराज के मुख पर से वास्तव में संकोच का पर्दा जैसे बहुत कुछ हट जाता है और वह महीप की ओर देखता हुआ अपने मन की बातो को कहने लगता है।

मनोवैज्ञानिक व्याख्या

मुक्त आसग की स्थिति में आ जाने से ही पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ दूर नही हो जाती। मुक्त आसग तो इतना करता है कि पात्र के अचेतन में पडी ग्रन्थि को उसके चेतन में ला देता है। पर जब तक वह ग्रन्थि खुले नही, पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाई दूर कैसे हो। इसलिए बाद में मनोविश्लेषक को व्याख्या द्वारा पात्र के चेतन में आई हुई ग्रन्थियो को खोलना होता है और पात्र को उनके कारणो के बारे में जानकारी करानी होती है। इसलिए 'निर्वासित' का महीप रूपा के ठाकुर साहब की ओर आकर्षण की, जिसके कारण धीराज के अचेतन में गाँठ पड गई थी, व्याख्या करना नही भूलता : 'मुझे ऐसा लगता है कि ठाकुर साहब की तीव्र इच्छा-शक्ति का आकर्षण रूपा के लिए ऐसा प्रबल सिद्ध हुआ है कि उसका प्रतिरोध करना उसके लिए सम्भव नही रहा है, और कोई दूसरा चारा न देखकर उसने अपनी क्षीण इच्छा-शक्ति को उस प्रचड वेगशील इच्छा-शक्ति के आगे अर्पित कर दिया हो—किसी भय से नही, बल्कि स्वाभाविक नियम से।'[६७]

इस प्रकार धीराज का पहला मुक्त आसंग समाप्त हुआ। यद्यपि इससे धीराज को पूरी मानसिक शान्ति नहीं मिली तो भी वह इस बात को स्वीकार करने में सकोच नही करता कि महीप ने उसे जो बात सुझाई है, वह जँच गई है।[६८] उसे आश्चर्य है कि जिस वास्तविकता को महीप केवल आध घण्टे की बातचीत से भाँप गया उसे वह तीन वर्षों के प्रत्यक्ष अनुभव से भी नहीं ताड़ पाया। उसकी यह स्वीकारोक्ति

६६. जोशी, 'निर्वासित', पृ० ९६।
६७. वही, पृ० १००।
६८. वही, पृ० १०१।

स्पष्ट रूप से उसे एक 'मनोवैज्ञानिक केस' का रूप दे देती है, और महीप को मनोविश्लेषक का।[६६]

'निर्वासित' में इसी प्रकार का एक और स्थल है—शारदा देवी का मुक्त आसग—जो लगभग दस पृष्ठ तक फैला है।[१००]

इस प्रकार फ्रॉयड की मनोविश्लेषण प्रणाली के आधार पर भी जोशी जी अपने पात्रो की मानसिक ग्रन्थियो का उद्घाटन करते है।

---

६६. जोशी, 'निर्वासित', पृ० १०० ।
१००. वही, पृ० १५६-१६७ ।

अज्ञेय

परिचयात्मक विवेचन

अज्ञेय के उपन्यास वर्ग-सघर्प के उपन्यास नही, न ही वे व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के उपन्यास हैं। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग में 'एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक वहुमुखी व्यक्तित्व उभर'[1] आये हैं और उनके कारण उसमें जो सघर्ष चल रहा है, मानवता के सचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी से उसे पहचानने की कोशिश'[2] करना ही उनके उपन्यासों का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार, उनके उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बन गए है। अज्ञेय की रुचि सदा व्यक्ति में ही रही है।[3] सामाजिक दृष्टि को वह गलत नही कहते, पर उसे निर्णायक भी नही मानते; क्योकि व्यक्ति को दबा कर मामले का जो भी निर्णय होगा—गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा।[4] उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिम्ब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परम्पराओं का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थितियो से वह बनता है, उन्ही को बनाता और बदलता भी चलता है; वह निरा पुतला, निरा जीव नही है, वह व्यक्ति है, बुद्धि-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति।[5]

शेखर : एक जीवन

'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में फाँसी के पात्र एक सशक्त क्रान्तिकारी का अपने गत जीवन का प्रत्यवलोकन है—यह जानने के लिए कि वह जैसा है वैसा हुआ क्यो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भावुकता से काम

१. स ही. वात्स्यायन, "आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण", 'कल्पना' जून, १९५२, पृ० ४२५।
२. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी'—भूमिका, प्रथम भाग, पृ० १०।
३. अज्ञेय, "नदी के द्वीप: एक परिचय", 'नया समाज', मई, १९५२, पृ० ३८३।
४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २७८।
५. अज्ञेय, "नदी के द्वीप : एक परिचय", 'नया समाज', मई, १९५२, पृ० ३८३।

न लेकर 'जीवन की विज्ञान-संगत,[६] कार्यकारण-प्रणाली'—आत्म-विश्लेषण—को 'अनासक्त निर्ममता' से अपनाता है। इस प्रकार व्यक्तित्व का क्रमशः विकास शेखर: एक जीवनी' का प्रमुख विषय बन गया है, जो लोट्ज़े के शब्दो में आधुनिक उपन्यास की मूल समस्या है।[७] जीवनी के पहले भाग मे शेखर के बाल्यकाल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है–१. बाल्यकाल की परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से शेखर के चरित्र का विकास, और २. उसके निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना। शेखर अततोगत्वा यदि एक सशक्त क्रान्तिकारी बन सका तो निश्चय ही वह अपने बाल्यकाल मे एक साधारण बालक न रहा होगा। उसे असाधारण तथा अहवादी बालक के रूप मे विकसित करने के लिए जहाँ उसे जन्म से ही विद्रोही दिखाना जरूरी था वहाँ उसकी परिस्थितियो का भी ऐसा होना आवश्यक था कि उनके उसमें भीतर का विद्रोह-बीज पनप सकता। इसलिए अज्ञेय शेखर को जहाँ स्वभाव से ही आनुकूलिक (एडेप्टिव) या विनीत (सबमिस्सिव) न बनाकर स्वचालित (सेल्फ डाइरेक्टिव)[८] तथा विद्रोही (डिफाएण्ट)[९] बनाते हैं, वहाँ उसके पारिवारिक वातावरण—उसके माता-पिता का स्वभाव, भाई-बहनो में उसका स्थान, घर के विधि-निषेधात्मक नियम आदि—तथा उसकी पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद आदि की परिस्थितियाँ भी इसी प्रकार की बनाते है कि उसका समाजीकरण गति न पकड सके और वह उत्तरोत्तर विद्रोही होता चला जाए। इस लिए, लेखक शेखर में सहज बुद्धि की कमी नही रखता। किन्तु 'उस बुद्धि की प्रवाह-गति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नहीं थी। वह बुद्धि उसकी थी, उसके प्रयोग के लिए थी; वह उसका मनचाहा उपभोग करता था और वह जानता था, जहाँ उसने अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा मानी वहाँ उसने उचित किया, और जहाँ उसकी बुद्धि को दूसरों ने प्रेरित किया, वही वह लड़खड़ा गया।'[१०]

---

६. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी'—भूमिका, प्रथम भाग, पृ० ६।

७. Hudson, 'An Introduction to the Study of Literature', p. 148.

८. R. J. Havighurst and Hilda Taba, 'Adolescent Character and Personality', John Willy, New York, 1949, p 124:

"The Self-Directive person is conscientious, orderly and persistent. He sets high standards for himself and is seldom satisfied with his performances. He is ambitious, strong-willed and self-sufficient, yet characterised by self-criticism and self-doubt."

९. Ibid, p. 163:

"In general, the Defiant person is one who has had early and continued experiences of neglect and frustration. Society, represented at first by family and then by school and peer group, has not satisfied his needs, and he, in turn, has failed to incorporate the ideals and values of society."

१०. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० ५७।

उच्च मध्यवर्गीय परिवार

शेखर के माता-पिता का चुनाव हुआ उच्च-मध्यवर्ग से, क्योंकि इस वर्ग के सदस्य एक तो आर्थिक रूप से स्वावलम्बी होने के कारण बाह्य संघर्ष से बचे रहते हैं, और दूसरे, समाज के विधि-निषेध भी उनके लिए इतने कड़े नही रहते। इस वर्ग के बच्चो के लिए मजबूरी नही होती कि वे पढने या खेलने के लिए आम लोगो के बच्चो के साथ मिलें। उनके लिए तो घर पर ही पढ़ने और खेलने का अलग प्रबन्ध कर दिया जाता है। शेखर के पिता इसी सम्पन्न वर्ग के एक सरकारी अफसर थे। वे तो वैसे भी किसी एक स्थान पर अधिक देर नही टिक पाते थे—आज यहाँ और कल वहाँ। उन्हें रहने के लिए कोठी भी प्राय: नगर के बाहर एकात में मिला करती थी, इसलिए किसी स्थान के बाल-समाज के सम्पर्क में आने के अवसर शेखर को कम ही मिले। शेखर के अहं को दृढ़ और लचकविहीन बनाने के लिए ऐसी परिस्थितियो का निर्माण आवश्यक ही था, क्योंकि यदि वह घर से बाहर अन्य बालको के साथ सम्पर्क रख पाता तो खेल में प्रायः उसका अह टूटता रहता और वह निरन्तर अपने असाधारणत्व के प्रति जागरूक न रह पाता। इस वर्ग के साधारण बालक अपने असाधारणत्व के कारण घर वालो से तो कटे-कटे रहते ही है, बाहर बालों से भी मिल नही पाते और अन्तर्मुख, आत्मचिन्तक, कल्पनाशील, अतः व्यग्र, रहने लगते है। किसी प्रकार के अभाव से पीडित न होने से जीवन में भी उन्हें कोई बड़ी महत्वाकांक्षा नहीं रहती, समाज के नैतिक मूल्यो के प्रति उनमे उदासीनता बढ़ने लगती है और कला के प्रति लगाव होने लगता है, क्योंकि वह उन्हे जीवन की नीरसता से पलायन का एक मार्ग प्रदान करती है।[११]

अनमेल स्वभाव के माता-पिता

शेखर के भीतर विद्रोह-बीज के पनपने के लिए आवश्यक था कि उसके माता और पिता अनमेल स्वभाव के होते[१२] और वे दोनों बाल-मनोविज्ञान से अपरिचित

---

११. *Havighurst and Taba, 'Adolescent Charactoı and Personality', p. 132* :

"Variatıon of his type (ı. e Self-Dııective) is found ın certain uppeı-middle class youths who are ındepenpents'. They appear to be more sophısticated and almost a lıttle weary of the lıfe of ambıtıons, thrift and severe moralıty. They are 'mavericks' who belong and yet do not belong. They may have artıstıc or lıterary ınterests ...they seem to undeıstand them better and to have more depth in their peısonalıtıes. At the same tıme, they are often moody, self crıtical and uncertain of themselves."

१२. Mrs. S. Frankenburg, 'Common Sense in the Nursery', Penguın Book, revised edn. 1946, p. 213 :

"Children aıe particularly acute in observing dıfferences of opinion ın their elders . . If the child ıs tıeated quite dıfferently by several dıfferent authorıtıes, or by the same person ın dıfferent moods, he will become uncertaın, nervy and ırrıtable."

होते । शेखर के पिता आवेश में आततायी थे, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय ..... इन प्रकृतियों के मेल और संघर्ष में ही शेखर का पालन-पोषण हुआ था ।[१३] शेखर अपने पिता का उपासक[१४] था, शेखर पिता से पिट कर भी उन्हें पूजता था; माँ जो पीटती नहीं, पर क्षमा देती है अनुग्रह की चक्की में पीस कर ।[१५] शेखर के असाधारण बनने के लिए यह आवश्यक ही था कि वह माता की अपेक्षा पिता की ओर ही आकर्षित होता ।[१६] पर माँ के प्यार से वंचित रहना भी उसके लिए घातक हो सकता था । इतने पुष्ट अहं वाला विद्रोही एक हिंसक डाकू बन जाता यदि समय-समय पर उसकी शक्त भावना की समुचित तुष्टि के लिए उसे किसी स्त्री का प्यार न मिलता । उसकी माँ के प्यार की क्षतिपूर्ति के लिए लेखक को उसकी बहन सरस्वती की रचना करनी पड़ी जो एक दिन उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई ।'[१७] शेखर का जब घर के बाहर भी सम्पर्क बढ़ने लगा, तब उसकी सैक्स भावना की तृप्ति के लिए शारदा की सृष्टि हुई । इस प्रकार मद्रास कालेज में जहाँ वह अपने स्वभाव के कारण किसी युवती से निस्संकोच न मिल-जुल सकता था, उसकी इस भावना के लिए उसके सहपाठी कुमारप्पा की जरूरत पड़ी, जिसे आर्थिक सहायता देकर वह हथिया लेना चाहता है : 'कुमार, यदि मेरे अतिरिक्त तुम और किसी के हुए तो मै तुम्हारा गला घोंट दूँगा ।'[१८] शशि की अवतारणा भी तो इसी माँग की पूर्ति में हुई थी । जेल से छूट जाने के बाद से तो शेखर को निरन्तर उसका आप्लावनकारी प्यार मिलता रहा और वही उसके जीवन को छाया, गति और दिशा प्रदान करता रहा । शेखर के जीवन में इन सभी पात्रों का महत्त्व है, क्योंकि उनके दिए गए प्यार ने शेखर की सेक्स भावना को ही तृप्त नहीं किया था, बल्कि कुछ समय के लिए उसे व्यग्र किए रखने वाले आवेगों से मुक्त करके उसके भीतरी तनावों को भी ढीला कर दिया था ।[१९]

शेखर के अहं को तुष्ट करने वाले अन्य पात्र'

शेखर की अह-भावना की पुष्टि जहाँ एक ओर उसके घर के वातावरण और उसके माता-पिता तथा बहन-भाइयों के उसके प्रति व्यवहार से हुई, वहाँ उसे दृढ से दृढ़तर बनाते रहने के लिए मद्रास की एंटीगोनम क्लब के राघवन, सदाशिव आदि

१३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० १२४ ।

१४. वही, पृ० १२६ ।

१५. वही, पृ० १२७ ।

१६. वही, पृ० १२८ ।

१७. वही, पृ० ८० ।

१८. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० २०६ ।

१९. M. Klein, 'The Psycho-analysis of Children', Hogarth Press, 1932, p. 276-77.

सदस्यो, रात्रि पाठशाला के विद्यार्थियो, कांग्रेस-अधिवेशन के शिविर के स्वयसेवकों, जेल के अन्य व्यक्तियो मोहसन, रामजी आदि का निर्माण हुआ। उसकी अह भावना के उन्नयन (सब्लिमेशन) के लिए जेल में विद्याभूषण की जरूरत पड़ी। विद्याभूषण से ही उसे नई दृष्टि मिली कि 'अभिमान या अहकार एक सामाजिक कर्त्तव्य भी हो सकता है।'[२०] इसके अतिरिक्त, शेखर की प्रचण्ड विद्रोह-भावना के उन्नयन के लिए सृष्टि हुई बाबा मदनसिह की जिससे शेखर ने जाना कि 'अहिसात्मक रक्तपात' भी हो सकता है।

इस प्रकार शेखर ही उस उपन्यास का प्रमुख पात्र ठहरता है, अन्य सभी पात्र गौण हैं। शेखर के माता-पिता, उसकी बहन सरस्वती, उसकी प्रेयसी शारदा, बन्दी साथी विद्याभूषण, मोहसन, रामजी, बाबा मदनसिह आदि का अस्तित्व शेखर के व्यक्तित्व के क्रमिक निर्माण के लिए ही है। यद्यपि शशि का अपना व्यक्तित्व भी बड़ा प्रभावशाली बन गया है, तो भी उपन्यास में उसका स्थान उस सान से अधिक नहीं रहा, जिस पर बराबर चढ़ाया जाकर शेखर का जीवन तेज होता रहा है।[२१]

'नदी के द्वीप' के पात्र

'शेखर : एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' भी व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है, पर इसका विषय व्यक्ति-चरित्र का क्रमश: विकास नही, विकसित चरित्र का उद्घाटन ही है। गौरा को छोडकर 'नदी के द्वीप' के अन्य सभी पात्र परिपक्व व्यक्तित्व लेकर ही उपन्यास में आते हैं। गौरा का चरित्र अवश्य उपन्यास में ही परिपक्वता को प्राप्त होता है, पर उसके व्यक्तित्व का क्रमश: निर्माण उपन्यास का लक्ष्य नहीं प्रतीत होता; उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं के उद्घाटन की ओर ही उपन्यासकार का ध्यान रहा है।

'नदी के द्वीप' के पात्रो का चुनाव उस बुद्धि-जीवी मध्यवर्ग से हुआ है, जिसकी बौद्धिकता सभी पुरातन मूल्यों के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगा चुकी है और उनके बदले में अभी तक न कुछ और पा सकी है और न स्वयं बना सकी है। ये लोग आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हैं—यहाँ तक कि रेखा, गौरा आदि स्त्री पात्र भी अपनी बौद्धिकता में डूबे समाज और उसके विधि-निषेधों से दूर कल्पना-जगत् में रहते हैं। यह बुद्धि-जीवी मध्य-वर्ग तो वैसे ही साधारण जन-जीवन से अलग जा पडा है, पर 'नदी के द्वीप' के पात्र तो उस वर्ग के भी असाधारण सदस्यों में से है जो चेतन बौद्धिक स्तर पर ही पुरातन मूल्यों, समाज के विधि-निषेधो की अवहेलना कर पाए है—उनके अचे-

२० अज्ञेय, 'शेखर एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० ५५।

२१. अज्ञेय, 'शेखर' एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६।

तन में तो वही पुराने सस्कार पक्के जमे हुए है और उनका पात्रों की सैक्स भावना से निरन्तर सघर्ष छिड़ा रहता है जो उन्हे सदा बेचैन किये रखता है। उनके अचेतन में गहरे धँसे ये सस्कार उन्हे तृप्ति (फुल्फिलमेंट) के लिए नौकुछिया ताल के एकात जंगलों और कश्मीर की निर्जन ऊँचाइयों पर भटका ले जाते है, पर वहाँ भी उन्हे समर्पण का निर्बाध आनन्द नही लूटने देते।

'नदी के द्वीप' का नायक भुवन है। भुवन वैसे तो फिजिक्स में डॉक्टर है, पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन का चित्रण नही, व्यक्ति भुवन की भीतरी घुमडन का उद्घाटन है, जो उसके विचारो और कामो को निर्दिष्ट करती है।[२२] रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाती है रेखा उसकी यौन प्रवृति (सैक्स अर्ज) को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी 'विवेक बुद्धि (कान्शैस) को, जो सामाजिक नैतिकता की आवाज है, जाग्रत करती है। वैसे तो भुवन भी उस की वासनापूर्ति का साधन बनता है, पर वह बात गौण है। यदि वासनापूर्ति ही लक्षित होती, तो वह कदाचित् चन्द्रमाधव भुवन से अधिक अच्छी तरह कर सकता। वह तो रेखा से समझौता करने को तैयार ही था। बल्कि भुवन की बात तो माधव की समझ में भी नही आती थी कि 'आशिकी भी हो रही है, रिसर्च भी और नौकरी भी चल रही है।' रेखा उसकी बात मान लेती तो 'वह अपना सब काम-काज छोड़कर उसे लेकर कही चला जाता बर्मा-वर्मा।[२३]' सच तो यह है कि रेखा के माध्यम से वैज्ञानिक भुवन के भीतर का असली कामुक भुवन व्यक्त हो उठा है। वासना की नदी के प्रवाह में एक बार तो उसकी 'रिसर्च-वर्च' सब कुछ बह गई थी। उसे डूबने से यदि कोई बचा सका तो वह गौरा का अस्तित्व ही था। भुवन की इन दो प्रवृत्तियो में बडे ज़ोर का संघर्ष चलता है। जब रेखा उसकी जीवन-धारा को निर्दिष्ट कर रही होती है, गौरा की याद बीच-बीच में आकर उस पर अंकुश का काम करती है और फिर रेखा को 'फुल्फिल्मेंट' के बाद जब वह गौरा की ओर प्रवृत्त होता है तब बीच-बीच में रेखा का ध्यान उसे विचलित करके गौरा के प्रति पूर्णतया समर्पित नही होने देता। यद्यपि भुवन के जीवन में निरन्तर उसकी सैक्स भावना—रेखा—की ही प्रबलता रही, तथापि अन्ततोगत्वा गौरा को उसके समर्पण की परिस्थितियो को देखते हुए कहा जा सकता है कि उसके समर्पण के पीछे सैक्स-प्रवृत्ति नही थी।

उपन्यास के चौथे पात्र चन्द्रमाधव की आवश्यकता विचारणीय हो सकती है, क्योकि न तो वह कथानायक भुवन के संघर्ष को बढा सका है और न घटा सका है। वह कभी रेखा को प्रणय-निवेदन करता-फिरता है और कभी गौरा को, पर उनमे से कोई भी उसकी बात पर ध्यान नही देती। ईर्ष्यावश वह रेखा और गौरा को भुवन से विमुख करने का प्रयत्न तो करता है, पर उसके प्रयास की व्यर्थता इसी से सिद्ध हो

२२ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३४२।

२३. वही, पृ० २२०।

जाती है कि भुवन को भी उसकी निरर्थकता पर विश्वास है और वह उसे एक पत्र में स्पष्ट कह देता है : "चन्द्र, मेरे प्रति किसी मिथ्या 'लायलटी' का बन्धन तुम न मानो ; जिस भी चीज़ पर तुम्हारा लोभ है, उसके लिए निर्बाध होकर जुगत करो।"[२४] स्वतन्त्र रूप से चन्द्रमाधव का चरित्र-चित्रण कैसा ही रहा हो, उपन्यास में वह ठीक से जम नही पाता।

पात्रों का प्रथम परिचय

वस्तु-जगत में हम नित्य-प्रति कई लोगों से मिलते हैं, पर पहली भेंट में ही तो हम सबके प्रति आकृष्ट नही हो जाते। अनेक बार मिलने पर भी कई लोग हमें अपनी ओर नहीं खींच पाते और कई लोग प्रथम भेंट में ही अपने प्रति हमारा औत्सुक्य बढा देते है। उपन्यास के पात्रों की भी सार्थकता इसी में है कि वे प्रथम भेंट में ही पाठक का ध्यान अपनी ओर खीच लें। इस दृष्टि से पात्रों के प्रथम परिचय का भी उपन्यास में विशेष महत्त्व हो जाता है।

नायक का प्रवेश—विकसित अवस्था में

अज्ञेय के उपन्यासों के कथानक आगे से पीछे चलते हैं। इसलिए, उनके कथा-नायक का प्रथम परिचय हमें उनके विकास की आरम्भिक अवस्था में नही मिलता। पर्दा उठते ही नायक अपने विकास की अन्तिम या किसी एक अवस्था में उपन्यास के रंग-मंच पर मौन बैठा-खड़ा मिलता है। बिना किसी भूमिका के नाटकीय ढंग से लेखक उसे पाठक के सामने ले आता है। स्थिति-विशेष में अपनी किसी कायिक प्रति-क्रिया के माध्यम से वह हम पर नही खुलता और न ही बोलकर हमें अपने बारे में कुछ बताता है। हमारे सामने तो उसकी स्मृतियाँ (रिकोलेक्शन्ज) ही आती है और उनसे ही हमें उसके बारे में थोडी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है।

शेखर—शेखर से जब पाठक की पहली भेंट होती है तब शेखर का व्यक्तित्व परिपक्व हो चुका होता है। 'शेखर : एक जीवनी' का पर्दा उठते ही शेखर अपने विक-सिततम रूप में फाँसी की कोठरी में 'अपने जीवन का प्रत्यवलोकन करता हुआ' तथा 'अपने अतीत जीवन को दुबारा जीता हुआ मिलता है।'[२५] उसे शीघ्र ही फाँसी मिल जाएगी, उसके बारे में इससे अधिक हमे और कुछ नही पता चलता। फिर कुछ-एक छुट-पुट स्मृतियो में दूसरों से उसके सम्बन्धो की जानकारी प्राप्त होती है। सुव्यव-स्थित रूप से उसका परिचय तो उपन्यास के प्रथम खण्ड : 'उषा और ईश्वर[२६]' से ही मिलना आरम्भ होता है।

---

२४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३४० ।

२५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १५ ।

२६. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १५ ।

भुवन—'नदी के द्वीप' का पर्दा उठते ही उसका नायक भुवन उपन्यास के रंग-मंच पर हक्का-बक्का सा, चलती रेलगाडी का हैंडल पकडे खडा दिखाई देता है। भुवन कौन है और क्यो ऐसे खडा है, कुछ पता नही चलता। जानकारी के नाम पर केवल यही मिलता है कि रेखा नाम की किसी स्त्री ने जब सहसा उसकी कुहनी पकड कर मुसकराकर उसे ढकेलते हुए कहा था "अच्छा जल्दी से सवार हो जाइए, आपकी गाडी जा रही है।"[२७] वह चलती गाडी पर सवार हुआ था। फिर जब उसकी स्मृति अतीत के पन्ने उलटने लगती है तब दूसरो के साथ उसकी बातचीत के बीच में धीरे-धीरे पता चलता है कि वह प्रोफेसर है[२८] और डाक्टर है। बाद में उसका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार मिलता है : "कालिज के बाद······वह चार-छ. वर्ष वैज्ञानिक खोज और देशाटन में लगाकर पहले से भी कुछ अन्तर्मुखी और तटस्थ होकर एक कस्बे के कालेज में लैक्चरार हो गया है।"[२९]

अन्य पात्र नायक के स्मृति-पट पर

अज्ञेय के उपन्यासो के कथा-नायक के प्रथम दर्शन किसी भूमिका के बिना उपन्यास के रंग-मंच पर होते है, तो अन्य पात्रो के प्रथम दर्शन होते है कथा-नायक के स्मृति-पट पर। वहाँ उनके विकास के आरम्भिक सूत्र मिलते हों, यह बात नही। उन पात्रों के जिस रूप की उसके मन पर सबसे गहरी छाप पडी होती है, वही उसकी स्मृति में सबसे पहले उभर आता है। ये पात्र उसकी स्मृति में उस क्रम से नही आते जिस क्रम से वे उसके जीवन में आए हों; बल्कि जिस पात्र के द्वारा वह सबसे अधिक प्रभावित हुआ होता है, वही उसकी स्मृति में सबसे पहले आता है, उसके जीवन में चाहे वह सबके बाद आया हो।

'शेखर : एक जीवनी' में उपन्यास के रंग-मच पर तो केवल कथा-नायक शेखर ही रहता है। अन्य सभी पात्र उसके स्मृति-पट पर छाया-चित्रो के रूप मे मिलते हैं। सबसे पहले शेखर की स्मृति में शशि आती है। इसलिए नही कि उसके जीवन में वह सबसे पहले आई थी या वह उसकी सबसे ताजी स्मृति थी[३०], बल्कि इसलिए कि 'शेखर का होना अनिवार्य रूप से उसके होने को लेकर था।' शशि हमारे सामने सर्व-प्रथम उस रूप में आती है जबकि उसका विवाह हो चुका होता है और 'उसके जीवन के चलने के लिए एक पटरी निश्चित हो गई होती है।'[३१] शेखर के स्मृति-फलक पर दूसरा छाया-चित्र दीखता है शारदा के "गरुड़नीड" का। उसी नीड की ओर शेखर

२७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३।
२८. वही, पृ० ६।
२९. वही, पृ० १०।
३०. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६।
३१. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६।

चला जा रहा है शारदा से मिलने। मकान के द्वार पर शेखर सहमा हुआ खड़ा रह जाता है—मकान खाली है।[३२] यहाँ खाली मकान देखकर ही पाठकों को संतोष कर लेना पड़ता है। शारदा को वह देख नहीं पाता। शेखर को ही शारदा नहीं मिली तो पाठक को कैसे मिल सकती थी? शेखर की स्मृति में तीसरा व्यक्ति आता है उस की माँ जो उसके पिता से यह कहती हुई सुनाई पड़ती है. 'और सच पूछो तो मैं इस का (शेखर का) भी विश्वास नहीं करती।'[३३] इसके बाद छाया-चित्र आता है—शीला का, जो शेखर की शिष्या थी, पर जिसका वह गुरु न था। 'शीला के लिए वह था एक बड़ा-सा भाई—किन्तु ऐसा भाई जिससे प्रेम किया जा सके, जिस पर झुका जा सके, जिसके आधार पर स्वप्न बुने जा सकें।'[३४] शीला की पढ़ाई थोड़ी देर ही चल पाई थी कि पाठक देखता है कि वह बन्द हो गई।

उपन्यास के प्रथम खण्ड से लेखक शेखर के व्यक्तित्व का विकास व्यवस्थित रूप से दिखाने लगता है और तभी से अन्य पात्रों के भी छाया-चित्र शेखर के स्मृति-पट पर क्रमशः उभरने लगते है और हमें उसके माता-पिता, बहन सरस्वती, प्रेमिका शारदा, मद्रास कालेज के सहपाठी कुमार, राघवन और सदाशिव, लाहौर कालेज के साथी, कांग्रेस शिविर के स्वयंसेवक, जेल-जीवन के बन्दी साथी-नेता विद्याभूषण, बाबा मदनसिंह, मोहसिन, रामजी तथा शशि के पति रामेश्वर, क्रांतिकारी दल के सदस्यों आदि का परिचय मिलता है—पर उतना ही जितना शेखर को बनाने के लिए आवश्यक था। इस प्रकार पाठक जिन भी पात्रों को देख पाता, शेखर के स्मृति-पट पर ही देख पाता है—शेखर की स्मृति में वे जैसे सुरक्षित हैं वैसे ही, सीधे अपनी दृष्टि से नहीं।

'नदी के द्वीप' में भी रेखा और चन्द्रमाधव के प्रथम दर्शन उपन्यास के नायक भुवन के स्मृति-पट पर ही होते हैं। भुवन की स्मृति में पहले तो रेखा का वह चित्र आता है जब वह प्रतापगढ़ के स्टेशन पर उससे विदा लेती हुई अवैयक्तिक पर सच्चे विनय से कहती है: "मैं आपकी बड़ी कृतज्ञ हूँ—और आपने तो इस वापसी की यात्रा को भी प्रीतिकर बना दिया' और सहसा भुवन की कुहनी पकड़कर मुस्कराकर उसे ठेलकर चलती गाड़ी पर चढ़ा देती है।[३५] दूसरा चित्र उभरता है रेखा से उसके प्रथम परिचय का जिसमें रेखा को पारखी दृष्टि से देखकर मन-ही-मन उसने कहा था—'यों ही नहीं रेखा देवी की इतनी चर्चा होती। उनमें कुछ है जिसका उन्मेष जीवन का उन्मेष है।'[३६] उस समय उसने लक्ष्य किया था कि रेखा के पास रूप भी है और बुद्धि भी है।[३७] इस प्रकार, पाठक पर रेखा की धाक बैठ जाती है, यद्यपि उसका अधिक

३२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० २४।

३३. वही, पृ० २५।

३४. वही, पृ० ३२।

३५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ८।

३६. अज्ञेय, नदी के द्वीप', पृ० ९।

३७. वही, पृ० १०।

परिचय उसे बाद में मिलता है।[३८] भुवन की स्मृतियो में ही चन्द्रमाधव के दर्शन होते है और वही से पता चलता है कि वह भुवन का "कालेज का सहपाठी और मित्र है, स्थानीय पायनियर का विशेष सवाददाता है और लखनऊ से परिचित है, यों भी बहुधंधी आदमी है"[३९] यद्यपि पाठक अभी तक अपनी आँखो से उसे नही देख पाया है। गौरा के प्रथम दर्शन हमे उपन्यास के रग-मच पर ही होते हैं और लेखक स्वय उसका तथा उसके और भुवन के सम्बन्धो का परिचय कराता है और साथ में भुवन की टिप्पणी जोडना नही भूलता "उसमें जीवन है, जीवन की लालसा है—ऐसी जो कई दिशाओ मे उसे अन्वेषण की प्रेरणा दे।"[४०]

अज्ञेय अपने पात्रो का प्रथम परिचय नाटकीय ढग से कराते हुए बिना किसी भूमिका के उन्हे उपन्यास के रंग-मच पर ले जाएँ या नायक के स्मृति-फलक पर ही उनका छाया-चित्र दिखा दे, वह उनके बारे में पाठक को उतनी ही जानकारी कराते है, जिससे उन पर पात्रों की धाक बैठ जाए और वह उनके बारे मे जिज्ञासाशील हो उठे।

आकृति-वेशभूषा वर्णन

पहले कह आए है कि अज्ञेय की रुचि व्यक्ति मे है, किसी समाज या वर्ग में नही। उनके सभी मुख्य पात्र 'व्यक्ति' है, किसी वर्ग के प्रतिनिधि नही। पात्रो का पूरा नख-शिख वर्णन उन्हे व्यक्ति-चरित्र बना सकता हो, ऐसी बात नही। ब्योरेवार वर्णन, यदि कुशलता से किया जाए तो, ऐसे 'टाइप' जरूर बना सकता है जो शक्ल से ही पहचाने जा सकें। व्यक्ति-चरित्र का उपन्यासकार जिस प्रकार अपने पात्रो के शील को एक चौखटे में कस कर लचक-विहीन नही कर देता, उसी प्रकार उन्हे आकृति और वेशभूषा की मोटी और पक्की रेखाओ मे बाँधकर उन्हे गुडिया नहीं बना देता। वह उसकी बाहरी सज्जा मे नही अटकता, प्रत्युत् ठोस बाह्य आवरण को चीरकर उनके भीतर की तरल मानसिक क्रिया का चित्रण करने की ओर प्रवृत्त होता है और उसी के द्वारा वह उन्हे अन्य सब मानवो से भिन्न व्यक्ति बना देता है। साथ ही वह यह बात पाठकों की रुचि और कल्पना पर छोड देता है कि वे उसे कैसी ही पोशाक पहना ले।

प्रमुख पात्रों के रूप-चित्रण के प्रति उदासीनता

शेखर-शशि-सरस्वती—श्रीनगर के पास एक बजरे के अग्र भाग में बैठे आठ वर्ष के शेखर का तो अज्ञेय कुछ उडता-उड़ता सा हुलिया दे भी देते है—'बालक निकर पहने हुए, किन्तु सारा शरीर नगा, उलझे हुए भूरे बाल'[४१]—पर उसके पास ही

३८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २६।
३९. वही, पृ० १०।
४०. वही, पृ० ७६।
४१. अज्ञेय, 'शेखर एक जीवनी', पहला भाग, पृ० २०।

बैठी हुई तेरह वर्ष की सरस्वती की वेशभूषा की ओर उनका ध्यान ही नही जाता। उसका परिचय वह इस प्रकार देते है, "उससे कुछ ही दूरी पर, एक लडकी बैठी है। किन्तु मनसा, वह सैकडो हजारों मील दूर है। उसके पास एक अग्रेज चित्रकार के बनाए हुए कश्मीर के अनेक चित्र पडे है, और उसकी गोद में एक किताब है—कालिदास का 'रघुवश'। पर वह चित्र भी नही देख रही, पुस्तक भी नही पढ रही। वह उस बालक की ओर एक शून्य दृष्टि से देख रही है, मुँह से कुछ गुनगुना रही है, और मनसा पता नही क्या सोच रही है।"[४२] सरस्वती के इस परिचय से पता चल जाता है कि लेखक की रुचि इस पात्र के शरीर के आकार-प्रकार में नही, बलिक उसके मन में है। लेखक की पहुँच उसके मन की गहराइयों तक है, क्योंकि मन की गहराइयो में ही तो प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति होता है, अद्वितीय होता है। शशि की वेशभूषा का वर्णन तो 'शेखर : एक जीवनी' के दोनो भागों में शायद ही कही मिलेगा। इस एक उद्धरण के सिवाय, शेखर के अपने शरीर या उसकी वेशभूषा का वर्णन भी उपन्यास-भर में दुर्लभ होगा—ऐसे संकेत भले ही मिल जाएँ कि वह खद्दर-धारी हो गया या सूट-बूट-टाई पहनने लग गया।

भुवन-रेखा-गौरा—इसी प्रकार, 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन का शरीर कैसा था, उसके नयन-नक्श कैसे थे, वह किस प्रकार की पोशाक पहनता था—उपन्यास-भर में इसकी चर्चा नही मिलेगी। हाँ, रेखा की सफेद रेशमी धोती का उल्लेख एक बार जरूर हुआ है, पर वह इसलिए नही कि रेखा को वह जँचती है, बल्कि इसलिए, कि वह पहनने वालो को दूर ले जाती है, । दूर ही नहीं, एक ऊँचाई पर भी।[४३] रेखा के चेहरे का 'हार्ड फोकस', उसके मुख का हू-बहू चित्र कही नही मिलता, हू-बहू चित्र तो दूर उसका कोई भी चित्र नही मिलता; केवल यही पता चलता है कि वह साँवले वर्ण की है।[४४] रेखा की उँगलियों का वर्णन अवश्य दो बार हुआ है, पर वह इसलिए नही कि वे सुन्दरता का आदर्श उपस्थित करती थी, बल्कि इसलिए कि उनके उभरे हुए जोड़ रूपतत्त्व की अपेक्षा मनस्तत्त्व की ओर ही इंगित करते थे,[४५] उसके चिन्तनशील स्वभाव के सूचक थे।[४६] तेरह वर्ष की गौरा का आकार-वर्णन केवल तीन शब्दों तक ही सीमित है : 'लम्बी, कृशतनु, गम्भीर गौरा।[४७] बीच में एक बार उल्लेख है कि रेखा से प्रथम भेंट के समय उसने एक सफेद धोती पहन रखी थी—'बहुत छोटी-छोटी, सफेद बूटी वाली चिकन की।'[४८]

४२. वही, पृ० २१।
४३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३३।
४४. वही, पृ० २२५।
४५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३५।
४६. वही, पृ० २२७।
४७. वही, पृ० ७४ :
४८. वही, पृ० २२५।

गौण पात्रों की सुनिश्चित रूप-रेखा

कुमार—अज्ञेय के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास है जरूर और उनके सभी प्रमुख पात्र व्यक्ति हैं, पर टाइप से अलग व्यक्ति बनाने के लिए उन्हे भी 'टाइप' की आवश्यकता पड़ी है और उन 'टाइप' पात्रो को स्मरणीय बनाने के लिए लेखक ने जहाँ उन्हे उनके वर्गानुकूल विशिष्ट शील प्रदान किया है वहाँ उनकी आकृति, वेश-भूषा भी वैसी ही रखी है। 'शेखर : एक जीवनी' के प्रथम भाग में शेखर के कालेज-होस्टल के साथी कुमारप्पा का व्योरेवार वर्णन हुआ है—"युवक का चेहरा सुन्दर था, आँखें सुडौल और स्वच्छ, नीली, प्राय हँसती हुईं, नाक सीधी और छोटी, ओठ पतले, लम्बे और चचल। सिर पर लम्बे लम्बे और घुँघराले बाल थे, जिन्हे उसने ढग से काढ रखा था। दाढी-मूँछ उसके नही थी—अभी फूट भी नही रही थी। कद और गठन से भी वह चौदह-पद्रह वर्ष से अधिक नही जान पडता था।"[४९] कुमार उस समय सोलह वर्ष का था और शेखर पद्रह का, पर देखने में शेखर ही उससे बडा लगता था और यह बात शेखर की 'सैक्स' प्रवृत्ति के अनुकूल ही थी, जिसके कारण वह कुमार की ओर खिचा था। कुमार के इस रूप को देखते हुए शेखर का उसकी ओर खिच जाना असम्भव नही प्रतीत होता—उसके पास रग-रूप भी था और अभी उसकी दाढ़ी-मूँछ भी नही उगी थी। जो लोग कालेज के होस्टल में रह चुके है, उन्हे कुमार के 'टाइप' को पहचानने मे कठिनाई नही हुई होगी। उसके 'टाइप' के अनुकूल उसके नयन-नक्श इसीलिए तो बनाए गये है कि वह आसानी से पहचाना जा सके।

शारदा—शेखर से प्रथम भेट के समय शारदा की वेशभूषा के वर्णन मे भी लेखक ने रुचि दिखाई है। शेखर ने पाया कि "लडकी के वेष्टन में भी लज्जा नही है। उसके अभी तक कुछ गीले बाल, जो बाहर खुले थे, अब एक रेशमी रिबन से बँधे है, शरीर पर वह एक सफेद कुरती पहने है, और एक एडियो से ऊँचा सफेद लहँगा या पेटीकोट।"[५०] अतत, शारदा भी तो एक 'टाइप' ही सिद्ध होती है। यदि वह शशि की तरह 'व्यक्ति' बन सकती तो शेखर को उससे निराशा क्यो मिलती।

विद्याभूषण—जेल में जब शेखर को अपने केस के अन्य बन्दियो से मिलने-जुलने की अनुमति मिल गई तो पहले ही दिन उसकी भेंट विद्याभूषण से हुई। क्षणभर के लिए दोनों एक-दूसरे को सिर से पैर तक देखते रहे "विद्याभूषण कद का मध्य, बलिष्ठ शरीर का और गोरे रग का कोई बीस वर्ष का युवक था। पीछे की ओर सँवारे हुए

---

४९. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० २०४।

५०. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १६६।

रूखे बालु, चौडा माथा, सीधी नाक और पतले ओठ, सीधी और पतली ठोडी--शक्ल से वह अध्ययनशील हठी दीखता था; आँखो मे अवश्य उसके एक कोमल हास का चचल प्रकाश था।"[५१] विद्याभूषण की आकृति का इतना ब्योरेवार वर्णन करने का आशय यही दिखाना है कि वह शक्ल-सूरत से ही उस टाइप का नजर आता था जो शेखर के मन के अनुकूल[५२] हो सकती थी।

अज्ञेय के उपन्यासो मे वेशभूषा वर्णन के स्थलों को देखकर विश्वास हो जाता है कि उन्होने उन्ही पात्रो की शारीरिक सज्जा का वर्णन किया है जिनके भीतर घुसने की उन्हे जरुरत नही थी। जिन पात्रों के हृदय की वे गहराइयाँ नापने में व्यस्त हैं, जो पात्र उनके उपन्यासों के व्यक्ति-चरित्र है, उनके बाह्यावरण के प्रति वे सदा उदासीन ही रहे है। जब वे पात्र मनसा मुक्त है तो लेखक उन्हे बाह्य रूपरेखा में क्यों बाध दे। पाठक आवश्यक समझें तो अपनी रुचि और कल्पना के अनुसार उन्हे जैसा चाहे, सजा लें।

अनुभाव-चित्रण

अज्ञेय के सभी प्रमुख पात्र बुद्धि-जीवी हैं। बाहर से तो वे सुलझे हुए प्रतीत होते है, पर अपने भीतर वेहद उलझे रहते हैं। किसी के "मन के दो टुकडे हो गए है और कभी-कभी तो दो से भी अधिक जान पड़ते है,"[५३] किसी के "अन्दर कितनी बडी टंकी बँधे पानी की जमा है",[५४] और किसी के "भीतर एक घुमड़न है, जो उसके विचारों और कामो को निर्दिष्ट करती है।"[५५] ये पात्र नहीं चाहते कि उनके भीतर जो है उस पर किसी दूसरे की दृष्टि पड़े—वह तो उन का अपना है, निजी है। वे जानते है कि "निजी सत्य को न कहना आसान है, न सहना आसान है,"[५६] यह जानते हुए वे बाहर से सदा जागरूक रहते हैं, और इसीलिए, मानसिक कम और बौद्धिक अधिक हो गए है। अपने वास्तविक आशय पर वे बहुधा दार्शनिकता का आरोप कर लेते है। बातचीत के समय की उनकी शारीरिक मुद्रा, अनुभाव, स्वर-प्रकम्पन आदि का यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन न किया जाए, तो भ्रम हो सकता है कि वे साधारण अवैयक्तिक स्तर पर ही दार्शनिक चर्चा चला रहे हैं, जबकि उनकी दार्शनिकता के पीछे एक गूढ अभिप्राय छिपा होता है। उनके प्रति आँख और कान खुले रखकर ही जाना जा सकता है कि "बात के अर्थ से अलग उसमें और भी अर्थ है—अकथित, अकथ्य अभिप्राय।"[५७]

---

५१. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० ५२।
५२. वही, पृ० ५२।
५३. वही, प्रथम भाग, पृ० ३१।
५४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३६।
५५. वही, पृ० ३४२।
५६. वही, पृ० १५।
५७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३६।

ऊपर से ड्राइंग रूम वाली तटस्थ बातचीत नजर आने पर भी वह वास्तव में निजीपन लिये होती है।

गूढ़ाशय की अभिव्यक्ति

काफी हाउस की ओर बढ़ती हुई 'नदी के द्वीप' की रेखा अपने साथ चल रहे भुवन से कह रही है कि "काफी हाऊस का भी एक चस्का है। काफी के चस्के से शायद ज्यादा गहरा वही है" और साथ ही यह भी पूछ लेती है—"आप को कैसा लगता है?" भुवन सीधा उत्तर न देकर कहता है, "चन्द्र का विचार है कि जीवन से तटस्थ होकर दो मिनट बैठने के लिए ऐसी अच्छी जगह दूसरी नहीं—तटस्थ भी हो और देखते भी चलें, यह यहाँ का लाभ है।" तभी रेखा थोडा हँस देती है—"पर आप तो ऐसा न मानते होंगे—आप तो यों ही इतने तटस्थ जान पड़ते है कि दो मिनट की तटस्थता का आपके लिए क्या आकर्षण होगा।"[५८] ऊपर से बात साधारण ढग से कही गई प्रतीत होती है, पर रेखा की तीखी दृष्टि[५९] से उसका सहसा आशय समझ कर भुवन चौक उठता है कि बात तो निजी स्तर पर हो रही है और उसे उसकी तटस्थता पर उलाहना दिया जा रहा है।

'नदी के द्वीप' के पात्रो की घबराहट भी कई बार आसानी से नही पकडी जा सकती। उसे पकड़ने के लिए उनके चेहरे का सूक्ष्म अध्ययन ही पर्याप्त नही होता, उसकी बातचीत के लहजे की भी अपेक्षा रहती है। काफी हाउस में बैठा भुवन जब जीवन की नदी पर पुल बाँधने की बात सोच रहा था और रेखा कल्पना कर रही थी कि वह उसके प्रवाह में एक छोटा द्वीप है, प्रवाह से घिरा हुआ भी, उससे कटा हुआ भी। उसी कल्पना में अपने को खोता-खोता भुवन सहसा संभलकर बोल उठा—"रेखाजी, आप क्यों काफी हाउस आती है?" उत्तर में रेखा ने "मै? मैं"—एक ही शब्द की दो प्रकार के स्वरों में आवृत्ति करके चुप हो गयी।[६०] भुवन ने महसूस किया कि "बिना कुछ कहे भी रेखा कितना कुछ कह सकती है! मानो अचानक उठ खडे हुए इस प्रश्न पर वह घबरा उठी हो और बात के बदलते स्तर के साथ संतुलन बैठाने के लिए समय चाह रही हो। और भी थोडी देर बाद बोली—"मैं तो—आप मानिए—काफी पीने ही आती हूँ।"[६१]

कई बार सहज स्वाभाविक रूप से, बिना किसी विशेष अभिप्राय से, कोई बात कही जाती है, पर उसे कहते ही कहने वाले को महसूस होने लगता है कि वह किसी गूढ आशय को भी व्यक्त कर रही है, तब उसकी मुख-मुद्रा में जो परिवर्तन आ जाता

५८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १७।
५९. वही, पृ० १७।
६०. वही, पृ० १९।
६१. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १९।

है, उसे देखकर सुनने वाले का ध्यान पहले उस गूढ़तर आशय की ओर ही जाता है। शेखर ने साँझ को आकर दिन-भर की पेटरी की कमाई शशि के हाथ पर रख दी। शशि ने शरारत से हँस कर कहा—"बस, कुल इतनी ही ?" तो शेखर ने हँसते हुए उत्तर दिया—"और क्या अब—जो कुछ था, सब तो दे दिया।"[६२] उसने यह बात साधारणत कही थी, क्योंकि उसे जितने रुपये दिन भर में मिले थे, उसने वे सब शशि के हाथ पर रख दिये थे। पर उसकी बात बीच में ही रह गई और वह "एका-एक अपनी बात के गूढतर अभिप्राय से स्तम्भित होकर चुप हो गया। उस चुप्पी से वह गूढतर आशय शशि पर भी व्यक्त हो गया, उसका चहरा गम्भीर हो आया, आगे बढ़ा हुआ हाथ नीचे लटक आया और वह धीरे-धीरे भीतर चली गई।"[६३]

प्रेम-ज्ञापन

प्रेमियों के लिए सबसे कठिन काम प्रेम-ज्ञापन का होता है। मैं तुमसे प्रेम करता हूँ या करती हूँ, यह कहना कितना कठिन है और इसे सह सकना कठिनतर है। इसलिए प्रेमी यह बात शब्दों की भाषा मे न कह कर अनुभावों या सकेतों द्वारा ही व्यक्त कर पाते है। शेखर के लिए तो प्रेम-ज्ञापन और भी कठिन हो जाता है, क्योकि जिस पर वह व्यक्त करना चाहता है, वह रिश्ते में उसकी मौसेरी बहन है, जिसके प्रति इस प्रकार का भाव-प्रकाशन असामाजिक बन जाएगा और फिर उसे यह भी डर था कि शशि उसे क्या समझेगी। उस रात आत्म-हत्या करने के प्रयत्न में असफल होकर जब वह घर लौट आया तब अपने कमरे में उसने शशि को पाया। फिर रात भर शशि उसके पास ही खाट पर बैठी रही थी। शेखर उसके प्रति पिघल कर बह रहा था। एक बार हिम्मत करके उसने धीमे स्वर में कहा—"शशि, तुम क्या हो, कुछ समझ में नही आता" और जब शशि उसकी बात सुनने के लिए उस पर झुक आई और स्थिर स्वर से बोली—"क्यों, शेखर ?"—"कब से तुम्हें बहिन कहता आया हूँ, पर बहिन जितनी पास होनी हैं उतनी पास तुम नहीं हो; इसलिए वह जितनी दूर होती है, उतनी—दूर भी तुम नहीं हो" यह कहते-कहते शेखर ने एका-एक शशि की दोनों ऊँगलियों को दोनों हाथो से अपनी आँखों पर जोर से दाब लिया, मानो आँखें खुलने से कुछ अनर्थ हो जाएगा। फिर शशि की काँपती हुई आवाज —"क्या अभिप्राय है तुम्हारा, शेखर ?"—पर शेखर ने फिर दोनों हाथ उठाए, कनपटी के पास से शशि का सिर हल्के से पकड़ा और उसे अपने ऊपर झुका कर बोला "अभिप्राय मैं नही जानता, तुम्हें जानता हूँ और जानता हूँ कि जितने स्वप्न मैने देखे है सब तुम में आकर घुल जाते है।" शशि के झुकने में न अनुकूलता

थी, न प्रतिरोध; वह झुकी थी, पर स्तब्ध, नि.शब्द थी[६४]। मानो वह इस व्यापार में तटस्थ रहना चाहती हो।

जब शेखर दादा के साथ जगल में पिस्तौल टैस्ट करने गया था और साँझ को देर तक नही लौटा था और शशि ने दूर पिस्तौल चलने की आवाज सुनी थी, वह द्वार पर उसकी प्रतीक्षा मे खडी असह्य वेदना से भर आई थी और उस घबडाहट में ही उसे दिव्य-दृष्टि मिली थी—शेखर के प्रति अपने सम्बन्धों के बारे में। वही, वह बेहद सर्दी खा गयी थी और समझ गई थी कि अब वह अधिक दिन नहीं जी सकती। वह शेखर पर अपनी इस अनुभूति को प्रकट हो लेने देना चाहती थी, पर शब्दो की भाषा में इसे कह सकना कठिन था। रात को शशि ने शेखर को खाट पर अपने पास बैठा लिया। शेखर पैताने बैठा तो उसने कहा—"नही, वहाँ नही; पास आओ।" मंत्रचालित शेखर आगे सरक आया। तब बिना एक शब्द और कहे "शशि ने अपनी ठोडी उठाई, उसकी आँखें अर्धनिमीलित थी और ओठ अधखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती नही थी क्षण भर तो शेखर भी कुछ नही समझ सका, फिर एक बाढ उसके भीतर उमड आई और उसने शशि के स्निग्ध, स्तब्ध, किन्तु बेझिझक ओठ चूम लिये—निर्द्वन्द, वरद, दीर्घ चुम्बन"[६५] और, इस प्रकार, शशि के मूक निमन्त्रण को सम्मानित किया। मुख से एक भी शब्द कहे बिना मुख-मुद्राओ की भाषा मे ही उन दोनो का आदान-प्रदान होता रहा।

सहज स्वाभाविक मुद्रा

दूसरो की उपस्थिति में 'नदी के द्वीप' के पात्रों को निश्चितता के अभिनय में जो आयास करना पडता है उसकी कसर वे एकान्त में अपने असली रूप मे आराम करके निकाल लेते है। उस समय की उनकी मुद्रा से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अपने भीतर कितनी व्यथा को छिपाए हुए हैं। काश्मीर की ऊँचाइयो पर भुवन के तम्बू के बाहर निकल कर रेखा मानो चाँदनी में अपनी व्यथा को धो डालना चाहती हो—"वह एक चट्टान पर बैठ गई······जूडा खोला, बाल खोल डाले, फिर सिर को एक बार झटक कर उन्हे कन्धों पर फैला लिया। फिर चाँद की ओर मुँह उठा कर आँखें बन्द कर ली, उसका सारा शरीर शिथिल हो आया[६६]।" भुवन ने एक बार पहले भी प्रथम भेंट के समय रेखा को इस मुद्रा में निश्चेष्टा देखा था—और तभी से वह उसके प्रति द्रवित हो गया था[६७]। इसी प्रकार चन्द्रमाधव जैसा व्यक्ति भी अपने में कितनी निराशा छिपाए हुए होगा, इसका अनुमान उसकी

६४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० १९५।
६५ वही, दूसरा भाग, पृ० २३९।
६६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १९५।
६७. वही, पृ० ११।

इस करुणा मुद्रा से लगाया जा सकता है। रेखा अचानक उसके घर गई तो देखा कि वह अंगीठी में आग जलाये उसके निकट झुका बैठा है, घुटनो पर कुहनियाँ, हथेलियों पर ठोड़ी टेके, निर्निमेष दृष्टि से आग को देख रहा है। उसकी झुकी हुई पीठ, शिथिल पैर,ललाट पर लट के हुए बाल।[६८]

जब पात्रों की सीधी अभिव्यक्ति के मार्ग में उनकी बौद्धिकता अड जाती है और वे आयासपूर्वक अपने भीतरी भावों को उमड़ने से रोक लेना चाहते है, तब अज्ञेय उनकी शारीरिक मुद्राओ, अनुभावों आदि के चित्रण द्वारा उन्हे पाठक पर खोल देते है।

अन्तर्द्वन्द्व

जीवन नाम सघर्ष का है। मनुष्य अपूर्ण पैदा हुआ है। जन्म से ही उसे दूसरों की अपेक्षा रहती है और यह अपेक्षा उसके भीतर भाँति-भाँति की इच्छाओ को जन्म देती रहती है। पर चाहने भर से तो कोई चीज मिल नही जाती, यदि ऐसे मिल सकती होती तो कदाचित् संसार में संघर्ष का नाम तक न रहता। इच्छा से इच्छा-पूर्ति तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अपने भीतर और बाहर, दोनों ओर, संघर्ष करना पड़ता है। अपने भीतर उसे मन की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों से जूझना पडता है और बाहर सामाजिक शक्तियो से। समाज यदि अपने सभी सदस्यों को उनकी इच्छानुसार चलने दे तो उसकी व्यवस्था कितने दिन चले ? इसलिए समाज अपने सदस्यो को जो सुरक्षा प्रदान करता है, उसके बदले में उससे भी आशा रखता है कि वे समाज के विधि-निषेधों का पालन करते हुए व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक हो।

बाह्य संघर्षों से पलायन

अज्ञेय के उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास हैं और उनके सभी प्रमुख पात्र व्यक्तिवादी है—समाज-व्यवस्था के प्रति उदासीन उनका अहं इतना पुष्ट है कि वे कभी नहीं सह सकते कि उनकी इच्छा-पूर्ति के मार्ग में कोई अडे। जो उनके मार्ग में अडता है उसे वे अपना परम शत्रु समझते हैं—चाहे वह कोई भी हो। अपने बाहर —घर में, स्कूल में, कालेज में, समाज में—वे तब तक ही रम पाते है, जब तक उनके अहं की पुष्टि होती रहती है। जब और जहाँ उनके अहं पर चोट पड़ती है या चोट पड़ने की सम्भावना होती है, वे अपने हानि-लाभ की चिन्ता छोड सिमिट कर उस स्थिति से अलग हो जाते है और इस प्रकार अपने आप को साधारण से भिन्न—असाधारण घोषित करके अपने अहं को तुष्ट कर लेते हैं। जीवन के प्रति उनका एक

दृष्टिकोण बन जाता है जो उन्हे बाह्य संघर्ष से भाग कर अन्तर्मुख होने के लिए प्रेरित करता रहता है[७०]।

पलायनवादी शेखर—'शेखर एक जीवनी' के नायक शेखर का जीवन के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण बन गया है कि वह किसी स्थिति के भीतर रहेगा तो उसका स्वामी बन कर, नही तो सिमिट कर आत्म-स्थित हो जाएगा। उसे कोई ऐसा उतना नहीं चाहिए जिसकी ओर वह देखे, उसे वह चाहिए जो उसकी ओर देखे।[७१] अह पर चोट पड़ते ही वह आहत अभिमान को लिए वहाँ से भाग लेगा। जब-जब उसका दर्प कुचला गया, वह घर के कुचल देने वाले वातावरण[७२] से निकल भागने के लिए व्याकुल हो उठा। कई बार तो भाग भी लिया।[७३] अपमान की सम्भावना देख वह कान्वेट स्कूल से भागा।[७४] दूसरे स्कूल मे सारी क्लास से काश्मीरी बाजारु गीत गवाने के अपराध मे उससे मानिटरी छीन कर एक मुसलमान लड़के को दे दी गयी, इसकी तो उसे परवाह नही थी, पर सारी क्लास के सामने उसे जो 'मुर्गा' बनना पडा था, यह अपमान उसके लिए असह्य था और वह मास्टर के पेट में लात मार, उसे 'उल्लू' कहकर तीर की तरह क्लास से बाहर हो गया। इससे उसकी पढाई बन्द हो गई, इसकी उसे चिन्ता नही, पर स्कूल से वह हार कर नही जीत कर निकला, इसका उसे संतोष है।[७५] वह इतना घोर अहंवादी बनता गया कि जब उसने अपनी माँ को अपने पिता से यह कहते सुना कि 'सच पूछो तो मुझे इसका (शेखर का) भी विश्वास नहीं' तो वह स्त्री-हत्या (माँ की हत्या) से लेकर आत्म-हत्या तक सभी प्रकार के साधनों पर विचार कर चुकता है[७६] और फिर घर से भाग लेता है। मद्रास कालेज के ब्राह्मण होस्टल में अपनी दाल गलती न देख वह अछूतों के होस्टल में

---

७०. Alfred Adler, 'Der Sinn des Lebens', Vienna, Leipzig ; Rolf Passer, (Social Interest . a Challenge to Mankind), p. 113 :

"The neurotic from childhood on, is trained in his law of movement to retreat from tasks that he fears might, through his failings in them, injure his vanity and interfere with his striving for personal superiority for being the first, a striving that is all too strongly dissociated from social interest. Further more, his life motto 'all or nothing' usually only slightly modified, the oversensitivity of a person continuously threatened with defeats, the intensified affects of one who lives as though he were in a hostile country, his impatience and his greed evoke more frequent and stronger conflicts than would be necessary."

७१. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४८।

७२. वही, पृ० १८०।

७३. वही, पृ० ३६, १८०, १८६।

७४. वही, पृ० ५४।

७५. वही, पृ० ६६।

७६. वही, पृ० १८६।

चला आया था।[७७] शारदा के हाथो मद्रास में मिली पराजय से भाग कर, अपने दर्द से भाग कर वह लाहौर आ गया।[७८] लाहौर मे, जेल जाने से पहले कालेज में और काग्रेस के शिविर में उसके अहं की खूब पुष्टि होती रही और वह भी वहाँ जान लडा कर काम करता रहा।

कांग्रेस-शिविर मे वह दूसरों को अनुशासन में रखता है, इसका उसे गर्व है, पर स्वय किसी का अनुशासन नही मानता, इसका उसे थोडा भी खेद नहीं। अपने मातहतो के अनुशासन भग करने पर उनकी वर्दियाँ उतरवा कर उन्हें शिविर से निकलवा देता है, पर स्वयं अपने अधिकारियो के सामने अकड जाता है—'मैं अपने फैसले को गलत नही मानता, आप उसे रद्द करें वह आपकी मर्जी है''''''आप जैसा गुजारा करना चाहते हो, कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नही होगा। मुझे इजाजत दें।'[७९] दूसरों का अनुशासन मानने से तो उसके अहं को चोट पहुँचती है। जेल से लौटकर उसे सघर्ष का सामना करना पडा। वह लेखक बना तो प्रकाशकों से उसका पाला पडा और उनसे हार खाकर 'आत्म-हत्या का उपाय खोजता' घर से बाहर निकल पडा।[८०] यदि एक स्त्री उसकी बाँह पकड कर उसे सडक से एक तरफ न खीच लेती तो वह कार के नीचे आकर मर गया होता।[८१] शशि को लेकर जब उसके समाज से लड़ने की नौबत आई तो वह फिर भागने की सोचने लगा। रह-रह कर उसे विचार आता कि स्थानातर करना ही है तो क्यो न इतनी दूर जाए कि आस-पास के गुँझरो के भागो की खीच वहां तक न पहुँचे।[८२] उसने आराम की सास ली जब क्रातिकारी दल ने उसे अढाई सौ रुपये देकर लाहौर से कही दूर चले जाने का सुझाव दिया और वह वहाँ से दिल्ली भाग आया। इस प्रकार, शेखर का जीवन बाह्य संघर्ष से पलायन का जीवन रहा।

भुवन भी पलायनवादी—'नदी के द्वीप' के नायक भुवन का जीवन-दर्शन भी संघर्ष से पलायन का जीवन-दर्शन है। वैसे तो लेखक ही उसे समाज की आँखों से बचाए रखता है, पर प्रकृत्या भी वह एकात-प्रिय है। समाज से टक्कर लेने की बात तो दूर, सामाजिक-संघर्ष का संकेत पाकर ही वह ऐसा भागता है कि पीछे मुड़कर नहीं देखता। रेखा को लेकर वह कई दिन उसके साथ दिल्ली घूमता रहा और वहाँ से नैनीताल तक भी आ गया, पर उन दो के अतिरिक्त किसी तीसरे के अस्तित्व का ध्यान उसे नही रहा, समाज तो मानो उसके लिए हो ही नही। पर जब नैनीताल

७७. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग पृ० २१९।
७८. वही, दूसरा भाग, पृ० ९।
७९. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० ३९।
८०. वही, पृ० १६३।
८१. वही, पृ० १६२।
८२. वही, पृ० २०१।

में होटल के मैनेजर ने रजिस्टर की ओर हाथ बढ़ाते हुए उससे पूछा कि वह किस नाम से दो कमरे किराए पर लेना चाहता है, वह ठिठक गया। होटल, रजिस्टर और मैनेजर के प्रश्न के रूप में 'सभ्यता की सब समस्याएं उसकी नजर के आगे कौंध गयीं'[८३] और वह वहाँ से रेखा को लेकर ऐसा भागा कि नौकुछिया ताल की निर्जन ऊँचाइयों में जाकर ही उसने साँस ली। इसी प्रकार भुवन और रेखा के पारस्परिक मिलन से जो 'सर्जन-वायलिनिस्ट' बन रहा था उसके बारे में वह विचलित हो उठता है और सामाजिक संघर्ष को सामने देख रेखा से विवाह का प्रस्ताव करता है, पर रेखा उसकी चिन्ता को ठीक समझ लेती है और उस 'सर्जन-वायलिनिस्ट' को पकने ही नहीं देती और इस प्रकार भुवन को, और अपने को भी, भावी संघर्ष से बचा लेती है। अपनी तृप्ति के बाद रेखा तो भुवन को गौरा के लिए मुक्त छोड़कर चली गई, पर भुवन का पलायन बन्द न हुआ। गौरा के सम्मुख वह अपने आप को अपराधी पाता रहा और उससे भाग कर पहले जावा में भटकता रहा और बाद में सेना मे भरती होकर अपनी इच्छा से बर्मा चला गया। गौरा के सम्मुख स्वयं भी वह अपनी इस कमजोरी को स्वीकार कर लेता है, "गौरा, मै भाग गया था—तुम से भागा था—पर तुम से भागने के लिए ही नही—एक बोझ मुझे दबा लिए जा रहा था।[८४]

संघर्ष : पात्रों के अचेतन में

अज्ञेय के पात्रों का जीवन-दर्शन उन्हें बाह्य संघर्ष से बचाए रखता है और वे औरों से कट कर अपने को असाधारण—दूसरो से श्रेष्ठतर—समझ कर अपने अहं को तुष्ट भी कर लेते है तो फिर उनको बेचैनी क्यों? माना कि समाज सदा उनके प्रति अन्याय करता रहा, उसके विधि-निषेध उनके मार्ग में अड़ते रहे और घृणा के संसार में वे पग-पग पर कुचले गए। पर जब वे जानते है कि समाज उन्हे अपने साँचे में डाल कर टाइप बनाना चाहता है, उन्हें समाज के मूल्य मान्य नहीं; वे उस साचे में न ढल कर शेष सबसे अलग व्यक्ति ही बने रहना चाहते है[८५]—व्यक्ति वे अंत तक बने भी रहते हैं—तो फिर उनकी व्यथा कैसी? सच तो यह है कि अज्ञेय के पात्र अपने चेतन में समाज के प्रचलित मूल्यों को ठुकरा कर उसके विधि-निषेधो की अवमानना करके अपने अहं को पुष्ट करके अपने चेतन में भले ही तुष्ट हो लेते हों, उनके भीतर निरंतर एक उथल-पुथल मची रहती है जो उन्हें अव्यवस्थित किए रखती है और स्थिति से उनका मेल नही बैठने देती।

इसीलिए शेखर की एक 'अतःकथा है, जिसे वह कह डालना चाहता है; एक

---

८३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १६३।

८४. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३८७।

८५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० ६६।

अन्तर्वेदना है, जिसे वह बहा देना चाहता है, एक अत ज्वाला है जिसे वह लुटा देना चाहता है।'[८६] उसे लगता है कि उसके मन के दोनों खण्ड घोर युद्ध कर रहे हैं, उसकी चेतना पर राजत्व पाने के लिए लड रहे हैं कभी किसी का प्रभाव बढ जाता है, कभी किसी का और इसके फलस्वरूप उसके कार्यों मे एक प्रतिक्रिया, एक असम्बद्धता आ जाती है ।[८७] यही हालात शशि की है, शेखर उसके चेहरे पर पढ़ता है कि वह घोर यातना भुगत रही है। [८८] 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के भीतर भी एक घुमडन है, यद्यपि वह उसे नही समझ पाया, पर वह उसके कामों और विचारों को निर्दिष्ट करती है।[८९] रेखा के पास भी कितनी बडी 'टंकी बन्धे पानी की' जमा है।[९०] ये अहंवादी पात्र यदि समाज के प्रचलित मूल्यों की अवहेलना कर सके हैं तो चेतन स्तर पर ही। उनके अचेतन में उनकी यौन प्रवृत्ति तथा विवेक बुद्धि, में जो समाज के विधि-निषेधों की ही आवाज है, निरंतर एक संघर्ष चलता रहता है जो उनके भाव, विचार और व्यवहार को प्रभावित करके स्थिति से उनका संतुलन नही बैठने देता।

यौन-प्रवृत्ति पर विवेक-बुद्धि की विजय

शेखर के अचेतन में आरम्भ से ही उसको यौन प्रवृति और विवेक बुद्धि में घोर संघर्ष चलता रहा जो उसे निरंतर अव्यवस्थित किए रखता है । शेखर की मनोवैज्ञानिक समस्या यह है कि उसकी सैक्स भावना पर सदा ही उसकी विवेक-बुद्धि का कडा अकुश रहा है, जिसके फलस्वरूप जीवन के महान क्षणों में प्रेम को या किसी भी गहरे भाव-विलोड़न के क्षण में वह सहसा पाता है कि उसमें पूर्णता नही है, तन्मयता, चूडात तद्गति नही है, है एक अद्भुत असगत तटस्थता। संस्कार और शिक्षा उसके जीवन की एक गांठ बन गये हैं।[९१]

शेखर-सरस्वती-शारदा--उसे सबसे पहला प्यार मिला अपनी सगी बहन सरस्वती का, जो एक दिन उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहिन' और 'बहिन' से 'सरस' हो गई।[९२] तब से शेखर के संसार में वह था और सरस्वती थी और कहीं कोई नहीं था।[९३] उसे लगता था कि जिस प्रकार 'जो वाछित है, प्रिय है और समझने और

---

८६. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० ३८।
८७. वही, पृ० ३१।
८८. वही, दूसरा भाग, पृ० १३७।
८९. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३४२।
९०. वही, पृ० १३६।
९१. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृ० २२२।
९२. वही, पहला भाग, पृ० ।
९३. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४७।

सहानुभूति करने वाला है, उसका पुंजीभूत रूप सरस्वती है।[९४] 'वह सोचने लगता कि सरस्वती उससे बड़ी न होकर एक-आध वर्ष छोटी होती—इतनी कि कहने को वह बड़ा होता।'[९५] विवाह के बाद सरस्वती का उसे छोड़ कर किसी और के साथ चले जाना शेखर के लिए असह्य था। उसने सरस्वती को एक दिन कहा भी था—'तुम यहीं क्यों नहीं किसी से शादी कर लेती।'[९६] विदा का समय उसने मुँह फेर घुटते गले से निकाला था—'सरस'। लेकिन बहन के लिए 'सरस' तो अपने अंतरतम कह कर भी वह काँप उठता था। सरस्वती चली गई। शेखर के लिए अशांत चित्तता असह्य होने लगी उसे लगने लगा कि वह कुछ चाहता है, लेकिन क्या चाहता है, यह वह नहीं समझ पाया। 'अपने शरीर की माँग वह नहीं समझता, लेकिन उसे लगता, वह कुछ अनुचित है, कुछ निषिद्ध, कुछ पपमय।'[९७] यह आवाज उसकी विवेक-बुद्धि की—उस पर पड़े सामाजिक संस्कारों की—ही तो आवाज थी, जो बहन के प्रति उसके प्यार को असामाजिक रूप नहीं लेने देती थी।

आगे चलकर सरस्वती के प्रति उसका प्यार शारदा की ओर प्रवृत्त हो जाता है। शारदा से वह खूब घुल-मिल जाता है, पर 'कंटकमय पथ पर न जाने का उन दोनों का मूक समझौता रहता है।[९८] शारदा के साथ बिताए हुए महान क्षणों में भी उसके शरीर की तृप्ति नहीं हुई, उसमें संचित हो रही उत्तेजना बिखरी नहीं।'[९९] अन्त में उनके संस्कार उन दोनों के बीच में अड़ गए और शारदा ने यह कहते हुए प्रेम-कहानी समाप्त करदी—'जिन बातों का न हुआ होना ही अधिक उचित है, उन्हें याद करने में कुछ लाभ है, ऐसा मैं नहीं समझती।'[१००]

शेखर-शशि—फिर उसके जीवन में आई शशि। शशि शेखर की मौसेरी बहन है, यही शेखर की सबसे बड़ी समस्या है। ज्यों-ज्यों वे निकट से निकटतर होते गए शेखर को लगने लगा कि वह जितने स्वप्न देखता है, वे सब शशि में आकर घुल जाते हैं। उसकी समझ में नहीं आता कि शशि क्या है। वह उसे बहन कहता आया है, पर बहन जितनी पास होती है, उतनी पास शशि नहीं। इसलिए बहन जितनी दूर होती है—उतनी दूर भी वह नहीं।[१०१] पर शशि के आप्लावनकारी प्यार में वह सम्पूर्णतया 'निर्द्वन्द्व आमस्तक डूब नहीं सकता, क्योंकि न वह पशु है और न ही अनपढ़ गँवार।

९४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४७।
९५. वही, पृ० १४८।
९६. वही, पृ० १५०।
९७. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १५५।
९८. वही, पृ० १७२।
९९. वही, पृ० १७२।
१००. वही, पृ० २४७।
१०१. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ १६४-६५।

वह शिक्षित सभ्य और सस्कृत है[१०२]—शशि से 'वह कुछ माग नही सकता, क्योंकि दोनो की धमनी एक है—चाहे शाप की एकता से एक, चाहे वरदान की।'[१०३] शशि की कठिनाई दोहरी है। एक तो शेखर उसका मौसेरा भाई है और दूसरे वह किसी और की विवाहिता है। अपनी स्थिति स्पष्ट करती हुई वह शेखर से कहती है—"मैं विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है, अपने का इहका संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नही है, उसकी ओर से मैं कुछ नहीं कह सकती न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ।······पर तुम में मेरा वह जीवन है, जो मै हूँ जो मेरा मैं है। और वह मूर्त नहीं है, इसलिए कम सच नही है, कम जीता नहीं है। शेखर तुम मुझे बहिन माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मै—अब कुछ नहीं हूँ। एक छाया हूँ। ······और अमूर्त होकर मैं······तुम्हारा अपना आप हूँ, जिसे तुम नाम नहीं दोगे।"[१०४] पर उस रोज जब शेखर दादा के साथ पिस्तौल टैस्ट करने गया था और साँझ को देर तक नही लौटा था और वह उसकी प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी यह सोच कर घबरा उठी थी कि अब शेखर को पुनः नही देख सकेगी, घबराहट में उसे दिव्य दृष्टि मिली थी। उसने बहुत कुछ देखा, जो पहले नहीं देखा था। इतना स्पष्ट नही।[१०५] इस दिव्य दृष्टि ने ही शायद शशि को अपनी विवेक-बुद्धि से ऊपर उठाकर 'इन्सैस्ट बैरियर' को तोडने में समर्थ बना दिया हो। इस अनुभूति के बाद शशि यदि कुछ देर जीवित रहती तो शायद शेखर के प्रति उसका प्यार असामाजिक रूप धारणकर लेता। पर लेखक ने यह स्थिति बचा ली।

'इन्सैस्ट' प्रेम की भावना से शेखर और शशि की वासना तो दमित होकर उनके अचेतन में चली जाती है और उनके चेतन में उनका संयोग ही रह जाता है। इस प्रकार, उनके सम्बन्धो की पवित्रता तो वनी रहती है, पर उनकी क्षमित वासना उनके अचेतन में उनकी 'कान्शीन्स' से द्वन्द्वरत रहकर उन्हे बेचैन किए रखती है।[१०६]

---

१०२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ २२२-२३।

१०३. वही, पृष्ठ २२०।

१०४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १६६ :

१०५. वही, पृष्ठ २३६।

१०६. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', Vol. 1, rans. T. F. Lindsay, 1941, p. 134 :

"An incestuous love strikes repression, the emotional and the sensual components are seperated, and the only emotional component persists in consciousness, owing to its apparent desexualization. The original love is transferred to a new feminine object which resembles the former but the link between sexual emotion and genital sexuality is not re-established."

भुवन-रेखा

'नदी के द्वीप' के भुवन और रेखा के भी अचेतन में उनकी यौन-प्रवृत्ति और 'कान्शौन्स' में एक भीषण सग्राम छिड़ा रहता है। अन्तर केवल इतना है कि 'शेखर एक जीवनी' के प्रधान पात्रों के अचेतन में पहले 'कान्शौन्स' की यौन प्रवृत्ति पर विजय होती रहती है और बाद में यौन-प्रवृति की जीत ध्वनित होती है, पर 'नदी के द्वीप' में पहले यौन-प्रवृत्ति जीतती रहती है और बाद में 'कान्शौन्स'। नौकुछिया ताल के एकात प्रवेश में भुवन के भीतर यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। रेखा के समर्पण को वह स्वीकार नही कर पाता। पर क्या वह रेखा को चाहता है ? प्यार करता है ? नकारात्मक उत्तर उसमें भीतर से नही आता। लेकिन क्यो नही सहज स्वीकारी उत्तर आता, क्यो यह स्तब्धता है। भुवन को ऐसा लगता है कि उसके भीतर और गहरे किसी एक स्तर पर एक सघर्ष है, पर किस स्तर पर, वह यह नहीं जान पाता और उसे कुरेद कर ऊपर भी नही ला पाता। यहाँ उसकी 'कान्शौन्स' की विजय होती है और समर्पण होता-होता बीच में रुक जाता है।

पर काश्मीर की ऊँचाइयो पर उसकी यौन प्रवृत्ति जोर मार कर विजय पा गई। रेखा का हेमेन्द्र रूपी शाप छूट गया, उसने भुवन को पुरुष करके जान लिया और वह 'फुलफिल्ड' हो गई। पर इसके फलस्वरूप जिस 'सर्जन वायलिनिस्ट' का सूत्रपात हुआ था—वह इन दोनों को वासना के वायुयान जीवन की यथार्थ भूमि पर ला पटकता है। 'सर्जन वायलिनिस्ट' के हित-चिन्तन में भुवन का रेखा, से विवाह-प्रस्ताव और बाद में उसका रेखा को आश्वासन देना—"रेखा जो हुआ है, मुझे उसका दुःख नही है।—वह जो आएगा—आएगा या आएगी, वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वांछित है—उससे मैं लजाऊँगा नहीं, वह तुम मुझे दोगी। भूलना मत, तुम्हे और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ।"[१०७] उसकी 'कान्शौन्स' उसके सामाजिक संस्कारो की ही विजय की द्योतक है। रेखा उसके विवाह प्रस्ताव पर कहती तो यही है कि "भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो, वह दृष्टि गलत नही है, पर निर्णायक भी नही है। व्यक्ति को दबा कर इस मामले का जो निर्णय होगा—गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा।" पर स्वय ही वह व्यक्ति को दबा कर, अपनी और भुवन की इच्छा के विरुद्ध जाकर सामाजिक दृष्टि को अपनाती हुई—भुवन का हित सोचते हुए ही सही—उस 'सर्जन वायलिनिस्ट' को समाप्त कर देती है। इस प्रकार, उसके अचेतन पर गहरे जमे सामाजिक संस्कारों की, उसकी कान्शौन्स की, जीत होती है।

'सर्जन वायलिनिस्ट' समाप्त होता-होता भी भुवन के अचेतन में एक गांठ डाल जाता है। उसे ऐसा लगता है कि उसने ही उसके प्रति अत्यधिक चिंता प्रकट करके रेखा को उसे समाप्त करने के लिए प्रेरित किया है। उसे आग में चेहरे दीखने

१०७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २८६।

लगते हैं—मृत चेहरे, बच्चों के चेहरे।[१०८] गौरा के सम्मुख अपना अपराध स्वीकार करते समय उसकी वाणी में, उसके अचेतन मे व्याप्त घोर व्यथा, उमड़ आई थी-उस समय गौरा के रोंगटे खड़े हो गये थे, उसे ऐसा लगा था कि 'वह आवाज मानो वातावरण में भटकती हुई कोई प्रेतव्यथा वहाँ पुंजीभूत होकर स्वरित हो रही हो।'[१०९] इस स्वीकारोक्ति के बाद भुवन को ऐसा लगा कि जो बोझ उस पर था—'सागर का बूढ़ा जो उसके कधों पर सवार था, 'वह उतर गया,'[११०] और उसके बाद वह निश्चित रूप से गौरा की ओर प्रवृत्त हो गया।

इस प्रकार देखते हैं, अज्ञेय के पात्रो में बाह्य सघर्ष न सही, उनके अचेतन में उनकी यौन प्रवृत्ति तथा विवेक-बुद्धि में इतना भीषण संग्राम मचा रहता है कि वे बेचारे कस्तूरी मृग की तरह जीवन भर भटकते फिरते हैं। उनके अतल अचेतन में सक्रिय सघर्ष को पकड़ने के लिए तथा उनकी व्यथा को उघाड़ने के लिए लेखक मनो-विश्लेषण का सहारा लेता है।

मनोविश्लेषण

'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' हैं तो दोनों व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास, पर चरित्र-सम्बन्धी समस्या दोनों की अलग-अलग है। 'शेखर : एक जीवनी' का लक्ष्य है विकासोन्मुख चरित्र के क्रमिक-विकास का चित्रण, पर 'नदी के द्वीप' की समस्या चरित्र का क्रमिक-विकास नहीं, विकसित चरित्र का उद्घाटन है। इसलिए दोनो की चरित्रचित्रण की टेकनिक में भी बहुत अन्तर आ गया है।

'शेखर : एक जीवनी' की टेकनिक

'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की एक रात में देखे हुए 'विज़ॉन' को शब्द बद्ध करने का प्रयत्न है। फांसी की कोठरी में बैठा घोर क्रान्तिकारी शेखर यह जानने के लिए अधीर हो उठा है कि वह जो कुछ है, जैसा है, वैसा वह क्यों और कैसे हुआ। जीवन-यात्रा के अंतिम पड़ाव पर पहुँच कर वह प्रत्यवलोकन करने बैठता है और एक-एक करके जीवन की घटनाएँ उसके स्मृतिपट पर उभरने लग जाती हैं। पहले तो वह 'सब्जैक्टिव्ली' अपने जीवन को दुबारा जीने लग जाता है, पर ज्यों-ज्यों उसकी स्मृतियो में एक क्रम आने लगता है वह तटस्थ द्रष्टा के रूप में 'ऑब्जैक्टिव्ली' स्थिति का निर्मम विश्लेषण करने लगता है। इस प्रकार सहस्मृतियों के आधार पर आत्म-विश्लेषण द्वारा चरित्र का क्रमिक-विकास दिखाना 'शेखर : एक जीवनी' की मुख्य टेकनिक बन गई है।

१०८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ३८५।
१०९. वही, पृ० ३८६।
११०. वही, पृष्ठ ३६१।

अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा चरित्रोद्घाटन

'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के वर्तमान की व्याख्या उसके अतीत के विश्लेषण द्वारा की गई है।[111] और यह विश्लेषण उसके बाल्यकाल की छोटी-छोटी घटनाओं की जाँच से आरम्भ होता है। फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषकों का विश्वास है कि अनुभूतियाँ, विशेषत वे जिनका सम्बन्ध मनुष्य के प्रौढ जीवन की असगतियो, विकृतियो और असाधारणताओ से होता है, उनका मूल उसके बाल्यकाल के संघर्ष और दु:खद अनुभूतियों मे होता है जो सुलझे बिना दमित हो कर उसके अचेतन में द्वन्द मचाए रखती है और उसके आचार, विचार और व्यवहार को प्रभावित करके स्थिति से उसका मेल नही बैठने देती।[112] एडलर का तो यहाँ तक कहना है कि चार-पाँच वर्ष की अवस्था में बच्चे का जीवन के प्रति एक बार जो दृष्टिकोण बन जाता है, वह आसानी से नही बदलता और मनुष्य की वर्तमान और अतीत दोनो की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयो का मूल बाल्यावस्था में अपनाये जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण से उत्पन्न असगतियो में होता है।[113] इसलिए बाल्यकाल की घटनाओं और उनके प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को खोजने के लिए उस काल के सम्बन्ध में उसकी स्मृतियो का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।[114]

प्रत्यवलोकन-प्रणाली

बाल्यकाल की स्मृतियाँ—मनुष्य के अचेतन को समझने के सफल साधनो में है, उसकी स्मृतियों का विश्लेषण। ये स्मृतियाँ आकस्मिक रूप से प्रकट नही

१११. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', p 41

११२. Freud, '*New Introductory Lectures on Psycho-analysis*', *W. W. Norton* & Company, New York, 1933, p 291 .

"The first years of infancy (upto about the age of five) are for a number of reasons, of special importance, because the impressions of this period come up against an unformed and weak ego, upon which they act like traumas. The ego cannot defend itself against the emotional storms which they call forth, except by repression, and in this way it acquires in childhood all its predispositions to subsequent illnesses and disturbances of functions."

११३. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Adler', p. 387 .

"Both the present and the past difficulties have their common origin in the early established neurotic disposition, which is based on an early mistake is judgement."

११४. Adler, 'The Science of Living', Greenburg, Publisher Inc., New York, 1929, p. 118 :

"... the style of life of a person does not really change. In the style of life, formed at the age of *four or five, we find the connection* between the remembrances of the past and actions of the present."

हो जाया करती,[११५] उनके पीछे इच्छाशक्ति की प्रेरणा रहती है।[११६] जो स्मृतियाँ अचानक उभर आई प्रतीत होती है, वे भी किसी समय की हमारी इच्छा के परिणामस्वरूप ही बाद में प्रकट हुई होती है। वास्तव में, स्मृतियो की तीव्रता और स्पष्टता उन्हे प्रेरित करने वाली इच्छा की तीव्रता पर निर्भर करती है।[११७]

"विजॉन" इसलिए, बाल्यकाल की जो स्मृतियाँ शेखर घनीभूत वेदना की उस रात में देख सका, वे उससे पहले नहीं देखी जा सकती थी। जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पहुँच कर उसके श्वास-प्रश्वास से यह आवाज निकलने लगी कि उसकी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी। उसके सामने यह प्रश्न आया कि उसके जीवन की क्या सिद्धि थी। घनीभूत वेदना में उठे इस प्रश्न के साथ ही उसमें बलवती इच्छा उत्पन्न हुई अपने गत जीवन के प्रत्यवलोकन की। प्रत्यवलोकन की उस प्रबल इच्छा-शक्ति से प्रेरित होकर उसके जीवन की घटनाएँ एक-एक करके उसके स्मृति-पट पर उभरने लगी।

अर्ध-स्मृतियों के आधार पर कार्य-कारण के सूत्रों की खोज

बाल्यकाल की घटनाओ की जाँच शेखर का साध्य नही। उसका साध्य तो है इस जाँच द्वारा जीवन में कार्य-कारण के सूत्रों को खोज कर यह जानना कि उसके जीवन की सिद्धि क्या थी। पर जिन घटनाओं को वह अपनी खोज का आधार बनाता है उन सबकी पूरी-पूरी याद भी तो उसे नही। किसी घटना की उसे पूरी स्मृति है तो यह याद नही कर पाता कि उस समय उसकी मनोस्थिति क्या थी, उस घटना के प्रति उसके भाव क्या थे। और कई बार उसकी स्मृति में किसी घटना के प्रति उसके भाव ही आ पाते हैं और मूल घटना भरसक चेष्टा करने पर भी उसकी स्मृति में हू-बहू नही आ पाती। कई बार तो उसे ऐसा सन्देह भी होने लगता है

---

११५. Adler, 'What Life Should Mean to You', Little Brown Company, Boston, 1931, p. 73 ·

"There are no chance memories : out of the incalculable number of impressions which met an individual, he chooses to remember only those which he feels, however darkly, to have a bearing on his situation."

११६. McDougall, 'An Outline of Psychol ogy', Methuen & Co., London, 1943, p 310 :

"The strength of our conation, our interest during any experience, is main condition of our remembering."

११७. McDouggall, An Outline of Psychology', p. 310 :

"We remember and recollect effectively in proportion as we have strong motives for doing so."

Ibid., p. 311 :

"Our desire or purpose to recollect is the determining factor of our subsequent recollections."

कि 'जो घटनाएँ उसकी स्मृति में पूरी की पूरी आ गई है, उनका मूल रूप यही रहा होगा या कि उसकी मन स्थिति द्वारा विकृत होकर आई है, या कही यह बात तो नही कि वे कोरी कल्पित हो। अतिम दिनों में अपने जीवन का अर्थ, अभिप्राय, उसकी निष्पत्ति और सिद्धि खोजता हुआ वह अपने उद्योग की सफलता के मोह में पड़कर केवल अंकन की निर्ममता से डिगकर सृजन की आसक्ति में पड गया हो।'[११८] और वह स्मृति घटना के सत्य से दूर जा खड़ी हो।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शेखर की स्मृतियो मे उसके जीवन की मूल घटनाओ का सत्य निहित नही, है भी तो पूरा नही अधूरा है। शेखर स्वय इस तथ्य को स्वीकार करता है उन्हें "स्मृतियाँ कहना 'स्मृति' के अर्थ को कुछ खीचना ही हैं। क्योकि ये सब मुझे ठीक इस रूप मे याद नही है, बल्कि उनके तथ्य याद ही नही हैं—मुझे याद आते है केवल वे भाव जो मैने अनुभव किये हैं, वह विशेष मन:-स्थिति जिसे लेकर मै किसी दृश्य में कभी भागी हुआ था। और ये जो चित्र मै खीचता हूँ, ये उन्हीं मन:स्थितियो को लेकर उन पर निर्मित हुए छायापट मात्र है। यदि ये स्मृतियाँ है तो मन की स्वतन्त्र स्मृतियाँ है, वैसी स्मृतियाँ नही, जिनकी मूल छाप बिठाने के लिए आँखें साधन हुआ करती है।"[११९] तो क्या अपनी टूटी-फूटी अर्ध स्मृतियों के आधार पर चल रही शेखर द्वारा कार्य कारण के सूत्रो की खोज में कोई सार्थकता हो सकती है ? क्या इस प्रकार पकड में लाए गए कार्य-कारण के सूत्र विश्वसनीय माने जा सकते है ?

जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण तथा उसके जीवन-दर्शन को जानने के लिए उसके अतीत की, विशेषत: बाल्यकाल की, स्मृतियो का विश्लेषण डा० ऐडलर के 'व्यक्ति मनोविज्ञान' (इंडिविजुअल साइकॉलाजी) की एक महत्वपूर्ण खोज है।[१२०] डा० एडलर का विश्वास है कि मनुष्य की स्मृतिया जीवन के प्रति बन चुके उसके दृष्टिकोण के प्रतिकूल नही जा सकती। जीवन में असंख्य दु:खद-सुखद घटनाएँ घटित होती रहती है और उन सबके संस्कार मनुष्य के अचेतन पर पडते रहते है; पर जब चाहे कोई घटना आकस्मिक ढग से स्मृति पट पर उभर आए, ऐसा नही होता। मनुष्य के अचेतन मे पडे हुए घटनाओ के केवल वही सस्कार उभर कर उसके चेतन मे आ पाते है, जो मनुष्य के जीवन-दर्शन के अनुकूल हो।[१२१] उसका

---

११८. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १८३।

११९. अज्ञेय, शेखर: एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १८३।

१२० Adler, 'Significance of Early Recollections', Inter, Journal, Indiv. Psychol., 3, p. 283 ·
"The discovery of the singnificance of early recollections is one of the most important findings of Individual Psychology"

१२१. Adler, 'What Life Should Mean to You', p, 73-74
"Memories never run counter to the style of Life."

विश्वास है कि बाल्यकाल के चौथे या पाँचवे वर्ष में ही मनुष्य का जीवन के प्रति जो एक दृष्टिकोण बन जाता है, उसका मनुष्य की अतीत की स्मृतियों और वर्तमान की क्रिया-प्रतिक्रिया से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। मनुष्य के चेतन में आई हुई ये स्मृतियाँ यदि ठीक-ठीक समझी जा सके तो उनसे मनुष्य के अचेतन की गहराइयों में छिपे उसके संघर्ष की झाँकी मिल सकती है।[१२२]

कल्पित स्मृतियां भी उपेक्षणीय नहीं

'व्यक्ति-मनोविज्ञान' वाले इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं कि बाल्यकाल की घटनाओ की स्मृतियों में मूल घटना का सत्य नही आ पाता। वे यह भी जानते है कि बहुत सी स्मृतियाँ परिवर्तित और विकृत रूप में प्रकट होती है। और कई तो कल्पित होती है, पर उनका विश्वास है कि इससे उन स्मृतियो का महत्व कम नही होता, उल्टे और बढ जाता है। स्मृतियों में आए घटनाओ के कल्पित तथा परिवर्तित अंशो में व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य निहित रहता है।[१२३] इसलिए, इन अशों के उचित विश्लेषण द्वारा व्यक्ति के अचेतन जीवन-दर्शन को समझा जा सकता है।

मनोवैज्ञानिक तब भी निराश न होगा यदि कोई यहाँ तक कह दे कि "मुझे किसी घटना की याद नही आ रही; पर हाँ, मैं स्मृति में घटना को रच सकता हूँ"—क्योंकि वह जानता है कि मनुष्य की कल्पना वैसी घटना की रचना कर ही नही सकती जो उसके जीवन-दर्शन द्वारा अनुशासित न हो।[१२४] कल्पित स्मृतियो के बारे में, एडलर ने एक ऐसे पात्र का उल्लेख किया है जिसने उसे यहाँ तक कहा था "तुम मुझ पर विश्वास नही करोगे, पर मुझे अपने जन्म की सारी घटना अच्छी तरह याद है, जब मेरी मां मुझे अपनी गोद में लिये हुए थी।"[१२५] शेखर को भी तो अपने जन्म की घटना याद है, यद्यपि उस द्वारा वर्णित अपने जन्म के समय की बातें असंख्य विभिन्न मौको पर विभिन्न असम्बद्ध वाक्यों को सुनकर, टूटी-फूट मुद्राओ को लेकर, टूटे-फूटे अव्यक्त विचारों को किसी गूढ अंतःशक्ति से भाँप कर, एकत्रित किये हुए मनश्चित्रो का पुंज है।[१२६]

---

१२२. Adler, 'Significance of Early Recollections', p. 283 :

"Rightly understood, these conscious memories give us glimpses of depths just as profound as those which are more or less suddenly recalled during treatment."

१२३. Ibid., p. 283-84 :

"What is altered or imagined is also expressive of the patient's goal."

१२४. Adler, 'Science of Living', p. 156-57 :

"The Psychologist knows that the person's imagination cannot create anything but that which his style of life commands."

१२५. Adler, 'Significance of Early Recollections', p. 283-84.

१२६. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ४६।

पहली-पहली स्मृतियों का महत्त्व

स्मृतियो के विश्लेषण द्वारा चरित्रोद्‌घाटन की प्रणाली में सबसे प्रमुख बात यह है कि व्यक्ति अपनी कहानी का आरम्भ कैसे और कहाँ से करता है; उसकी पहली स्मृति कौनसी है और उस स्मृति में आए व्यक्ति को वह किस रूप मे याद करता है। इन स्मृतियो की उचित व्याख्या द्वारा उसके आधारभूत जीवन-दर्शन को पकडा जा सकता है।[१२७] शेखर के स्मृति-पट पर सबसे पहले उभरती है उसकी मौसेरी बहन शशि। इससे समझा जा सकता है कि शेखर को उसकी वर्तमान स्थिति तक पहुँचाने में शशि का विशेष हाथ रहा होगा। जिस रूप में शेखर उसका स्मरण करता है, उससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है: "तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढाया जाकर तेज़ होता रहा है—जिस पर मँज-मँज कर मै कुछ बना हूँ, जो ससार के आगे खड़ा होने में लज्जित नही।" यहा यह बात उल्लेखनीय है कि शेखर को यदि शशि की याद सबसे पहले आई तो इसलिए नही कि वह शेखर के जीवन में सबसे पहले आई थी या वह सबसे ताजी स्मृति थी। शेखर स्वय स्वीकार करता है कि सबसे पहले शशि उसके स्मृतिपट पर इसलिए उभर आई कि शेखर का होना अनिवार्य रूप से शशि के होने को लेकर है।[१२८] इससे इन दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है कि शशि का होना शेखर के लिए है, न कि शेखर का होना शशि के लिए। इस प्रकार, शेखर के स्मृति-पट पर सबसे पहले जो व्यक्ति उभरता है, वह वही है जिसके द्वारा उसके अहं को तोप मिलता रहा है।

शेखर की दूसरी स्मृति है अपनी माँ के बारे मे, जिसने उसके प्रति अविश्वास प्रकट करके उसके अहं को एक गहरी चोट पहुँचाई थी। अपनी मा के शब्दों—'सच पूछो तो मै इसका भी विश्वास नही करती'—से उसके तन-मन में आग लग उठी थी। उसका उफान उसकी डायरी में इन शब्दो मे उतरा था—"अच्छा होता कि मैं कुत्ता होता, दुर्गन्धमय कीडा-कृमि होता—बनिसबत इसके कि मै वैसा आदमी होता, जिसका विश्वास नही है"[१२९] और उसने लिखकर प्रतिज्ञा की थी कि वह मा को नही मानेगा। इसके साथ ही उसे एक और घटना की याद आती है, जिसमें उसकी मा ने उसके अहं को ललकारा था। वह बैंक से चैक भुना कर लाया था और मां के बढाए हुए हाथ को देखकर उसने कहा था—"मा आंचल मे ले लो—बहुत है।" उसकी माँ ने धीरे-धीरे आँचल तो फैलाया था, पर साथ ही हँसते हुए यह भी कह दिया था: "आंचल तो तब फैलाऊँगी, जब तुम कुछ कमा कर लाओगे, इसके लिए क्या?" [१३०] तभी शेखर ने एक विचित्र दृष्टि से माँ की ओर देखकर उसके फैले

१२७. Adler, 'What Life Should Mean to You', p. 75.

१२८. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १६।

१२९. वही, पृष्ठ ३६।

१३०. वही, पृष्ठ २६।

हुए आँचल की उपेक्षा करते हुए एक तिपाई खीचकर उस पर रुपये रख दिये थे ।

शेखर की स्मृति में फिर उभरती है—शीला । शीला का वह इस प्रकार स्मरण करता है "वह मेरी शिष्या थी पर मै उसका गुरु न था'''उसके लिए मै था एक बडा-सा भाई, किन्तु ऐसा भाई जिससे प्रेम किया जा सके, जिसके आधार पर स्वप्न बुने जा सके और जो उपेक्षा से उन्हें तोड दे"[१३१] यहाँ भी शीला को शेखर की अपेक्षा है, न कि शेखर को शीला की । इसलिए पढ़ाते-पढाते एक दिन ऐसा आया कि वह उसे पढ़ाने नही गया । दो दिन नही, तीन दिन नही और चौथे दिन उसने शीला के पिता को पत्र लिख दिया कि वह उसे नही पढा सकेगा ।

उसके बाद, एक के बाद दूसरे दो दृश्य उभरते है । एक है—बम विस्फोट से मरे एक क्रातिकारी के शव का जिसके दोनों ओर दानवी भूख से लाचार स्त्री और पुरुष के दो आकार उसकी नितात अवहेलना कर, शव के आर-पार आलिगनबद्ध हो जाते है ।[१३२] दूसरा दृश्य है आजीवन घर न लौटने का निश्चिय करके शेखर का घर से निकलने का जबकि घर से दूर एक जल-प्रपात के पास ध्यान मग्न हो वह सोचने लगता है कि "जीवन ऐसा होना चाहिए, शुभ्र, स्वच्छ, संगीतपूर्ण, अरुद्ध, निरन्तर सचेष्ट और प्रगतिशील, घरबार के बन्धनो से मुक्त और सदा विद्रोही ।"[१३३]

पहली असम्बद्ध स्मृतियों की व्याख्या

प्रत्यवलोकन की प्रबल चेष्टा से प्रेरित उपर्युक्त परस्पर असम्बद्ध घटनाओ की स्मति के रूप में शेखर की कहानी आरम्भ होती है । अभी वह कहानी का सिरा नही पकड़ पाया है । पर शेखर की इन आरम्भिक और असम्बद्ध स्मृतियो और उन पर उसकी टीका-टिप्पणियों से जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हो जाती है, जिसको जाने बिना 'शेखर : एक जीवनी' को समझ सकना बहुत कठिन है । शेखर घोर अहंवादी है । वह किसी स्थिति में रह सकता है तो उसका स्वामी बन कर, किसी व्यक्ति से सम्पर्क रख सकता है तो उससे बडा बन कर, नही तो वह स्थिति और व्यक्ति दोनो से भागेगा । उसे ऐसी प्रत्येक स्थिति और व्यक्ति से घृणा है जो उसके अह की पुष्टि नही करता—वह स्थिति चाहे उसके लिए उपादेय हो और वह व्यक्ति चाहे उसको जन्म देने वाली मा ही हो ।

शेखर का होना अनिवार्य रूप से शशि के होने को लेकर इसलिए ही होता है कि शशि का होना शेखर के अह की पुष्टि को लेकर है । शेखर के बनने में ही वह टूट गई थी ।[१३४] शीला को भी शेखर की ही उपेक्षा रही, न कि शेखर को शीला

---

१३१. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ३२ ।

१३२. वही, पृष्ठ ३५ ।

१३३. वही, पृष्ठ ४२ ।

१३४. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १६ ।

की। जब शेखर को यह महसूस होने लगा कि अब शायद उसे भी शीला की अपेक्षा होने लगे, वह झूठ बोलकर शीला से पीछा छुड़ा, भाग खड़ा होता है; और अंतिम समय स्वीकार भी करता है कि झूठ बोलकर उसने अपने को शीला से नहीं, अपने आप से छुपाया था।[१३५] अपनी मा से उसे इसलिए घृणा है कि वह सदा उसके अहं को ललकारती रहती है, उसे ठेस पहुँचाती रहती है। अंतिम दिनों में भी जब कभी उसे यह विचार आता है कि उसके कासी की कोठरी में होने के कारणों में उसकी माँ के उसके प्रति अविश्वास की प्रतिक्रिया भी हो सकती है, तो भी इस विराट परिवर्तन के लिए, इस इतने गहरे प्रभाव के लिए, माँ को श्रेय देने की उसकी इच्छा नहीं होती।[१३६] माँ के प्रति बाल्यकाल मे शेखर का जो दृष्टिकोण बन गया है, उसमें परिवर्तन ला सकने में वह असमर्थ है। वह स्वयं भी तो कहता है—इस न मरने वाली दरार का कारण वह एक कल्पित चित्र ही है, जो मेरे मन ने उस रसोई घर की दीवार को भेद कर देखा था, उस समय जबकि मा कह रही थी—'मै तो इसका भी विश्वास नही करती।'[१३७] जब तक शेखर के अचेतन से वह चित्र नही मिटता, माँ के प्रति उसके दृष्टिकोण मे परिवर्तन कैसे हो ?[१३८]

सबसे पुरानी स्मृतियाँ

स्मृतियों के बारे में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि व्यक्ति की बाल्यकाल की सबसे पुरानी स्मृति कौन-सी है। इससे जीवन के प्रति उसके मूलभूत दृष्टिकोण का पता चलता है। पुरानी स्मृति की उपयोगिता इसमें भी है कि इससे एकदम यह भी पता लग जाता है कि कोई व्यक्ति अपने विकास का आरम्भ कहाँ से मानता है।[१३९] शेखर को भी अपने जीवन की सबसे पहली दो-एक घटनाएँ ठीक तौर पर अपनी अनुभूति सी याद है। वे घटनाएँ जिन तीनो पहली प्रेरणाओं का चित्रण करती है, वे है—अहंभाव, भय और सैक्स।[१४०] इन स्मृतियो में कौन पहले की है और कौन बाद की, यह बता सकना शेखर के लिए कठिन है, क्योंकि वे लगभग एक ही काल की है।[१४१]

---

१३५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ३४।

१३६. वही, पृष्ठ २७।

१३७. वही, पृष्ठ ३१।

१३८. Adler, 'Die Technic der Individual Psychologie', Tl. 2, 1930, Chap 1. ('A School Girl's Exaggeration of her own importance', Int. J. Indiv. Psychol., 3). p. 6 :

> "The style of Life, which is formed in the preschool period, does not change except by the individual's own recognition of his faults and errors"

१३९. Adler, 'What Life Should Mean to You', p. 75.

१४०. अज्ञेय, 'शेखर' एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ४९।

१४१. वही, पृष्ठ ५०।

अहंभाव—पहली स्मृति मे वह तीन वर्ष का है, पर उसका विजयी दर्प ऐसा है, जैसा निपोलियन लाख वर्ष तक विजयी रह कर भी नही प्राप्त कर सकता। उसका भाई बीमार है और उसे डाक्टर को बुलाने को कहा गया है। शेखर घर से चला तो आया है, पर उसकी उत्तरदायित्व भावना यही तक है कि उसे कोई महत्त्व का काम दिया जाय। उसे करने के विषय में अपने को बाध्य नही समझता। सडक के किनारे पर के लैटरबक्स ने उसका ध्यान खींच लिया है और वह उस पर चढ़ कर उसे घोडा समझ कर अपने पिता की नकल करता हुआ, उसकी 'गरदन' थपथपा रहा है। उधर से आने-जाने वाले राहियो को मुँह चिढ़ाता है। "वह ससार से एक लैटरबक्स की ऊँचाई भर ऊँचा है। अपने इस आसन से वह सारा संसार देखता है। उसकी क्षुद्रता पर हँसता है।" तभी डाकिया आकर उसे जबर्दस्ती उतार देता है पर शेखर अपना बदला ले लेता है—उतरते समय डाकिए की उँगलियो पर गिर कर उन्हें कुचल देता है और भाग निकलता है तथा इस प्रकार अपने को विश्वास दिला लेता है कि वह विजयी है। घर पहुँच कर सहसा पिता की हथेली का आघात ही याद दिलाता है कि वह पराधीन शिशु है, जिसे डाक्टर को बुलाने भेजा गया था और जो उसे बिना बुलाए, एक घंटा लगाकर लौट आया है।[१४२]

भय-प्रवृत्ति—दूसरी स्मृति उस समय की है जबकि वह अकेला अजायबघर में घूम रहा था था—उस कमरे में जहाँ हिंस्र पशु दिखाये गये है। एकाएक एक भीमकाय बाघ को देखकर, जो एक पंजा झपटने को उठा रहा है, वह चीख मारकर वहाँ से भाग निकला है। वह बाघ एक चर्म के अन्दर भरा हुआ फूँस है, पर शेखर वहाँ अकेला है, कोई भी उसे बताकर उसका डर दूर करने वाला नहीं। वह डर उस समय तो दब गया पर उसके मन में घर कर गया। उस दिन के बाद उसे भयकर स्वप्न आने लगे, रात को वह चीख-चीख उठता। उसका वह डर अपने आप ही मिटा। एक बार वैसा ही बाघ उसके घर लाकर रखा गया। बहुत मुश्किल से वह अपने भाइयो की देखा-देखी उसके पास भी गया, उसकी पीठ पर भी बैठा और उसे निर्जीव पाकर साहस करके उसके मुँह में हाथ डालकर भी देखा। तब डर एकाएक टूट गया। उसने चाकू लेकर उस खाल को फाड़ डाला और घास-फूँस को बिखेर कर हँसने लगा जिसके लिए उसे दण्ड भी मिला। उस पर इसका एक गहरा प्रभाव पड़ा। उसने समझ लिया कि भय डरने से होता है। संसार की सब भयानक वस्तुएँ है—केवल घास-फूँस भरा एक चाम, जिससे डरना मूर्खता है।[१४३]

सेक्स-प्रवृत्ति—तीसरी स्मृति बडी भद्दी और बीभत्स है। उसका ठीक-ठीक रूप और मूल कारण उसे याद नही। शिशु शेखर कोई दृश्य देख रहा है—याद नही

१४२. वही, पृष्ठ ५०-५१।

१४३. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ५२-५३।

कि क्या; किन्तु इतना याद है कि उसमें कुछ अनुचित, कुछ वर्जित, कुछ घृणास्पद, कुछ जुगुप्साजनक है, और इसी के अनुकूल भावना उसे देखकर उसके मन मे आ रही है। वह दृश्य अवर्ण्य है।[१४४]

पुरानी स्मृतियों में मूल जीवन-दर्शन का स्वरूप

शेखर की इन सबसे पुरानी स्मृतियों में एकसूत्रता है। वे तीनो मिलकर किसी बात को दिखाती है और वह है—जीवन के प्रति बन रहा उसका दृष्टिकोण। वह अपने को ससार के समकक्ष नही, सदा उससे ऊँचा समझता रहेगा और उसकी क्षुद्रता पर हँसता रहेगा। उसका वह उच्चासन चाहे 'लेटर-बक्स' पर घोडे की पीठ के आरोप से बनाया गया हो और एक दम कल्पित हो—उसकी ऊँचाई लेटरबक्स की ऊँचाई भर हो। अपने को इस स्थिति में मान लेने से उसे चाहे और कोई लाभ न हो, उसके अहं को तोष मिलता रहेगा। दूसरी घटना उसकी निडरता की ओर सकेत करती है कि वह जब भी कभी कोई भयानक वस्तु देखेगा, उससे डरेगा नही, उसका बाह्य चाम काट डालेगा, उसके भीतर भरी हुई घास-फूँस निकाल कर बिखरा देगा और खूब हँसेगा।[१४५] तीसरी घटना यह बताती है कि वह वासना से उत्पन्न पाप-कर्म के किनारे तक पहुँच कर लौट आएगा, किसी बाह्य रुकावट, डर या असामर्थ्य के कारण नही, बल्कि एक आन्तरिक, स्वत. उत्पन्न ग्लानि से भर कर।

शेखर द्वारा अपनाया गया यह दृष्टिकोण समाज-सम्मत नही, उसके विधि-निषेधों के विपरीत है, पर इससे उसे खेद नही, प्रसन्नता ही होती है। क्योंकि उसका विश्वास है कि 'जो नियमो से नही चलते, किन्तु नियमो की मूल प्रेरणा को समझकर अपना नियम स्वयं बनाते है, जीवन तो उन्ही का है'।[१४६] शेखर के जीवन-व्यापी विद्रोह का प्रेरक भाव भी तो यही है कि वह दूसरों के बनाए हुए नियमों से नहीं चलेगा, उनकी मूल प्रेरणा को समझकर अपना नियम स्वयं बनाएगा।

प्रत्यवलोकन-विश्लेषण

अतीत के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या करने के लिए व्यक्ति के प्रकट प्रतिन्यासों के कारणों को उसके बाल्यकाल के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में खोजना होता है और उसके लिए आवश्यकता पडती है अतीत की घटनाओं की, जिनकी आवृत्ति स्मृति में ही की जा सकती है। पर पुरानी स्मृतियों द्वारा अभिव्यक्त दृष्टिकोण को वर्तमान प्रतिन्यास का कारण मान बैठना भ्रामक होगा। ये स्मृतियाँ तो सकेत-मात्र होती है और यह बताती हैं कि उस व्यक्ति का रुझान जीवन के किसी

१४४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० ५२-५३।
१४५. वही, पृष्ठ ५२।
१४६. वही, पृष्ठ ५३।

विशेष पक्ष की ओर उत्तरोत्तर कैसे बढता गया है। पर यदि व्याख्याकार इस विषय में विशेषज्ञ हो तो वह स्मृतियो द्वारा दिए गए सकेतों का अर्थ समझ सकता है।[१४७] शेखर का इस विषय में काफी अभ्यास दिखाई देता है—लेखक के दस वर्ष के परिश्रम का फल शेखर को मिल गया प्रतीत होता है।[१४८] अतीत की स्मृतियो के विश्लेषण द्वारा वह अपनी वर्तमान स्थिति के कारणो को अतीत की घटनाओं में ही ढूँढने का प्रयत्न करता है।

अहं की पुष्टि

शेखर को फाँसी मिलने वाली है, इसकी उसे चिंता नही; बल्कि वह प्रसन्न है कि वह एक भीमकाय डर—शासन के डर का—भीतरी खोखलापन दिखा सकने में सफल हुआ है। वह हँसता है कि उसने संसार के सबसे बडे डर पर आघात किया है, उस पर विजय पाई। अपनी इस मनोस्थिति की व्याख्या शेखर अपने बाल्यकाल की उस घटना के विश्लेषण द्वारा करता है जबकि उसने पहली बार जाना था कि जिस बाघ से वह डर कर भागा था, वह निर्जीव चाम है और तब वह उसके भीतर का घास-फूँस बिखेर कर हँस दिया था। उस चाम को फाड देने पर उसे दण्ड तो मिला था, पर उस घटना से उसे विश्वास हो गया था कि संसार की सब भयानक वस्तुएँ केवल घास से भरा हुआ निर्जीव चाम है, जिससे डरना मूर्खता है। भयानक वस्तुओं के प्रति शेखर के इसी दृष्टिकोण ने उसे उद्धत बना दिया था। विध्वसक और हिंस्र बनने की प्रेरणा भी उसे इसी भाव से मिली थी।

व्यक्ति के बाल्यकाल की माँ—सम्बन्धी स्मृतियों से अनेक तथ्य प्रकाश में आते है। उसकी माँ का उन स्मृतियों में क्या स्थान रहता है, उनमें वह किस रूप में प्रकट होती है, उस समय उसके प्रति पात्र का क्या भाव रहता है—इन सबसे उसकी वर्तमान की उलझनो पर प्रकाश पडता है। शेखर की बाल्यकाल की स्मृतियो में उसकी माँ का विशिष्ट स्थान है। वह बार-बार उसके स्मृति-पट पर उभर आती है, पर उसका मातृत्व रूप कभी भी शेखर की स्मृति में नही आया। शेखर के प्रति उसकी माँ के अविश्वास प्रकट करने वाली घटना को वह भूल नहीं पाता। इक्के-दुक्के उल्लेख के अतिरिक्त दो बार तो वह घटना और उसके प्रति शेखर की प्रतिक्रिया ब्योरेवार उसकी स्मृति में आई है।[१४९] तभी उसमें अपने-आप एक परिवर्तन आया और वह सोचने लगा—"मै क्यो हार मानूँ? कोई नही विश्वास करता, न

१४७. Adler, 'Early Recollections', p. 284 :

"To estimate its meaning we have to relate the early pattern of perception to all we can discover of the individual's present attitude, until we find how the one clearly mirrors the other."

१४८. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, भूमिका, पृष्ठ ५।

१४९. वही, पृ० २५-२६ तथा १८४-१८७।

करे। मै योग्य हूँ। योग्य बनूँगा, रहूँगा। इस चोट को चुपचाप सहूँगा, इस अपमान को पिऊँगा और दीखने नही दूँगा। और सारे ससार का आदर और विश्वास पाकर उसे माँ के मुँह पर पटक दूँगा और कहूँगा, 'यह देख! मै इसे ठुकराता हूँ'।"[१५०] इस प्रकार, अपनी विकासोन्मुख आत्मा में एक और आग छिपा कर शेखर एक अशांत विद्रोही के रूप में पलने लगा।[१५१]

जीवन के प्रति आक्रोश

दूसरी प्रकार की घटनाएँ, जिनकी स्मृति शेखर को सबसे अधिक है, घर, स्कूल, कालेज और समाज की वे स्थितियाँ हैं, जिनमें उसे शारीरिक या किसी अन्य प्रकार का दण्ड मिला हो। वास्तव में उसकी स्मृतियों में प्रधानता है ही इसी प्रकार की घटनाओं की। शेखर का ध्यान, स्मृति तक में भी, कभी इस ओर जाता ही नही कि उसके उद्धत व्यवहार के कारण, उसके उन्मुक्त विकास से उसके माता-पिता, अध्यापक-अध्यापिकाओ, कालेज जीवन के साथियों तथा उसके सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगो को कितना कष्ट व असुविधा हुई होगी। उसे तो केवल यह याद है कि कब, कहाँ और किसने उसे वेदना पहुँचाई थी। अपने प्रति दूसरो के अपराधो को बढ़ा-चढा कर दिखाने की शेखर की इस प्रवृत्ति से यह पता चलता है कि जीवन के 'हॉस्टाइल' पक्ष की ओर ही उसका अधिक रुझान है। इसीलिए उसकी कहानी उस की वेदना का एक अभिन्नतम निजी दस्तावेज 'ए रेकार्ड ऑव पर्सनल सफरिंग'[१५२] बन गई है। बाल्यकाल से ही उसके मन में यह बात घर किए हुए थी कि वह उपेक्षित है, उसका कोई आवरण, कोई कवच, कोई बचाव नही और वह अपने चारो ओर के जीवन के लिए नगा हो गया है, प्रत्येक चोट, प्रत्येक झोंका, प्रत्येक आघात के लिए प्राप्य।[१५३] वह समझता है : मै घृणा के ससार से इतना कुचला गया हूँ, पीडा से इतना घिरा हुआ हूँ कि आनन्द मेरा अपरिचित हो गया है।[१५४]

पिता के साथ हुई अन्तिम भेंट को छोडकर उसकी स्मृति में उसका पिता सदा दंडनायक के रूप में ही आया है। डाक्टर को बुला लाने की अपेक्षा रास्ते में लैटरबक्स के साथ खेलते रहने के कारण पिता की हथेली का आघात सहने,[१५५] अपने एक अध्यापक को 'थुक्कु मास्टर'[१५६] और दूसरे को 'ऐस'[१५७] कहने पर पडी

१५०. अज्ञेय, शेखर : एक जीवनी', पृष्ठ १८७।
१५१. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृ३१८७।
१५२. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ८।
१५३. वही, पृ० १३२।
१५४. वही, पृष्ठ १३१-१३२।
१५५. वही, पृष्ठ ५१।
१५६. वही, पृ० ५६।
१५७. वही, पृष्ठ ७७।

मार, सारनाथ के अजायबघर मे अकेला घुस जाने पर पिता की डॉट-डपट,[१५८] ईश्वर में अनास्था प्रकट करने पर बेत से सबके सामने पिटाई,[१५९] चपड़ासी से छूटने के प्रयत्न में बाँह झटक कर उसकी नाक फोड डालने के अपराध में पिता की छडी का छ. बार उठना और गिरना और छ. बार ही उसके शरीर में एक रोमाच-सा हो आना, पर उसका न हिलना[१६०] आदि उसकी अनेक स्मृतियों का सम्बन्ध पिता से खाई मार से है। धीरे-धीरे तो शेखर को इतनी आदत पड गई थी कि शरारत करने के बाद वह *बड़ी तन्मयता से पिता के थप्पड़ की प्रतीक्षा किया करता था।*[१६१]

अपनी माँ के भी उग्ररूप की ही उसे याद है। पिटता शेखर पिता से ही अधिक था, पर पिता से पिट कर भी उसके प्रति बुरी भावना उसके हृदय में नही आती थी। माँ पीटती चाहे कम है पर उसके व्यवहार के लिए वह उसे कभी क्षमा नही कर पाया था। घर के सब विदेशी कपडे जला देने पर माँ द्वारा उसके गाल भी विदेशी कर दिये जाना[१६२] और अपने भाई चन्द्र को पेंसिल न देने के अपराध में *माँ द्वारा पहले उसके मुँह पर तड़ातड दो-चार थप्पड़ की मार और फिर उसका* हाथ मेज पर रख कर पहले घूँसे से और फिर पट्टी से मारने लगना और अन्त में शेखर का यह उत्तर—'नही दूंगा, कह दिया नही दूँगा चाहे जान से मार डालो'[१६३] आदि घटनाओं की उसकी स्मृति फीकी नही पड़ती।

स्कूल और कालेज के जीवन की भी उसे बहुधा वे घटनाएँ ही याद हैं, जिन में उसके साथ ज्यादती हुई थी—कान्वेंट में सिस्टर का उस पर आरोप 'तुमने बहुत शरारत की है'[१६४] स्कूल में उसकी मानिटरी का छिन जाना और सारी क्लास के सामने मास्टर का उसे 'मुर्गा' बनाना।[१६५] कालेज में कुमार का उसे धोखा देना,[१६६] उसे ब्राह्मणो के होस्टल से निकलवाने के लिए लड़को की साजिश।[१६७]

इनके अतिरिक्त शेखर को वे सब घटनाएँ और उनसे सम्बन्धित लोग याद हैं, जिनमें वह सकारण या अकारण सताया गया है। जेल से लौटने पर प्रकाशकों के उस पर किए गए अत्याचार, ला० अमोलक राय का उसके विरुद्ध षड्यन्त्र,[१६८]

१५८. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० ७२।
१५९. वही, पृष्ठ ९३।
१६०. वही, पृष्ठ ११६।
१६१. वही, पृ० ११०।
१६२. वही, पृष्ठ ११८।
१६३. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४२।
१६४. वही, पृष्ठ ५४।
१६५. वही, पृष्ठ ९६।
१६६. वही, पृष्ठ २१३।
१६७. वही, पृष्ठ २१४।
१६८. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ १५०-१५४।

शशि के पति रामेश्वर द्वारा लगाया गया उस पर मिथ्या आरोप[१६९] आदि दूसरो द्वारा उस पर किए गए किसी भी अत्याचार को वह भूल नही पाया।

विद्रोह-भावना

इस प्रकार के कटु अनुभवो और उनके प्रति अपनी विशेष रुझान के कारण उसे बाल्यकाल में ही यह विश्वास हो गया था कि इस संसार में 'अन्याय ही अन्याय है और यह अन्याय विशेषकर उस पर किया जाने के लिए है'।[१७०] इससे उसकी असहिष्णुता बढने लगी और वह संसार के उस अन्याय के विरुद्ध जलने लगा। जीवन भर वह यह महसूस करता रहा कि—'उसके चारो ओर दु:ख है, दारिद्र्य है, पीडा-रोग, मृत्यु सब कुछ है। देश-विदेश के धर्म के ठेकेदारों ने अपनी कुल आविष्कार-शक्ति को खर्च करके नरक में जिन बुरी से बुरी और भयंकर से भयकर यातनाओं का सृजन किया है, वे सभी ससार मे, उसके ससार में, मौजूद है'।[१७१] पर उसका निश्चय था कि वह उन्हें स्वीकार नही करेगा, उनके विरुद्ध विद्रोह करेगा, उनसे लडेगा। प्रत्येक प्रकार के अन्याय के विरुद्ध विद्रोह के भाव ने उसमें न मिटने वाली एक बौद्धिक घृणा भर दी थी जो उसके भीतर क्रान्तिकारी तत्त्वों को वेग से विकसित कर सकी थी।

'सैक्स' प्रवृत्ति : विद्रोह पर अंकुश

शेखर की स्मृति में कुछ व्यक्ति और स्थितिया ऐसी भी उभरती हैं—और बार-बार उभरती है—जिनसे उसका रागात्मक सम्बन्ध रहा, जिनसे उसे चोट नही पहुँची प्रत्युत् प्रोत्साहन ही मिलता रहा। इसमें सन्देह नही कि शेखर को बनाने में उन लोगों का हाथ रहा जिनसे उसे घोर घृणा थी, पर शेखर को शेखर बनाने में इन व्यक्तियों और स्थितियो का भी कम महत्त्व नही रहा, क्योंकि उनमें लीन होकर शेखर अपना दुःख भूल सका।

शेखर को टूटने से बचाने वालों में शीर्ष स्थान रहा उसकी मौसेरी बहन शशि का, उसके बाद शारदा का, पर इन दोनो के लिए उसे बचाए रखने का श्रेय उसकी सगी बहन सरस्वती को ही है। सरस्वती के अभाव में वह कभी का मर गया होता।[१७२] शीला, प्रतिभा लाल, शान्ति आदि का स्थान इनके बाद है। इन व्यक्तियों की स्मृतियो के विश्लेषण द्वारा शेखर यह दिखा देता है जिस प्रकार घृणा ने उसे इतनी शक्ति दी कि वह सब कुछ को खोकर भी संसार को ललकार सके; उसी

---

१६९. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १७८।
१७०. वही, पहला भाग, पृ० १५३।
१७१. वही, पृष्ठ ७४।
१७२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १३०।

प्रकार इन व्यक्तियों के प्रति उसकी वासना ने उसे जगाया और सामर्थ बनाया कि वह उस चोट का सामना करे, जो उसके हृदय को लगी है।[१७३]

शेखर की स्मृति में शशि, उसके अपने शब्दों में, जीवन भर वह सान रही, जिस पर शेखर का जीवन बार-बार चढ़ाया जाकर तेज होता रहा। शेखर ने महसूस किया कि तृप्ति आदर्श से नहीं, आदर्श के प्रतीक से मिलती है, तो शशि उसके आदर्श का प्रतीक बनी[१७४] और उसे बनाने के प्रयत्न में स्वय सहर्ष टूट गई। इसी प्रकार, जब से शेखर ने शीला को पढ़ाना छोड़ा उसकी 'उलहना भरी छाया' उसके साथ रहने लगी। शेखर अब तक उससे बचता आया है, पर अपने अन्तिम समय में वह उसकी श्रद्धा को कृतज्ञता से स्वीकार कर लेता है और लज्जा भुला कर मान लेता है कि झूठ बोल कर शेखर ने अपने को शीला से नहीं, अपने से छिपाया था।[१७५] शीला से भागते फिरने का कारण शायद यही था—जब प्रेम मर जाता है तब वासना उसके शव को उठाये-उठाये फिरती है और उससे अपने को धोखे में छिपाना चाहती है और यह भी कि वासना नश्वर है, मुरझा जाती है, तब प्रेम-तन्तु ही जीवन की स्थिरता बनाए रखता है।[१७६]

शेखर की सगी बहन एक दिन उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' बन गई'।[१७७] जब वह मानव-अन्याय के अथाह सागर में गोते खा रहा था तब उसे उबारने वाला उसके प्रति सरस्वती का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही था। जब वह दुनिया भर की उपेक्षा की अग्नि में जल रहा था, तब उसे झुलसने से बचाने वाला कवच बनी उसकी बहन, सरस्वती।

स्रोतस्विनी-सी शारदा ने आकर शेखर के जलते हुए मरुस्थलीय हृदय को शीतलता और सरसता प्रदान की। शेखर अपने घर का कुचलने वाला वातावरण शारदा की पहली चितवन में ही भूल गया। शेखर के से मदमस्त हाथी पर शारदा ने अंकुश का काम किया—नहीं तो क्या शेखर उसके इन शब्दों के लिए उसे कभी क्षमा कर सकता 'सच ए सिली वाय लाइक यू'।[१७८] वह हर बात में उसे 'सिली' कहती रही,[१७९] और उसका ऐसा कहना शेखर को अखरा तक नहीं। धीरे-धीरे शेखर महसूस करने लगा कि उसका अभिन्न सम्बन्ध शारदा से और शारदा के विचार से है।[१८०] उन दिनों जिस मरुभूमि में से वह गुजर रहा था, उसमें शारदा ही एक

---

१७३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १८७।

१७४. वही, दूसरा भाग, पृष्ठ १२३-१२४।

१७५. वही, पहला भाग, पृष्ठ ३४।

१७६. वही, पहला भाग, पृष्ठ ३४।

१७७. अज्ञेय, 'शेखरः एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ ८०।

१७८. वही, पृष्ठ १६७।

१७९. वही, पृष्ठ १७२।

१८०. वही, पृष्ठ १७६।

मात्र शाद्वल (ओएसिस) थी। शारदा ने यद्यपि अन्ततः शेखर को ठुकरा दिया था, तो भी वह उसे न ठुकरा सका। शुभ्र-वसना देवी के रूप मे वह उसके स्वप्नों मे समाई रही।[१८१]

शशि, शारदा, सरस्वती, शीला आदि नारियाँ यदि शेखर के जीवन में न आती, तो वह उस यातना भरे जीवन से न उबर पाता। उसने कभी का आत्मघात कर लिया होता, इस ओर वह कई बार प्रवृत्त हुआ भी, पर बच जाता रहा। जीवन के प्रति बाल्यकाल से ही उसने जो दृष्टिकोण अपनाया था उससे उत्पन्न घोर घृणा का विष उसे ही भस्म कर डालता या पागल करके अपना दास बना लेता।[१८२] शेखर की घृणा की भावना में यदि सात्विकता आ पाई तो इन्ही नारियो के कारण, जिनमें अपने अन्तर की पीड़ा को सदा के लिए नही तो कुछ समय के लिए ही सही, खो सका। इन नारियो के संसर्ग से केवल उसकी वासना को ही प्रश्रय नही मिला, उसकी अंतर्वेदना भी उनमें कुछ समय के लिए सो सकी और वह टूटने से बचता रहा।

शेखर का निष्कर्ष

इस प्रकार अपने अतीत की यातनापूर्ण और रागात्मक घटनाओ की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा शेखर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यातनापूर्ण घटनाओ ने उसे बौद्धिक सात्त्विक घृणा की क्षमता दी, उसमें अन्याय के विरुद्ध विद्रोह की आग भर दी[१८३], और रागात्मक घटनाओ से उसे व्यापक प्रेम की सामर्थ्य मिली और इन दोनों के योग से ही वह बन पाया—शेखर, घोर क्रान्तिकारी शेखर !

शेखर द्वारा की गई अपने जीवन की विभिन्न परिस्थितियो की विश्लेषणात्मक व्याख्याएँ हमें शेखर को समझने में सहायक सिद्ध होती है, क्योंकि इन व्याख्याओं में शेखर का जीवन-दर्शन प्रतिबिम्बित हो उठता है।

'नदी के द्वीप' की टेकनिक

'नदी के द्वीप' की चरित्रचित्रण सम्बन्धी समस्या 'शेखर : एक जीवनी' की समस्या से भिन्न है। 'शेखर : एक जीवनी' की समस्या यह है कि उसका नायक जैसा है, वैसा वह हुआ क्यों ? और इसके समाधान के लिए जरूरत पड़ी, उसको वर्तमान अवस्था के कारणो को उसके अतीत में खोजने की। इससे, शेखर की चरित्रचित्रण की शैली का रूप बना—अतीत के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या और, इस प्रकार, चरित्र के क्रमिक विकास का चित्रण। 'नदी के द्वीप' में पात्र जैसे है, वे वैसे के वैसे ही, उनके वर्तमान रूप के कारणों के प्रति जिज्ञासा भाव के बिना, ले लिए गए हैं।

---

१८१. वही, दूसरा भाग, पृ० २५।
१८२. वही, पहला भाग, पृष्ठ ३०।
१८३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग पृष्ठ ३०।

यहाँ लेखक का लक्ष्य उन पात्रो को उनकी वर्तमान स्थिति में पहुँचाने वाले अतीत के गर्भ में छिपे कारणों की खोज नही, उनके विकास की वर्तमान अवस्था का उद्घाटन है। इस प्रकार, 'नदी के द्वीप' चरित्र के क्रमिक विकास का उपन्यास न होकर विकसित चरित्र के उद्घाटन का उपन्यास हो गया है। 'शेखर' मे उसके नायक की वर्तमान विकासावस्था का इतना ही महत्त्व है कि उसको समझने के बहाने लेखक उसके अतीत का विश्लेषण कर सका है, पर 'नदी के द्वीप' में वर्तमान ही सब कुछ है।

'शेखर : एक जीवनी' की टेकनिक की सीमा

'शेखर : एक जीवनी' का चित्र-पट अत्यन्त विशाल है और स्पष्ट भी; पर उसमें कठिनाई एक यही है कि शेखर के सिवाय और सब की दृष्टि से वह पट ओझल है। कोई सीधे अपनी नजर से उसे देख नही सकता। जिसने भी उस पट पर उभरते हुए चित्र देखने हों, उसे कथानायक शेखर की दृष्टि से ही उन्हे देखना होगा या शेखर द्वारा दी गई उन चित्रो की रिपोर्ट पर विश्वास करना होगा। शेखर के ३०-३२ वर्ष के लम्बे अतीत की लगभग सभी प्रमुख घटनाओं का विश्लेषण उपन्यास में हुआ, पर वह समस्त विश्लेषण हुआ है—एक व्यक्ति शेखर के दृष्टिकोण से ही। शेखर के अतीत की स्मृतियों के आधार पर किसी स्वतन्त्र निर्णय पर पहुँचना बडा कठिन है; क्योंकि उसके अतीत की जो सामग्री उपलब्ध है, वह अपने यथातथ्य रूप में न होकर शेखर के अपने दृष्टिकोण के रंग में रंगी हुई है और पाठक को बहुधा ऐसा प्रतीत होने लगता है कि शेखर उस पर अपने दृष्टिकोण को लादकर उसे स्वतन्त्र रूप में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने नही देता। पर वह करे क्या ? शेखर के अतीत को जानने का उसके पास और कोई साधन है ही नही। यह शेखर की शैली की—अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या—की सीमा है।

'नदी के द्वीप' की टेकनिक की विशेषता

'नदी के द्वीप' का चित्रपट इतना विस्तृत तो नहीं जितना 'शेखर : एक जीवनी' का, पर उसमें शेखर के सीमित दृष्टिकोण वाली बात नही। इसमें पात्रों का चरित्रोद्घाटन एक ही पात्र के चेतना-मार्ग से, उसके सीमित दृष्टिकोण से नही हुआ। इस में चार पात्र है—भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमाधव। चारों के दृष्टिकोण अलग-अलग है। चारों ही स्वतन्त्र रूप से अपना उद्घाटन और दूसरों का अध्ययन करते है। इसमें ११ परिच्छेद हैं और कुछ अन्तर डालकर प्रत्येक पात्र के नाम पर दो-दो परिच्छेद हैं, जिनमें उसके अपने दृष्टिकोण से ही कथा प्रवाहित हुई है। तीन-चार परिच्छेदों के बाद दो अंतराल है, जिनमें चारो पात्रों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार के आधार पर उनके विभिन्न दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन उपलब्ध है। शेखर में लेखक के लाख तटस्थ रहने पर भी नायक का निजी दृष्टिकोण (सब्जेक्टिव व्यू) ही अधिक

मिलता है, क्योंकि लेखक जिसे तटस्थ चित्रण (ग्राब्जैक्टिव व्यू) कहता है, उस पर भी शेखर का चश्मा लगा है। 'नदी के द्वीप' की टेकनिक में यह विशेषता है कि इस से प्रत्येक पात्र का 'सब्जैक्टिव' उद्घाटन तो हो ही जाता है, साथ ही उसके प्रति अन्य तीन पात्रों के अलग-अलग दृष्टिकोण व्यक्त हो जाते है। 'नदी के द्वीप' चार संवेदनाओं का अध्ययन है—'सब्जैक्टिव' तथा 'ग्राब्जैक्टिव' दोनों ही प्रकार से।

प्रत्यवलोकन प्रणाली

प्रत्यवलोकन की प्रणाली का प्रयोग 'नदी के द्वीप' में भी हुआ है, पर एक सीमा तक ही। उपन्यास का आरम्भ उनके नायक भुवन के रेखा के साथ लखनऊ में बिताए गत सप्ताह की घटनाओं की स्मृतियों से होता है। जो घटनाएँ उसके स्मृति पट पर एक-एक करके उभर कर उसे अपने में उलझा रही है, वे सप्ताह-भर से अधिक पुरानी नहीं।

दूसरा प्रत्यवलोकन रेखा का मिलता है। भुवन के हेमन्त-सम्बन्धी बात छेड़ने तथा उनके विवाह-विच्छेद के कारणों को जानने की उसकी उत्सुकता को वह यथा-शक्ति टालती रही थी, पर 'जतर-मतर' के ऊपर चढ़कर जब उसे अचानक याद आया कि उसका पति हेमेन्द्र वहाँ अपने 'एक युवा बन्धु को लेकर आया था' और 'तारे को देखकर दोनों ने वफा की कसमें खाई थीं'।[१८४] तभी उसे सम्बन्ध-विच्छेद वाली घटना याद आ गई और वह उसे भुवन को सुनाने के लिए अधीर हो उठी। यद्यपि भुवन ने उसे सुनने से इन्कार कर दिया तो भी रेखा के स्मृति-पट वह घटना स्पष्ट उभर आई और वह अपने जीवन के उन दुःखद क्षणों को दुबारा जीने लग गई।[१८५] रेखा और हेमेन्द्र को एक-दूसरे से अलग हुए ६-७ वर्ष[१८६] से अधिक नहीं हुए थे, इसलिए वह घटना भी ६-७ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं।

तीसरा प्रत्यवलोकन फिर भुवन का है। जब वह मोटर में बैठकर श्रीनगर से पहलगाँव जा रहा था और रेखा उससे पिछली सीट पर बैठी हुई थी, तभी ज्यों-ज्यों बस आगे जाती थी, त्यों-त्यों भुवन का मन अधिकाधिक तीखे झटकों के साथ पीछे जाता था और धीरे-धीरे रेखा की कापी में पढ़े हुए वाक्य स्पष्ट होकर उसकी आँखों के आगे दौड़ने लगे थे—एक के बाद एक पंक्ति, जैसे सिनेमा की पंक्तियां मानो बेलन पर चढ़ी हुई घूमती जाती हैं और एक-एक पंक्ति आलोकित होती जाती है।[१८७]

---

१८४ अज्ञेय, नदी के द्वीप', पृष्ठ १४४।
१८५ वही, पृष्ठ १४५।
१८६. वही पृष्ठ २६।
१८७. वही, पृ० १८८।

पात्रों की संवेदनाओं की अभिव्यक्ति

भुवन और रेखा के ये प्रत्यवलोकन सोद्देश्य नहीं। शेखर की भाँति ये पात्र प्रत्यवलोकन द्वारा अपने जीवन की सिद्धि नही जानना चाहते और न ही अपने अतीत में से कार्य-कारण-परम्परा के उलझे सूत्र सुलझाना चाहते हैं। इसलिए अतीत की जो घटनाएँ उनके स्मृति-पट पर नाच उठती है, वे उनकी चीर-फाड़ आरम्भ नही करते। यद्यपि इनका प्रत्यवलोकन सोद्देश्य नही और उनकी स्मृतियाँ भी कोई बहुत पुरानी घटनाओं की नही, तो भी जिस रूप में घटनाएँ उनकी स्मृति में आई है, उससे उन की तत्कालीन मनःस्थिति और उन मूल घटनाओं के प्रति पात्रो की संवेदनाओ का पता चल जाता है। यद्यपि फ्रॉयड बाल्यकाल की स्मृतियों के महत्त्व पर ही बल देता है, एडलर बाल्यकाल की पुरानी स्मृतियों या प्रौढ़ावस्था की नई स्मृतियो में कोई अतर नहीं समझता[१८८], इस दृष्टि से कि स्मृतियाँ, नई हों या पुरानी जीवन के प्रति व्यक्ति के मूल प्रतिन्यास को ही अभिव्यक्त करती हैं, जो वर्षों भर वैसे का वैसा बना रहता है[१८९], यद्यपि पुरानी घटनाओ से जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को ढूँढ़ सकना आसान होता है।

भुवन-रेखा

रेखा ने जो भुवन की कुहनी पकड़कर उसे ठेलते हुए कहा—'अच्छा, जल्दी से सवार हो जाइये, आपकी गाडी जा रही है।' उसके स्पर्श ने भुवन की नस-नस में उत्तेजना भर दी—"उसने सहसा जाना कि वह भीतर कही विचलित है, और उसकी कुहनी चुनचुना रही है और उसका हाथ उसका अपना अवयव नही है और सब पर्याय विपर्य है।"[१९०] किसी नारी का स्पर्श, वह नारी चाहे प्रेयसी ही हो, इतनी उत्तेजना भर देगा असाधारण-सा प्रतीत होता है, पर भुवन को जो इतनी तीव्र संवेदना हुई, उसका कारण था वह अर्थ जो भुवन ने रेखा के उसकी कुहनी पकड़कर ठेलने का लगाया था। गाड़ी पर बैठे हुए भी वह अपनी कुहनी पर रेखा के स्पर्श का दबाव अनुभव कर रहा था और उसे ऐसा प्रतीत होता था कि 'वह दबाव ढकेलने का नहीं, खींचने का है।'[१९१] उसका यह अर्थ लगाना ही उसकी संवेदना को तीव्र-से-तीव्रतर कर रहा था और साथ ही उसके अपने भीतर के भाव को उद्घाटित करता है कि

---

१८८. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Alfied Adler,' p. 191 (Comments).

१८९. Adler, 'Science of Living', p. 118 :
"We should not distinguish too sharply between old and new remembrances, for in new remembrances also the action line is involved."

१९०. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ४० ।

१९१. वही, पृष्ठ ८ ।

अन्दर-ही-अन्दर वह रेखा की ओर पूरी तरह खिंच गया था। संवेदना की तीव्रता ने ही गत सप्ताह की घटनाओं को उसके स्मृति-पट पर ला दिया था।

प्रथम भेंट के समय ही पारस्परिक बातचीत के बीच अपने किसी प्वाइण्ट के समर्थन में भुवन का, अंग्रेजी की इस कविता का उद्धरण देते समय, 'तनिक-सा रुकना' (द पेन-आव लविंग यू इज मोर दैन आई कैन बेअर) और फिर उससे पहले का शब्द 'डीयरेस्ट' खा जाना।[१९२] काफी हाऊस में रेखा के इन शब्दों पर उसका चौंक उठना 'पर आप तो यों ही इतने तटस्थ जान पड़ते हैं कि (काफी हाऊस की) दो मिनट की तटस्थता का आपके लिए क्या आकर्षण होगा[१९३]—और फिर सँभलकर उत्तर देना--'मैं तो आता हूँ कि थोड़ी देर के लिए जीवन के भरपूर प्रवाह में अपने को डाल सकूँ—मुझे तो हमेशा यह डर रहता है कि कहीं तटस्थता के नाम पर मैं उनसे बिलकुल दूर न जा पहुँचूँ",[१९४] रेखा के बारे में उसकी चन्द्रमाधव से पूछताछ, नदी के किनारे भुवन के आग्रह पर रेखा का एक बँगला गीत सुनाना, भुवन द्वारा अपने बारे में रेखा के ये शब्द सुन लेना : अकेले हैं तभी लीक पकड़ कर चलते हैं[१९५], फिर प्रतापगढ़ तक दोनों के इकट्ठे सफर का वर्णन आदि सप्ताह भर की घटनाएँ, जो भुवन की स्मृति में आई, उनका चुनाव ही रेखा के प्रति भुवन के आंतरिक प्रतिन्यास का उद्घाटन कर देता है कि भुवन रेखा के व्यक्तित्व से उलझ गया है।"[१९६]

प्रथम भेंट की स्मृति—भुवन को रेखा की सबसे पहली स्मृति[१९७] उसके उस रूप की है, जबकि वह लखनऊ वाली पार्टी के दौरान में 'कमरे की एक ओर शून्य के एक छोटे से वृक्ष के बीचों-बीच कुर्सी पर बैठी थी, अतः उसका माथा और आँखें अँधेरे में थीं, बाकी चेहरे पर आड़ा प्रकाश पड़ रहा था, जिससे नाक, ओठ और ठोडी की आकार रेखा-सुनहली होकर उभर आईं थी।[१९८] रेखा की इस स्वर्णिम निश्चलता पर भुवन का कौतूहल आकर टिक गया था। उसने देखा कि रेखा में एक दूरी है, एक अलगाव है कि वह जिस समाज से घिरी है और जिसका केन्द्र है, उससे अछूती भी है। उसे लगा जैसे रेखा के व्यक्तित्व की रहस्यमयता उसे चुनौती दे रही हो। यद्यपि किसी के व्यक्तित्व की चुनौती की प्रतिक्रिया भुवन को प्रायः सर्वदा नकारात्मक ही होती थी, रेखा के व्यक्तित्व की चुनौती को वह टाल न सका था, टालने की बात ही उसके मन में न आई थी।[१९९]

---

१९२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २५।
१९३. वही, पृष्ठ १७।
१९४ वही, पृष्ठ १७।
१९५. वही, पृष्ठ १७।
१९६. वही, पृष्ठ ३२।
१९७. वही, पृष्ठ १४८।
१९८. वही, पृष्ठ ११।
१९९. वही, पृष्ठ १२।

भुवन की रेखा से प्रथम भेंट की स्मृति रेखा के प्रति उसके जिस दृष्टिकोण को व्यक्त करती है वह जब तक कि रेखा कलकत्ते नहीं चली गई, बराबर बना रहा। रेखा के प्रति भुवन की जिस कौतूहल-वृत्ति ने भुवन को रेखा की ओर आकृष्ट किया था, वही कौतूहल वृत्ति उसे रेखा के व्यक्तित्व से अधिकाधिक उलझाती गई थी। रेखा के अत्यधिक निकट आने पर ज्यों ही उसका कौतूहल शांत हुआ, वह उसके प्रति उदासीन होने लग गया।

भुवन की स्मृति में रेखा की डायरी—पहलगांव जाते समय बस में उसकी स्मृति में रेखा की कापी के जो वाक्य उभर आये थे, उनसे भी जहा एक ओर भुवन के प्रति रेखा के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती है ' 'तुम सोओ, अपने स्वप्न के लिए तुम्हे नहीं जगाऊँगी—भुवन, मैं तुम्हारे जीवन में आऊँगी और चली जाऊँगी''' मै जानती हूँ अपने भाग्य की मर्यादाए। पर तुम्हें जो प्रिय है, उन्हें प्यार कर सकू गी—सहज भाव से बिना आयास के। और सोचती हूँ, तुम्हारी करुणा सदैव मुझे शांति दे सकेगी।[२००]दूसरी ओर भुवन की स्मृति में रेखा की कापी के इस प्रकार के ही विशेष स्थलो का आना रेखा के प्रति उसके अपने दृष्टिकोण का भी द्योतक है : 'तुमने पूछा था एक बार, 'कविता लिखती हो ?' हा एक कविता मैने भी लिखी है, पर मेरी कविता उसके शब्द में नहीं है, उसकी भावना में है—तुम पहुँचोगे ? 'शुभाशंस चूमती है भाल तेरा'''स्नेहशिशु उठ जाग।' रेखा के व्यक्तित्व की रहस्यमयता भुवन को अभी चुनौती दे ही रही है। तभी इस लम्बी स्मृति के बाद प्रकृतिस्थ होकर भुवन ने जब पीछे बैठी रेखा की ओर देखा, दोनों की आँखें मिलीं, तो भुवन की आँखों में स्नेहपूर्ण कौतुक था।[२०१] रेखा के प्रति उसकी कौतूहल वृत्ति अभी शांत नहीं हुई और उसे रेखा के व्यक्तित्व से अधिकाधिक उलझा ही रही है।

इस प्रकार प्रत्यवलोकन-शैली का प्रयोग 'नदी के द्वीप' में भी हुआ है पर यहाँ इसका उद्देश्य भुवन और रेखा के जीवन की कार्य-कारण परम्परा के सूत्रो को पकड़ना नहीं, उनकी तत्कालीन मनोदशा, और एक-दूसरे के प्रति उनके प्रतिन्यास का उद्घाटन करना है। इसीलिए, इन पात्रों का प्रत्यवलोकन शेखर के प्रत्यवलोकन से सीमित है और शायद इसीलिए यहाँ यह बोझीला नहीं, प्रशस्त और रुचिकर बना है।

पत्रात्मक शैली

'नदी के द्वीप' में पत्रात्मक शैली का खूब प्रयोग हुआ है। पत्रों द्वारा पात्र आत्म-ज्ञापन तो करते ही है, बीच-बीच में अन्य पात्र या पात्रो पर टीका-टिप्पणी भी करते चलते है। इस प्रकार, उन पत्रों से जहाँ एक ओर पत्र लिखने वाले की तत्कालीन मनःस्थिति का पता चलता है

२००. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १६०।
२०१. वही, पृष्ठ १६१।

वहाँ जिसे पत्र लिखा जा रहा हो, उसके प्रति पत्र-लेखक की भावनाएँ भी व्यक्त हो जाती है। पत्र में जब किसी अन्य पात्र की चर्चा छिड़ती है, तब उसके बारे में पत्र लेखक के रुख का भी पता चल जाता है। 'नदी के द्वीप' में पत्रात्मक शैली की सब से बडी उपयोगिता रही है पात्रों के परस्पर सम्बन्धो तथा एक-दूसरे के प्रति उनकी बदलती संवेदनाओ का प्रकाशन। जब वे एक-दूसरे से दूर जा पडते है, उनमें एक अन्तराल पड जाता है और वे परस्पर मिल नही पाते, उस समय भावनाओ के आदान-प्रदान का एकमात्र माध्यम पत्र ही रह जाते है। वे पत्र ही उन पात्रो की कोमल भावनाओं, तीव्र संवेदनाओं तथा अनुभूतियो के वाहक बनते है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

पत्रों में पात्र जब जाने या अनजाने आत्म-ज्ञापन करने लगते है, तब जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण का तथा उनके जीवन-दर्शन का पता चल जाता है। इस प्रकार उनके जीवन-दर्शन को जान लेने के बाद आत्म-ज्ञापन में निहित उनका उद्देश्य स्पष्ट होने लगता है। गौरा को भुवन और चन्द्रमाधव दोनो ही पत्र लिखते रहते है। इधर-उधर की बातों से निकल कर जब भी दोनो पात्र अपने पत्रो में व्यक्तिगत बातो पर आते है, उनके पत्र में जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण अपने आप झलक पडता है और उन दोनों के दृष्टिकोण की तुलना द्वारा हम उनकी मनोवृत्ति समझ सकते हैं।

चन्द्रमाधव अपने एक पत्र में गौरा को लिखता है: 'हमें जिसको यहाँ जितना थोडा-सा सुख मिलता है, उतना ही हमें आतुर कृतज्ञ हाथो से ले लेना चाहिए—उसी का नाम स्वाधीनता है, बाकी सब संघर्ष है, अन्तहीन आशाहीन संघर्ष'।[२०२] सभी पात्रो से चन्द्रमाधव के सम्बन्ध का उत्तरोत्तर विकास जीवन के प्रति उसके इसी दृष्टिकोण द्वारा प्रेरित होता है। किसी से उसे नैसर्गिक लगाव नही। जिस किसी से भी उसे सुख की आशा होने लगती है, उसी की ओर वह खिच जाता है और उसके अधिकाधिक निकट होने के लिए अधीर हो उठता है। जब तक उसे आशा रही कि वह रेखा को अपने जाल में फँसा सकेगा, तब तक रेखा ही उसकी जीवन-नैया की कर्णधार बनी रही। रेखा के प्रति आत्म-ज्ञापन करते हुए एक बार तो वह अपने पत्र में स्पष्टरूप से प्रणय-निवेदन कर देता है. 'रेखा तुम नही जानती कि मैने कितनी बार तुम्हे बुलाना चाहा है, 'तुम' कह कर ही नही, 'तू' कह कर—कुछ न कहकर केवल आँखो से, मन से, हृदय की धडकन से, अपने समूचे अस्तित्व से। तुम अगर डेस्टिनी को मानती हो तो कहूँ कि जब से तुम्हे देखा है तब से यह जानता रहा हूँ कि डेस्टिनी ने मुझे तुम्हारे साथ बाँधा है, और मै चाहूँ न चाहूँ, इसके सिवाय कोई उपाय नही है कि मै तुम्हारी ओर बढ़ता जाऊँ, तुम दूर जाओ तो तुम्हारे पीछे आऊँ,

२०२ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ८६।

पृथ्वी के परले छोर तक भी'।[२०३] और जब उसने देख लिया कि यह किसी भी उचितानुचित उपाय से रेखा को अपनी ओर खीचने में सफल नही हो सकता, तब रेखा की ओर से निराश होकर वह गौरा की ओर प्रवृत्त हुआ और उसकी ओर जाल फैलाने लगा। प्रेम भरे अपने एक पत्र में वह गौरा को भी लिखता है : 'सैण्टीमैण्टल बातें मुझे कहनी ही नही आती, गौरा जी; सच कहता हूँ कि उस दिन की वह भेंट मेरे लिए एक अकथनीय अनुभव था, और कदाचित् वही से मेरे जीवन में वह परिवर्तन शुरू हुआ जो आज देख रहा हूँ। मैंने कभी कल्पना नही की थी कि आप इस प्रकार मेरी डेस्टिनी बन जाएगी'।[२०४] जब उसे गौरा भी अपने जाल में फँसती हुई न दीखी तब उसने सुख-प्राप्ति के लिए बम्बई की एक प्रसिद्ध अभिनेत्री चन्द्रलेखा से दूसरा विवाह कर लिया।[२०५]

भुवन—विवाह के सम्बन्ध में गौरा को अपनी राय देता हुआ भुवन अपना ही जीवन-दर्शन प्रकट कर देता है : 'तुम्हें जो राह दिखती है, उसी पर चलो, गौरा! धैर्य के साथ, साहस के साथ। और हाँ, जो तुम से सहमत नही हैं, उनके प्रति उदारता के साथ; जो बाधक है, उनके प्रति करुणा के साथ। और राह पर जब ऐसा साथी मिलेगा, जिसका साथ तुम्हे प्रीतिकर, वाछनीय, कल्याणप्रद लगे, तब किसी की बात न सुनना, जान लेना कि अब स्वतन्त्ररूप से जोखम करने का समय आ गया। यही मैं मानता हूँ, स्वयं उस आदर्श को नही पाता, वह दूसरी बात है। पर वह ठीक है, इसके बारे में मुझे जरा भी सशय नही है।'[२०६] भुवन के मार्ग में कोई व्यक्ति विशेष रूप से तो नही अडा—उसकी सबसे बडी अडचन थी उसके अचेतन में सक्रिय, परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ—फिर भी चन्द्रमाधव के बारे में कहा जा सकता है कि वह भुवन के प्रति ईर्ष्या का भाव रखता था। चन्द्रमाधव के अपने प्रति उस रुख से भुवन अपरिचित नही था। यह जानते हुए भी कि चन्द्रमाधव उसे दूसरों की दृष्टि में गिराना चाहता है, वह उसके प्रति उदारतामिश्रित उदासीनता का भाव ग्रहण किए रखता है और चन्द्रमाधव की अंतिम विक्रति की चर्चा करता हुआ वह गौरा को अपने एक पत्र में लिखता है : 'किसी पर दया करना पाप है, नही तो मै चन्द्र को दया का पात्र मान लेता'।[२०७] भुवन की यह टिप्पणी उसके जीवन-दर्शन के अनुकूल ही है।

पत्रों के द्वारा मानसिक भेंट

'नदी के द्वीप' के पात्रों के परस्पर सम्बन्ध एक-दूसरे से भेट की सुविधा

---

२०३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ८६।
२०४. वही, पृष्ठ ३३८।
२०५. वही, पृष्ठ ४०७।
२०६ वही, पृष्ठ ६२।
२०७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ४०८।

के अभाव में स्थिर नही रहते। शारीरिक भेंट के अभाव मे वे पत्रो द्वारा मानसिक भेंट जारी रखते हैं। प्रथम भेंट के समय उनमें जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, उसे वे भेट के अभाव में सूखने नही देते, अपितु पत्रो मे आत्म-ज्ञापन द्वारा उसे उत्तरोत्तर विकसित करते रहते है। इसलिए पिछली भेट के बाद और अगली भेट के होने तक, वे पत्रो द्वारा या तो एक-दूसरे के बहुत निकट आ चुके होते है और या फिर इतने दूर जा पड़ते है कि उन्हे पुनर्मिलन की कोई इच्छा ही नही रहती। इस प्रकार दो भेंटों के अन्तराल मे हुए पात्रो के पत्रो से उनके परस्पर सम्बन्धो के क्रमिक विकास को खोजा जा सकता है।

रेखा-भुवन : एक-दूसरे की ओर

भुवन से पहली भेंट के पश्चात् तथा दूसरी भेंट से पहले रेखा ने उसे जो पत्र लिखे, उनके आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि वह द्रुत गति से भुवन की ओर खिंची चली जा रही है और उसे अपनी ओर खीचने में प्रयत्नशील है: 'आपका परिचय मेरे इधर के धुंधले वर्षों में एक प्रखर ज्योति-किरण-सा है; मै तो किसी हद तक कर्मवादी हूँ और सोचती हूँ कि मेरा इस बार का लखनऊ जाना और आपसे भेंट होना और आपके साथ प्रतापगढ़ तक लौटना 'लिखा हुआ' था।'[२०८]

> 'पर अब मै उनके (चन्द्रमाधव के) साथ न जा सकूँगी—न अकेले, न पार्टी में। इसलिए जाने की बात छोड देनी चाहिए। हाँ, आप अगर और लोगो को साथ लेकर जाने वाले हो तो मै चल सकूँगी और आपका साथ पाकर प्रसन्न हूँगी—हाँ, आप मेरा साथ चाहें तब।'[२०९]
>
> 'चन्द्रमाधव जी ने मुझे लखनऊ बुलाया था। मै दोपहर को पहुँची तो पहले हम लोग काफी हाऊस गये, वहाँ आपके विषय मे बाते होती रही; मैने लक्ष्य किया कि उनकी बातो में बार-बार एक छिपी ईर्ष्या व्यक्त हो उठती है, जिसका कारण न समझ सकी।'[२१०]
>
> 'आपकी चिट्ठी की बाट जोहती रहूँगी। बल्कि सोचती हूँ, कुछ दिन आपके निकट इसलिए रह सकूँ कि जानूँ, कि आपने मुझे क्षमा कर दिया है, नही तो एक गहरा परिताप मुझे सालता रहेगा।'[२११]

रेखा के पत्रो के उपर्युक्त उद्धरणो के अतिरिक्त उसके पत्रो के आरम्भ और अन्त के क्रमिक विकास—'प्रिय भुवनजी'…'विनीता-रेखा',[२१२] 'प्रिय भुवन

---

२०८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ११०।
२०९. वही, पृष्ठ ११२।
२१०. वही, पृष्ठ १२२।
२११. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १२४।
२१२ वही, पृष्ठ ११०-१११।

जी'''आपकी—रेखा' (और फिर आगे नया पन्ना जोड कर चन्द्रमाधव द्वारा किए गए प्रेम-निवेदन की चर्चा करते हुए) 'भुवन जी—रेखा'[२१३] से भी इस बात का समर्थन हो जाता है कि वह भुवन के सामीप्य-लाभ के लिए तडप उठी है।

भुवन-रेखा : एक-दूसरे से दूर

'वायलनिस्ट-सर्जन' के अधूरे ही गिर जाने पर रेखा और भुवन के अलग-अलग स्थानो पर चले जाने के बाद उनमें जो पत्रोत्तर व्यवहार हुआ, उससे उन दोनों की तात्कालिक मनोदशा का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि कितनी तेजी से वे एक-दूसरे से दूर हो रहे है। रेखा अपने अतीत के 'फुलफिलमेण्ट' के सुख के अभाव में आँसू बहाती है और भुवन उसे चाहते हुए भी अपनी भीतरी घुमड़न के कारण पुनर्मिलन में अपने को असमर्थ पाकर उससे दूर भागता चला जाता है :

रेखा द्वारा भुवन को पत्र

"वहाँ फूल थे, सुहानी शारदीया धूप थी, और तुम थे। और मेरा दर्द था। यहाँ गरम, उद्गन्ध, बौखलायी हुई हरियाली है, धूप से देह चुनचुना उठती है · और तुम नहीं हो। और दर्द की बजाय एक सूनापन है, जिसे मैं शांति मान लेती हूँ।"[२१४]

"क्यों नहीं तुम पत्र लिखते ? इतने दिन बाट देखते हो गए''' तुम्हारी ओर से कोई संकेत नही मिलता तो एक भयानक उदासी मन में छा जाती है, जिससे लगता है कि कभी उबर नहीं सकूँगी। कोई इशारा, कोई संकेत तो दो, भुवन—यों क्यों मुझे छोड़ दिया है तुमने ?"[२१५]

"जो कुछ भी मैं चाह सकती, वह मैने तुम्हारे साथ में पाया है–प्यार भी वासना भी, दोनों का चरम सुन्दर रूप—तब और लालच क्यो ? तुम्हारा मौन मुझे खलता है, क्योंकि मैं अधिकाधिक माँगती हूँ और वह सम्भव नही है, वह उचित भी नहीं है; अतीत को कोई भविष्य नही बना सकता।"[२१६]

"मैं भीतर मर गई हूँ, भुवन ; तुम से कट कर फिर से कहीं भी बह सकती हूँ—किसी भी बुरे से बुरे नर-पशु के साथ भी रह सकती हूँ।"[२१७]

---

२१३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १२२-१२३।
२१४. वही, पृष्ठ ३२५।
२१५. वही, पृष्ठ ३२६।
२१६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ३२८।
२१७. वही, पृष्ठ ३२९।

भुवन द्वारा रेखा को पत्र

"रेखा, क्या कहूँ और कैसे कहूँ ? मैं मानता हूँ कि जो कहना नही आता वह इसीलिए नही आता कि वह मन के सामने ही स्पष्ट नहीं है—हो सकता है कि मै स्वय ठीक नही जानता कि क्या कहना चाहता हूँ—फिर भी भीतर जो घुमडन है, उसके सामने कुछ जैसे अस्पष्ट हे, यद्यपि मै उसे नही जान पाया, और वही मानो मेरे और विचारो और कामों को निर्दिष्ट करती है" ।[२१८]

"रेखा एक बात को तुम समझोगी···तुम नही समझोगी तो कोई नही समझ सकेगा·· प्यार मिलाता है ; साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलाता है ; लेकिन क्या ऐसा नही है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियाँ मिलाती नही, अलग कर देती हैं, सदा के लिए और अन्तिम रूप से ।"[२३१]

"मेरे पास अधिक चित्र नही हैं, कह लो कि एक ही है, पर वही—हमारे साझे अनुभवो का सम्पुंजन ही, रेखा। हमारे बीच में दीवार-सा खडा हो जाता है। हम मिलेंगे, लेकिन मानो इस दीवार के आर-पार हाथ मिलाएँगे, लेकिन मानो इस चौखटे के भीतर से, एक-दूसरे को देखेंगे, लेकिन मानो इस चौखटे में जडे हुए—तुम उधर से, मै इधर से···रेखा, मै अब भी तुम्हें प्यार करता हूँ, उतना ही, पर···"[२२०]

अन्य पात्रों के प्रति रुख

इसी प्रकार, परस्पर भेंटों के अंतराल में चन्द्रमाधव और रेखा में, चन्द्रमाधव और भुवन में तथा भुवन और गौरा मे जो पत्र-व्यवहार होता है, उससे एक-दूसरे के प्रति उनका रुख व्यक्त होता रहता है। पत्रो में जब कभी तीसरे पात्र की चर्चा छिड़ जाती है तो वर्णित पात्र के चरित्र पर तो प्रकाश पडता ही है साथ ही उस पात्र के प्रति पत्र-लेखक के प्रतिन्यास• का भी पता चल जाता है। गौरा को लिखे अपने एक पत्र में उसके विवाह-सम्बन्धी निर्णय की बात छेडते हुए चन्द्रमाधव भुवन पर जो छींटा कसता है—"सुना था कि आपके विवाह का निश्चय हुआ था, फिर सुना था कि बात टूट गई : यह भी सुना था कि 'मास्टर साहब' के परामर्श से—भुवन जैसे विज्ञान के नशेबाज की बात को जरूरत से ज्यादा अहमियत भी दे दी जा सकती है। वह तो ऊब-डूब भी नही है, डूब ही डूब है और उस सागर से उभरना नही होता। यो आपके सामने निश्चय ही स्पष्ट कर्त्तव्य-पथ होगा, ऐसा मेरा विश्वास है" ।[२२१] —उसमें भुवन के प्रति उसका ईर्ष्यापूर्ण रुख अपने आप ही व्यक्त

२१८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ३४२ ।
२१९. वही, पृष्ठ ३४४ ।
२२०. वही, पृष्ठ ३४४-३४५ ।
२२१. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ६६ ।

हो उठता है। चन्द्रमाधव को गौरा का जो उत्तर मिला उसमें गौरा का आत्मसम्मान का भाव तो झलकता ही है, पर साथ ही भुवन के प्रति गौरा की श्रद्धा की भी अभिव्यक्त हो जाती है : "मास्टर साहब के बारे में आपने जो लिखा है, उससे मै पूर्ण सहमत हूँ; पर आप उससे जो परिणाम निकालते है, उससे नहीं। वह विज्ञान मे डूबे है, ठीक है ; उसे आप नशा भी कह लीजिए, पर इसलिए वह राय नहीं दे सकते, यह मै नही मानती। यों वह राय कभी देते ही नही, पर जब देंगे तब वह अधिक सम्मान्य होगी, क्योंकि वह अनासक्त होगी, ऐसा मै जानती हूँ।"[१२२] अपने एक पत्र में रेखा का उल्लेख करता हुआ भुवन गौरा को लिखता है : "उसके (चन्द्रमाधव) यहाँ एक और 'रिमार्केबल' व्यक्ति से परिचय हुआ—एक श्रीमती रेखा देवी से। तुम उन्हे देखतीं तो अवश्य प्रभावित होती—एक स्वाधीन व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व प्रतिभा के सहज तेज से नही, दुःख की आँच से निखरा है।"[१२३] और इस प्रकार रेखा के व्यक्तित्व की प्रभावोत्पादकता का परिचय मिल जाता है।

इस प्रकार, पत्रात्मक शैली के प्रयोग द्वारा अज्ञेय जहाँ एक ओर लेखक-पात्र की तात्कालिक मानसिक अवस्था का 'सब्जैक्टिव' चित्र उपस्थित कर देते है, वहाँ पत्रो में किसी तीसरे पात्र की चर्चा द्वारा आलोच्य पात्र का 'आब्जैक्टिव' अध्ययन भी प्रस्तुत हो जाता है।

'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' की समान टेकनिक उद्धरण-शैली

अज्ञेय के उपन्यासों में हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, बंगला, संस्कृत, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं के गीतों और गद्य-पद्यांशों के उद्धरणों का बाहुल्य देखकर कुछ लोग चौंक उठे है, परन्तु वास्तव में इसमें चौंकने की कोई बात नही। पात्रों के चरित्रोद्घाटन की, उनके गूढ़तम रहस्यो को खोलने की, तथा उनकी आन्तरिक उलझनो के चित्रण की यह भी एक प्रणाली है। मनोवैज्ञानिको का कहना है कि मनुष्य की साधारण से साधारण क्रिया भी अकारण प्रकट नही होती। उसके बीज पहले से ही मनुष्य के अचेतन में पड़े रहते हैं और अनुकूल अवसर पाकर अंकुरित हो लेते है। फिस्टर नामक एक मनोवैज्ञानिक ने तो यहाँ तक सिद्ध कर दिया है कि किसी का मुँह से सीटी बजाना या कुछ गुनगुनाना, किसी गीत की अधूरी तान छेड़ना, किसी गद्य या पद्य के अंशों को उद्धृत करना आदि तक भी निरर्थक नहीं होता। उसकी इस प्रकार की क्रिया का अर्थ उसके चेतन में चाहे न आया हो, पर

उनके द्वारा उद्धृत गद्य-पद्यांशों का चुनाव उसके अचेतन द्वारा ही प्रेरित होता है।[२२४] इसलिए उन गीतों तथा उद्धरणो में, उन्हें चुनने वाले अचेतन प्रेरकों को खोजा जा सकता है और इस प्रकार व्यक्ति के अतल में व्याप्त उथल-पुथल को पकड़ा जा सकता है।

उद्धरणों के रूप में पात्रों की तात्कालीन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति

अज्ञेय के उपन्यासों में उद्धरणों का बाहुल्य है तो सही, पर वह अखरता नहीं क्योंकि उनके सभी पात्र उच्च शिक्षा प्राप्त है, कई भाषाओं पर उनका समान रूप से अधिकार है और अनेक विषयो का उनका अच्छा अध्ययन है। इसलिए किसी समय उनकी मनोव्यथा का उमड़ कर उनके पूर्व-पठित तथा मनन किए हुए गद्य-पद्यांशों के उद्धरणो के रूप में व्यक्त हो पड़ना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। 'नदी के द्वीप' का नायक भुवन एक बार रेखा से इसी आशय का प्रश्न भी करता है। उस प्रश्न में मानो पाठकों की उत्सुकता ही व्यक्त हुई हो। काश्मीर की ऊँचाइयों मे रेखा के 'फुलफिलमेंट' के पश्चात् पहलगाँव लौट चलने से पहली रात, जब भुवन ने रेखा को अपने पास आदर से लिटा लिया और धीरे-धीरे उसे थपकने लगा तब एक बड़ी उदासी ने रेखा को घेर लिया। भुवन की किसी बात का कोई उत्तर देने की अपेक्षा रेखा उसके पास लेटी, एक शिथिल हाथ उसकी कमर पर डाले, अपलक, शून्य, देखती हुई दृष्टि से उसकी ओर देखती रही। भुवन जब आग्रह-पूर्वक कुछ पूछता तो वह कभी अंग्रेजी में, कभी बँगला में, कभी हिन्दी में कुछ गुनगुना देती—कभी गद्य, कभी पद्य—अपनी ओर से कुछ न कहती।[२२५] जब भुवन ने कुछ शिकायत के से स्वर मे कहा, "तुम सिर्फ 'कोटेशन' बोल रही हो—अपना कुछ नहीं कहोगी ?" तब रेखा ने खोए से स्वर में कहा, "अपना क्या ? मैं सिर्फ कोटेशन बोलती हूँ, भुवन, क्योंकि मैं स्मृति में जी रही हूँ।"[२२६] कितनी व्यथा भरी है, रेखा के इस उत्तर में। वह पूर्वानुभूतियों की स्मृति में जी रही है और उसकी अनुभूतियाँ 'कोटेशन्ज' में अभिव्यक्ति पा रही हैं।

असामाजिक संवेदनाओं की निस्संकोच अभिव्यक्ति

अज्ञेय के उपन्यासो में इस उद्धरण-शैली की एक और उपादेयता भी है। इन उद्धरणो में अभिव्यक्त भाव पात्र के तात्कालिक भावो के समसाम्य होने पर भी

---

२२४ Fielding, 'Self Mastery through Psycho-analysis', Eton Reprint, 1952, p. 112 :

"We never hum or whistle aimless tunes. The tune selected, or the words to which it has been set, will be *found to have direct or indirect bearing upon* the individual's trend of mind or attidude at the time."

२२५ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २०५।

२२६. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २०५-२०६।

उद्धरणों के रूप में व्यक्त होने पर वे उनके व्यक्तिगत भाव नही प्रतीत होते। इसलिए, जब कोई पात्र अपनी ऐसी कोमल भावनाओं को व्यक्त करना चाहता हो जिनका सम्बन्ध अपने सम्मुख खड़े किसी अन्य पात्र से हो, तो उन भावनाओ को इस रूप में व्यक्त करने में उसे किसी प्रकार का भय और आशंका नहीं रहती। उद्धरणात्मक शैली की इस व्यंजकता, और इस रूप में उसकी उपादेयता, के कारण ही कदाचित् अज्ञेय के उपन्यासो में इसका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। 'नदी के द्वीप' के नायक भुवन के ये शब्द इस शैली की उपादेयता को और भी स्पष्ट कर देते है : "मान लीजिए कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। उनका प्रेम एक तथ्य है, आप बड़ी आसानी से कह सकते हैं कि 'क' 'ख' से प्रेम करता—आपका अपना कोई लगाव 'क' 'ख' से नही है। इसीलिए अब कल्पना कीजिए उस स्थिति की, जिसमें अपनी ओर से यह बात कहनी हो। 'क' 'ख' से प्रेम करता है, यह कह देना कितना आसान है, और 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ' यह कह पाना कितना कठिन—कितना 'पेनफुल'। क्योंकि एक तथ्य है दूसरा सत्य—और सत्य न कहना आसान है न सहना आसान है।"[२२७] इसलिए अज्ञेय के उपन्यासों में प्रेमी पात्र और प्रेमिका पात्र दोनो ही एक-दूसरे के प्रति अपनी भावनाओ को व्यक्त करते समय बड़ी सतर्कता से काम लेते हैं और यथा-सम्भव उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त न करके दूसरों की 'कोटेशन्ज' के रूप में ही प्रकट करते हैं। इस ढंग से वे अपनी कोमल से कोमल भावनाएँ भी एक-दूसरे पर बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के प्रकट कर देने में सफल हो जाते है; क्योंकि न तो उनके लिए इस रूप में उन भावनाओं को कह सकना कठिन होता है और न दूसरो के लिए उन्हें सह सकना ही कठिन होता है।

रेखा की भावनाएँ—पहलगांव की ओर चलते हुए रास्ते में उभरी हुई एक चट्टान पर भुवन और रेखा बैठ जाते हैं और भुवन की ओर से फरमाइश होती है कि कुलियों के आने से पहले रेखा एक गाना गा दे। रेखा खड़ी हो जाती है, सामने आकर वह उँगलियों से ठोड़ी पकड कर भुवन का मुँह उठाती है कि उस पर पूरी धूप पड़े, क्षण भर उसे निहार कर झुककर चूम लेती है और तत्पश्चात् उसका यह गान मुखरित हो उठता है :—

"यदि दो घड़ियों का जीवन
कोमल वृंतो में बीते
कुछ हानि तुम्हारी है क्या?
चुपचाप चू पड़ें जीते।"[२२८]

इस गीत को गाकर रेखा केवल अपनी अन्तरतम इच्छा को ही नहीं व्यक्त कर देती, बल्कि भुवन के मन में भी उसी इच्छा को उद्दीप्त करने का प्रयास करती है।

२२७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ १९२।
२२८. वही. पृष्ठ १५।

पहलगाव पहुँच कर चाँदनी रात में रेखा भुवन को जो गीत सुनाती है वह एक अंग्रेज कवि का है :—

"लव मेड ए जिप्सी आउट आफ मी ।"[२२९]

इस गीत में मानो रेखा ही अपना प्रणय-निवेदन कर रही हो।

अपनी फुलफिलमेंट के पश्चात् पहलगाँव में रेखा भुवन के लिए जो एक लिफाफा छोड गई थी, उसमें एक कागज पर किसी कविता की निम्नलिखित पंक्तियाँ भी लिखी हुई थी :—

"आई सैड टू माई सोल : बी स्टिल वेट विदाउट होप
फार होप वुड बी होप आफ द रांग थिंग ;
वेट विदाउट लव, फार लव वुड बी लव आफ द राग थिंग ;
देयर इज येट फेथ ; बट द फेथ एंड द लव ऐंड द होप आर
आल इन द वेटिंग।"[२३०]—

रेखा के इस उद्धरण में उसकी तात्कालीन मनोदशा प्रतिबिम्बित हो उठी है कि किस प्रकार वह अपने भविष्य को भुवन की कृपा-दृष्टि की प्रतीक्षा में छोड देती है।

शेखर—'शेखर : एक जीवनी' में भी इस उद्धरण-शैली का भरसक प्रयोग हुआ है। वास्तव में, शेखर और शारदा, शान्ति और शेखर तथा शशि और शेखर इसी शैली में एक-दूसरे के प्रति अपना प्रणय निवेदन कर पाते है। एकान्त जगल में बैठा हुआ शेखर शारदा को गीताजलि की यह कविता सुनाता है :—

"आन द डे द लोटस ब्लूम्ड एलास, माई माइन्ड वाज स्ट्रेइंग,
एण्ड आई न्यू इट नाट······"

(जिस दिन शतदल खिला, उस दिन मैं अनमना था, मैने नही जाना)[२३१]

शेखर द्वारा लाए गए अंग्रेजी कविताओं के एक संग्रह में से शान्ति ने एकान्त में शेखर को जो कविता सुनाई, वह यह थी :—

"ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक
आन दाई कोल्ड ग्रे क्रैग्स, ओ सी !
एण्ड आई वुड दैट माई टग कुड अटर
द थाट्स दैट एराइज इन मी"[२३२]

शशि की आत्माभिव्यक्ति—शशि और शेखर के लिए तो एक-दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाओ को प्रकट कर पाना और भी कठिन था क्योंकि वे बहन-भाई होने के कारण एक-दूसरे के प्रति अपनी भावनाओ को स्वयं भी ठीक से नही

---

२२९. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप' पृष्ठ २९४।
२३०. वही, पृष्ठ ३१०।
२३१ अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १७८।
२३२ अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १९३।

समझ पाते थे, उन्हें प्रकट करना तो उनके लिए और भी कठिन था। इसलिए उद्धरण-शैली को अपनाना उनके लिए तो और भी आवश्यक हो गया था। आपसी सम्बन्धों में चौकसी की उन्हें विशेष आवश्यकता थी। जिस रात शेखर गाडी के नीचे आकर आत्महत्या करने के प्रयत्न में असफल होकर घर लौटा था, उस दिन सारी रात शशि उसके पास ही रही थी और उस रात के शेखर के सामीप्य से उसकी मनःस्थिति में जो परिवर्तन आया था, उस द्वारा गाए गए इस गीत में वह मुखरित हो उठा था :—

"आजि मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे !
आजि मम अन्तर माझे
कोथा पथिकेर पद-ध्वनि बाजे
ताई चकित-चकित घूम भागिलो रे --
आज मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे।"[२३३]

मरने से कुछ ही दिन पहले शशि ने शेखर से इस कविता को पढ कर सुनाने के लिए आग्रह किया :—

"आई वाट टु डाई, ह्वाईल यू लव मी
ह्वाईल येट यू होल्ड मी फेयर
ह्वाईल लाफ्टर लाईज अपान माई लिप्स
एण्ड लाईट्स आर इन माई हेयर
आई वांट टु डाई ह्वाइल यू लव मी
ओह हू वुड केयर टु लिव
टिल लव हैज नथिंग मोर टु आस्क
एण्ड नथिंग मोर टु गिव
आई वाट टु डाई......"[२३४]

इस कविता में शेखर-सम्बन्धी शशि की भावनाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो जाती हैं।

इस प्रकार, अपने उपन्यासो में उद्धरण-शैली के समावेश से अज्ञेय पात्रों की उन अन्तर्तम भावनाओ को भी आसानी से उघाड़ सके हैं, जिन्हें अन्यथा वे पात्र कभी व्यक्त न कर पाते।

स्वप्न-विश्लेषण

'नदी के द्वीप' की रेखा का कहना है कि 'सपनों' के सिर-पैर नहीं होते। होते हो, जैसा मनोविश्लेषक जताते हैं, तो उनका अर्थ जानने की जरूरत नहीं होती।[२३५]

---

२३३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग, पृष्ठ १६८।
२३४ वही, पृ० २३६-२४०।
२३५. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृष्ठ ४१५।

अज्ञेय के पात्रों को भले ही अपने स्वप्नों के अर्थ जानने की जरूरत न हो, अज्ञेय के पाठकों को उनके औपन्यासिक पात्रों के स्वप्नों में निहित गूढ़ अर्थ को जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, वे स्वप्न चाहे कितने ही बे सिर-पैर के प्रतीत हों; क्योंकि अज्ञेय ने अपने पात्रों के स्वप्नों के व्यक्त रूप (मैनिफेस्ट-फॉर्म) के उल्लेख द्वारा उनकी भीतरी गाँठों को उघाड़ने का प्रयत्न किया है। उनके पात्रों की इन भीतरी गाँठों का वास्तविक स्वरूप जाने बिना उन्हें ठीक-ठीक समझ सकना कठिन हो जाता है।

मनोवैज्ञानिकों का विश्वास है कि किसी व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण जितना अधिक यथार्थ होगा उसे उतने ही कम स्वप्न आएँगे। इसी लिए प्रायः देखा गया है कि स्वस्थ दृष्टिकोण वाले व्यक्ति को स्वप्न आया ही नहीं करते; क्योंकि जागृतावस्था में ही वह परिस्थिति की यथार्थता से अपना मानसिक संतुलन बैठा लेता है।[२३६] स्वप्न-विश्लेषण प्रणाली के प्रवर्तक फ्रॉयड का कहना है कि प्रत्येक स्वप्न का एक अर्थ होता है[२३७]—विश्लेषण द्वारा बे सिर-पैर के, अजीब से अजीब, स्वप्नों की भी युक्तियुक्त व्याख्या की जा सकती है।[२३८] स्वप्न का अर्थ समझ में आ जाने पर स्वप्न के कारणों का पता चल जाता है; क्योंकि, वास्तव में, स्वप्न का अर्थ ही स्वप्न का कारण होता है।[२३९] मनुष्य के अचेतन को समझने में स्वप्नों की उपादेयता पर जोर देते हुए फ्रॉयड से पहले जर्मन कवि हैबेल ने भी अपने बाल्यावस्था के संस्मरणों में कहा था कि यदि कोई व्यक्ति अपने स्वप्नों का संकलित करके उनकी परीक्षा करे और उन स्वप्नों के साथ उनसे सम्बन्ध रखने वाली सहस्मृतियों (ऐसोसिएशन्ज) को जोड़ दे और फिर यदि उन स्वप्नों को अपने अतीत के स्वप्नों के साथ मिलाकर उनका अध्ययन करे तो, इस प्रकार, वह अपने आप को, मनोविज्ञान की किसी भी अन्य प्रणाली की अपेक्षा, अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा।[२४०] फ्रॉयड पहला मनोवैज्ञानिक था जिसने बड़े साहस के साथ हैबेल के

२३६. Adler, "On the Interpretation of Dreams" Int. J. Indiv. Psychol., 2, No. 1, 3-16.

२३७. Freud, 'Interpretation of Dream.', p. 19, 105 :
"The Dream has a meaning."

२३८. Dalbiez, 'Psycho analytical Method and the Doctorine of Freud, p. 34 :
"The strangest dream may be found on analysis to have a completely logical explanation."

२३९. Frink, 'Morbid Fears and Compulsions', p. 19-22 :
"The meaning of the dream is the cause of the dream."

२४०. Ansbacher, 'The Individual Psychology of Alfred Adler', p. 357
"If, man would collect his dreams and examine them and would add to the dreams which he is now having all the thoughts he has in association with them, all the remembrances, all the pictures he can grasp from them, and if he would combine these with the dreams he has had in the past, he would be able to understand himself much better by this than by means of any other kind of Psychology (Hebbel)"

दव चिन्हों पर चल कर मनुष्य के अचेतन में संचित संघर्षों का यथार्थ रूप समझने के लिए स्वप्न-विश्लेषण की प्रणाली को चलाया और इस प्रणाली को मनोविश्लेषण प्रणाली का एक आवश्यक अंग ठहराया। फ्रॉयड का विश्वास है कि स्वप्नो की व्याख्या द्वारा हम व्यक्ति के मनोजगत के अचेतन तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते है।[२४१]

स्वप्न-संघटन (ड्रीम-मैकेनिज्म)

नित्य प्रति के जीवन में हमारे कटु अनुभव, और अत्यन्त दुःखद सवेदनाएँ, जिन्हे न सह सकने के कारण हम उनसे मानसिक सतुलन नही बैठा सकते, वे दमित होकर हमारे अचेतन में गहरी धँस जाती है और अवसर पाकर विकृत रूप धारण करके हमारे स्वप्नों में प्रकट होती हैं। यद्यपि स्वप्न में प्रकट होने वाले विकार विविध प्रकार के मिलेंगे, पर मनोविश्लेषकों ने उनका संघटन मुख्य रूप से पाँच प्रकार का माना है : 'संघनन (कन्डेन्सेशन), विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट), नाटकीकरण (ड्रैमेटाईजेशन), प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन) तथा 'सैकण्डरी इलेवोरेशन'।

अज्ञेय के उपन्यासों में पात्रों की मानसिक गुत्थियों को प्रकाश में लाने के लिए लगभग सभी प्रकार के स्वप्न-सघटनों का प्रयोग हुआ है।

संघनन (कन्डेन्सेशन)

अनेक प्रकार के विचारों, शब्दों और व्यक्तियों से सम्बन्धित दमित भावनाएँ जब स्वप्न में इस प्रकार विकृत होकर प्रकट हों कि वे सब घुल-मिल कर एक से ही सम्बन्धित प्रतीत हों, तब उसे सघनन (कन्डेन्सेशन) स्वप्न-संघटन कहते हैं।[२४२] 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर द्वारा उद्धृत वह स्वप्न, जो उसने उस दिन रात में देखा था जब छोटे भाई चन्द्र को पेंसिल न देने के अपराध में उसकी माँ ने उसका हाथ मेज पर रख कर उसे पहले घूँसे से और फिर पट्टी के सिरे से मारा था और शेखर ने 'पीड़ा और अपनी विवशता पर क्रोध' को न सह पाते हुए कहा था : 'नहीं दूँगा, कह दिया नही दूँगा, चाहे जान से मार डालो।'[२४३] उस दिन शेखर ने खाना नही खाया था, न किसी ने उससे पूछा ही। रात हुई, सब सो गए, तब वह भी थका हुआ-सा चारपाई पर लेट गया और अन्धकार को फाड़ने की चेष्टा करता रहा। कुछ देर बाद चुपके से सरस्वती आई, शेखर ने उसकी गोद में अपना सिर रख

२४१. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 559 :

"The interpretation of dreams is the 'via regia' to a knowledge of the unconscious elements in our psychic life."

२४२. Freud, 'Interpretation of Dreams', p. 270 :

"The dream is meagre, paltry, and laconic in comparison with the range and copiousness of the dream thoughts."

२४३. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४२-१४३।

दिया। तब आँसू आए.........। सरस्वती ने उसका सिर उठा कर धीरे से तकिए पर रख दिया। वह सो गया। रात को उसने जो स्वप्न[२४४] देखा, वह इस प्रकार था :

"एक विस्तीर्ण मरुस्थल। दुपहर की कड़कती हुई धूप।

शेखर एक ऊँट पर सवार उस मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है। भागा जा रहा है...सवेरे से, या कि पिछली रात से, वह जैसे भागा जा रहा है।

और उसके पीछे कोई आ रहा है। शेखर को नही मालूम कि कौन, लेकिन वह जानता है कि कोई उसका पीछा कर रहा है, और कभी वह मुड कर देखता है, तो पीछे बहुत से ऊँटों के पैरों से उडी धूल उसे दीखती है...

तीसरा पहर? धूप कम नही हुई, और भी तीखी हो गई जान पड़ती है। और शेखर भागता जा रहा है, और उसके पीछे वह 'कुछ' भी बढ़ा आ रहा है।

एकाएक, सामने सेव के वृक्षों का बाग, जिसके चारों ओर मिट्टी की ऊँची बाढ़ लगी हुई है, जिसमें कही-कही बिले है, और कही-कही आयरिस-जैसा कोई पौधा है। शेखर ऊँट पर से उतर कर, बाढ पार करके बाग में घुस जाता है।

बाग में वृक्ष फूलों से लदे हुए है। इतने अधिक लदे हैं, कि सारी जमीन पर भी फूल बिछे हैं, और वह बिलकुल शुभ्र हो रही है—

शेखर थकी साँस लेकर एक पेड के नीचे फूलो की शय्या पर लेटता है और सो जाता है...

सध्या। सारा आकाश आरक्त हो गया है। प्रतिबिम्बित लाली से भूमि भी लाल जान पड रही है, और सेव के वृक्ष मानो जंगली गुलाब के हो गये है— प्रत्येक फूल ऐसा सुन्दर लालिम हो गया है......

शेखर उठ बैठा है। खतरे का आतंक उस पर फिर छा गया है। वह जानता है कि उस 'कुछ' ने वह बाग घेर लिया है, और उसमे प्रवेश करने की ताक में है। और उसके ऊँटों के पैरो से उड़ी धूल चारों ओर छाई हुई है, उससे आकाश भरा जा रहा है......

शेखर उठकर एक ओर को भागता है, बाग मे से निकल जाता है पथरीला रास्ता, चढाई। शेखर चढता जा रहा है। यह 'कुछ' पीछे रह गया है, लेकिन शेखर को बहुत आगे जाना है—बहुत आगे .....किसी खोज में, यद्यपि वह नही जानता कि किस वस्तु की खोज......

सन्ध्या घनी हो जाती है। शेखर अब भी चल रहा है। वह प्यासा है, पर पानी कही दीखता नहीं। हाँ, दूर कही जैसे झरने का रव हो रहा है.........एक चट्टान के ऊपर चढ़ कर शेखर आगे देखता है, और एकाएक रुक जाता है।

---

२४४. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४३-१४४।

सामने नीचे थहराता हुआ एक पहाडी झरना बह रहा है । शुभ्र, स्वच्छ निर्मल .....

शेखर घुटने टेक कर बैठता है, और हाथ टेक कर उझककर सिर नीचे लटकाता है, जैसे वन्य पशु पानी पीने के लिए करते है । पर पानी बहुत नीचे है, और वह उस तक पहुँचता नही......

उसके हाथ पर सरस्वती का हाथ है । वह भी उसके पास उसी तरह घुटने टेके बैठी है, यद्यपि अभी तक वहाँ नही थी । और दोनो प्यासी आँखो से पानी की ओर देख रहे है...

शेखर देखता है, पानी के मध्य में प्रवाह से किसी प्रकार भी प्रभावित न होता हुआ, पतले से नाल पर एक अकेला फूल खड़ा है । बहुत बडा—लिपटी हुई सी एक ही बडी, सफेद पत्ती, जिसके बीच-बीच में एक तपे सोने-से वर्ण की एक डण्डी (पिस्टिल) है ।

और देखते-देखते, एक दिव्य शान्ति उसके ऊपर छा जाती है, और वह जानता है कि यही है, जिसे खोजने वह आया था, जिसके लिए वह भाग रहा था... और वह शान्ति इतनी भरपूर है कि शेखर को रोमांच हो आता है, वह दबाकर सरस्वती का हाथ पकड लेता है...

वह जाग पडा । स्वप्न इतना सजीव, इतना यथार्थ था, कि शेखर ने हाथ बढ़ाया कि सरस्वती का हाथ पकडे । वह उसने नहीं पाया ।

तब वह चारपाई पर उठ बैठा । इधर-उधर देखा । उठकर सरस्वती की चारपाई के पास गया । जब वह सोई हुई थी ।

शेखर ने उसका मुख देखने की चेष्टा की, पर देख नही सका । लौट आया, एक सन्तुष्ट-सी साँस लेकर लेकर लेट गया, और फौरन नि:स्वप्न नीद में अचेत हो गया ।"

विश्लेषण

इस स्वप्न मे शेखर के गत जीवन के अनेक भाव, विचार और अनुभूतियाँ तथा कई दृश्य मिल कर एकाकार हो गए है । इसमें शेखर के जीवन का कटु यथार्थ मरुस्थल के रूप में प्रकट हुआ है और उसका अहं (ईगो) ऊँट के रूप मे, जिस पर चढ़ कर वह मरुस्थल को चीरता हुआ भागा जा रहा है । उसका पीछा करने वाला 'कुछ' उसके माँ-बाप और अन्य लोगो के अहं है । जो उसे घेर कर उसका समाजीकरण करना चाहती हे । इस मरुस्थल में उसे केवल एक ही शाद्वल (ओएसिस) दिखाई देता है और वह है सरस्वती । शेखर प्यासा ही भागता चला जा रहा है । उसकी प्यास 'सैक्स' की प्यास है, जिसे वह बुझाना चाहता है । पर झरने के पास पहुँच कर भी वह अपनी प्यास नही बुझा सका है । उसके हाथ पर सरस्वती का

हाथ है और वे दोनो प्यासी आँखो से पानी की ओर देख रहे है। एक-दूसरे के निकटतम होने पर भी दोनो प्यासे ही रह जाते हैं। जलरूपी 'सैक्स' तृप्ति (ग्रेटिफिकेशन) को वे पा नही सकते, वे सगे बहन-भाई हैं, शायद इसी लिए।

इस स्वप्न में वर्णित दृश्य भी भिन्न-भिन्न समय पर शेखर द्वारा जागृतावस्था में देखे हुए अनेक दृश्यों के विकृत रूप है। उदाहरणार्थ स्वप्न के इस विकृत दृश्य—'सामने सेब के वृक्षो का बाग, जिसके चारो ओर मिट्टी की ऊँची बाड़ लगी है, जिसमे कही-कही बिलें है, और कही-कही आयरिस जैसा कोई पौधा है',[२४५] का मूल रूप इस प्रकार है : 'अब दोनो (शेखर और सरस्वती) सबसे निकट की दीवार पर पहुँचे और कीच से बिलो के मुँह बन्द करने लगे। कभी-कभी वे साथ ही अपने प्रिय आयरिस के पौधे भी खीच लेते और उन्हें भी बिलो में ठूँस कर कीचड से दबा देते'।[२४६] यहाँ यह स्मरण रहे कि इस मूल दृश्य का सम्बन्ध शेखर की इस अनुभूति से है, जिसमें सरस्वती उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई थी।[२४७]

विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट)

जागृतावस्था में किसी व्यक्ति के प्रति महसूस की हुई भावनाएँ जब स्वप्न में उस व्यक्ति से हटकर किसी अन्य व्यक्ति से सम्बद्ध हो जाती है, तब उस स्वप्न संघटन को विस्थापन (डिस्प्लेसमेंट) कहते है ![२४८] 'शेखर एक जीवनी' में इसका एक बडा अच्छा उदाहरण है। जिस दिन शेखर ने रुग्णा शान्ति के पास जाकर बडे आदर से, डरते-डरते, अपना एक हाथ उसकी ठोडी के नीचे कठ पर रख दिया था और शेखर के हाथ पर टप से एक बडा-सा आँसू गिरा था और शेखर ने महसूस किया था कि उसके हाथ के नीचे शान्ति का कठ एक बार कुछ काँप गया था। उस रात स्वप्न मे शेखर ने देखा कि . 'शारदा तपेदिक से आक्रान्त होकर मर रही है, वह उसके पास गया और शारदा उसे कह रही है, 'तुम मुझे भूल गए न, नहीं तो मै मरती' ? और उसके बडे-बडे गरम आँसू टपटप शेखर के हाथ पर झर रहे हैं।"[२४९] शेखर के इस स्वप्न मे पिछले दिन की उसकी शान्ति सम्बन्धी समस्त अनुभूत सम्वेदनाएँ ही स्वप्न में विकृत होकर प्रकट हुई है।[२५०] स्वप्न में उनका

२४५. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृष्ठ १४३।

२४६. वही, पृष्ठ ८१।

२४७. वही, पृष्ठ ८०।

२४८. Dalbiez, 'Psycho analytical Method and the Doctorine of Freud', p. 82., Vol. I

२४९. अज्ञेय, 'शेखर: एक जीवनी', प्रथम भाग, पृ० १६५।

२५०. Freud, 'Interpretation of Dreams,' p. 225 ·
"The experiences of the previous day furnish the most obvious material of its contents."

सम्बन्ध शान्ति से टूट कर शारदा से गठ गया है। पिछले दिन तपेदिक से आक्रान्त शान्ति ने उसके साथ जो कुछ किया था, स्वप्न में वही कुछ शारदा उसके साथ करती है।

इस स्वप्न में शेखर की भावनाओं का विस्थापित होना एक स्पष्ट सकेत है कि शान्ति के प्रति शेखर के आकर्षण के कारण शेखर की विवेक-बुद्धि (कान्शैन्स) ने उसे अपराधी ठहराया था, शारदा के प्रति उसके सच्चे प्रेम के शान्ति की ओर उमड़ पड़ने के कारण। यद्यपि चेतन मे शेखर को शान्ति के इस आदान-प्रदान से संतुष्टि हुई थी, अचेतन में उसकी विवेक-बुद्धि इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार न थी। उसके अचेतन में जो संघर्ष छिड़ गया था, उसी ने स्वप्न में शेखर की सच्ची प्रम-भावना को शारदा से ही गाठना स्वीकार किया। फ्रायड का विश्वास है कि जागृतावस्था की अनुभूतियो का स्वप्न मे इस प्रकार विस्थापन विवेक-बुद्धि द्वारा ही प्रेरित होता है, क्योंकि जागृतावस्था की क्रिया उसे स्वीकार नही होती।[२५१] स्वप्न के बाद शेखर का उठ बैठना और देखना कि उसका सारा शरीर काप रहा है, अंधकार मानो उसे काटने लगा है[२५२] और फिर सप्ताह-भर उसका शान्ति को देखने न जाना, दिन-भर अपने कमरे के किवाड़ बन्द करके बैठे रहना भी उसकी सैक्स भावना और विवेक-बुद्धि के उसी संघर्ष को ध्वनित करते हे, जिसकी अभिव्यक्ति इस स्वप्न में हुई।

नाटकीकरण (ड्रामेटाइजेशन)

जब स्वप्न से थोड़ा पहले की जागृतावस्था के भाव व विचार स्वप्न में छाया चित्रों में बदल कर प्रकट होते है और चलचित्र के समान आंखों के सामने नाच उठते हैं, तो उस संघटन को नाटकीकरण कहते है। 'शेखर : एक जीवनी' में इस प्रकार की विकृति का उदाहरण वह स्वप्न है, जो शेखर ने काश्मीर की ऊँचाइयों में सौंदर्य की खोज में भटकते हुए देखा था। काश्मीर यात्रा की अंतिम रात को वह अपने खेमे में कुछ खा पीकर लेटा हुआ था, वह बहुत थक गया था; इतना थक गया था कि उसे नींद भी न आई—वह लेटा-लेटा सोचने लगा : "कैसा मूर्ख है वह, क्या और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज में निकला होगा? कहानियो में अवश्य सुनते थे··· लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की, कि वे कहानियाँ सच है? 'कहानी' और 'यथार्थ'···ये दो अलग श्रेणियाँ है, यह ज्ञान छोटे से बालक के मन में भी बैठा दिया जाता है···वही एक मूर्ख ऐसा है कि नही समझ पाया···यथार्थ जीवन में रह कर जीवन की चीज पकड़ना चाहता है—क्यों न लोग उस पर हँसें? उसे मूर्ख समझें? घर पर···नगर की गदगी और कोलाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी

२५१. Freud, 'Introductory Lectures on Psycho-analysis', p. 147.

२५२. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', प्रथम भाग, पृष्ठ १९५।

उसे हँसती होगी कि मूर्ख शादी करके सौंदर्य की खोज करने चला है ··[253] यह सोचते-सोचते वह सो गया और स्वप्न में उसने देखा . "एक काली चट्टान की गोल-गोल आँखें उस पर टिकी है। वह चट्टान कह रही है, 'तुमने बहुत अच्छा किया जो सौंदर्य की खोज मे चले आए मेरे पास।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री में परिणत हो गई जो ठठा कर हँस पडी।"[254] इसके बाद वह उठकर बाहर निकल आया और धीरे-धीरे कई दृश्य उसकी आँखों के सामने से गुजर गए।

इस स्वप्न में जागृतावस्था के भाव और विचार ठोस चट्टान के रूप में प्रकट हुए, जिसका सम्बन्ध उसकी सौंदर्य की खोज से ही रहा। अर्ध जागृतावस्था में अपनी स्त्री (कल्पित) के सम्बन्ध में सोच ही रहा था कि वह उसकी मूर्खता पर हँसती होगी, पर स्वप्न में वह चट्टान ही उसकी स्त्री के रूप मे परिणत होकर उस पर हँसने लगी। इस प्रकार शेखर की जागृतावस्था के भाव उसके स्वप्न में छायाचित्रो के रूप मे प्रकट होते है।[255]

प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइज़ेशन)

जब अचेतन में गहरी धँसी हुई व्यक्तियो या घटनाओं-सम्बन्धी अनुभूतियाँ स्वप्न में अपने अविकृत रूप में न प्रकट होकर प्रतीको के रूप में व्यक्त होती हैं, तब उस प्रक्रिया को 'प्रतीकीकरण' कहते है। नाटकीकरण (ड्रामेटाईजेशन) और प्रतीकीकरण (सिम्बोलाइजेशन) मे अन्तर यह है कि पहले प्रकार के स्वप्न-संघटन में भाव या विचार ठोस वस्तुओं में बदलते है, पर प्रतीकीकरण में या तो भाव भावों में बदलते है और या वस्तुओं में।[256] 'नदी के द्वीप' मे रेखा भुवन के फौज में भर्ती हो जाने की सूचना पाने के शीघ्र ही पश्चात् जो स्वप्न देखती है, उसमें उसके मन मे छिपे

२५३. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', दूसरा भाग पृष्ठ २७-२८।

२५४. वही, पृष्ठ २८।

२५५. Freud, 'Interpretation of Dreams'; p. 328 :
"(Silberer, a Freudian dissenter, while engaged in intellectual work and forcing his mind, inspite of a strong desire for sleep, to attend to an abstract thought,) it frequently happened that the thought escaped him, and in its place there appeared a picture in which he could recognize the substitute for the thought"

२५६. Dalbiez, 'Psycho-analytical Method and the Doctorine of Freud', p. 105 :
"Two fundamental qualities distinguish symbolization from dramatization. In the first place, whereas dramatization leads from the abstract to the concrete, from the concept to the image, symbolization leads from the concrete to the concrete, from the image to the image. In the second place, the relation between the sign and the thing signified is strictly individual in dramatization, whereas in symbolization such a relation is the same in one man and another." (Cf. Freud, 'Introductory Lectures on Psycho-analysis.', p. 120).

हुए सन्देह और शकाएँ प्रतीको द्वारा प्रकट या व्यक्त होती हैं। भुवन को लिखे एक पत्र में रेखा अपने स्वप्न का ब्योरा इस प्रकार देती है :—

> "देखा कि तुम हमारे घर आए हो''हमारे घर, मेरे माता-पिता और छोटे भाई सब की उपस्थिति में, और सबसे मिले हो, पिता तुम्हे बाहर नदी के किनारे की रौस पर मेरे पास बैठा गए है; फिर हम लोग कागज़ की नावें बना कर नदी में डालते हे और उनका बह जाना देखते है। नावें कभी दूर-दूर तक चली जाती है, कभी पास आ जाती है, कभी टकरा भी जाती है; कभी नदी में बहते हुए शैवाल रो उलझ जाती हे। सहसा देखती हूँ कि उन्हीं हमारी कागज की नावों में हम भी बैठे है'''रौस पर बैठे देख भी रहे है, पर नावो में भी है; फिर नावें एक बालू के द्वीप में जा लगती हैं, जहाँ हम उतर कर नावों को खीचने लगते हैं पर नावों में बैठे भी रहते है। अब हम रौस पर से देखते भी है, नावो में बैठे भी है, नावो को खींच भी रहे है। फिर देखती हूँ, बहुत से द्वीप हैं, हर एक पर हम नाव में भी बैठे, नाव को खीच भी रहे है, और रौस पर बैठे देख तो रहे ही हैं। सहसा नदी का पानी बहती हुई बालू हो जाती है; और तुम्हारा चेहरा तुम्हारा नही, कोई और चेहरा है; तुम मुस्कराते हो तो वह चेहरा तुम्हारा भी है, पर नही भी है, मैं कहती हूँ, यह सपना है, जागेगे तो तुम्हारा चेहरा दूसरा हो जाएगा, तुम कहते हो सपना थोडी देर और देखो न, फिर चेहरा बदल नहीं सकेगा। फिर मै तुम्हारी मुस्कान देखती रही; थोडी देर में जाग गई। सपनों के सिर-पैर नही होते—होते हो, जैसा मनोविश्लेषक जताते है, तो उनका अर्थ जानने की जरूरत नहीं होती'''पर मै जागी एक मधुर भाव लेकर, फिर ध्यान आया कि तुम तो बर्मा में कही होगे।"[२५७]

विश्लेषण

इस स्वप्न में रेखा के पिता का भुवन को बाहर नदी के किनारे की रौस पर बैठा जाना रेखा की इस इच्छा को व्यक्त करता है कि भुवन के साथ उसके यौन सम्बन्धो को सामाजिक मान्यता मिल सकती—सामाजिक मान्यता के अभाव में ही रेखा ने दोनों के यौन सम्बन्ध से उत्पन्न 'वायलिनिस्ट सर्जन' को उत्पन्न होने से पहले ही गिरा दिया था। रेखा और भुवन का कागज की नाव पर बैठना रेखा के अचेतन में व्याप्त इस आशंका का प्रतीक है कि उन दोनो के सम्बन्धों की नीव कच्ची है और वे सम्बन्ध अधिक देर तक नहीं चल सकते। स्वप्न में सहसा नदी के पानी का बहती हुई सूखी बालू हो जाना उनके पारस्परिक सम्बन्धों के नीरस हो जाने का प्रतीक है।

---

२५७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ४१४-४१५।

और भुवन के चेहरे का बदलकर किसी और का चेहरा बन जाना प्रतीक है, रेखा के प्रति भुवन के बदले हुए रुख का। इस प्रकार, प्रतीको द्वारा इस स्वप्न मे रेखा की आन्तरिक आशकाओ को अभिव्यक्ति मिली है।

अज्ञेय अपने उपन्यासो में फ्रॉयड द्वारा स्वीकृत लगभग सभी प्रकार के स्वप्न-सघटनो द्वारा अपने पात्रो के अचेतन में सक्रिय परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियो के घोर सघर्ष का, जो उन्हे निरन्तर विचलित किए रखता है और परिस्थिति से उनका मानसिक सतुलन नही बैठने देता, चित्रण कर देते है।

प्रतीकात्मक प्रणाली

अज्ञेय के उपन्यासों में प्रतीकात्मक प्रणाली का भी प्रयोग हुआ है। उनके पात्र जब किसी ऐसी भावना को प्रकट करना चाहते है, जो सत्य होते हुए भी कटु हो, वास्तविक होते हुए भी असामाजिक हो, तो वे उसे अभिधा द्वारा प्रकट न करके प्रतीकों द्वारा ही प्रकट करते हैं, इस आशका से कि अपने यथार्थ रूप में वे भावनाएँ कही अनर्थ न कर डालें। इसके अतिरिक्त कभी-कभी स्पष्टीकरण के लिए भी पात्र प्रतीकों का सहारा लेते है। 'नदी के द्वीप' उपन्यास का तो नाम भी प्रतीकात्मक है। 'नदी के द्वीप' प्रतीक है, इस उपन्यास के पात्रों के व्यक्तित्व का। रेखा के शब्दो मे वे सब पात्र जीवन-सरिता के 'प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप है, उस प्रवाह के घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी ; भूमि से बँधे हुए और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी—न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, वहा ले जाए फिर चाहे द्वीप का फूल-पत्ते का आच्छादन कितना ही सुन्दर क्यो न रहा हो।'[२५८] इस सम्बन्ध में अज्ञेय की एक कविता का यह अश भी उल्लेखनीय है :—

हम नदी के द्वीप है।
हम नही कहते कि हम को छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमे आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढी है।
माँ है वह। है, इसी से हम बने।
किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नही हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप है—स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नही है। क्योंकि बहना—रेत होना है।

२५८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १६।

हम बहेगे तो रहेंगे ही नही ।
पैर उखड़ेंगे । प्लवन होगा । छहेंगे । सहेंगे—मिट जायेंगे ।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार—बन सकते ?
रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे ।
अनुपयोगी ही बनायेंगे ।[२५६]

असामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति

शेखर भी अपनी जीवनी लिखते समय अनेक बार प्रतीकों का सहारा लेने के लिए बाध्य हो जाता है, जबकि उसे अपने अन्तर्तम के ऐसे गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करना होता है जो असामाजिक तथा अनैतिक हों। शेखर ज्यों-ज्यो बढ़ता गया, अपनी सगी बहन सरस्वती के प्रति उसका आकर्षण भी बढ़ता गया । एक स्थिति ऐसी आ गई कि शेखर के लिए "शेखर था, और सरस्वती थी और कही कोई न था । जिसे हम ससार कहते हैं, उसका अस्तित्व मिट गया था।"[२६०] सरस्वती शेखर की बहन ही नहीं, *सगी बहन थी*, इसलिए अपनी स्मृति तक में भी शेखर उसके प्रति अपनी भावनाओ को उनके वास्तविक स्वरूप में नहीं ला सकता था—उनके नीति-विरोधी होने के कारण । इसलिए सरस्वती के साथ अपने सम्बन्धो का उल्लेख करते हुए वह प्रतीको का सहारा लेते हुए लिखता है : "उन्ही वर्षा के दिनो एक दिन सरस्वती उसके मन में एकाएक 'सरस्वती' से 'बहन' और 'बहन' से 'सरस' हो गई थी—यद्यपि इस अन्तिम अंतरंग नाम का उसने कभी उच्चारण नही किया, इसे मन में ही छिपा रखा ।"[२६१] अर्थात् शेखर के लिए सरस्वती सहसा साधारण स्त्री से सम्बन्धी और सम्बन्धी से प्रेम का आलम्बन बन गई । इसी प्रकार 'नदी के द्वीप' की गौरा के लिए उसके मास्टर भुवन जी क्रमशः 'मास्टर जी' से 'भुवन मास्टर जी' होकर 'भुवन दादा' हो गए थे ।'[२६२]

प्रतीकों के सहारे प्रणय-निवेदन

प्रेम के क्षेत्र में 'तुम' और 'तू' प्रतीकों का खूब प्रयोग हुआ है। स्त्री और पुरुष पात्रो का जब तक एक-दूसरे से प्रेमी-प्रेमिका का सम्बन्ध नहीं गठता, तब तक वे एक-दूसरे के लिए 'आप' शब्द का प्रयोग करते हैं । पर ज्यों-ज्यों वे एक-दूसरे के निकट आते जाते हैं 'आप' शब्द का स्थान 'तुम' शब्द लेता जाता है । 'आप' मानो उनके लिए बिलगाव का सूचक हो और 'तुम' घनिष्ठता का ।

---

२५६ वात्स्यायन, "समकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तिया और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि", 'कल्पना', फरवरी १९५१, पृ० २३ ।

२६०. अज्ञेय, 'शेखर : एक जीवनी', पहला भाग, पृ० १४७ ।

२६१. वही, पृ० ८० ।

२६२ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ७६ ।

कई बार तो पात्र इन प्रतीकों के सहारे अपना प्रणय-निवेदन कर देते है। अपने एक पत्र में रेखा को प्रणय-निवेदन करते हुए चन्द्रमाधव लिखता हे : "रेखा, तुम नही जानती कि मैने कितनी बार तुम्हें बुलाना चाहा है, 'तुम' कह कर ही नही, 'तू' कहकर—कुछ न कहकर केवल आँखों से, मन से, हृदय की धड़कन से, अपने समूचे अस्तित्व से।"[२६३] इस सम्बन्ध में भुवन को लिखे गौरा के एक पत्र का यह अंश भी उल्लेखनीय है : "मैं 'तुम' लिख गई हूँ—बिना इजाजत लिये ही—बुरा तो न मानोगे ? बोलने में, लगता है जब भी मिलूँगी तो 'आप' ही कहूँगी, पर चिट्ठी में 'तुम' लिखना ही आसान भी और ठीक भी जान पड रहा है, बल्कि सोचती हूँ, 'आप' अब कैसे लिखूँ ?"[२६४] कई बार इन प्रतीकों को ठीक प्रकार से न ग्रहण करने पर पात्रों को धोखा भी लग जाता है। 'नदी के द्वीप' में रेखा और चन्द्रमाधव इस धोखे का शिकार होते है। रेखा, किसी विशेष अभिप्राय से नहीं, केवल उम्र में बडी होने के कारण, चन्द्र[२६५] को 'तुम' कह कर बुलाने लग गई थी, चन्द्र भी उसे कभी-कभी 'तुम' कहने लग गया था, पर उसका 'तुम' कहना साभिप्राय था, इस बात का संकेत था कि वह रेखा से घनिष्ठता चाहता है। चन्द्र के इस अभिप्राय को न समझ सकने के कारण रेखा को उसकी इस प्रवृत्ति के रोकने की आवश्यकता न महसूस हुई। पर इस ओर रेखा की चुप्पी का अर्थ चन्द्र उसकी स्वीकारिता लगाता रहा। इस प्रसंग में भुवन को लिखे रेखा के ये शब्द उल्लेखनीय हैं : "फिर उन्होने कहा, 'यहीं से रैज़ीडैन्सी चला जाए।' मैंने आपत्ति की तो बोले, 'रेखा जी, जरा-सी आँधी से डरती हो ?' वह मुझे सदा आप कहते हैं, 'आप' और 'तुम' की खिचडी कुछ अद्भुत लगी, पर शायद दिल्ली का मुहावरा है, इसलिए मैंने ध्यान न दिया, यह भी न लक्ष्य किया कि उनका स्वर आविष्ट है—बाद में यह भी याद आया—संक्षेप में कहूँ कि चन्द्रमाधव ने अपना प्रेम निवेदन किया—जबानी भी और एक लिखा हुआ पत्र देकर भी।"[२६६]

'नदी के द्वीप' में और भी कई प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं 'फुलफिलमैंट' शब्द प्रतीक है, रेखा और भुवन के परस्पर यौन सम्बन्ध का, और इस सम्बन्ध के फलस्वरूप जो होने वाला था उसकी चर्चा करते हुए दोनों उसके लिए 'सर्जन वायलि' निस्ट शब्द का प्रयोग करते है।

इस प्रकार, प्रतीकों द्वारा अज्ञेय अपने पात्रो की असामाजिक प्रवृत्तियों को, उनकी मनोदशा में आने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिवर्तन को चित्रित करते चराते हैं।

---

२६३. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ११६।
२६४. वही, पृ० ४६७।
२६५. वही, पृ० ५५।
२६६. वही, पृ० १२३।

कथोपकथन

अज्ञेय के उपन्यासो में कथोपकथन काफी मात्रा में मिलते है विविध रूपो में भी। ये कथोपकथन रूढ़िवादी कथोपकथनो की भाँति सदा एक-से नही रहते, अपितु पात्रो और उनकी स्थिति के अनुकूल यत्किंचित् बदलते रहते है। कथोपकथन की परम्परागत प्रणाली के अतिरिक्त अज्ञेय के उपन्यासो में स्मृति में आए कथोपकथन (रिकोलेक्टिड डायलॉग), आन्तरायिक (इन्टरमिटेंट) संवाद, लिखित रूप में वार्तालाप आदि कई रूपो में मिलते है। ये कथोपकथन केवल कथानक को ही आगे नही बढ़ाते, पात्रों का चरित्रोद्घाटन भी करते है। उनमें पात्रों की तात्क्षणिक मनोदशा, उनके अन्तर्तम की घुमडन, उनके अचेतन में उथल-पुथल मचाए रखने वाली प्रवृत्तियाँ सहज में ही प्रतिबिम्बित हो उठती है।

एक के प्रति दूसरे के रुख की अभिव्यक्ति

पारस्परिक भेंट के अभाव में एक-दूसरे से निकट का सम्बन्ध बनाए रखने के लिए और एक बार के स्थापित सम्बन्ध को उत्तरोत्तर घनिष्ठ बनाए रखने के लिए पात्र जो काम पत्रों से लेते है, एक-दूसरे से भेंट का सौभाग्य प्राप्त होने पर वे वही काम आपसी बातचीत से लेते हुए एक-दूसरे पर खुलते जाते हैं। चन्द्रमाधव के यहाँ भुवन से हुई पहली भेंट के पश्चात् रेखा ने भुवन को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए जो पत्र लिखे थे, उनका भुवन पर क्या प्रभाव पडा, यह जानने के लिए उससे दिल्ली में दूसरी भेंट के समय रेखा बड़ी सतर्कता से, सँभल-सँभलकर, बातचीत आरम्भ करती है। स्टेशन से बाहर निकलते हुए उसे लेने आए भुवन को यह सूचित करते हुए कि वह वाई० डब्ल्यू० ए० में ठहरेगी, उसने देखा कि भुवन ने उसे पास ठहराने का कोई आग्रह नहीं किया, आग्रह करना तो दूर, उसे यह बताकर कि वह स्वयं कालिज में ठहरा है, एक प्रोफेसर के साथ, मानो भुवन कह रहा हो कि उसे इस विषय में दिलचस्पी नहीं है। तब रेखा ने बात का रुख बदलते हुए कहा :—

"भुवन जी, एक स्वार्थ की बात कहूँ ?"

"क्या ?"

"मैं दो-चार दिन यहाँ रुक जाऊँ तो आप अपना कुछ समय मुझे देंगे ? दिल्ली में मेरे परिचित तो बहुत हैं, पर वह खुशी की बात अधिक है या डर की, नहीं जानती।"

"मुझे तो यहाँ कोई काम नहीं है, दो-एक व्यक्तियों से ही मिलता-जुलता हूँ, मेरे पास बहुत समय है।"

२६०. "उबाऊँगी नहीं, यह वचन देती हूँ।" रेखा हँस दी। "ऊब जाने से
२६१. पहले ही हट जाऊँगी—मुझे और कुछ तो नहीं आता पर ऊब के पूर्व लक्षण
२६२. आते

खूब पहचानती हूँ। कहूँ कि मेरे जीवन का मुख्य पाठ यही रहा है—ऊब की सात सीढ़ियाँ।"[२६७]

इस प्रकार भूमिका बाँधने के पश्चात् भुवन के वाक्य 'अधिक बात जिस विषय की कर सकता हूँ, वह स्वयं उबाने वाला है' में प्रयुक्त 'विषय' शब्द को नया अर्थ देते हुए एक सीधा प्रश्न कर देती है :—

"भुवन जी, आप अपने बारे में बात कहते हैं—करते रहे हैं ?"

"नहीं तो—या बहुत कम। वह भी कोई विषय है ?"

"तो ठीक है, कहना चाहिए कि वह नया विषय है—मेरे लिए तो है ही, आपके लिए भी है।" रेखा की आँखें हँसी से चमक उठीं। "और मैं वायदा करती हूँ, इस विषय से नहीं ऊबूँगी—आप ही जब छोड़ें, तो छोड़ें बल्कि मैं फिर-फिर लौट आऊँ तो आप बुरा तो न मानेंगे ?"

भुवन ने थोड़ा सकुचाते हुए, यद्यपि कुछ तोष भी पाकर, कहा, "न-नहीं तो; पर मैं फिर आपको वार्न करता हूँ, यह विषय बड़ा नीरस है, और कहीं पहुँचता नहीं।"

"मैं तो पहले ही बता चुकी हूँ कि कहीं पहुँचने का लोभ ही मुझे नहीं है—ऐसी यात्रा पर हूँ, जो कहीं पहुँचती ही नहीं, अन्तहीन है, यही क्या कहीं पहुँच जाना नहीं है ?"

"यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है—"कहकर भुवन निरुत्तर-सा कुछ सोचने लग गया।[२६८]

इस बातचीत के पश्चात् रेखा यह तो समझ गई कि भुवन को लिखे उसके पत्र बेकार नहीं गए, पर यह जानना अभी बाकी था कि उनका प्रभाव कितना और किस रूप में पड़ा होगा। इसलिए अगले दिन घूमते समय उसने फिर एक और प्रयास किया :—

"काफी पीते-पीते रेखा ने पूछा, 'भुवन जी, आपने पहाड़ जाने के लिए और किसी को आमन्त्रित नहीं किया ?'

"नहीं तो। फिर मेरा जाना ही तो नहीं हुआ—"

"अच्छा, आप जहाँ रिसर्च के लिए जाना चाहते हैं, वहाँ मैं आ जाऊँ तो आपके काम का बहुत हर्ज होगा ?"

भुवन ने चौंककर कहा, "वह तो एकदम बियाबान जंगल है रेखा जी। वहाँ—"

"फिर भी—फर्ज कीजिए—"

---

२६७ अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३० ।

२६८. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३१ ।

"नहीं---आप ही फर्ज करना न चाहे तो--खास नहीं होगा—इतना ही कि आपकी असुविधा का ध्यान हमेशा रहेगा—"

"और काम में बाधक होगा।" रेखा हँस दी,"ठीक है, मै तो यो ही कह रही थी।"[२६९]

इस प्रकार यह विश्वास हो जाने पर कि भुवन पर उसके पत्रो का वाँछित प्रभाव पड़ा है, वह बडे नटखट भाव से उसे अधिकारपूर्ण ढंग से चेता देती है :

"कल रात वाली गाडी से चली जाऊँगी—लेकिन वहाँ मन न लगा तो काश्मीर आ जाऊँगी, कहे देती हूँ। आप भी खदेड देंगे यह कहकर कि हुक्म नहीं है ?"

भुवन ने हँस कर कहा, "मैं क्या करूँगा, यह बताने का भी हुक्म नहीं है।"[२७०] भुवन के इस उत्तर से रेखा की पूरी तसल्ली हो जाती है और फिर बाद में यदि वह सहसा भुवन को इन शब्दों में "बड़े नालायक हैं आप ! मुझे यों डराना अच्छा लगता है ?" डाँट सकी है तो इस विश्वास के बल पर ही।

यहाँ स्थानाभाव के कारण केवल एक ही उद्धरण दिया गया है, पर अज्ञेय के उपन्यासो में इस प्रकार के अनेक स्थल मिलेंगे, जहाँ पात्र दूसरे पात्रो के अन्तर्मन को जानने के लिए बातचीत चलाते है और स्वय न खुलकर उन्हें खुलने के लिए प्रेरित करते हैं।

आन्तरायिक (इन्टरमिटेंट) सम्वाद

'नदी के द्वीप' में कथोपकथन की और भी कई शैलियों के प्रयोग मिलते हैं। ये प्रयोग खटकते नहीं, अपितु कथोपकथन की स्वाभाविकता को बढ़ा देते है। 'इन्टर-मिटेंट टॉक' को ही लें; लेखक ने इसे कितना स्वाभाविक बना दिया है। रेखा और भुवन एक ही गाडी में सफर कर रहे हैं। रेखा, महिलाओं के डिब्बे में बैठी है और भुवन पुरुषों के डिब्बे में सफर कर रहा है। गाड़ी ज्यों ही किसी स्टेशन पर रुकती है, भुवन रेखा की खिड़की के सामने प्लेटफार्म पर आ खडा होता है और पिछले स्टेशन पर हुई बातचीत के सूत्र को पकडकर दोनो पुनः बातचीत में लीन हो जाते हैं और उन्हें समय का ध्यान नही रहता। उनकी मग्नता गार्ड की सीटी से ही भंग होती है और सहसा उनकी बातचीत बीच ही में टूट जाती है। जब तक गाडी चलती रहती है, वे दोनो विचाराधीन विषय पर सोचते रहते हैं। अगला स्टेशन आने पर उनकी बातचीत का सिलसिला पुनः चल पड़ता है। "बात ज्यों-ज्यों आगे चलती थी, अगले स्टेशन पर फिर न जा पहुँचना भुवन के लिए उतना ही असह्य जान पडता था, अनुचित ही नहीं; भुवन स्वयं भी बात आगे सुनने को उत्सुक रहता था।"[२७१]

---

२६९. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० १३३-१३४।
२७०. वही, पृ० १४९।
२७१. वही, पृ० ३४।

रेल के सफर ने इस प्रकार 'इन्टरमिटेंट'[२७२] टॉक के रूप में उनके आत्मप्रकाशन को सहज बना दिया था।

लिखित संवाद

कथोपकथन की एक और शैली भी 'नदी के द्वीप' में मिलती है और वह है लिखित कथोपकथन। नैनीताल की यात्रा के लिए रेखा को जनाने डिब्बे में बैठाकर भुवन प्लेटफार्म पर उसकी खिड़की के सामने आ खड़ा हुआ। उसने देखा रेखा अपनी नोट-बुक निकाले उस पर कुछ लिख रही है। कुछ ही देर बाद जब रेखा ने वह नोट बुक उसकी ओर बढ़ा दी तब उसने पढ़ा :—

"उस डिब्बे में बैठकर थोड़ी देर के लिए मैं अपने को यह मना सकी थी कि हम साथ ही इस गाड़ी में यात्रा कर रहे है। पर अब यह लगता है कि आप मुझे विदा कर चुके, और उपचार बाकी है।"

भुवन ने कुछ न कहकर कापी लौटा दी।

रेखा ने फिर लिखा : "अगले स्टेशन पर आप प्रतापगढ़ से आगे बात चलाने आयेंगे ?"

अब की बार भुवन ने कहा, "जरा पैंसिल दीजिए।" और लिखा : "आप ही ने तो कहा था, "आप अगले स्टेशन पर आना ?"

रेखा के चेहरे पर हल्की-सी उदासी खेल गई। कापी में उसने लिखा, "नहीं, मेरी ज्यादती है।" भुवन ने फिर कापी ले ली। जेब से कलम निकाल कर सुस्पष्ट अक्षरों में लिखा "अकेले है न, तभी लीक पकड कर चलते है।" फिर तनिक रुककर उस पर दुहरे उद्धरण-चिह्न लगा दिए।"[२७३]

अज्ञेय के उपन्यासों में कथोपकथन का जो रूप प्रचुरतम मात्रा में मिलता है, वह है—स्मृत वार्तालाप (रिकोलेक्टिड डायलॉग)। कथोपकथन की इस शैली में कथोपकथन और उनमें भाग लेने वाले पात्रो से पाठकों का सीधा सम्पर्क नही हो पाता और न ही ये कथोपकथन उन्हे अपने मौलिक रूप में ही उपलब्ध होते है। उन्हे ये कथोपकथन उस रूप में ही मिलते है, जिसमें वे किसी पात्र या पात्रों की स्मृति में आ पाते है। "शेखर : एक जीवनी" के सभी कथोपकथन और 'नदी के द्वीप' के वे कथोपकथन, जो भुवन की स्मृति में पुन उभर उठते है, इसी कोटि के हैं।

अज्ञेय के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में अश्लीलता का आभास

स्त्री और पुरुष के यौन सम्बन्धो की चर्चा हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के लिए

२७२. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० ३३-३६।
२७३. वही, पृ० १५६-१६०।

कोई नई चीज नही; पर इन सम्बन्धों का जितना विशद और स्वच्छन्द चित्रण अज्ञेय के उपन्यासो में हुआ है, उतना शायद ही अन्यत्र मिले। वैसे तो 'शेखर : एक जीवनी' में भी कई ऐसे स्थल है, जिनमें एकान्त का विलास व्यापक हो उठा है, फिर भी 'शेखर : एक जीवनी' के शेखर-शारदा, शेखर-शान्ति, शेखर-शशि के मार्ग में सैकड़ों अड़चनें है। एक ओर घर वालों का डर है तो दूसरी ओर समाज के विधि-निषेधों का। घर वालो से भागकर दूर भी चले जाएँ तो समाज उन पर कडी निगरानी रखे रहता है। समाज की आँखो से ओझल होकर एकान्तवास का प्रबन्ध कर लें, तो भी उनकी विलास वृत्ति अपने नग्न रूप में नहीं प्रकट हो पाती; क्योंकि वहाँ उनकी अपनी विवेक-बुद्धि (कान्शैंस) उनके मार्ग में अड़ जाती है। शशि और शेखर को ही लें। घर वालों से दूर, वे दूसरे शहर में साथ-साथ एक कमरे में रहते हुए भी निर्बाध स्वच्छन्दता का उपभोग नही कर पाते, क्योंकि समाज की कड़ी निगरानी तब भी उन पर रहती है। वहाँ से भागकर वे दिल्ली में आ जाते हैं। वहाँ उन्हें एकान्तवास की सुविधा तो मिल जाती है, समाज की कड़ी निगरानी भी उन पर नही रहती, पर फिर भी वे एकान्त विलास नही कर पाते। उनके मन पर जमे सस्कार उनके संयम का बाँध नहीं टूटने देते। क्षण भर के लिए भी वे सस्कार उन्हें नही भूलने देते कि वे दोनों बहन-भाई है।

'नदी के द्वीप' में रेखा और भुवन के मार्ग में ऐसी कोई बाधा नही है। उनके घर वालों का तो कहीं जिक्र भी नही आता; समाज उन दोनों के लिए मानो अस्तित्व नहीं रखता। 'इन्सेस्ट' नाम की बाधा भी उन दोनों के बीच में नही, तो फिर उनका उन्मुक्त विलास क्यों न चले—विशेषतः जबकि वे एक-दूसरे को चाहते हैं। लेखक चाहता तो उन्हें मिथुन तक न ले जाकर उस स्थिति की ओर संकेत भर करके काम चला सकता था, पर लेखक चाहता तब तो! इसलिए 'नदी के द्वीप' में एकान्त का विलास उत्तरोत्तर व्यापक होता जाता है और अकेले-अकेले मिथुन बढता जाता है—"खुले ससार में अकेले, काफी हाउस में अकेले, कुदसिया बाग में अकेले, यमुना की कछार में अकेले, नौकुछिया ताल में अकेले, तुलियन में अकेले, सर्वत्र अकेले ही अकेले।"[२७४] अकेले ही अकेले वे दोनो 'फुलफिलमैंट' की ओर बढ़ते रहते है।

अज्ञेय और लॉरेंस में साम्य

'नदी के द्वीप' के इन स्थलों को पढ़ते हुए प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार डी० एच० लॉरेंस की याद आती है। लॉरेंस का कहना है कि स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग 'सेक्स' हैं; उभयलैंगिकता (बाई सेक्स्युएलिटी) एक वैज्ञानिक कल्पना है। इस लिए, उसका विश्वास है कि स्त्री और पुरुष का मेल यदि हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही। मिथुन द्वारा ही वे एक-दूसरे में प्रवेश करके एक-दूसरे की प्रकृति को समझ सकते हैं और एक-दूसरे के स्वतन्त्र और अन्योन्याश्रयी रूप को पहचान सकते

२७४. भगवतशरण उपाध्याय "नदी के द्वीप : आलोचना", 'कल्पना', मार्च, १९५३।

है।[२७५] इस प्रकार मिथुन लॉरेंस के उपन्यासों का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।[२७६] इस प्रकार के मिथुन को लॉरेंस पाप नहीं मानता, यदि दोनों उसे ठीक समझते हुए सच्चे प्रेमी-प्रेमिका बनना चाहते हों और दोनों में अपने प्रेम की ज्योति जलाए रखने के लिए सच्चा साहस हो—फिर वह इच्छा चाहे क्षणिक ही क्यों न हो।[२७७] इसका अभिप्राय यह नहीं कि लॉरेंस उपन्यास और नैतिकता को दो परस्पर विरोधी तत्त्व मानता है। नैतिकता को तो वह कला का आवश्यक अंग मानता है, पर ऐसी नैतिकता को जो उत्कट और सांकेतिक हो, न कि उपदेशात्मक।[२७८] उसका विश्वास है कि कोरी उपदेशात्मकता उपन्यास को निष्प्राण बना देगी।[२७९] लॉरेंस का कहना है कि उपन्यास यदि ढंग से लिखा जाय तो वह जीवन के गुप्ततम स्थलों का भी उद्घाटन कर सकता है; क्योंकि जीवन के वासनापूर्ण गुप्त स्थलों पर ही हमारी संवेदनाएँ उद्बुद्ध होकर उमड़ पड़ती हैं, हमारे मन को साफ और तरो-ताजा करती हुईं।[२८०]

---

२७५. Hoffman, 'Freudianism and the Literary Mind', p 109

२७६. D. H. Lawrence. 'Lady Chatterley's Lover', Signet Book, 1950, p 175

"And she adored me The serpent in the grass was sex She somehow didn't have any. I got thinner and crazier. Then I said we'd got to be lovers. I talked her into it. I was excited, and she never wanted it She just didn't want it. She adored me, she loved me to talk to her and kiss her, in that way she had a passion for me But the other, she just didn't want. And there are lots of women like her. And it was just the other that I did want. So there we split"

२७७ D. H Lawrence, 'Studies in Classic American Literature', New York, 1930, p. 148 ·

"The sin in Hester and Arthur, Dimmer-Dales' (of the Scarlet Letter) case was a sin because they did what they thought it wrong to do If *they had really wanted to be lovers, and if they had* had the honesty and courage of their passion, there would have been no sin, even had the desire been only momentary"

२७८. Ibid., p. 254 .

"The essential function of art is moral . ..But a passionate, implicit *morality, not didactic.* A morality which changes the blood, rather than the mind."

२७९. D. H. Lawrence. 'Morality and the Novel', Phoenix, p. 528 .

"If you try to nail anything down, either it kills the novel or the novel gets up and walks away with the nail."

२८०. D. H. Lawrence, '*Lady Chatterley's Lover*', p. 90

"Therefore, the novel, properly handled, can reveal the most secret places of life ; for it is in the passionate secret places of life, above all, that the tide of sensitive awareness needs to ebb and flow, cleansing and refreshing."

लगभग यही दृष्टिकोण अज्ञेय का भी प्रतीत होता है। अज्ञेय स्वय भी अपने को लॉरेंस के निकट मानते हैं।[२८१] यह बात 'नदी के द्वीप' के निम्नलिखित स्थलो की, लॉरेंस के उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज लवर' से तुलना करने से और भी स्पष्ट हो जाएगी .

"मेरे लिए काल का प्रवाह भी प्रवाह नहीं है, केवल क्षण और क्षण का योगफल है—मानवता की तरह ही काल प्रवाह भी मेरे निकट युक्ति-सत्य है, वास्तविकता क्षण की ही है। क्षण सनातन है।"[२८२] (पृष्ठ ३९)

\+ \+ \+

"रेखा कुछ सीधी होकर बैठ गई। भुवन ने दोनो बाँहों से उसे कमर से घेर लिया; सिर उठा कर धीरे से रेखा की जाँघ पर रख दिया।

फिर और न जाने कितनी देर तक ऐसा रहा। सहसा रेखा चौकी। भुवन का शरीर काँप रहा था। जल्दी से झुक कर रेखा ने उसका मुँह देखना चाहा, पर उसने और भी जोर से उसे रेखा की जाँघ में गडाकर अपनी एक बाँह से ढक लिया।

रेखा बैठी रही, बिल्कुल निश्चल। उनकी सारी संवेदनाएँ जैसे अत्यंत सजग हो आईं, पर साथ ही भीतर कही कुछ जड होने लगा।

भुवन सिसक रहा था; अब उसकी सिसकी स्पष्ट सुनी जा सकती थी। रेखा ने फिर उसे सीधा करना चाहा, पर न कर सकी। फिर वह वैसी ही निश्चेष्ट बैठी रही।"[२८३] (पृष्ठ १७६)

\+ \+ \+

भुवन ने उठकर उसके कन्धे पकड़े—ठंडे, जैसे बर्फ। बलात् उसे लिटा

---

२८१. S. H. Vatsyayan, "Hindi Literature", 'Contemporary Indian Literature', Sahitya Akademi, 1957, p. 84 :

"'Ajneya' (1911—) is sometimes bracketed with Joshi as an exponent of the Freudian novel—wrongly...His literary affinities are, in fact, Browning and D. H. Lawrence."

२८२. D. H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p. 13 :

"Connie had adopted the standard of the young : what there was in the moment was everything, And moments followed one another without necessarily belonging to one another."

२८३. D. H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p. 21-22 :

"She stared at him, dazed and transfixed and he went over and kneeled beside her, and took her two feet close in his two hands, and buried his face in her lap, remaining motionless. She was perfectly dim and dazed, looking down in a sort of amazement at the rather tender nape of neck, feeling his face pressing against her. In all her burning dismay she could not help putting her hand, with tenderness and compassion, on the defenceless nape of his neck and he trembled with a deep shudder."

दिया, कम्बल उढ़ा दिए। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा, चेहरा भी बिल्कुल ठंडा था। उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गरम गाल रखा, उसका हाथ धीरे-धीरे रेखा के कन्धे सहलाने लगा। भुवन ने कंबल खींच कर कन्धे ढक दिये। कबल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा···

सहसा वह चौंका। झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे, जैसे छोटे-छोटे हिमपिंड···और अब तक जड रेखा के सहसा दाँत बजने लगे थे।

सहसा रेखा ने बाँहें बढाकर उसे खींच कर छाती से लगा लिया, उसके दाँतों का बजना बन्द हो गया।"[२८४] (पृष्ठ १९७)

+ + +

"भुवन, जाने से पहले मै एक बात कहना चाहती हूँ। आई एम 'फुल्-फिल्ड'। अब अगर मैं मर जाऊँ तो परमात्मा के—प्रकृति के—प्रति यह आक्रोश लेकर नही जाऊँगी कि मैने कोई 'फुलफिल्मैट' नही जाना—कृतज्ञ भाव ही लेकर जाऊँगी—परमात्मा के प्रति और···भुवन, तुम्हारे प्रति।"[२८५] (पृष्ठ २०७)

+ + +

"रेखा, जो कुछ हुआ है, मुझे उसका दुःख नहीं है, परिताप नही है। और जो हुआ है उससे मेरा मतलब केवल अतीत नही है, भविष्य भी है—कारण भी, परिणाम भी। और यह नकारात्मक बात लगती है—मै कहूँ कि मैं प्रसन्न हूँ, एक आनन्द है मेरे भीतर—एक शान्ति, भविष्य के प्रति एक स्वागत-भाव···यही मै तुमसे कहना चाहता हूँ—वह जो आएगा—आएगा या आएगी, वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वाञ्छित—उससे मैं लजाऊँगा

---

२८४. D H. Lawrence, 'Lady Chatterley's Lover', p 105

"'You lie there', he said softly, and he shut the door, so that it was dark, quite dark.

With a queer obedience, she lay down on the blanket. Then she felt the soft, groping, helplessly desirous hand touching her body, feeling for her face The hand stroked her face softly, softly with infinite soothing and assurance, and at last there was the soft touch of a kiss on her cheek."

२८५. Ibid., p. 105 :

"Then she wondered, just simply wondered, why? Why was this (sexual intercourse) necessary ? Why had it lifted a great cloud from her and given her peace ?"

नही, वह तुम मुझे दोगी। भूलना मत—तुम्हें और तुम्हारी देन को मै वरदान करके लेता हूँ।"[२८६] (पृष्ठ २८६)

+ + +

यहाँ यह जान लेना असंगत न होगा कि 'नदी के द्वीप' के लेखक के सिद्धान्तानुसार—'जो रस देती है, जीवन को उभारती है, उसे अश्लीलता नहीं कहना चाहिए।"[२८७]—इन प्रसंगो को अश्लील नही कह सकते। उपर्युक्त स्थिति ने भुवन और रेखा दोनों को रस दिया था, दोनों के—विशेषतः रेखा के—जीवन को उभारा भी था, इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता,—वह उभारना चाहे क्षण भर के लिए था। वास्तव में, भुवन को इस बात का गर्व है और सन्तोष भी कि वह रेखा की 'फुलफिल्मेंट' का निमित्त बन सका: "तो क्या यही 'फुलफिल्मैंट' नहीं है कि कोई किसी को वह चरम अनुभूति दे सके—देने का निमित्त बन सके—जो जीवन की निरर्थकता को सहसा सार्थक बना देती है? सचमुच ऐसे संधि-स्थल पर ही मरना चाहिए, यह कहते हुए कि मैं कुछ दे सका जो मुझसे बड़ा है, मुझसे अच्छा है।"[१८८]

---

२८६. D. H 'Lawrence, Lady Chatterley's Lover', p. 108 :

"To tell the truth, he was sorry for what had happened, perhaps most for her sake. He had sense of foreboding. No sense of wrong or sin, he was troubled by no conscience in this respect. He knew conscience was chiefly fear of society, or fear of oneself. He was not afraid of himself."

२८७. अज्ञेय, 'नदी के द्वीप', पृ० २८६।

२८८. वही, पृ० २०८।

छठा अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास-क्रम

प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास—लोकरंजन की माँग—**अनायास चरित्रचित्रण**—**सोद्देश्य चरित्रचित्रण**—सामाजिक आन्दोलन—लोकरक्षण की मांग—बहिरंग चरित्रचित्रण—सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकारों के चरित्रचित्रण पर तुलनात्मक टिप्पणी—**मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण**—अन्तरंग चरित्रचित्रण—मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारो के चरित्रचित्रण पर तुलनात्मक टिप्पणी ।

औपन्यासिक चरित्रचित्रण की मुख्य समस्या

औपन्यासिक चरित्रचित्रण का भविष्य

उपसंहार

हिन्दी-उपन्यास में चरित्रचित्रण का विकास-क्रम

उपन्यास की हम चाहे कोई भी परिभाषा स्वीकार करें, पर इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि उसका मुख्य विषय मानव-जीवन है। मानव एक पहेली है; एक रहस्य है—दूसरो के लिए ही नही, अपने लिए भी। इस पहेली को सुलझाने की, उस रहस्य को खोलने की, थोडी-बहुत चेष्टा प्रत्येक उपन्यास में मिलती है। उपन्यास का वास्तविक विषय तो मानव है, पर मानव जीवधारी है; उसका जीवन होता है। जीवन-संग्राम में प्रस्फुटित उसकी विविध क्रिया-प्रतिक्रियाओ से ही उसका परिचय मिल पाता है। इसलिए, उपन्यास मानव को उसके जीवन से अलग करके नही देख सकता और उसका विषय विस्तृत होकर मानव-जीवन बन जाता है। मानव-चरित्र के उद्घाटन के लिए उपन्यास को मानव के जीवन और जगत् दोनों का चित्रण करना पडता है। उपन्यासकार वस्तु-जगत् का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी पात्र को अपने कल्पित उपन्यास-जगत् के बीच लाकर, उसके चतुर्दिक् की परिस्थिति का चित्रण करता है और उस परिस्थिति में हुई पात्र की क्रिया-प्रतिक्रिया का विश्लेषण करता हुआ उसके प्रति पात्र के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। पात्र की प्रवृत्तियों के साथ उसकी परिस्थितियों का अतर्विरोध दिखाने से ही उपन्यासकार का काम नही चलता, प्रत्युत् निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियो के कारण जीवन के अनुभवो में हुए परिवर्तन के फलस्वरूप इस अन्तर्विरोध में जो रूपान्तर घटित होता रहता है, उपन्यासकार को उसे भी दिखाना होता है। इस प्रकार, चरित्रचित्रण के प्रयत्न में उपन्यास मानव की अपनी परिस्थितियो के साथ उसके सम्बन्ध की तथा अपने परिपार्श्व के प्रति उसके दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास की अभिव्यक्ति बन जाता है। हिन्दी-उपन्यास भी इस प्रक्रिया का अपवाद नही।

उपन्यास से लोकरंजन की माँग

हिन्दी-उपन्यास की पृष्ठभूमि भारतेन्दु काल (सन् १८५०-१९०० ई०) के

प्रथम चरण से ही तैयार होनी आरम्भ हो गई थी। भारतेन्दु-काल के पूर्वार्द्ध की राजनीतिक परिस्थितियों तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए हम लिख आए हैं कि वह युग भारत के नैतिक पतन का युग था। जब राजा अत्याचारी हो, पर हो शक्तिशाली तथा जनता तंग हो, पर हो असहाय और निरुपाय, तब उसके पास इसके सिवाय और क्या चारा हो सकता है कि हाथ पर हाथ धर, अपने भाग्य को रोती रहे—विशेषतः जब उसने संगठित विद्रोह के रूप में पुरुषार्थ करके देख लिया हो और भाग्य ने उसका साथ न दिया हो। ऐसी घोर निराशापूर्ण स्थिति में जनता का, भाग्य आदि अतिमानवी शक्तियों में विश्वास करने लगना स्वाभाविक था और यह भी स्वाभाविक था कि धर्म के नाम पर रूढ़िवाद का बोलबाला होता और कुरीतियों और अंधपरम्पराओं को प्रश्रय मिलता। उस युग की जनता एक ओर तो इस प्रतीक्षा में एक-एक करके दिन काट रही थी कि कब अंग्रेजों के पाप का घड़ा भर कर फूटे और अतिमानवी शक्तियाँ उन्हें उनकी करनी का फल दें; दूसरी ओर वह अपने दैनिक जीवन के अनुभवों की कटुता कम करने के लिए जीवन की यथार्थता से पलायन की ओर प्रवृत्त हुई।

हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों को जनता की इन प्रवृत्तियों को तृप्त करना पड़ा। धार्मिकता की पुट लिए सामाजिक उपन्यासों ने जनता की पहली प्रवृत्ति को खाद्य प्रदान किया और तिलस्म-ऐय्यारी और जासूसी के उपन्यासों ने दूसरी प्रवृत्ति को तुष्ट किया। श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट आदि के उपन्यासों में अच्छे और बुरे पात्रों में संघर्ष, बुरे पात्रों द्वारा अच्छे पात्रों पर अत्याचार और अन्त में अच्छे पात्रों की विजय और बुरे पात्रों को उनके कुकृत्यों के लिए दण्ड आदि के चित्रण से जनता के इस विश्वास को बल मिला कि पाप का घड़ा भर कर एक न एक दिन अवश्य फूटेगा और अंग्रेजों के अत्याचार का अन्त होगा। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों में तिलस्मी करामातों के चित्रण से अतिमानवी शक्तियों में जनता की निष्ठा बढ़ी। उनके ऐय्यारों के मन्त्र-मुग्ध कर देने वाले क्रिया-कलापों ने पाठकों को आत्मविस्मृत करके उन्हें जीवन की कटु यथार्थताओं से मुक्त होने का—थोड़े समय के लिए ही सही—अवसर प्रदान किया। इस दूसरी प्रवृत्ति को तृप्त करने वाले उपन्यासों की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती गई और प्रेमचन्द के हिन्दी-उपन्यास-क्षेत्र में पदार्पण करने तक लोगों की इस माँग को पूरा करने के लिए हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्ति लोकरक्षण की अपेक्षा लोकरंजन की अधिक रही। लोकरक्षण की पूर्ण उपेक्षा तो उसने नहीं की। देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी ने भी अपने उपन्यासों में सत् और असत् पात्रों के भेद को नहीं भुलाया; धर्म और न्याय के मार्ग पर चलने वाले पात्रों की अन्त में विजय दिखाई और दुष्ट और अधर्मी पात्रों को दण्ड दिलाया। पर उनका मुख्य उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन रहा। उनका लक्ष्य नाना प्रकार की विस्मयोत्पादक घटनाओं का चमत्कारपूर्ण वर्णन करके पाठकों के हृदय में कुतूहल

जागृत करते हुए उन्हे मुग्ध करने की चेष्टा करना था—घटनाओ के घटाटोप के पीछे जो एक रहस्यमयता छिपी रहती है, उसका धीरे-धीरे उद्घाटन करके पाठको के औत्सुक्य को निरंतर बढाते रहना था।

अनायास चरित्रचित्रण

इसमें सन्देह नही कि इन उपन्यासो का लक्ष्य लोकरंजन था न कि पात्रो का चरित्रचित्रण, तो भी इन उपन्यासों में चरित्रचित्रण की पूर्ण उपेक्षा हुई हो, यह नहीं कहा जा सकता। उपन्यास-रचना के लिए लेखनी उठा कर चरित्रचित्रण की समस्या से भला कोई उपन्यासकार बच पाया है! अपने पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिए इन उपन्यासकारो ने चाहे कोई आयास न किया हो, पर उनके पात्रो के नामो, परिचयात्मक वर्णनों, आकृति-वेशभूषा-चित्रणो, घटना-चक्रों, कथोपकथनों, अध्यायों के शीर्षकों, पात्रों के एक-दूसरे को लिखे पत्रों आदि में उनका चरित्र अनायास ही व्यक्त हो पड़ता है।

सोद्देश्य चरित्रचित्रण

सामाजिक आन्दोलन : उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए देशव्यापी सुधारवादी आन्दोलनों ने भारतीय जनता को पतन के अतल गर्त से उबारा। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, महादेव गोविन्द रानाडे, स्वामी विवेकानन्द आदि के अथक परिश्रम से प्राचीन भारतीय संस्कृति का शुद्ध और निर्मल रूप लोगों के सामने आया, भारत के गौरवमय अतीत का प्रकाशन हुआ और धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की ओर सबका ध्यान गया। निराशा का स्थान आत्मविश्वास ने लिया, लोगों की आस्था भाग्यवाद से हट कर सामाजिक संगठन में केन्द्रित हो गई तथा व्यक्तिगत सुख-दु ख की भावना नि स्वार्थ सेवा में बदलने लगी। समाज पर से कूपमण्डूक लोगो का आतंक उठा, धर्म के नाम पर प्रचलित कुरीतियों और अध-परम्पराओं की पोल खुली और चारों ओर बड़े जोर से सुधारों की माँग व्यक्त हुई। जब तक सामाजिक चेतना पूर्ण रूप से राष्ट्रीय चेतना और तज्जनित स्वतन्त्रता-सग्राम में परिणत नहीं हो गई, अपनी परिस्थितियों के प्रति जनता का सुधारवादी दृष्टिकोण बना रहा और उसकी चेष्टा समाज-व्यवस्था को सब प्रकार से सुदृढ और न्यायपूर्ण बनाने की रही।

इसी बीच अपनी लोकरंजन-शक्ति के कारण उपन्यास, साहित्य की अन्य सभी विधाओं से आगे बढ़ चुका था। उसके पाठको और प्रशंसकों की सख्या में आशातीत वृद्धि हो रही थी और इसके साथ ही उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ रहा था। उपन्यास से माँग की जाने लगी थी कि वह लोकरंजन में ही न उलझा रह कर लोकरक्षण की ओर भी प्रवृत्त हो तथा विस्मयोत्पादक अस्वाभाविक घटनाओ के वर्णन

का मोह त्याग कर जीवन और जगत् की यथार्थ समस्याओं का निरूपण करे; वह सुन्दर ही नहीं, शिवं भी हो; प्रिय ही नहीं, हितकर भी बने। लोकरक्षण के लिए यह आवश्यक था कि समाज-व्यवस्था में, उसके द्वारा स्वीकृत आचार-व्यवहार में तथा उसके विधि-निषेधों में उपन्यास की पूर्ण आस्था होती और वह संस्थावाद का प्रचार करता। इस माँग की पूर्ति में उपन्यास कोरी कल्पना की उड़ान भरना छोड जीवन और जगत् के आदर्शों का चित्रण करने लगा, उसके पात्र अतिमानवी शक्तियों से वंचित होकर सीमित सामर्थ्य वाले गुण-दोष-युक्त मनुष्य प्रतीत होने लगे, और उनका चरित्रचित्रण सोद्देश्य--सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयासपूर्वक--होने लगा।

बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण--हम पहले कह आए हैं कि मानव-चरित्र हिमनग (आईसबर्ग) के समान है। जिस प्रकार हिमनग का केवल $\frac{1}{8}$ भाग जल के ऊपर दिखाई देता है और शेष जल-मग्न रहता है, उसी प्रकार मनुष्य के चरित्र का अत्यल्पांश ही उसकी व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं में प्रतिबिम्बित हो पाता है। मानव के चरित्र का बहुत बडा भाग तो उसके अचेतन मन में अव्यक्त रहता है और उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित किया करता है। सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले इन उपन्यासकारों की रुचि हिमनग रूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले व्यक्त अंश में ही रही और अपने पात्रों की आकृति, वेशभूषा, उनके आस-पास की परिस्थिति, उस परिस्थिति में व्यक्त उनके हाव-भाव, क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि के माध्यम से ही वे उनके चरित्र को चित्रित करते रहे। इनमें से कुछ-एक उपन्यासकारों ने मानव-चरित्र के अव्यक्त अंश का आभास पाकर उसे चित्रित करने की चेष्टा की भी तो उनके चित्रण मनोवैज्ञानिक सत्यांशों से दूर जा पडे। उनमें पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व के यथार्थ रूप की झाँकी न मिल सकी, क्योंकि अधिकांशतः उनके प्रयास का आधार भावुकतापूर्ण अनुमान ही होता था। प्रधानतया, उनकी प्रवृत्ति अपने पात्रों का बहिरंग (ऑब्जेक्टिव) चित्रण करने की ही थी। वे उन्हें 'वे' के रूप में ही चित्रित कर सके थे। अपने पात्रों के अव्यक्त 'मैं' रूप की यथार्थता से वे उपन्यासकार लगभग अनभिज्ञ ही थे। अपने सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें पात्रों के 'मैं' रूप की आवश्यकता भी नहीं थी। उनके लिए उनका 'वे' रूप ही पर्याप्त था।

सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले हिन्दी-उपन्यासकारों में प्रेमचन्द का शीर्ष स्थान है। अपने पात्रों के चरित्रचित्रण की प्रत्येक अवस्था में वह उनके निर्माण में निहित सामाजिक उद्देश्य के प्रति जागरूक रहते हैं। उन्हें उद्देश्यानुकूल रंग-रूप प्रदान करके और अच्छी तरह सिखा-पढ़ा कर ही प्रेमचन्द उन्हें उपन्यास के रंगमंच पर लाते हैं। उन्हें रंगमंच पर छोड़कर स्वयं चले नहीं जाते, अपितु वहीं डटे रहते हैं और उनकी प्रत्येक गतिविधि पर नियंत्रण रखते हुए उनसे वही कराते है, जिससे उनकी सामाजिक मान्यताओं की पुष्टि हो। पाठकों से प्रेमचन्द उनका

सीधा सम्पर्क नही होने देते और न ही पाठको को उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का मन-माना अर्थ लगाने देते है, प्रत्युत् साथ-साथ अपनी ओर से टीका-टिप्पणी करते रहते है और इसी बहाने पाठको पर अपना मत लादते जाते है। इस प्रकार, प्रेमचन्द अपने पात्रो और पाठकों, दोनों को ही, अनुशासन मे रखने की चेष्टा करते है, मानो उनके पात्र कल के छोकरे हों और पाठक निरे बुद्धू हो।

जयशंकर प्रसाद के पास था नाटककार का विशाल अनुभव। प्रेमचन्द की तरह वह अपने पात्रों के साथ उपन्यास के रंगमच पर प्रकट नही होते। पात्रों को स्वयं ही अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया, कथोपकथन आदि द्वारा पाठकों पर प्रकट होने देते हैं। अपने पात्रो पर उनका नियन्त्रण न रहता हो, यह बात नही; पात्रो को वे भी अपनी इच्छानुसार चलाते है। उनके पात्रों के आचार-व्यवहार के पीछे भी पाठक उनके स्रष्टा के अस्तित्व को महसूस करता है, पर उसे देख कही नही पाता। यहाँ तक कि पाठक कई बार चाहता भी है कि उपन्यासकार प्रकट होकर पात्रों के चरित्र की गुत्थी को सुलझाए, पर प्रसाद को तो सामने आने की आदत नही। पर्दे की ओट में खडे-खडे ही वह पाठक की सूझ-बूझ परखते रहते है और उसकी झल्लाहट पर मुस्कराते रहते है, यह उनकी नाटकीय प्रणाली की सीमा है, जिसके प्रति उपन्यासो में भी उनका मोह बना रहा है। चरित्रचित्रण की विश्लेषणात्मक शैली में उनकी रुचि नहीं। विश्लेषणात्मक शैली को तो प्रेमचन्द ने भी अधिक नही अपनाया। वह भी मुख्यत: वर्णनात्मक शैली में उलझे रहे। पर उनके पात्रो के चरित्रचित्रण मे कही भी दुरूहता नही आ पाई, क्योंकि उन्होने अपने पात्रो को दृढ़चरित्र (पाजैटिव-कैरेक्टर) प्रदान किया, जिससे वे बहिर्मुख अधिक रहे। पर प्रसाद ने सामाजिक आदर्शवाद के चक्कर में न पड़ कर अपने पात्रों को उनकी परिस्थितियों के अनुकूल ही ढुलमुल रहने दिया और सबसे बड़ी गड़बड यह की कि उनके भीतर के तरल द्रव्य की ओर संकेत करके उसे पूरी तरह चित्रित किये बिना ही छोड दिया। परि-णामत. उनके पात्रो की कई क्रियाओं की अत प्रेरणाओ में एकसूत्रता नही आ पाई और वे असम्बद्ध रह गई हैं।

पात्रों के चरित्र-विकास की दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्द से बहुत आगे, सभी सामाजिक मूल्यो के आगे प्रश्न-सूचक चिह्न लगाने वाले मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्रो के निकट ठहरते हैं; पर चरित्रचित्रण की दृष्टि से वह प्रेमचन्द के ही संशोधित संस्करण कहे जा सकते है। व्यक्ति के सामाजिक रूप में उसका नैसर्गिक आचरण कितना दबा रहता है और परिस्थिति के अनुरोध से आरोपित उसका आनुकूलिक आचरण (एडेप्टिव बिहेवियर) किस प्रकार देखने वालो को भरमाता रहता है, इसका चित्रण वर्मा जी के उपन्यासों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

अपने औपन्यासिक पात्रों के चरित्रचित्रण में वृन्दावनलाल वर्मा का दृष्टिकोण इतिहासकार का अधिक रहा है और उपन्यासकार का कम। प्रत्यक्ष प्रमाण को ही

उनकी चरित्रचित्रण-कला में अधिक मान मिला है। जयशंकर प्रसाद की तरह नाटकीय प्रणाली में और उसमें भी मुख्यतः कथोपकथनों के माध्यम से उन्होंने अपने पात्रों का बहिरंग चित्रण किया है। भीतर के तरल मानस को उन्होंने अधिक नहीं छेड़ा। इसलिए, उनका चरित्रचित्रण सतही चाहे रह गया हो, उसमें वह दुरूहता नहीं आने पाई, जो प्रसाद के औपन्यासिक चरित्रचित्रण में मिलती है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से यशपाल सोद्देश्य उपन्यासकारों के बहिरंग चित्रण और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के अंतरंग चित्रण की सीमा पर खड़े हैं। न तो वह सामाजिक आदर्शवाद की धुन में पात्रों के स्थूल रूप में ही उलझे रहे हैं और न ही व्यक्तिमानस की गहराइयों में डूब कर खो गए हैं। क्योंकि उनके कई पात्र एक साथ वर्ग-प्रतिनिधि और व्यक्ति-चरित्र दोनों ही रूपों में चित्रित हुए हैं, उनके पात्रों का बहिरंग और अंतरंग दोनों प्रकार का चित्रण हुआ है। उनका चरित्र-चित्रण न तो अन्य सोद्देश्य चरित्रचित्रण वाले उपन्यासकारों की तरह सतही रहा है और न ही उसमें मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की दुरूहता आ पाई है। उनकी चरित्रचित्रण-कला पाठकों से किसी प्रकार के आयास की अपेक्षा किए बिना पात्रों का बाह्याभ्यन्तर स्फटिक स्पष्ट कर देती है पर एक सीमा तक और वह सीमा है उनकी मार्क्सवादी मान्यताओं की। यशपाल की चरित्रचित्रण-कला में यदि अपनी बात मनवाने का आग्रह न होता तो उनका औपन्यासिक चरित्रचित्रण बेजोड़ होता।

मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण

अब तक मानव का दृष्टिकोण अपने आस-पास की परिस्थितियों के प्रति उदासीनता का नहीं, संघर्ष का दृष्टिकोण रहा था। इसलिए उपन्यास भी व्यक्ति और समाज के संघर्ष का तथा समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष का चित्रण करता रहा। इन उपन्यासों के पात्र जीवन-भर समाज से संघर्ष करते रहे तथा समाज के विधि-निषेधों ने उनका नाक में दम किए रखा, पर क्षण भर के लिए भी उन्होंने अपने को समाज से अलग नहीं माना। समाज के भीतर रहकर ही वे उसकी व्यवस्था में घुस आई विकृतियों को सुधारने में संघर्षरत रहे। समाज के अत्याचार द्वारा वे चाहे पिस गए हों और सामाजिक न्याय में उनका विश्वास भी हिल रहा हो; पर समाज से अलग होने की, उसकी पूर्ण उपेक्षा करने की, बात उन्हें कभी नहीं सूझी थी। पर युग ने करवट ली। समाज के भीतर वर्ग और वर्ग के संघर्ष से तथा व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष से समाज-व्यवस्था खोखली तो हो ही रही थी, वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास ने उस पर करारी चोट की। उधर डार्विन, मार्क्स तथा फ्रॉयड के सिद्धान्तों के प्रभाव से सभी पुरातन, नैतिक और सामाजिक मूल्य बदलने लगे, समाज के विधि-निषेधों के प्रति अस्वीकारिता का भाव जोर पकड़ने लगा और धीरे-धीरे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उदय हुआ। व्यक्ति की आस्था अपने परि-

पार्श्व—समाज, वर्ग तथा परिवार—से हटकर अपने मे ही केन्द्रित होती गई। उसकी बहिर्मुखता घटी और वह अन्तर्मुख होता गया। उसके जीवन मे बाह्य सघर्ष का स्थान मानसिक संघर्ष ने ले लिया। अपने परिपार्श्व के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण के बदलते ही उपन्यास का विषय भी बदल कर व्यक्ति-मानस हो गया, उसके पात्र भी धीरे-धीरे हुल-मुल व्यक्ति होने लगे और चरित्रचित्रण का आधार सामाजिक उद्देश्य न रह कर मनोविज्ञान हो गया।

फ्रॉयड की खोज ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्घाटित किया था, उससे उपन्यासकार को नई दृष्टि मिली। एडलर और जुंग के सिद्धान्तों ने तथा स्टेकेल और हेवलॉक ऐलिस की धारणाओं ने उसकी बड़ी सहायता की। पात्रों के मन में हो रही उथल-पुथल के चित्रण का प्रयत्न तो वह पहले भी करता था पर वह उनकी आकृति, वेष-भूषा, उनके विविध अनुभाव और व्यक्त क्रिया-प्रतिक्रिया पर आधारित अनुमान के बल पर होता था। अपने पात्र के मन में हो रहे सघर्ष के यथार्थ रूप से वह अब तक अपरिचित ही रहा था। मनोवैज्ञानिक खोजों ने उसकी आँखें खोल दी और उसे पता चला कि व्यक्ति का व्यक्त चरित्र ही सब कुछ नहीं अर्थात् उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया, हाव-भाव और कथोपकथन में उसका स्वल्पाश ही प्रतिबिम्बित हो पाता है। शेष अधिकाश तो अव्यक्त रहता है और उसके व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहता है। अब उपन्यासकार समझ गया कि उस अव्यक्तांश का यथार्थ रूप जाने बिना व्यक्ति को समझ सकना कठिन है। फलत. उपन्यासकार के लिए व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष का कोई मूल्य न रहा और वह व्यक्ति के मानस में हो रहे चेतन और अचेतन संघर्ष को पकडने में प्रवृत्त हुआ। फ्रॉयड, एडलर और जुंग के सिद्धान्तों ने तथा स्टेकेल और हेवलॉक ऐलिस की धारणाओ ने उसे नई दृष्टि दी और वह बड़े आत्म-विश्वास के साथ पात्रो के मानस की चीर-फाड़ करने और उनके अचेतन की परत-पर-परत खोलने में जुट गया। उसके पात्रो के चरित्रचित्रण में कोरे भावुकतापूर्ण अनुमान का स्थान मनोवैज्ञानिक प्रणालियों ने लेना आरम्भ किया और वह एक मनोविश्लेषक की दक्षता के साथ मनोविश्लेषण, स्वप्न-विश्लेषण, सम्मोह-विश्लेषण, प्रत्यवलोकन-विश्लेषण, शब्द-सहस्मृति-परीक्षण आदि द्वारा पात्रों के अचेतन में पड़ी मानसिक ग्रन्थियों और उनके कारणो को उघाडने लगा। अब उसका उपन्यास पात्र और परिस्थिति के सघर्ष का उपन्यास न रहा और न नायक और प्रतिनायक के संघर्ष का ही, प्रत्युत् अब वह नायक के चेतना प्रवाह (स्ट्रीम ऑव कान्शसनेस) और उसके अन्तर्विवादो (इन्टीरियर मोनोलॉग) का उपन्यास बन गया।

अंतरंग (सब्जैक्टिव) चित्रण—हिन्दी-उपन्यास में जैनेन्द्र जी एक पहेली के रूप में आए। हिन्दी के वे पहले उपन्यासकार है जिन्होने अपने पाठको को संकीर्ण सामाजिक नैतिकता से निकालकर मूल नैतिकता के लिए गहरे आत्म-चिन्तन की ओर प्रवृत्त किया। अपने पात्रों के मानस की गहराइयों में गोता लगाकर उन्होने यह दिखाया कि

कोई व्यक्ति जो दिखाई देता है, वह वही नही है। अपने पात्रों के मानस की परत-पर-परत खोलकर उसमें गहरे धँसे अचेतन द्वन्द्वों को उघाडकर उन्होने यह भी दिखा दिया कि वे जो करना चाहते हैं वह उनके किए होता नहीं और जिससे वे बचना चाहते हैं, वह उनसे अपने-आप हो जाता है। उनके अचेतन में निरन्तर परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में सघर्ष चलता रहता है जो उनके भाव-विचार और आचार को प्रभावित करके परिस्थिति से उनका मानसिक सतुलन नही बैठने देता। अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक समस्याओ का यथार्थ रूप चित्रित करने के लिए उन्होंने अनेक मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का सहारा लिया। पर उनकी गूढ़ आत्मचिंतन-प्रणाली और उसमें आवश्यक व्याख्या-सूत्रों का अभाव, चरित्रोद्घाटन की नई-नई शैलियों के मोह में पड़कर उपन्यासकार के सहज अधिकारों का उत्तरोत्तर त्याग, आवश्यकता से अधिक व्यंजकता के समावेश द्वारा पाठको को भरमाते रहना, उपदेशात्मकता से बचने के प्रयत्न में अभिप्राय की रास को ढील नही, हल्की खीच देकर चलना आदि कई विशिष्टताएँ मिलकर उनकी चरित्रचित्रण कला में एक ऐसा "जैनेन्द्रपन" ला देती है, जिससे पूरा परिचय पाए बिना पाठक उनके औपन्यासिक पात्रो से सायुज्य स्थापित नही कर पाता।

इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में व्यक्ति-मानस की चीर-फाड बड़ी निर्भीकता से की और अपने पात्रों की अचेतन ग्रन्थियों को उघाड़ने के लिए लगभग सभी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का सहारा लिया। मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा उद्घाटित पात्रों की मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के यथार्थ रूप को पाठकों पर प्रकट करने के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक व्याख्या का भी अपने उपन्यासों में प्रचुर मात्रा में समावेश किया और पात्रों में वह दुरूहता नहीं आने दी, जिसके कारण जैनेन्द्र जी के पात्रों से झल्लाहट होती है। पर स्पष्टीकरण की धुन में उनके उपन्यासो में व्याख्यात्मक अंश इतना अधिक बढ़ गया है कि उनमें खप नही पाता और उनके मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण को साधन से साध्य बना देता है। कई बार तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि विविध मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो की नींव पर ही उन्होंने अपने पात्रों का निर्माण किया है।

'शेखर : एक जीवनी' की रचना द्वारा अज्ञेय ने हिन्दी-उपन्यास में चरित्र-चित्रण को एक नई दिशा प्रदान की। तब तक उपन्यासकारों की समस्त शक्ति चरित्र-विकास की विविध अवस्थाओं में पात्रो के चरित्रोद्घाटन में लगी रही थी। विकासमान चरित्र (करैक्टर इन दी मेकिंग) को चित्रित करने की ओर किसी का ध्यान नही गया था। हिन्दी-उपन्यास में सर्वप्रथम विकासमान चरित्र के चित्रण द्वारा मनोवैज्ञानिक आधार पर व्यक्ति के जीवन में कार्य-कारण परम्परा को पकड़ने का श्रेय अज्ञेय को ही है। अतीत की स्मृतियों के विश्लेषण द्वारा वर्तमान की व्याख्या उनके 'शेखर : एक जीवनी' की मुख्य टेकनीक है। उनका दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' चरित्र के क्रमिक विकास का उपन्यास नही, विकसित चरित्र के उद्घाटन का

उपन्यास है, अनुभूति के विविध स्तरों पर वह चार संवेदनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

इस प्रकार, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का अंतरंग चरित्रचित्रण, जो सामाजिक उद्देश्य वाले उपन्यासों के बहिरंग चरित्रचित्रण की स्थूलता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रेरित हुआ था, व्यक्ति-मानस की गहराइयों में खोकर इतना सूक्ष्म हो गया कि उसे पकड़ने के लिए पाठकों को अत्यधिक आयास की अपेक्षा होने लगी।

औपन्यासिक चरित्रचित्रण की मुख्य समस्या

उपन्यासकार की लेखनी से निकलते ही उपन्यास पाठकों का हो जाता है। पाठक उपन्यास को पढ़ता ही नहीं, साथ-साथ अनुभव भी करता जाता है। वह यह जानने के लिए अधीर रहता है कि उसके किस पात्र के और कितने गहरे अनुभव उस तक पहुँचाये जा रहे हैं और उनसे उसका अपना मर्म कहाँ तक छिड़ा है अर्थात् उस की अपनी गत अनुभूतियों से ये अनुभव कहाँ तक मेल खाते हैं। उपन्यास के किसी पात्र की मनोव्यथा जब पाठक के हृदय को छू जाती है, उसके मर्म को छेड़ जाती है, तब पाठक का पात्र से सायुज्य स्थापित हो जाता है और वह आत्म-विभोर होकर वाह-वाह कर उठता है। जिस उपन्यास के किसी भी पात्र से पाठक पूर्णतया सायुज्य स्थापित नहीं कर पाता, उस उपन्यास से उसे साहित्यानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती—उसमें पात्रों के बाह्याभ्यन्तर का चित्रण चाहे कितना ही यथार्थ हुआ हो। हिन्दी-उपन्यास के इतना आगे बढ़ जाने पर भी प्रेमचन्द उपन्यास-सम्राट् बने हुए हैं तो इसलिए नहीं कि उन्होंने सबसे अधिक उपन्यास लिखे। इसलिए भी नहीं कि उन के उपन्यास आकार में बहुत बड़े-बड़े होते हैं। पाठकों के हृदय-सिंहासन पर उपन्यास-सम्राट् के रूप में प्रेमचन्द अब तक इसलिए विराजमान हैं कि उनके उपन्यासों में अधिकांश पाठकों को, वे चाहे किसी भी वर्ग या विचारधारा के हों, एकाधिक पात्र ऐसे मिल जाते हैं, जिनसे वे सायुज्य स्थापित कर सकें, और दूसरी बात यह कि उनसे सायुज्य स्थापित करने में पाठकों को कोई आयास नहीं करना पड़ता। इसलिए, औपन्यासिक चरित्रचित्रण के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह पात्रों के बाह्याभ्यन्तरिक रूप का यथार्थ चित्रण कर सके, प्रत्युत् यह भी आवश्यक है कि वह पाठकों से विशेष आयास की अपेक्षा न करे; अन्यथा जो पाठक विशेष आयास न कर सकेंगे, उन के लिए उपन्यास के पात्रों से सायुज्य स्थापित कर सकना कठिन हो जाएगा।

हिन्दी-साहित्य में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय से पहले का औपन्यासिक चरित्रचित्रण पाठकों से किसी विशेष आयास की अपेक्षा नहीं करता था। तब तक के उपन्यासकारों की प्रवृत्ति हिमनग-रूपी मानव-चरित्र के जल के ऊपर वाले व्यक्त अंश के चित्रण में ही रही थी। उसके जल-मग्न अव्यक्त अंश के चित्रण में न तो उन्हें रुचि थी और न उसकी उन्हें आवश्यकता ही थी। इसलिए, उन्होंने अपने पात्रों का

प्रधानतया वहिरंग (ऑब्जैक्टिव) चित्रण ही किया ; उनके उसी रूप को उघाड़ा जो विविध परिस्थितियों मे दूसरों पर व्यक्त होता रहता था। अपने पात्रों के आभ्यन्तरिक चित्रण की, उनकी मनोदशा के वर्णन की, आवश्यकता तो उन्हें पड़ी और उन्होंने उसका अंकन भी किया पर उसका आधार मनोविज्ञान नहीं, उनकी आकृति-वेशभूषा, क्रिया-प्रतिक्रिया, हाव-भाव, कथोपकथन आदि के आधार पर लगाया गया अनुमान ही होता था, जिसमें प्राय: भावुकता की पुट रहती थी। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पात्रों के चरित्र को समझने और समझाने की उनकी प्रक्रिया प्रयोगशाला में अपनाई जाने वाली विशेषज्ञों की प्रक्रिया न थी, प्रत्युत् उन्होंने उसी पद्धति का आश्रय लिया था, जिसे दैनिक जीवन में हम एक-दूसरे को समझने और समझाने के लिए अपनाते है। इसलिए, उन उपन्यासकारों के पात्रों से सायुज्य स्थापित करके साहित्यानन्द प्राप्त करने में पाठकों को कोई विशेष आयास नहीं करना होता था, क्योंकि उपन्यासकार की चरित्रचित्रण-प्रणाली उनकी अपनी और चिर-परिचित होती थी।

व्यक्ति-मानस की गूढ़ता : पर हिन्दी-साहित्य मे मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के उदय से स्थिति बदल गई। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों की रुचि मानव-चरित्र के व्यक्त रूप की अपेक्षा अव्यक्त रूप में अधिक थी। वे हिमनग-रूपी मानव-चरित्र के जल-मग्न अव्यक्तांश के चित्रण में प्रवृत्त हुए, जो स्वयं दृष्टि से ओझल रहकर व्यक्त रूप को प्रेरित करता रहता है। पात्रों के व्यक्त रूप को समझने और समझाने के लिए वे उनकी अन्तःप्रेरणाओं को पकड़ने की ओर प्रवृत्त हुए और उनके मानस की मनोवैज्ञानिक आधार पर चीर-फाड़ कर, उसकी परत-पर-परत खोलकर उनके व्यक्त आचरण के चेतन ही नही, अचेतन प्रेरकों तक को भी पकड़ने की चेष्टा करने लगे। पर अचेतन मन को पकड़ पाना कोई सरल काम नहीं। वैसे तो चेतन मन की प्रवृत्तियों को समझ पाना भी बड़ा कठिन है, पर अचेतन मन की प्रवृत्तियों को पकड़ पाना तो और भी कठिन है। अचेतन की व्याख्या करते हुए फ्रॉयड ने स्वयं एक बार कहा था कि अचेतन मन की भीतरी प्रकृति हमारे लिए उसी प्रकार अज्ञात रहती है जिस प्रकार बाह्य जगत् की यथार्थता; और अचेतन सामग्री में उसकी झलक उतनी ही अधूरी मिलती है, जितनी हमारी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् की जानकारी। इस लिए, इस अचेतन को समझ सकना साधारण लोगों के नही, मनोविश्लेषकों के ही वश की बात है। यह अचेतन मन जब व्यक्ति की अचेतन कल्पनाओं और विचारों की भाषा में भी पूरी तरह नही समझा जा सकता तो इसे समझाया कैसे जा सकता है और वह भी शब्दों की ससीम भाषा में जो चेतन मन की ही एक उपज है। इसलिए, कहना न होगा कि व्यक्ति-मानस की अचेतन प्रवृत्तियाँ इतनी गूढ़ होती हैं कि उपन्यासकार यदि सफल मनोविश्लेषक हो और उपन्यास में उसने उन सभी प्रणालियों का प्रयोग किया हो, जिनको एक मनोविश्लेषक अपनाता है तो भी शायद ही वह उन्हें उघाड़ सकेगा। वास्तव में, यह उपन्यास के विषय–अचेतन मन—की गूढ़ता है, जहाँ

उपन्यासकार को लाचार हो जाना पड़ता है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय प्रभृति उपन्यासकारों के लाख चेष्टा करने पर भी उनके पात्रों के चरित्रचित्रण में जो दुरूहता बनी रही है उसका एक कारण यह भी है।

आयास-साध्यता : मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की पहली सीमा उसके विषय अचेतन मन की अतिगूढ़ता और अकथनीयता है, तो उसकी दूसरी सीमा यह है कि अचेतन का जितना अंश मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण में निहित होता है, उतना भी समझ पाना पाठकों के लिए कठिन हो जाता है। जोसैफ फ्रैंक ने जो यह कहा है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यास साधारण अर्थ में पढ़ा नहीं जा सकता—सदा उसके पुनर्पठन की आवश्यकता रहती है, उसका कदाचित् यही अभिप्राय है कि केवल एक बार पढ़ने से मनोवैज्ञानिक उपन्यास समझ में नहीं आता। मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक से ही नहीं, पाठक से भी आयास की माँग करता है। हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का रूप स्थिर करने वाले पहले मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार ने भी यह माँग अपने प्रथम उपन्यास 'परख' में ही व्यक्त कर दी थी।

मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी कमजोरी उसके यह मानकर चलने में है कि उसके पाठक मनोविज्ञान के पूर्ण पण्डित हैं और वे विविध मनोवैज्ञानिक प्रणालियों से पूर्णतया परिचित हैं। इसलिए, वह निःसंकोच उन सभी प्रणालियों का प्रयोग करता है, जिन्हें एक मनोविश्लेपक अपनाता है—अधिक से अधिक वह यह करता है कि औपन्यासिक सुविधा के अनुसार उन्हें थोड़ा रूपान्तरित कर लेता है। अपने पात्रों के मुक्त आसंगों (फ्री एसोसिएशज), व्यक्त स्वप्नों (मैनीफेस्ट ड्रीम), अन्तर्विवादों (इन्टीरियर मोनोलॉग) आदि के रूप में, जो अचेतन मन की अनगढ़, टूटी-फूटी, युक्तिहीन भाषा में होते हैं, वह अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारणों को अभिव्यक्त तो कर देता है, पर उन्हें समझ तो वही सकेगा जो अचेतन मन की भाषा को समझने में विशारद हो। अभी ऐसे कितने पाठक होंगे—विशेषकर हिन्दी-उपन्यास के—जो बिना किसी सहायता के अचेतन मन की भाषा को समझ सकते हैं। यह तो साधारण पाठकों की बात है, पर पाठक यदि अनुभवी मनोविश्लेपक हो तो भी वह कदाचित् ही पात्रों के मुक्त आसंगों, अर्तविवादों, चेतना-प्रवाहों आदि को पूरा-पूरा समझ सकेगा, क्योंकि उनमें दी हुई अचेतन सामग्री उपन्यासकार ने अपनी रुचि, अनुभव और युक्तिक्रम के आधार पर सजाई होगी, जो मनोविश्लेपक पाठक के लिए असंगत और अपर्याप्त भी हो सकती है। दूसरे, पाठक को उस स्वल्प सामग्री पर ही निर्भर रहने के लिए विवश होना पड़ता है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर पात्रों से पूछ-ताछ करने की सुविधा—जो मनोविश्लेपक का सहज अधिकार माना जाता है—उपन्यास के पाठक को उपलब्ध नहीं होती। ये कठिनाइयाँ उस पाठक की हैं जो मनोविज्ञान का पण्डित है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारण पाठक मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण को कितना समझ पाता होगा।

पात्रों के चेतना-प्रवाह को समझे विना पाठक उनसे सायुज्य कैसे स्थापित कर सकेगा और किसी पात्र से सायुज्य स्थापित किये बिना उसे उपन्यास में साहित्यानन्द की प्राप्ति कैसे होगी। इसीलिए, मनोवैज्ञानिक उपन्यासो में पात्रों का अन्तरग (सब्जैक्टिव) चित्रण अधिक यथार्थ होने पर भी उनके प्रशंसकों की संख्या आज बहुत कम है। मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण पाठको से अत्यधिक आयास माँगता है और उसकी इस माँग को पूरा करने वाले पाठकों की संख्या अभी नगण्य है।

चरित्रचित्रण का भविष्य

ऊपर मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की दुरूहता का और सोद्देश्य अर्थात् बहिरग (ऑब्जैक्टिव) चरित्रचित्रण की सरलता का जो उल्लेख किया गया है, उससे लेखक का अभिप्राय यह नही कि उपन्यासकार मनोवैज्ञानिक अंतरंग चरित्रचित्रण छोड़कर सोद्देश्य बहिरंग चरित्रचित्रण की ओर लौट चलें। न ही ऐसा करने से चरित्रचित्रण की यह विकट समस्या सुलझ सकेगी। फ्रॉयड, एडलर और जुंग की खोजों ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना का जो रूप उद्घाटित किया है, उससे प्रेमचन्द प्रभृति उपन्यासकारों का सोद्देश्य चरित्रचित्रण यथार्थ से दूर हटा हुआ प्रतीत होने लगा है। मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण को पूर्णतया समझ सकने वाले पाठकों की संख्या चाहे अभी अधिक न हो पर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के प्रचार के कारण आज इस प्रकार के निराश पाठकों की कमी नही, जिन्हें सोद्देश्य चरित्रचित्रण में उसके यथार्थ से दूर लगने के कारण रुचि नही रही, पर जो मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण में रुचि रखते हुए भी उसे पूरी तरह समझ नहीं पाते। इसलिए, मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण की क्षमता, उपयोगिता और उसमें बढ़ती हुई पाठको की रुचि के कारण उससे इधर-उधर होने का आज के उपन्यासकार के लिए प्रश्न ही नही उठता। हाँ, उसे यह अवश्य सोचना होगा कि मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण को पाठकों के लिए किस प्रकार सुबोध बनाया जाए। इस सम्बन्ध में उसे यह नहीं भूलना होगा कि जिस प्रकार मनोविश्लेषक द्वारा पात्र की मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों के अचेतन कारणों को उसके चेतन में ले आने से ही उस पात्र की वे कठिनाइयाँ दूर नहीं हो जातीं, प्रत्युत् मनोविश्लेषक के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह उन अचेतन प्रेरणाओ की उचित व्याख्या द्वारा उन्हें पात्र को समझाता भी जाए; उसी प्रकार, मनोवैज्ञानिक चरित्रचित्रण में इतना ही पर्याप्त नही कि उसमें पात्रों की अचेतन प्रेरणाएँ निहित हों, प्रत्युत् पाठकों की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि उपन्यासकार उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा उन पर उचित टीका-टिप्पणी के अवसर निकाल कर उन्हें पाठकों के लिए बोधगम्य बनाए। उपन्यासकार को यह स्वीकार करना होगा कि जब तक उसके पाठक पात्रों के अचेतन तक पहुँचाने वाली सभी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों से पूरी तरह परिचित नही हो जाते, एवं उन प्रणालियों पर

उनका सहज अधिकार नही हो जाता, तब तक अपने उपन्यासो में उचित व्याख्या के समावेश द्वारा उन्हे समझाने का दायित्व उपन्यासकार पर ही होगा। वह अपने इस दायित्व से कतराएगा तो उसके पात्र पहेली से दीखने लगेंगे और उपन्यास गोरख-धन्धा।

इसमें सन्देह नही कि व्यक्ति के चरित्र का अत्यल्पांश ही उसकी व्यक्त क्रिया-प्रक्रिया में प्रतिबिम्बित हो पाता है और उसका शेष बड़ा भाग, जो उसके व्यक्त आचरण को प्रेरित करता है, अव्यक्त रहता है। उस अव्यक्त को शनैः शनैः उघाड़ने में ही चरित्रचित्रण की सार्थकता है। पर यह नही भूलना चाहिए कि यदि मानव-चरित्र वही नहीं जो व्यक्त है, तो मानव के अव्यक्त चरित्र को भी उसका समूचा चरित्र नही कहा जा सकता। जिस प्रकार हिमनग का जल के ऊपर वाला व्यक्त भाग और जल-मग्न अव्यक्त भाग दोनो मिलकर ही पूरा हिमनग बनता है, उसी प्रकार मानव-चरित्र के व्यक्त और अव्यक्त दोनो रूपो में से कोई भी अपने-आप में पूर्ण नही; दोनो ही एक-दूसरे के पूरक है। कदाचित् इसीलिए, पात्रो के बहिरंग (ऑब्जैक्टिव) चित्रण में उलझा रहने वाला उपन्यासकार अपने पात्रो का सतही चरित्रचित्रण ही कर पाता है, और अंतरंग (सब्जैक्टिव) चित्रण की धुन में व्यक्ति-मानस की अतल गहराइयो मे खो जाने वाला उपन्यासकार अपने पात्रो को पहेली बना बैठता है। वास्तव में, चरित्रचित्रण की सफलता बहिरंग तथा अंतरंग चित्रण के समन्वय में है। भविष्य उसी उपन्यासकार का साथ देगा जो अपने उपन्यास में चरित्रचित्रण की इन दोनों शैलियों में संतुलन बैठा सकेगा।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

और

पारिभाषिक शब्दावली

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची (BIBLIOGRAPHY)

ENGLISH

Adler, Alfred. 'On the Interpretation of Dreams', *International J. Indiv. Psychol. 2-No. 1.*

Adler, Alfred. *Problems of Neurosis*, Kegan Paul, Trench, London.

Adler, Alfred. 'A School Girl's Exaggerations of her own Importance', *International J. Indiv. Psychol. 3.*

Adler, Alfred. *Science of Living*, Greenberg, Pub. Inc., New York, 1929.

Adler, Alfred. 'Significance of Early Recollections', *International J. Indiv. Psychol No. 3.*

Adler, Alfred. *Social Interest: A Challenge to Mankind*, trans. John Linton, Faber & Faber, London, 1938.

Adler, Alfred. *Understanding Human Nature*, Greenberg, Pub Inc., New York, 1927.

Adler, Alfred. *What Life Should Mean to You*, Little Brown, Boston, 1931.

Alexander, F. *The Medical Value of Psycho—analysis*, Allen & Unwin, London, 1932.

Allain. *Systeme des Beaux.*

Allen, Walter (ed.). *Writers on Writing*, Phoenix House, London, 1948.

Allport, G. W. *Personality: A Psychological Interpretation*, Constable & Co., London, reprint, 1951.

Ansbacher, H. L. & R. R. Ansbacher. *The Individual Psychology of Alfred Adler*, Basic Books, Inc. New York, 1956

Archer, William. *Playmaking: A Manual of Craftsmanship*, Chapman & Hall, London.

Aurobindo. *Lights on Yoga*, Arya Publishing House, Calcutta, 1948.

Barret, William E. 'The Living Character', *The Writer's Hand Book*, Writer's Inc., Boston, 1952.

Beauvoir, Simon De. *The Second Sex*, Parshley's Eng. trans., Oxford, 1953.

Blake, W. H. 'A Priliminary Study of the Interpretation of Bodily Expression', *Teachers College Contrib. to Educ.*, 1933, No. 574.

Boas, R. P. Edwin Smith. *Enjoyment of Literature*, Harcourt, Brace & Co., New York.

Brightman, E. S. (ed). Proceedings of the Sixth International Congress of Philosophy, Longmans, London, 1927.

Campbell, Sir George, *Memoirs of My Indian Career. II.*

Carter, H. D. Emotional Factors in Verbal Learning—IV. Evidence from Reaction Time. *Journal of Educational Psychology, 1937 : 38.*

Church, Richard. *The Growth of the Novel*, Methuen & Co., London, 1951.

Cousins, Norman (ed.). *Writing for Love or Money*, Longman, Green & Co., Canada, 1949.

Crosland, H. *The Psychological Methods of Word-Association & Reaction Time as Test of Deception*, University of Oragon Publication, Psychol. Series, 1929, 1 : No. 1.

Dalbiez, R. *Psycho-analytical Method and the Doctrine of Freud*, trans, T. F. Lindsay, Longman, Green & Co. London, 1941.

Dine, S. S. Van. 'Twenty Rules for Writing Detective Stories', *The Writer's Hand Book*, Writer's Inc., Bostonr, 1952.

Dodwell, Henry. *A Sketch of the History of India : 1858-1918.* Longman, Green & Co., London, 1925.

Dodwell, H. H. *The Cambridge History of India*, Vol. VI, 1932.

Edel, Leon. *The Psychological Novel* (1900-1950), J.B. Lippincott Company, New York, 1955.

Egri, Lajoi. 'Plot or Character', *The Writer's Book*, Harper & Bros, New York, 1950.

Fielding, Henry. *Tom Jones*, Book II, The Modern Liby., New York.

Fielding, William J. *Self-Mastery Through Psycho analysis*, Eton Reprint Edn., 1952.

Ford. *Joseph Conrad : A Personal Remembrance*, 1924.

Forster, E. M. *Aspects of the Novel*, Edward Arnold & Co., London., pocket edn., 1949.

Fox, Ralph. *The Novel and the People*, Foreign Languages Publishing House, Moscow, 1954.

Frankenberg, Mrs. S. *Common Sense in the Nursery*, Penguin Book, revised edn. 1946.

Freud, Sigmund. *Beyond the Pleasure Principle*. International Psycho-analytical Press, London, 1922.

Freud, Sigmund. *Fragments of an Analysis of a Case of Hysteria*, Dora, *Collected Papers*, Vol. III, 1905.

Freud, Sigmund. *Interpretation of Dreams*, trans. Strachey, Allen & Unwin, London, 1955.

Freud, Sigmund. *Interpretation of Dreams*, trans, A. A. Brill, *The Basic Writings of Sigmund Freud*, The Modern Lib., New York, 1938

Freud, Sigmund. *Introductory Lectures on Psycho-analysis*, trans Joan Riviers, Allen & Unwin, London, 1929.

Freud, Sigmund. *New Introductory Lectures on Psycho—analysis*, W. W. Norton and Comp. Inc., New York, 1933.

Freud, Sigmund. *Psychopathology of Every Day Life—Childhood and Concealing Memories*, trans. A. A Brill, E. Benn, 1954.

Frink. *Morbid Fears and Compulsions*.

Griffiths, P. *The British Impact on India*, MacDonald, London, 1952.

Guedalla, Phillips. *The Sunday Times* of 27th May, 1928.

Haines, Helen E. *Living with Books*, Columbia University Press, New York, second edn., 1950.

Hall and Lindzey. *Theories of Personality*, John Wiley & Sons, New York, 1957.

Hanawatt, H. G. "The Role of the Upper and the Lower Parts of the Face as a Basis for Judging Facial Expressions" *Journal of General Psychology*, 1944, 31 · p.23-36.

Harding. *The Way of All Women A Psychological Interpretation*, Longman, Green & Co. London, 1947

Havighurst, R.J. and Hilda Taba. *Adolescent Character and Personality*, John Wiley & Sons, New York, 1949.

Hepner, H. W. *Psychology Applied to Life and Work*, Prentice-Hall, New York, 1950.

Hiriyanna, H. *The Essentials of Indian Philosophy*, George Allen and Unwin, London, second imp., 1951.

Hoffman, Frederick J. *Freudianism and Literary Mind*, Lousiana State University Press, New York, 1945.

Horney, Karen. *Self-Analysis*, Routledge & Kegan Paul, London, 1942.

Hudson, W. H. *An Introduction to the Study of Literature*, George G Harrap & Co., London, 1949.

Hull, Helan (ed.). *The Writer's Book*, Harper & Bros., New York, 1950.

James, Henry. *Portable Henry James*, Vilsin Press, New York, 1951.

James, Henry. *The Spoils of Poynton.*

Johnson, and Weigand. *Proc. Penna. Acad. Sci.*, 1927.

Jung, C. J. *Modern Man in Search of a Soul*, Routledge & Kegan Paul, London, 1949.

Kale, M. R. *Higher Sanskrit Grammar*, Appendix to Dhatu Kosh.

Kettle, Arnold. *An Introduction to the English Novel*, Vol. 1, Union Library, Hutchinson, 1951.

Klein, M. *The Psycho-analysis of Children*, Hogarth Press, 1932.

Lahmann, John. *Penguin New Writing*, Penguin Books, September, 1942.

Lamb, Charles. 'A Letter to Wordsworth', *Time and the Novel*, 1952.

Landis, Paul. *Adolescence and Youth*, McGraw Hill, New York, 1952.

Lawrence, D. H. *Lady Chatterley's Lover*, Signet Book, Sixth Print, 1950.

Lawrence, D. H. 'Morality and the Novel', Posthumous Papers : *Pheonix*, London.

Lawrence, D. H. *Studies in Classical American Literature*, Heinemann, New York, 1930.

Liddell, Robert. *A Treatise on the Novel*, Jonathan Cape, London, second imp., 1949.

Lubbock, Percy. *The Craft of Fiction*, Jonathan Cape, London, 1954.

Maciver, R. M. *Society*, Macmillan and Co., London, 1950.

Madan, Dr. I. N. *Premchand : An Interpretation.*

Majumdar, R. C. *An Advanced History of India*, Macmillan, London, 1953.

Marx, Karl. *Critique of Political Economy.*

McDougall, William. *An Outline of Psychology*, Methuen & Co., London, 1943.

Medilow, A. A. *Time and The Novel*, P. Nevill, 1952.

Meredith, Scott. 'Stuffing the Hollowman—Characterization', *Writing to Sell.* Harper & Bros, New York, 1950.

Misra, Vachaspati. *Sankhyatatwakaumudi*, Bombay, Samvat, 1969.

Mounier. E. *The Character of Man*, trans. C. Rowland, Rockliff, London, 1956.

Muir, Edwin. *The Structure of the Novel*, Hogarth Press, London, 5th imp. 1949.

Murphy, G. *General Psychology*, Harper & Bros. New York, 1935.

Murray, H. A. *Explorations in Personality*, Oxford University Press, New York, 1938.

Nikhilananda. *Vedanta-Sara of Sadananda Yogendra*, Advait Ashram, Almora, 1949.

Padmore, Frank. *Apparitions and Thouhgt Transference.*

Pain, Barry. *The Short Story*, Harrap & Co., London.

Patrick, Q. 'The Naughty Child of Fiction', *The Writer's Hand Book*, Writer's Inc. Boston, 1952.

Radhakrishnan, Dr. S. *Indian Philosophy*, George Allen & Unwin, London, 1948.

Roback, Dr. A. A. *The Psychology of Character*, Routledge & Kegan Paul, London, third edn., 1952.

Roback, Dr. A. A. *Problems of Personality*, Campbell & Bros, 1925.

Robinson, M. L. *Writing for Young People*, Thomas Nelson & Sons, New York. 1950.

Ruch, F. L. *Psychology and Life*, Scott, Foreman & Co. New York, third edn.

Russel. *My Diary in India.*

Schilder, P. *Psycho-analysis, Man and Society*, W. W Norton & Co., New York, 1951.

Schoen, Max. *Human Nature in the Making*, The Wordsworth, Surrey, 1947.

Sinha, J. *Indian Psychology: Perception*, Kegan Paul, Trench & Co., London, 1934.

Spender, Stephen. 'The Novel and Narrative Poetry', *The Penguin New Writing*, Penguin Books, London, Sep , 1942.

Soman. *General Introduction to Stevenson's Stories.*

Stagner, Ross. *Psychology of Personality*, McGraw Hill, New York, 1948

Thomson and Garrat. *Rise and Fulfilment of the British Rule in India*, Macmillan & Co., London.

Tilak, B. G. *Kesari* of 12th June, 1908.

Tracy, Dr. F. *How to use Hypnosis*, Arco. Pub. Co., London, 1953.

Tridon, Andre. *Psycho-analysis and Love.* Perma Books edn., 1949.

Unwin. *Sex and Culture*, Oxford University Press, London, 1934.

Vatsyayan, S. H. 'Hindi Literature', *Contemporary Indian Literature*, Sahitya Akademi, New Delhi, 1957.

Waehner, T. S. 'Interpretation of Spontaneous Drawings and Paintings'. *Genet. Psychol Monoger.*

Webster. *American Standard Dictionary*, Triangle Books, New York, 1948.

Webster. *New International Dictionary of English Language*, second edn., 1945.

Wellek, R & Austin Warren. *The Theory of Literature*, Jonathan Cape, London. 1949.

Wolfert, Era. 'What is a Novel and what is it Good for', *The Writer's Book*, Harper & Bros., New York.

Zola, E. *Nana*, Pocket Books, New York, 1951.

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

अज्ञेय. नदी के द्वीप, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, १९५१।

अज्ञेय. शेखर : एक जीवनी—भाग १-२, सरस्वती प्रेस, बनारस, तृतीय सस्करण, १९२।

अरविन्द. योग प्रदीप, श्री अरविन्द-ग्रंथमाला, कलकत्ता, १९३६।

इशा अल्ला खाँ. रानी केतकी की कहानी, परिमल प्रकाशन प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९५२।

एंगेल्स, फ्रेड्रिक. समाजवाद : काल्पनिक और वैज्ञानिक, हिन्दी-संस्करण, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई, १९४९।

काश्यप, अर्जुन चौबे. सामान्य मनोविज्ञान, राजराजेश्वरी पुस्तकालय, गया, प्रथम सस्करण, १९५१।

कोठारी, कोमल, (सं०). प्रेमचन्द के पात्र, प्रेरणा प्रकाशन, जोधपुर, १९५४।

गहमरी, गोपालराम. ठन-ठन गोपाल, किताब महल, इलाहाबाद, द्वितीय सस्करण, १९४६।

खत्री, देवकीनन्दन. चन्द्रकान्ता, लहरी बुक डिपो, बनारस, २९वाँ संस्करण, १९५६।

खत्री, देवकीनन्दन. चन्द्रकान्ता-सन्तति, लहरी बुक डिपो, बनारस १६वाँ सस्करण, १९५१।

खत्री, डा० एस० पी०. आलोचना . इतिहास तथा सिद्धान्त, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

जैनेन्द्र कुमार. कल्याणी, हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर, बम्बई, तीसरा सस्करण, १९५३।

जैनेन्द्र कुमार. जयवर्धन, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

जैनेन्द्र कुमार. त्याग-पत्र, हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर, बम्बई, सातवाँ सस्करण, १९५५।

जैनेन्द्र कुमार. परख, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, आठवाँ सस्करण, १९५६।

जैनेन्द्र कुमार. विवर्त, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५३।

जैनेन्द्र कुमार. व्यतीत, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सस्करण, १९५३।

जैनेन्द्र कुमार. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, १९५३।

जैनेन्द्र कुमार. सुखदा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५२।

जैनेन्द्र कुमार. **सुनीता**, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई, चौथा संस्करण, १९४९ ।

जोशी, इलाचन्द्र. **जहाज का पंछी** ।

जोशी, इलाचन्द्र. **जिप्सी**, सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९५२ ।

जोशी, इलाचन्द्र. **निर्वासित**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, सं० २००३ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **पर्दे की रानी**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, स० २००२ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **प्रेत और छाया** ।

जोशी, इलाचन्द्र. **मुक्ति पथ** ।

जोशी, इलाचन्द्र. **लज्जा**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, सं० २००७ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र **संन्यासी**, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थ संस्करण, सं० २००६ वि० ।

जोशी, इलाचन्द्र. **सुबह के भूले**, हिन्दीभवन, इलाहाबाद, १९५२ ।

तिलक, बालगंगाधर. **गीता-रहस्य**, हिन्दी संस्करण ।

त्रिगुणायत, डा० गोविन्दशरण. **शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त**, प्रथम भाग, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५७ ।

भटनागर, डा० रामरतन. **कलाकार प्रेमचन्द**, यूनिवर्सल प्रेस, इलाहाबाद ।

भट्ट, बालकृष्ण. **सौ अजान एक सुजान**, गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ, ११वाँ संस्करण, स० २००६ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **आँसू**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००३ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **इरावती**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण ।

प्रसाद, जयशंकर. **कंकाल**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, ५वाँ संस्करण ।

प्रसाद, जयशंकर. **कामायनी** ।

प्रसाद, जयशंकर. **काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध**, द्वितीय संस्करण, स० २००१ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **तितली**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, ५वाँ संस्करण, सं० २००५ वि० ।

प्रसाद, जयशंकर. **विशाख**, प्रथम संस्करण, १९२१ ।

प्रेमचन्द. **कर्मभूमि**, सरस्वती प्रेस, बनारस ।

प्रेमचन्द. **कायाकल्प**, सरस्वती प्रेस बनारस ।

प्रेमचन्द. **कुछ विचार**, सरस्वती प्रेस, बनारस, चौथा संस्करण, १९४९ ।

प्रेमचन्द. **गोदान**, सरस्वती प्रेस, बनारस ।

प्रेमचन्द. गबन, सरस्वती प्रेस, बनारस, ८वाँ संस्करण, १९४६.।
प्रेमचन्द. निर्मला, सरस्वती प्रेस, बनारस, ९वाँ संस्करण, १९५२।
प्रेमचन्द. प्रतिज्ञा, सरस्वती प्रेस, बनारस, ८वाँ संस्करण, १९५३।
प्रेमचन्द. प्रेमाश्रम, सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रेमचन्द. रंगभूमि, सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रेमचन्द. वरदान, सरस्वती प्रेस, बनारस।
प्रेमचन्द. सेवासदन, हिन्दुस्तानी पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
मदान, डा० इन्द्रनाथ. प्रेमचन्द : एक विवेचन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
वर्मा, भगवतीचरण. आखिरी दाँव, भारती भण्डार, प्रयाग, प्रथम सस्करण।
वर्मा, भगवतीचरण. चित्रलेखा, भारती भण्डार, इलाहाबाद, ८वाँ सस्करण, स० २००४ वि०।
वर्मा, भगवतीचरण. टेढ़े-मेढ़े रास्ते, भारती भण्डार, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, स० २००५ वि०।
वर्मा, भगवतीचरण. तीन वर्ष, भारती भण्डार, प्रयाग, चतुर्थावृत्ति, स० २००५ वि०।
वर्मा, भगवतीचरण. पतन, गगा ग्रंथागार, लखनऊ द्वितीयावृत्ति, १९४९।
वर्मा, डा० रामकुमार. विचार-दर्शन, साहित्य-निकुंज, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४८।
वर्मा, रामचन्द्र. सक्षिप्त शब्द-सागर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, स० २००२ वि०।
वर्मा, वृन्दावनलाल. कचनार, मयूर प्रकाशन, झाँसी, प्रथमावृत्ति, १९४८।
वर्मा, वृन्दावनलाल. गढ़ कुण्डार, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, ५वी आवृत्ति, १९४६।
वर्मा, वृन्दावनलाल. झाँसी की रानी, मयूर प्रकाशन, झाँसी, द्वितीयावृत्ति, १९४८।
वर्मा, वृन्दावनलाल. मृगनयनी, मयूर प्रकाशन, झाँसी, प्रथम संस्करण, १९५०।
वर्मा, वृन्दावनलाल. विराटा की पद्मिनी, गंगा ग्रंथागार, लखनऊ,तृतीयावृत्ति, स० २००३ वि०।
वर्मा, वृन्दावनलाल. सोना, मयूर प्रकाशन, झाँसी।
वाजपेयी, नन्ददुलारे. आधुनिक साहित्य, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००७ वि०।
वाजपेयी, नन्ददुलारे. जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २००४ वि०।
वाजपेयी, नन्ददुलारे. प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन, हिन्दी भवन, इलाहाबाद।
व्यास, अम्बिकादत्त. आश्चर्य वृत्तान्त, व्यास पुस्तकालय, काशी, चतुर्थ संस्करण, १९४९।
यशपाल. दादा कामरेड, विप्लव कार्यालय, लखनऊ।

यशपाल. दिव्या, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, ५वाँ संस्करण, १९५६ ।
यशपाल. देशद्रोही, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, तीसरा संस्करण, १९४६ ।
यशपाल. पार्टी कामरेड, विप्लव कार्यालय, लखनऊ, दूसरा संस्करण, १९४७ ।
यशपाल. मनुष्य के रूप, विप्लव कार्यालय, लखनऊ ।
यशपाल अभिनन्दन ग्रन्थ, पंजाबी विभाग, पटियाला, १९५७ ।
शर्मा, डा० जगन्नाथप्रसाद. हिन्दी की गद्य-शैली का विकास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
शर्मा, यज्ञदत्त. हिन्दी के उपन्यासकार, भारती भाषा भवन, दिल्ली, १९५१ ।
शर्मा, डा० रामविलास. प्रेमचन्द और उनका युग, मेहरचन्द मुंशीराम, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५२ ।
शिवरानी. प्रेमचन्द : घर में, सरस्वती प्रेस, इलाहाबाद ।
शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००३ वि० ।
श्रीनिवासदास. परीक्षा गुरु ।
श्रीवास्तव, शिवनारायण. हिन्दी-उपन्यास, सरस्वती मन्दिर, बनारस, सं० २००२ वि० ।
सिन्हा, शशिलता. प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ।
हरिश्चन्द्र. महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली, सं० २००९ वि० ।

पत्र-पत्रिकाएँ

आजकल, जून, १९५१ ।
आरती, अगस्त, १९४१ ।
आलोचना : इतिहास-विशेषांक, अक्तूबर, १९५२ ।
कल्पना, फरवरी, १९५१ ।
कल्पना, मार्च, १९५३ ।
कल्याण : वेदान्त अंक, सं० १९९३ वि०
कोहेनूर, लाहौर, २८ जुलाई, १८७७ ।
नया समाज, मई, १९५३ ।
नये-पत्ते, जनवरी-फरवरी, १९५३ ।
पारिजात, जनवरी, १९४७ ।
प्रतीक, इलाहाबाद, सं० १ ग्रीष्म ।
वीरअर्जुन, २७ नवम्बर, १९४७ ।
वीणा, दिसम्बर, १९४१ ।
संगम : प्रसाद-स्मृति-अंक, फरवरी, १९५१ ।

समाज, जुलाई, १९४७।
सरस्वती, मार्च, १९५२।
साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २० दिसम्बर, १९५३।
साप्ताहिक संसार, १ जुलाई, १९४६।
साहित्य-सन्देश : आधुनिक उपन्यास-अंक, जुलाई-अगस्त, १९५६।
हंस, दिसम्बर, १९३३।
हंस : प्रेमचन्द स्मृति-अंक, मई, १९३७।
हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, नवम्बर, १८७८ ई०।

संस्कृत

अमरु	अमरुशतक, काव्यसंग्रह, कलकत्ता, १८७२।
	कठोपनिषद्
जगन्नाथ	रसगंगाधर, प्रथम आनन।
	महाभारत, शान्ति पर्व।
मिश्र, वाचस्पति	सांख्य-तत्त्व-कौमुदी, बम्बई, सं० १९६९ वि०।
वात्स्यायन	कामसूत्र।
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
	श्रीमद्भगवद्गीता
सरस्वती, माधव	मितभाषिणी।
	सांख्य

मराठी

सहस्रबुद्धे, डा०	स्वभावलेखन-कला।

बँगला

दास, ज्ञानेन्द्रमोहन	बँगला भाषार अभिधान।

प्रबन्ध की पारिभाषिक शब्दावली

अंतरंग चरित्र-चित्रण	subjective characterization
अंतःप्रेरणाओं का चित्रण	motivation
अंतर्दृष्टितः	subjectively
अंतर्द्वन्द्व	mental conflict
अंतर्विवाद	interior monologue
अंतर्मुख	introverted
अचेतन प्रतिन्यास	unconscious attitudes
अचेतन व्यवहार	automatism
अनुभाव	expressive features
अपसामान्य	abnormal
अवचेतन	subconscious
आभ्यान्तरिक चित्रण	subjective characterization
अहं	ego
अहंवादी	egoist
आन्तरायिक	intermittent
आत्मरति	narcissism
आत्म-विश्लेषण	self-analysis
आनुकूलिक व्यक्तित्व	adaptive personality
आनुवंशिकता	heredity
आवेगज आचरण	emotional behaviour
उत्तेजना	impulse
उदात्तीकरण, उन्नयन	sublimation
उद्दीपन	stimulus
उभयलैंगिकता	bisexuality
एकात्मीकरण	identification
किशोरावस्था	adolescence
घर्षकाम	masochism
चारित्रिक गुणावगुण	personality traits
चित्र-विश्लेषण	picture-analysis
चेतना प्रवाह	stream of consciousness

छाप	impression
तनाव	tension
तीव्रता	intensity
तृप्ति, काम-वासना	gratification, sexual
तादात्म्य	identification
दमन	repression
दर्शन	vision
नाटकीकरण, स्वप्न संघटन	dramatization, dream mechanism
निराधार प्रत्यक्षीकरण	hallucination
परिपक्वता	maturity
परिवेश	environments
पात्र	subject, characters
प्रतिध्वनि	echo
प्रतीकीकरण, स्वप्न संघटन	symbolization, dream mechanism
प्रत्यक्षीकरण	perception
प्रत्यावर्त्तन	regression
प्रत्यवलोकन	recollection
प्रवृत्ति	aptitude
प्रेरणा, प्रेरक	motive
पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली	case-history method
बहिरंग चरित्रचित्रण	objective characterization
बहिर्मुख	extroverted
बाधकता-विश्लेषण	analysis of resistance
भ्रान्ति	delusion
मानस	psyche
मानसिक सन्तुलन	mental equilibrium
माया	illusion
मुक्त आसंग	free association
मुख-अध्ययन	face reading
मुखाकृति विज्ञान	physiognomy
मुख-इंगित	facial expressions
मृत्यु का अकारण भय	death phobia
यथार्थता सिद्धान्त	reality principle
युक्तिकरण	rationalization
यौन प्रवृत्ति	sex urge
वातावरण	environments
बाह्य चरित्रचित्रण	objective characterization
बाह्यदृष्टितः	objectively
विकासशील पात्र	kinetic character

विकासमान चरित्र	character in the making
विद्रोही व्यक्तित्व	defiant personality
विनीत व्यक्तित्व	submissive personality
विवेक बुद्धि	conscience, super-ego
विस्थापन, स्वप्न संघटन	displacement, dream machanism
वैर भाव	hostility
व्यक्त आचरण	overt behaviour
व्यंजकता	suggestiveness
व्याख्या, मनोवैज्ञानिक	interpretation, psychological
शब्द-सहस्मृति-परीक्षण	words association test
शैली प्रदर्शन	mannerism
संक्रमण-विश्लेषण	analysis of transference
संघनन, स्वप्न-संघटन	condensation, dream mechanism
संघर्ष	conflict
संवेदनशीलता	sensitivity
संवेदना	sensation
समयौनता	homosexuality
सम्मोहन-क्रिया	hypnotism
सम्मोह-विश्लेषण	hypno-analysis
सहस्मृतियाँ	associations
सामान्यीकरण	generalization
सामंजस्य	adjustment
सायुज्य-स्थापन	identification
सुख सिद्धान्त	pleasure principle
स्मृत कथोपकथन	recollected dialogues
स्वचालित व्यक्तित्व	self-directive personality
स्वप्न का व्यक्त रूप	manifest form of dream
स्वप्न विश्लेषण	dream-analysis
स्वप्न-संघटन	dream mechanism
स्वभाव	temperament
स्थिति	situation
स्थितिपालक	conservative
स्थित्यंकन	situation portrayal
स्थिर पात्र	static character
हिम-नग	ice-berg

अनुक्रमणिका

INDEX*

(*Subject-Author*)

*Figures other than those in antic relate to the footnote matter.